

णमोकार ग्रन्थ

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

द्वारा
सम्पादित

प्रकाशक :-

गजेन्द्र ग्रन्थमाला

दिल्ली - 110006

आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज

के

आशीर्वादात्मक

दो शब्द

‘णमोकार ग्रन्थ’ पाठकों को देते हुए परम आनन्द का अनुभव हो रहा है। हम कुछ समय पूर्व बंदवाड़ा दिल्ली के दिगम्बर जैन मन्दिर में प्रवचन के संस्थे गये थे। जिस मन्दिर में हम जाते हैं, उसके शास्त्र-भण्डार का अवलोकन करने की हमारी प्रवृत्ति रहती है। अतः इस मन्दिर के शास्त्र-भण्डार का भी हमने अवलोकन किया। अवलोकन करते हुए हमें प्रस्तुत सचित्र ‘णमोकार ग्रन्थ’ प्राप्त हो गया। इसके रचयिता खण्डेलवाल जातीय लक्ष्मीचन्द्र बैनाड़ा दिल्ली वासी हैं। यह ग्रन्थ कुँठारी और खड़ी बोली दोनों मिश्रित भाषाओं में लिखा गया है। यह ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित था। हमें ग्रन्थ देखकर बहुत उपयोगी लगा। इसी प्रकार सेठ के कूचे के दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र-भण्डार का अवलोकन करते हुए इस ग्रन्थ की एक और प्रति प्राप्त हो गई। हमने दोनों प्रतियों का मिलान करके भाषा का परिमार्जन किया, जो पाठकों के समक्ष है हस्तलिखित प्रति में जो चित्र थे, वे भी ज्यों के त्यों इस ग्रन्थ में दे दिये गये हैं। इससे उनकी कला की मौलिकता अक्षुण्ण रही है।

इस ग्रन्थ में णमोकार मन्त्र का महात्म्य और उससे सम्बन्धित कथाएँ दी गई हैं। इसके अतिरिक्त जैन धर्म के सिद्धान्तों और रत्नत्रय आदि का विवेचन किया गया है। हमें पूर्ण विश्वास है, कि इस ग्रन्थ के पठन-पाठन और मनन-चिन्तन से सभी पाठकों को लाभ होगा और वे जैन धर्म के सिद्धान्तों का भली प्रकार समझ सकेंगे। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमारी भावना यही रही है।

सितम्बर-1977

प्रकाशकीय

णमोकार ग्रन्थ के इस संस्करण को प्रकाशित करते हुए मेरा हृदय परम पूज्य आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज के प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता से नतमस्तक हो उठा है।

आचार्य श्री ने अपने जीवन में अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य श्री का श्रावक समाज के लिए अद्भुत संस्करण है।

आचार्य श्री की यह धारणा थी कि सन्त समाज को क्षमता से अधिक पुरुषार्थी करना चाहिए। इस ग्रन्थ के सम्पादन में अथाह परिश्रम करके उन्होंने अपने को सामाजिक ऋण से मुक्त कर लिया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ जो आप सभी श्रावकों को पढ़ने के लिए उपलब्ध हो सका, उसका श्रेय सर्वश्री आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज को जाता है जिनकी अनुकम्पा से यह ग्रन्थ स्वाध्याय के लिए श्रावक समाज को उपलब्ध हो सका।

इस ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन में श्री राजेन्द्र प्रसाद जी जैन (कम्मोजी) एवं श्री 108 आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज (ट्रस्ट) के सभी पदाधिकारियों व श्री मदन लाल जैन (घंटे वाले) एवम कुमारी स्वेता जैन (दिगम्बर) का हृदय से आभारी हूँ।

यह ग्रन्थ श्रावकों को उपयोगी सिद्ध होगा ऐसा मुझे विश्वास है यदि इस ग्रन्थ में व्यक्तियों के लिए क्षमा प्रार्थी होते हुए पाठकों से निवेदन है कि अपने बहुमूल्य सुझाव हमें भेजें जिससे की अगली आवृत्ति में सुधार किया जा सके।

नीरज जैन (दिगम्बर)

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'णमोकार' है। जिसके संकलनकर्ता लक्ष्मीचन्द जी वैनाड़ा, दिल्ली हैं। उन्होंने यह ग्रंथ स्वाध्याय करने वाले साधर्मि भाईयों के हितार्थ संवत् १९४६ में बनाकर समाप्त किया था इस ग्रन्थ में दो अधिकार हैं, प्रथम में णमोकार मन्त्र और उससे सम्बद्ध पंच परमेष्ठियों आदि का स्वरूप दिया है। और दूसरे अधिकार में रत्नत्रय का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ की इस प्रस्तावना में दोनों अधिकारों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार किया गया है। आशा है पाठकों के लिए यह रुचिकर होगा।

इस संसार में मानव जीवन के उत्थान का मूल कारण णमोकार मन्त्र है। जिसके चिन्तन वंदन स्मरण से आत्मा दुःखों से छुटकारा पा सकता है। मानवों की तो बात क्या पशु भी णमोकारमन्त्र को श्रवणकर शान्तभाव से प्राणों का परित्याग कर उच्चगति को प्राप्त करते हैं अतः प्रत्येक जीवात्मा को प्रातः काल ब्रह्ममूर्त में उठकर हाथ मुंह धोकर शुद्ध वस्त्र धारणकर णमोकार मन्त्र का जाप्य करना अत्यावश्यक है। क्योंकि संसारी जीव राग-द्वेष-मोह और कषाय की परम्परा से पराधीन है। अनादिकाल से दुखी है। राग-द्वेषादि विभाव भावों से आत्मा सदा अशान्त एवं दुखी रहता है, कभी भी निराकुल नहीं हो पाता। और दुःख सहा भी नहीं जाता। यद्यपि उससे छूटने का भी उपाय करता है परन्तु उपाय के विपरीत होने से कर्मबन्धन से छूट नहीं पाता और इच्छाओं की पूर्ति न होने से रागी-द्वेषी-क्रोधी होता हुआ इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति करता रहता है, तथा मिथ्यादर्शनादि के वश संसार परिभ्रमण करता रहता है। इन विभाव भावों से छूटने का एक मात्र उपाय मिथ्यात्व का परित्याग करना है, और पंच नमस्कार मन्त्र के चिन्तन वंदन से परिणामों को विशुद्ध बनाना है जिससे अशुभोदय की शक्ति निर्बल हो जाती है, पुण्य की वृद्धि होती है, और पुण्य वृद्धि से सांसारिक सुख तो मिलता ही है किन्तु परिणाम विशुद्धि से कर्म की निर्जरा भी होती है और सांसारिक कार्य निर्विघ्न सम्पन्न होने लगते हैं। इतना ही नहीं केवल शुभ-भावों में प्रवृत्ति ही नहीं होती, किन्तु उनकी विशुद्धि भी निरन्तर बढ़ती रहती है। पापों में प्रवृत्ति नहीं होती, तथा आलस्य और भोग लिप्सा कम हो जाती है और आत्मा में विराग रस की अनुभूति उत्पन्न होती है। इस अपराजित मन्त्र में ३५ अक्षर हैं और वह पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप को लिए हुए हैं। प्रातःकाल का समय व्यक्ति के जीवन की सुषमा का समय है। उस समय इस मन्त्र का आराधन-चिन्तन पापों का नाशक है और उसकी मनोकामना का पूरक होता है।

णमो अरिहंताणं—पद का उच्चारण करते ही आत्मा में अरिहंत की मूर्ति का—धातिकर्म के नाशक अरि रज-रहस्य से विहीन, बीतीस अतिशय और अष्ट प्रातिहार्यों, चार अनन्त चतुष्टय से युक्त, परम बीतरागरूप, देवेन्द्र, नागेन्द्र, और नरेन्द्रों से पूजित बीतराग देव का—साकार स्वरूप सामने आ जाता है। इसी तरह 'णमो सिद्धाणं' पद से अष्टकर्म के विनाशक, अव्याबाध सुख से सम्पन्न, लोक के अन्त में विराजमान ज्ञान शरीरी सिद्धों के विमल स्वरूप का बोध होने लगता है। णमो आइरियाणं—

पद का उच्चारण करते ही रत्नत्रय के धारक, छत्तीस मूलगुणयुक्त समभाव के साधक आचार्यों का स्मरण हो जाता है। और 'णमो उवज्झायाणं' पद से पच्चीस मूलगुणों के साधक, अंग पूर्वोदि के पाठी उपाध्यायों के स्वरूप पर दृष्टि जाती है। णमो लोए सव्वसाहणं—के उच्चारण करते ही अढ़ाई द्वीप में विराजमान अट्ठाईस मूलगुणों के धारक, सुख-दुख-जीवन, मरणादि में समभाव के धारक, आत्मसाधन-में निरत साधुओं का स्वरूप सामने आ जाता है। इस तरह णमोकार मन्त्र के उच्चारण, आराधना स्मरण करने से पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप का सहज ही बोध हो जाता है। यद्यपि इस मन्त्र में किसी भी कामना की अभिव्यक्ति नहीं की गई है फिर भी आराधक इसे सब सिद्धियों का प्रदाता बतलाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिन्होंने इस मन्त्र की निरतिशयता से आराधना एवं निरत आत्मार्पण किया है उनकी समस्त आपदाओं का विनाश स्वयमेव हो गया है, और उन्होंने सद्गति प्राप्त की है। जैन शासन में इस मन्त्र को अनादि एवं अपराजित बतलाया है। पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप का निर्देशक पूरा नमस्कार मंत्र इस प्रकार है—

नमस्कार मंत्र पंचपरमेष्ठियों का वाचक है—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आहरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहणं ॥

अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्व-साधुओं को नमस्कार हो। इस महामन्त्र में पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है।

'णमो अरिहंताणं' इस पद में अरिहन्तों को नमस्कार किया गया है। अरि शत्रुओं के नाश करने से अरहंत संज्ञा प्राप्त होती है, नरक, तिरयंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से मोह को अरि-शत्रु कहा गया है।

शंका—केवल मोह को ही अरि मान लेने पर शेष कर्मों का व्यापार कार्य निष्फल ही जाएगा ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अवशिष्ट सभी कर्म मोह के अधीन हैं। मोह के अभाव में अवशिष्ट कर्म अपना कार्य उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। अतः मोह की ही प्रधानता है।

शंका—मोह के नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मों की सत्ता रहती है, इसलिये उनको मोह के अधीन मानना उचित नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि मोहरूप शत्रु के नष्ट हो जाने पर जन्म-मरण परस्पर रूप संसार के उत्पादन की शक्ति शेष कर्मों में नहीं रहने से उन कर्मों का सत्त्व असत्त्व के समान हो जाता है। तथा केवलज्ञानादि समस्त आत्मगुणों के आविर्भाव के रोकने में समर्थ कारण होने से भी मोह को प्रधान शत्रु कहा जाता है। अतः उसके नाश करने से ही अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा रज—आवरण कर्मों के नाश करने में 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मधूलि की तरह बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकाल के विषय भूत अनन्त अर्थ पर्याय और व्यञ्जन स्वरूप वस्तुओं को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक होने से रज कहलाते हैं। मोह को भी रज कहा जाता है, क्योंकि जिस प्रकार जिनका मुख भस्म से व्याप्त होता है, उनमें कार्य

की मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोह से जिनकी आत्मा व्याप्त रहती है, उनकी स्वानुभूति में कालुष्य, मन्दता पायी जाती है। अथवा रहस्य के अभाव से भी अरिहन्त संज्ञा प्राप्त होती है। रहस्य अन्तराय कर्म को कहते हैं। अन्तराय का नाश शेष तीन घातिया कर्मों के नाश का अविनाभावो है और अन्तराय कर्म के नाश होने पर अघातिया कर्म अष्ट बीज के समान निःशक्ता हो जाते हैं। इस तरह अन्तराय कर्म के नाश होने पर अरिहन्त संज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा सातिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पाँचों कल्याणकों में देवों के द्वारा की गई पूजाएँ देव, असुर, मनुष्यों को प्राप्त पूजाओं से अधिक है। अतः इन अतिशयों से योग्य होने से अर्हन्त संज्ञा प्राप्त होती है।

इन्द्रादि के द्वारा पूज्य, सिद्ध गति को प्राप्त होने वाले अर्हन्त या राग-द्वेष रूप शत्रुओं को नाश करने वाले अरिहन्त अथवा जिस प्रकार जला हुआ बीज उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कर्म नष्ट हो जाने के कारण पुनर्जन्मरहित अर्हन्तों को नमस्कार किया है।

कर्मरूपी शत्रुओं के नाश करने तथा कर्मरूपी रज न होने से अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान और अनन्त सुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टय के प्राप्त होने पर इन्द्रादि के द्वारा निर्मित पूजा को प्राप्त होने वाले अर्हन्त अथवा घातिया—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों कर्मों के नाश होने से अनन्तचतुष्टय—रूप विभूति जिनको प्राप्त हो गयी है उन अर्हन्तों को नमस्कार किया गया है। णमोसिद्धाणं—सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्मिणः।

—धव० पु० १ पृष्ठ ४६

सिद्धों को नमस्कार हो। जिन्होंने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को नष्ट कर दिया है, वे सिद्ध हैं। और जो अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में सदा अवस्थित रहते हैं। जो ज्ञानशरीरी हैं, द्रव्य कर्म, भाव कर्म और लोकर्मरूपी मल से रहित हैं—जिन्होंने गृहस्थ अवस्था का परित्याग कर मुनि होकर तपश्चरण द्वारा घातिकर्म रूप मल का नाश कर अनन्त अतुष्टय रूप भाव को प्राप्त किया है, पश्चात् योग निरोधकर अघातिकर्म का विनाश कर परमौदारिक शरीर को छोड़कर लोक के अग्र भाग में विराजमान हैं, उन तिरंजन सिद्धों को नमस्कार हो।

णमो आहिरियाणं—पञ्चविधमाचारं धरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः चतुर्दश विद्या स्थान पारगाः एकादशांगधराः आचाराङ्गधरोवा तात्कालिक स्वसमय परसमय पारगो वा मेरु निश्चलः क्षितिरेव सहिष्णुः सागर इव वहिः क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः।

आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार है। जो दर्शन, ज्ञान, आरित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं। और दूसरों साधुओं से कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्या-स्थानों के पारंगत हों, ग्यारह अंग के धारी हों, अथवा आचारांग के धारी हों, अथवा तात्कालीन स्वसमय परसमय में पारंगत हों, मेरु के समान निश्चल हों, पृथ्वी के समान सहनशील हों, जिन्होंने समुद्र के समान मल दोषों की बाहर फेंक दिया हो और जो सात प्रकार के भय से रहित हों उन्हें आचार्य कहते हैं।

आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस मूलगुण होते हैं—१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति। इन छत्तीस मूलगुणों का वे सावधानी से पालन करते हैं। और जो शिष्यों के निग्रह

अनुग्रह करने में कुशल होते हैं ऐसे धर्माचार्य सदा वन्दनीय होते हैं ।

जो मुनि रत्नत्रय की प्रधानता के कारण संघ के नायक हैं, और मुख्य रूप से स्वरूपाचरण चारित्र्य में निमग्न रहते हैं किन्तु कभी-कभी रागांश का उदय होने पर धर्म—पिपासु भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देते हैं, दीक्षा देते हैं तथा शिष्यों के दोष निवेदन करने पर प्रयाश्चित भी देते हैं । परन्तु स्वयं अपने भूलगुणों में निष्ठ रहते हैं ।

परमागम के अभ्यास से और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल होती है जो छह आवश्यकों का निर्दोष रूप से पालन करते हैं । मेरु पर्वत के समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, श्रेष्ठ हैं, देश कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्य मूर्ति हैं, अन्तरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं ? ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं । जो-संघ के संग्रह-दीक्षा और निग्रह-शिक्षा और प्रायश्चित्त देने में कुशल हैं, परमागम के अर्थ में, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण-आचरण, वारण-निषेध, व्रतों के संरक्षण में सावधान हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी सदा वन्दनीय होते हैं ।

णमो उवज्झायाणं—चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिक प्रवचन व्याख्यातारो वा । आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादि गुणहीनाः ।

चौदस-पुब्ब-महोयहिमहिगम्य-सि वत्थिओ सिवत्थीणं ।

सीलंधराण वत्ता होइमुणीसो उवज्झायो ॥

उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार हो, चौदह विद्यास्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं । अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणों की छोड़ कर पूर्व में कहे गए आचार्य के उल्लेख गुणों से युक्त होते हैं ।

जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं, तथा मोक्ष के इच्छुक श्रावकों—मुनियों को उपदेश देते हैं, वे मुनीश्वर उपाध्याय परमेष्ठी हैं ।

जो १५ मूलगुणों का पालन करते हैं । रत्नत्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय के धारक हैं, निरंतर धर्मोपदेश में निरत रहते हैं—मुनियों और श्रावकों को परमागम का अध्ययन कराते हैं, और स्वाध्याय में निष्ठ रहते हैं, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी सदावन्दनीय होते हैं ।

णमो लोए सब्ब साहूणं

अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपसाधयन्तीति साधवः । पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्ति-गुप्ताः अष्टादशशीलसहस्र शैवाश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः ।

सीह-गय,वसह-मिय-पशु-मारुव सूखहि-मंदिरिन्हू-मणी ।

सिबिउरगंबर-सरिस्ता परम-पय-विमग्गया साहू ॥

ठाई द्वीपवर्ती उन सभी साधुओं को नमस्कार हो जो अनन्त ज्ञानादि शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं, पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति और तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी हजार उत्तर गुणों का पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी

१. छत्तीस गुण समझे पंचविहङ्गचारकरण संदर्भित ।

सिस्साणुगहकुसले धम्मचारिये सदा वंदे ॥

२.—भवला पु० १, पृ० ४६

३.—भवला पु० १, पृ० ५०

हैं। जो सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी वा उन्मत्त, बैन के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, गौचरीवृत्ति करने वाले, पवन के समान निस्संग तथा बिना किसी रुकावट के विचरण करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी, समस्त तत्वों के प्रकाशक, समुद्र के समान गम्भीर और भुमैरु के समान उपसर्ग और पारिवह्य आने पर अकम्प अथवा निश्चल रहने वाले, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुञ्ज, पृथ्वी के समान सहनशील, सर्प के समान अनियत आश्रय में रहने वाले, आकाश के समान निरालम्बी अथवा निर्भीक और सर्वदा मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु परमेष्ठी होते हैं।

जो अपने चिदानन्द स्वरूप में तन्मय रहते हैं आत्म-निरीक्षण एवं निदा पहाँ द्वारा अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। जो समता भाव के धारक हैं, जिनकी प्रशान्त मुद्रा बिना किसी उपदेश के आत्मा के शान्त स्वरूप का उपदेश देती है। ऐसे वे सर्व साधु नमस्कार करने योग्य हैं मैं उनकी वन्दना करता हूँ।

इस तरह पंच परमेष्ठी का यह स्वरूप णमोकार मंत्र के पदों में अन्तर्निहित है। उसका ध्यान और अध्ययन आत्मशान्ति का प्रधान कारण है। अतएव उसका चिन्तन वन्दन करना परम कर्तव्य है।

अपराजित महामन्त्र की महत्ता

जिसका पाठ मात्र करने से कार्य की सिद्धि होती है उसे मन्त्र कहते हैं। और जिसका जप तथा हवन आदि के द्वारा कार्य सिद्ध करना पड़ता है उसे विद्या कहते हैं। मन्त्र और विद्या में भेद है क्योंकि विद्या की अधिष्ठात्री देवता स्त्री है और मन्त्र का अधिष्ठाता देवता पुरुष है। यही दोनों की भिन्नता का निर्देश है। मन्त्र देवाधिष्ठित होते हैं और साधक मंत्र की साधना द्वारा उन अधिष्ठाता देवों को वश में करने का प्रयास करता है। इस प्रयत्न में वही सफल हो सकता है जो अपने को शक्तिशाली और आत्मविश्वासी मानता हो। अथवा जो अपने को देवता से भी अधिक उत्तमान अनुभव करता है और यह समझता है कि देवता मेरा कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता। किन्तु जो देवता के नाम से घबराते हैं और अपने को उनका दास समझते हैं ऐसे पुरुष उक्त कार्य में कभी सफल नहीं हो सकते हैं।

प्रस्तुत मंत्र मंत्रशास्त्र की दृष्टि से विश्व के समस्त मन्त्रों से अलौकिक है। इसकी महानता को वे ही समझते हैं जिन्होंने निष्काम होकर इसका आराधन कर सिद्धि या फल प्राप्त किया है। दुनिया की ऐसी कोई श्रद्धा सिद्धि नहीं है जो इस मन्त्र के द्वारा प्राप्त न की जा सके। इस मन्त्र की महत्ता को प्रगट करते हुए लिखा है कि यह पंच नमस्कार मन्त्र सब पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में पहला मंगल है।

ऐसो पंच णमोकारो सख्यपावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सख्येसि पढमं हवइ मंगलं ॥

इतना ही नहीं किन्तु यह नमस्कार मंत्र संसार में सारभूत है। तीनों लोकों में इसकी तुलना के योग्य कोई दूसरा मन्त्र नहीं है। यह समस्त पापों का शत्रु है। संसार का उच्छेद करने

वाला है। विषम विष को दूर करने वाला है। कर्मों को जड़ मूल से नष्ट करने वाला है। अतएव सिद्धि का देने वाला है मुक्तिसुख का जनक है और केवलज्ञान का समुत्पादक है। अतएव इस मंत्र का बार बार जाप करना चाहिए क्योंकि यह कर्म परम्परा का विनाशक है।

इस मंत्र की आराधना का फल बतलाते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है कि लोक में जितने भी योगियों ने आध्यात्मिक लक्ष्मी (मोक्ष लक्ष्मी) को प्राप्त किया है। उन सबों ने श्रुतज्ञानभूत इस महामन्त्र की आराधना से ही प्राप्त किया है। रामस्त जिनवाणी रूप इस मन्त्र की महिमा एवं इसका तत्काल होने वाला अमिट प्रभाव योगी मुनि पुंगवों के भी अगोचर है वे इसके वास्तविक प्रभाव का निरूपण करने में असमर्थ हैं। इस मन्त्र का प्रभाव केवली ही जानते हैं। पाप से मलिन प्राणी भी इसी मन्त्र से विशुद्ध होते हैं और इसी के प्रभाव से मनीषीगण संसार के क्लेशों से छूटते हैं।

श्रियमात्यन्तिकी प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन ।

अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्यकेवलम् ॥

अरहंत णमोकारं भावेणाय जो करेदि पयऽमदी ।

सो सख दुखं मोखं पाविय अचिरेण कालेण ॥

जो द्विवेकी जीव अरहन्त को मात्र पूर्वक नमस्कार करता है वह शीघ्र ही समस्त दुखों से छूट जाता है। अतएव सोना, खाना, जाना, वापिस आना, शास्त्र का प्रारम्भ करना आदि क्रियाओं में अरहंत नमस्कार अवश्य करना चाहिए। प्रत्येक जीवात्मा को उस मन्त्र का निरन्तर जाप कर आत्म-हित साधन करना जरूरी है। एक समय भारत में मन्त्र विद्या का बड़ा प्रचार था। बौद्ध सम्प्रदाय में लोग मन्त्र तन्त्र विद्या का बड़ा अभ्यास करते थे। किन्तु उस समय में भी जैन साधु विद्यानुवाद में उल्लिखित मन्त्र विद्या से सुपरिचित थे। अनेक जैनाचार्य मन्त्र विद्या में निष्णात थे। उनकी वह तपश्चरण युक्त मन्त्र विद्या कभी निष्फल नहीं जाती थी। परन्तु मंत्र तन्त्रादि की शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी किसी कामना के लिए वे इसका प्रयोग नहीं करते थे। यद्यपि उन्हें तपश्चर्या से भी अनेक श्रद्धियाँ प्राप्त थी, परन्तु किसी भी सांसारिक कार्य के लिए उनका उपयोग करना वे अनुचित समझते थे। उनकी निष्काम तपश्चर्या कर्मों की वज्र शृंखला को तोड़ने के लिए थी। इसीलिए वे भीषण उपसर्ग और परीषहों को सहने का उपक्रम करते थे। उनकी समस्त जीवों के प्रति सदभावना कल्याण-दायिनी थी। शरीर से भी उनकी निरीहवृत्ति उक्त बात को संद्योतक थी। इस सब कथन से स्पष्ट है कि उनकी सकामाभक्ति की अपेक्षा निष्कामाभक्ति विशेष उपयोगी और कार्य साधिका है। दूसरे जिनकी भक्ति की जाती है वे वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी आदि अनेक गुणों से विशिष्ट हैं उनके पास ऐसी कोई सामग्री नहीं जिसे वे भक्तों को अर्पित कर सकें। हाँ उनकी प्रशान्त वीतराग मुद्रा का दर्शन ही दर्शक की भावनाओं की सम्पूर्ति में परम सहायक है। उनका निन्दक और वन्दक के प्रति कोई राग द्वेष नहीं होता। फिर भी भक्त के मन की प्रसन्नता, विशुद्ध भावना बाधक कर्मों के रस को हल्का करने अथवा उसे सुखाने में जिनेन्द्र की प्रशान्त दिव्य मुद्रा निमित्त होती है। इसी से यह बात स्पष्ट चरितार्थ होती है कि भगवान् के प्रसाद से यह सब कार्य सम्पन्न हुआ है।

इस अधिकार में रत्नत्रय का कथन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ही रत्नत्रय कहलाते हैं। इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है। रत्नत्रय की पूर्णता होने पर आत्मा

कर्मबन्ध से छूटकर स्वात्मोपलब्धि को पा लेता है। आत्मसिद्धि का उपाय रत्नत्रय की प्राप्ति है। आत्मा मुक्त अवस्था में अपने शाश्वत ज्ञानानन्द में मग्न रहता है। मुक्तात्मा के सभी कार्य सिद्ध हो चुके हैं। इसी से वे कृतकृत्य, निष्कलंक, दोषकल्मष, सिद्ध, निरंजन, और अजर अमर कहे जाते हैं। अतः जन्म-जरा-मरण से छूटने और अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिए आत्मा को रत्नत्रय की आराधना एवं उपासना जरूरी है। रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति संभव नहीं है। रत्नत्रय आत्मा की अमूल्य तिथि है। जिन जीवों ने सांसारिक भागोपभोगों का परित्याग कर और दीक्षित होकर तपश्चरण द्वारा आत्मा का शोधन किया है और घोर उपसर्ग एवं परिषर्गों से जरा भी विचलित नहीं हुए प्रत्युत उसमें तन्मय रहे हैं। उन्होंने ही निराकुल सुख का उपभोग किया है। मुक्ति प्रकाशक होने से जिसने स्व और पर के भेद विज्ञान द्वारा इस लोक में लोकोत्तर महिमा प्राप्त की है मोहरूपी अन्धकार को दूर करने वाले उस परम तेज रूप रत्नत्रय को निरन्तर नमस्कार हो।

सम्यग्दर्शन—

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूप सप्त तत्त्वों का विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा है उससे ही जीव का कल्याण होता है। सम्यग्दर्शन की महत्ता का बोध इसी से होता है कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चरित्र सम्यक् नहीं हो सकते। इनकी समीचीनता का द्योतक सम्यग्दर्शन है। यह मोक्ष रूपी महल की पहली सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र्य सम्यक् नहीं हो पाते। इसी से सम्यग्दर्शन को धारण करने की आवश्यकता बतलाई गयी है। जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट ही हैं। उन्हें मोक्ष नहीं मिलता। क्योंकि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होते हैं वे नियमतः ज्ञान और चारित्र्य से भी भ्रष्ट होते हैं। इसी से वे मोक्ष मार्ग से दूर ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में वे मोक्ष के पात्र कैसे हो सकते हैं। जिस तरह वृक्ष के मूल (जड़) के विनिष्ट हो जाने पर वृक्ष की शाखा उपशाखा और फलादि की वृद्धि नहीं होती उसी तरह धर्म के मूल सम्यग्दर्शन के विनिष्ट होने पर धर्म के परिवार स्वरूप ज्ञान और चारित्र्य आदि की वृद्धि भी सम्भव नहीं है। अतएव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव मुक्ति का पात्र नहीं होता।

१. मुक्तेः प्रकाशक तथा समवापि येन, लोकोत्तरो व महिमा स्वपरावाप्य ।
विष्वस्त-मोहतपसे परमाय तस्मै, रत्नत्रयाय महते सततं नमोस्तु ॥२०
२. दंसणमूलो धम्मो उवदिट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं । दंसणपाहुण-२
३. मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी या विन ज्ञान चरित्रा ।
सम्यक्ता न लहे सौ दर्शन धारो भव्य पवित्रा ॥—छहदाला—पं० दौलतराम
४. (क) जहमूलम्मि विणदुठे दुमस्स परिवार णत्थिपरिवड्ढि ।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणदुठा ण सिज्झंति ॥—दंसण पा० १०
दंसण भट्ठा भट्ठा, दंसण भट्ठस्य णत्थिणिज्झाणं ।—दंसण ११
५. (ख) विद्या वृत्तस्य संभूति स्थिति वृद्धि फलोदयः
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव । रत्न करणश्रावकाचार ॥३०

तीन लोक और तीन काल में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सम्यग्दर्शन के समान जीव का कल्याण कर सकती हो । और मिथ्यात्व के समान ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं है जो जीव का अकल्याण कर सकती हो ।^१ जिस तरह संसार समुद्र में पड़ी हुई नाव को खेवटिया उस पार ले जाने में समर्थ है । उसी तरह सम्यग्दर्शन भी जीवन-नौका को लेकर मोक्ष तट के पार पहुंचाने में समर्थ है ।^२

सम्यग्दर्शन का ही यह प्रभाव है, जो सम्यक्त्व से सम्पन्न चाण्डाल कुलोत्पन्न मानव भी पूज्य हो जाता है । और सम्यक्त्व के बिना मुनिधर्म का पालन करने वाले द्रव्यलिगी साधु को सम्यग्दृष्टि गृहस्थ से हीन बतलाया गया है । उसकी हीनता का कारण सम्यक्त्व का अभाव ही है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व यदि कोई जीव नरक, तिर्यचायु का बद्धायुष्क हो गया हो तो उसके सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से उनकी स्थिति में अवश्य ही सुधार हो जाता है । वे मरकर नरक, तिर्यच गति को जरूर प्राप्त करेंगे । यद्यपि गति बन्ध नहीं छूटना, परन्तु फिर भी स्थिति अल्पता हो जाती है, जैसा कि चारित्रसार के निम्न पद्य से प्रकट है :—

दुर्गतीवायुषोबन्ध सम्यक्त्वं यस्य जायते ।

गतिश्छेदो न तस्यास्ति तथाल्पतरा स्थितिः ॥

यह भी सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव है जो अवद्धायुष्क शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव अव्रती होते हुए भी नरक, तिर्यच गति, नपुंसक और स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं होते, और निधकुल, विकलांग, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते । और न स्थावर एवं विकलत्रय पर्याय को प्राप्त करते हैं ।^३ बद्धायुष्क होने पर भी वे सम्यग्दर्शन के प्रभाव से सप्तमादि नरकों की आयु बांधने वाले प्रथम नरक से आगे नहीं जाते । तथा विकलत्रय पर्याय को न धारण कर संज्ञी पंचेन्द्रिय पुल्लिग पर्याय को ही धारण करते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथ्वी को छोड़कर अधस्तन छहों पृथिव्यों में, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी देवों में और सर्व प्रकार की स्थियों में तिर्यचिनी, मनुष्यनी और देवियों में बारह मिथ्यावाद में—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय सम्बन्धी तिर्यचों के द्वादश जीव सभासों में उत्पन्न नहीं होता ।^४

इन सब उल्लेखों से सम्यक्त्व की महत्ता का स्पष्ट बोध होता है । सम्यग्दर्शन के होने पर इस जीव के ४१ कर्म प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीव की अभद्र परिणति भद्रता में परिणत हो जाती है । उसके भावों में विचित्र परिणमन हो जाता है । मिथ्यादृष्टि के पलटते ही दृष्टि

६. न सम्यक्त्व समं किंचित्त्रैकाल्ये विजगत्स्यपि ।

श्रेये श्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभूताम् ॥ रत्न क० आ० ३४ ।

७. भवाब्धौ भव्य सार्धस्य निर्वीण द्विविधापिनः ।

चारित्र्य यान पात्रस्य कर्णधारी हि दर्शनम् ॥

८. सम्यग्दर्शनं शुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि ।

दुष्कुल-विहृता ल्पामुर्द्धरिद्रता च व्रजति नाप्यव्रतिकाः ॥ रत्न, क. आ. ३५

९. (क) छसु हेष्टिमासु पुडवीसु जोइस-वण-भवन सव्वइत्थीसु ।

वारस मिच्छावादे सम्माइदिठस्स जत्थि उववादो ॥ पंच सं. १६३ । जीवसमास

(ख) ज्योतिर्भावनभीमेषु पट्स्वधः पवन्नभूमिषु ।

तिर्यग्गतर-सुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते ॥

सं. पं. सं. दृष्टा १-२२७

सम्यक् हो जाती है। भावों में समता और उदारता आ जाती है। सम्यग्दृष्टि हो जाने के बाद समागत सम्पदा में उसे हर्ष नहीं होता और न विपत्ति आने पर विषाद ही होता है। इसी से वह कभी दिलगीर या दुखी नहीं होता, अविषयों में उसकी परिणति नहीं जाती। विवेक उसकी परिणति को सद्विचारों से परिपूर्ण करता रहता है, वह किसी भी जीव का अहित नहीं करना चाहता और न कोई ऐसा कार्य ही करना चाहता है जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे। वह अपने सच्चे स्वार्थ को ओर प्रवृत्त होता है, परमार्थ में भी वह सच्चा रहता है, वह सदा सच बोलने का प्रयास करता है, वह बुद्धिपूर्वक किसी के विरुद्ध कार्य नहीं करता, और न पर्याय में आत्मबुद्धि रखता है, अहंकार और ममकार उसके नहीं होते, परद्रव्य में उसका कर्तृत्वभाव भी नहीं होता। पर पदार्थों से उसकी राग परिणति हट जाती है, भोग सम्पदा भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती, क्योंकि इन्द्रिय-विषयों से उसकी आन्तरिक परिणति में उदासीनता रहती है, उसकी किसी पदार्थ में आसक्ति नहीं होती। वह जीवन से भी निस्पृह रहता है। राज्य कार्य करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता। वह आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने दोषों के प्रति सावधान रहता है और मानव जीवन की सफलता के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है। वह घर में जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, और अपने को कारागार में रहने के समान मानता है; क्योंकि पर पदार्थ में उसकी अपनत्व बुद्धि और स्वामित्व नहीं होता। कदाचित् इन विषयों में प्रवृत्ति हो भी जाय तो विवेक के जाग्रत होते ही वह अपनी निंदा गद्गल द्वारा दोषों को दूर करने का सदा प्रयत्न करता रहता है और चित्तवृत्ति को सदा निर्मल बनाने का प्रयत्न करता है। जितने संसार में सदृष्टि मानव हुए हैं उनकी चित्तवृत्ति ही उनके परिणाम की साधिका रही है। दूसरों के द्वारा दुखी किये जाने पर भी वे चन्दन के समान अपनी समवृत्ति का परित्याग नहीं करते। जिस तरह चन्दन जलाये जाने या धिसे जाने पर भी अपनी सुरभि (गुणध्वी) का परित्याग नहीं करता। उसी तरह वे सम्यग्दृष्टि सन्त भी अपनी वृत्ति का परित्याग नहीं करते।

सम्यक्त्व की प्राप्ति

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अर्द्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल शेष रहने पर सब से पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। उसकी प्राप्ति के अभिमुख हुआ जीव निश्चय से पंचेन्द्रिय संजी मिथ्यादृष्टि और पर्याप्त होता है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंशीपंचेन्द्रिय और अपर्याप्त जीव उस सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकते। इसी तरह सासन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि जीव भी उक्त प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होते। पूर्वोक्त जीव जब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप तीन प्रकार की विशुद्धि को प्राप्त होता है तब वह अनिवृत्तिकरण रूप तीन प्रकार की विशुद्धि से युक्त होता है तब वह अनिवृत्तिकरण विशुद्धि के अन्तिम समय में प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। सम्यक्त्व प्राप्त करने से पहले जीव के पाँच लब्धियाँ होती हैं। क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोज्य और करण। इनमें से प्रारंभ की चारों लब्धियाँ भव्य जीव के समान अभव्य के भी संभव हैं। परन्तु अन्तिम करण लब्धि भव्य जीव के ही होती है, जब वह सम्यक्त्व के सन्मुख होता है। पूर्वोक्त चार लब्धियों के होने पर जीव करण लब्धि के योग्य भाववाला हो जाता है।

१. चन्दनं धूपमाणं च दह्यमानोऽपि गुरुः ।

न याति विक्षिपां साधुः पीबितोऽपि तथा परैः ॥ सुभाषितम् ।

अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप तीन प्रकार के परिणामों की प्राप्ति का नाम ही करण लब्धि है। इन तीनों करणों में जीव कर्मप्रकृतियों के अनुभाग को उत्तरोत्तर हीन करता हुआ अनन्त गुणी विशुद्धि को प्राप्त करता है। अधःकरण और अपूर्वकरण के बीत जाने पर जब अनिवृत्तिकरण का भी बहुभाग व्यनीत हो जाता है, तब जीव अनिवृत्तिकरण के काल में अन्तरकरण किया जाता है। इससे प्रथम और द्वितीय स्थिति में परिणाम विशेष के द्वारा अन्तर्मुहूर्त काल तक मिथ्यात्व के उदय को रोक दिया जाता है। इस अन्तरकरण के अंतिम समय में मिथ्यादर्शन को तीन भागों में विभक्त करता है। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व। इन तीनों के साथ अन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय का भी अभाव हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त काल के लिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। इतनी विशेषता है कि वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व चारों गतियों में से किसी भी गति में प्राप्त किया जा सकता है।

सम्यक्त्व के अभिमुख जीव अपूर्वकरण परिणाम द्वारा कोव्रव धान्य के समान मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है। अनुभाग की अपेक्षा उसे सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व रूप परिणमन करता है, तथा अनिवृत्तिकरण द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है—निसर्गज और अधिगमज। जो सम्यग्दर्शन स्वभाव से—बिना किसी उपदेश के उत्पन्न होता है वह निसर्गज कहलाता है। और जो परोपदेश पूर्वक होता है वह अधिगमज है। यद्यपि दोनों का अन्तरंग कारण दर्शन मोह का उपशमादिक है, सो वह दोनों में समान है किन्तु जो अन्तरंग कारण के होते हुए भी बाह्य में गुरु के उपदेशादिक निमित्त से होता है वह अधिगमज कहा जाता है।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है। इनमें औपशमिक सम्यक्त्व दो प्रकार है—प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। प्रथमोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव जब उपशम श्रेणी पर आरुढ़ होने के अभिमुख होता है तब वह अन्तानुबन्धिचतुष्टय का विसंयोजन करता हुआ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से जिस उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह द्वितीयोपशम कहलाता है।

दर्शन मोहनीय के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक कहलाता है। षट् खंडागम में दर्शन मोहनीय की क्षपणा का विधान इस प्रकार बतलाया है—दर्शन मोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ अढ़ाई द्वीपों में वर्तमान कर्मभूमि का मनुष्य ही करता है। अढ़ाई द्वीपों में भी जहाँ तीर्थकर केवली जिन (जिन, श्रुतकेवली, सामान्य केवली या तीर्थकर केवली) विद्यमान हों, वहाँ उनके पादमूल में ही वह उसे प्रारम्भ करता है। परन्तु उस क्षपणा की समाप्ति चारों गतियों में होती है। किन्तु उसका प्रारंभ केवल मनुष्यगति में होता है।^१

अनन्तानुबन्धिचतुष्टय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के उपशम से सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों के उदय से जो तत्त्वार्थ अद्धान होता है, उसे क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

१. दंसण मोहणीयं कम्मं खंबेदुमाह्वेतु कम्मि आह्वेदि ?

अढ़ाई द्वीपों में जीव-मनुष्येषु पण्णारस कम्मभूमीसु जम्मिणिणा केवली सिरधयरसम्मि आह्वेदि ॥

निद्वयग्री पुण खदुसुवि गदीसु निद्ववेदि । —धद्वं. घव० पुस्तक ६ पृ. २४३-४७

आत्मानुशासन और यशस्तिलक-चम्पू में सम्यक् दर्शन के दश भेद बतलाए हैं, आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाह और परमावगाह। इन सबका स्वरूप उक्त ग्रन्थों से जानना चाहिये।

सम्यक्त्व के २५ दोष हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावता, ये शंकादिक ८ दोष, आठ मद—ज्ञानमद, जातिमद, कुलमद, बलमद, तपमद, रूपमद, धनमद और प्रतिष्ठापद। तीन मूढ़ता—देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, लोकमूढ़ता। पद्मनाभयतन—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और तीन इनके सेवक। ये सब मिलाकर २५ दोष होते हैं। इनसे रहित सम्यक्त्व का पालन करना चाहिये। जिस प्रकार अक्षर न्यून मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन भी भव सन्तति को छेदने में समर्थ नहीं होता। निर्दोष सम्यक्त्व का धारक जीव, श्रेष्ठ मानव बीज और तेज से सम्पन्न, विद्या, वीर्य और यश से परिपूर्ण होता है, वह लोक प्रतिष्ठित नर पुंगव महान विभूति का धारक होता है, चक्रवर्ती, नारायण और प्रतिनारायण विभूति का भी धारक होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय और आत्मरस का आस्वादी होता है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में सम्यग्दृष्टि को सप्तभय रहित और निश्शंक बतलाया है। निर्भय ही अहिंसक होता है, भयवान सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, वह कायर हिंसक होता है। भय सात प्रकार का है—इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, आकस्मिकभय, अरक्षणभय, असंयमभय, ये सप्तभय सम्यग्दृष्टि के नहीं होते। इसी कारण लोक में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा होती है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य का बीज है। इसके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य नहीं होता। भय और प्रशम (विशुद्धभाव) का जीवन स्वरूप है। इसके बिना उनमें जीवन नहीं आता। यह तप और स्वाध्याय का भी आश्रय है। जिसके निर्मल सम्यग्दर्शन है, वही पुण्यशाली है यह मैं मानता हूँ। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में प्रधान है।

यह सम्यग्दर्शन असुल सुख का निधान है। समस्त कल्याण का बीज है। संसाररूपी समुद्र से तारने के लिए जहाज है। भव्यजीव ही इसे धारण कर सकते हैं। अभव्यजीव इसके पात्र नहीं होते। यह सम्यग्दर्शन पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये कुठार के समान है और पुण्यतीर्थों में प्रधान है, मिथ्यात्वरूपी विषकी शत्रु का जीतनेवाला है। भव्यजीवों का कर्तव्य है कि वे ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी अमृत का पान करें। जैसाकि निम्न पद्य से स्पष्ट है—

असुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं जननजलधिपोतं, भव्यसत्त्वकपात्रम् ।

दुरिततरुकुठारं, पुण्यतीर्थं प्रधानं पिबत जित विषक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥ जाना० ६-५६ ।

सम्यग्ज्ञान—

पदार्थों का यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि—येन केन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितस्तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् । विमोह संशय विपर्यय निवृत्त्यर्थं सम्यग्विवेक्षणम् ।

१. मूढत्रयं भवदृष्टो तथा आयतनानिषद् ।

अष्टो शंकादयश्चेति द्वादशोऽप्यं पञ्च विंशति ॥

२. नांगहीनमलं छेत्तु दर्शनं जन्म संस्थिति ।

नहिमंशो क्षरन्मूनी निहन्ति विषवेदनम् ॥

जिस जिस प्रकार से जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं उस उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान से पूर्व सम्यक् विशेषण विमोह (अनध्यवसाय) संशय और विपर्यय ज्ञानों का निराकरण करने के लिये दिया है। सम्यग्दर्शन से पहिले जो ज्ञान होता है वह मिथ्याज्ञान कहलाता है। यद्यपि दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार आत्मा में जिस समय दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन रूप पर्याय की अभिव्यक्ति होती है। उसी समय उसके मर्यज्ञान, श्रुताज्ञान का निराकरण होकर मतिज्ञान श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं। अतएव ज्ञान की समीचीनता का कारण सम्यग्दर्शन है। उसके बिना मिथ्याज्ञान कहलाता है। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने पर केवल अज्ञान से ही छुटकारा नहीं मिलता, प्रत्युत आत्मा अपने स्वरूप का ज्ञायक भी हो जाता है। ज्ञान का कार्य स्वरूप का बोध कराना है। विवेक ज्ञान के जागृत होते ही उसकी रुचि परपदार्थ से कम हो जाती है और आत्मा ज्ञान और वैराग्य की ओर अग्रसर होने लगता है। संसार के कारणों के प्रति उसका अनुराग कम हो जाता है, उसे हेय उपादेय का यथार्थ बोध हो जाता है, वह हेय का परित्याग करने और उपादेय को ग्रहण करने का प्रयत्न करने लगता है। उसका विवेक ज्ञान उसे अविषय में प्रवृत्त नहीं होने देता। और वह भेद विज्ञानी हुआ कर्मबन्धन को कड़ियों को काटने के लिये कटिबद्ध हो जाता है। धन, समाज, हाथी, घोड़ा, राजवैभव और कुटुम्ब परिवार आदि से उसे मोह नहीं होता, क्योंकि वह उन्हें आत्मा से भिन्न पर पदार्थ मानता है। उसकी दृष्टि स्वरूप साधिका होती है। वह भेद विज्ञान को परम हितकारी मानता है और उसके प्रशान्तरस में वह इतना संलग्न हो जाता है कि उसकी दृष्टि सांसारिक कार्यों की ओर नहीं जाती। इन्द्रिय विषयों में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। यदि कदाचित् उनमें प्रवृत्ति हो भी जाय तो उसे वेदना का इलाज मात्र मानता है, वह उनमें आसक्त नहीं होता, क्योंकि उसके ज्ञान और वैराग्य की झलक होती है वह, उन्हें कर्मोदय का विकार मात्र समझता है। अतएव वह शीघ्र ही अपने स्वरूप की ओर दृष्टिपात करने के लिए तत्पर हो जाता है। जो वस्तु अपहृत हो जाती है, नष्ट हो जाती है, छिपा ली जाती है अथवा गिर जाती है, उसे याद कर वह कभी दिलगीर नहीं होता और न विभूति के समागम से हर्षित ही होता है। आगामी काल को उसे कभी चिन्ता नहीं होती। वह वर्तमान में विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करना अपना कर्तव्य मानता है। बुद्धिपूर्वक तो वह रागादि में प्रवृत्ति नहीं करता। यदि उनमें कदाचित् प्रवृत्ति हो जाय तो वह गर्हा, निन्दा, आलोचना आदि द्वारा उसका प्रतिकार करने का प्रयत्न करता है, और भविष्य में ऐसी प्रवृत्ति न हो, इसके लिये यह सावधानी रखता है, क्योंकि कथायों की मन्दता और विवेकज्ञान की जागृति उसे निरन्तर आत्म-निरीक्षण करने के लिये प्रेरित करती रहती है। अतएव वह सदा सावधान रहता है।

सम्यग्ज्ञान के सिवाय उसे कोई दूसरा पदार्थ हितकारी नहीं प्रतीत होता। यद्यपि कथाय का विषय आत्मघाति है, और संसारबध्क है, इसीलिए ज्ञानी उनमें प्रवृत्ति करने से कतराता रहता है। उसकी दृष्टि में ज्ञान अमूल्य पदार्थ है जो उसे निरन्तर आत्महित में प्रवृत्ति करने की निर्मल दृष्टि देता है और विवेक उसे अज्ञान में प्रवृत्त नहीं होने देता। ज्ञान ही परमामृत है वह जन्म-जरा और मरणरूप रोगों का विनाश करता है। जिनने संसार का अन्त कर सिद्ध पद प्राप्त किया है। यह सब भेद विज्ञान की महिमा है और जो धामे शिवपद प्राप्त करेंगे वह सब भेद विज्ञान से ही प्राप्त करेंगे। इससे सम्यग्ज्ञान की महत्ता का स्पष्ट बोध होता है। अज्ञानी जीव के करोड़ों वर्ष तपश्चरण करने पर जितने कर्म भड़ते हैं उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी के मन, वचन, काय की त्रिगुप्ति से क्षणमात्र में सहज ही दूर हो जाते हैं। अतएव सम्यग्ज्ञान उपादेय है।

वह सम्यग्ज्ञान पांच प्रकार है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान पांच इन्द्रिय और मन की सहायता से जो पदार्थ जाना जाता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं—मतिज्ञान—से जाने हुए पदार्थ से विशेष जानने को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान भी अनेक प्रकार का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लेकर रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानना अवधिज्ञान है। अवधिज्ञानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय और अनुदय को प्राप्त इन्हीं का सदवस्था रूप उपशम इन दोनों के निमित्त से जो होता वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है। यह मनुष्य तिर्यन्चों के होता है भव निमित्तक अवधिज्ञान देव तारकियों और छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान के होता है। क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यन्चों के होता है। इसके छह भेद हैं—यह अवधिज्ञान भव से भवांतर, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर चला जाता है। कोई अवधिज्ञान बढ़ता है, कोई घटता है, कोई ज्यों का त्यों अवस्थित रहता है और कोई नहीं रहता।

अवधिज्ञान के तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनमें देशावधि मनुष्य, तिर्यन्चों के होता है। परमावधि उत्कृष्ट चरित्तवाले संयत मनुष्यों के होता है। यह ज्ञान वर्धमान और अप्रतिपाती है, अवस्थित है। पर्याय में क्षेत्रान्तर में साथ जाने से अनुगामी भी है। सर्वावधि ज्ञान उत्कृष्ट संयमी मुनि के होता है, यह न वर्धमान है न हीयमान, न अनवस्थित और न प्रतिपाती है, केवल ज्ञान होने तक अवस्थित रहता है, अप्रतिपाती है।

वीर्यान्तराय और मनःपर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर पंचेन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की मर्यादा लिए हुए दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति मनःपर्यय मन, वचन और काय की सरलता से अन्य के मन में स्थित पदार्थ को किसी के पूछे या बिना पूछे ही जानता है किन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान मन, वचन, काय की सरलता का या वक्रता रूप चिन्तित अचिन्तित और अर्धचिन्तित पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है। यह जघन्य रूप से सात-आठ भव की बात और उत्कृष्टता से पैंतालीस लाख योजन प्रमाण ढाई द्वीप में स्थित पदार्थों को जानता है। जीव के सुख-दुख, जीवन-मरण, और लाभ-अलाभ को भी जानता है।

चित्ताएं ध्विताएं अर्द्धचित्ताएं विविहभेमेयगयं ।

जै जाणह णरलोए तं विय मणवज्जयं णाणं । तिलो० प० ६७३ ।

केवलज्ञान—घटितया कर्म के क्षय से होने वाला केवलज्ञान त्रिकालवर्ती विषयभूत समस्त द्रव्य और पर्यायों को एक साथ युगपत् जानता है। इसमें इन्द्रिय क्रम का विधान नहीं रहता, यह ज्ञान असहाय अनन्तचतुष्टय से सम्पन्न है। कहा भी है—

असवत्त सयलभावं लोयालोएसु तिमिर परिचत्तं ।

केवलमखंडभेदं केवलणार्ण भणति जिणा ॥६७४॥

इस तरह सम्यग्ज्ञान जीव का महान उपकारी है, वह उसकी अज्ञानता को हटाता है और हित में लगाता है।

सम्यक्चारित्र

मोह तिमिरापहरणे वर्जनलाभादवाप्त संज्ञानः ।

राग-द्वेष-निवृत्त्यं चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ रत्न क० ।

मोहरूपी अंधकार के नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन के लाभ से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो गई है ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष को चारित्र्य धारण करना चाहिए। पाप से निवृत्ति और आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति का नाम सम्यक् चारित्र्य है। वह दो प्रकार है। निश्चयचारित्र्य और व्यवहार चारित्र्य। संसार के पर पदार्थों से रागद्वेष रूप प्रवृत्ति का परित्याग कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन होना निश्चय सम्यक्चारित्र्य हिंसा, झूठ, चोरी, और परिग्रह कुशील। पंच पापों का और इनके साधक कारणों का त्याग करना व्यवहार सम्यक्चारित्र्य है सम्यग्दर्शन से पहले जो चारित्र्य होता है वह सब मिथ्या है। व्यवहार चारित्र्य के पालन से निश्चय चारित्र्य की प्राप्ति होती है। साधक की प्रथम अवस्था में निश्चय साध्य और व्यवहार साधक है। आत्म स्वरूप में स्थित का नाम निश्चय चारित्र्य है, चारित्र्य की पूर्णता से मुक्ति होती है। चारित्र्य की बड़ी महत्ता है। इस चारित्र्य के प्रभाव से जाति विरोधी जीव भी अपना बैर-विरोध छोड़ देते हैं। इन्द्रादिक पूजा करते हैं। चारित्र्य के प्रभाव से ही सौधर्मादिक स्वर्गों में इन्द्र पद प्राप्त करते हैं और वहां से च्युत होकर चक्रवर्ती की विभूति प्राप्त करते और दीक्षित होकर तपश्चरण द्वारा कर्म-काष्ठ को जलाकर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं पश्चात् अघाति कर्मनाश कर अविचल अविनाशी सुख प्राप्त करते हैं। ऐसा चारित्र्य रूपी रत्न जीवों के चित्त में निरन्तर प्रकाश करे, जैसा कि निम्न पद्य से प्रकट है—

येनान्योन्य-विरोध-वेरि-विस्टजा शकाधि पूजाकृता,

सोधर्माधिप चक्रपूर्वक पद श्रीमुक्ति शर्माभूतम्।

पापं पाप मरणदुरमवलं भव्याधिर्यं प्राप्यते।

तद्वच्चारु-चारित्र्य-रत्नमनिशंप्रशोतितं चेतसि ॥६०॥

चारित्र्य के दो भेद हैं—सकलचारित्र्य और विकलचारित्र्य। सकलचारित्र्य के धारक मुनि होते हैं, और विकलचारित्र्य गृहस्थों के होता है। जो जीव अन्तर्वाह्य परिग्रह का त्याग कर जिनेश्वरी दीक्षा अंगी-कार करते और अहिंसादि २८ मूलगुणों का निर्दोष रूप से पालन करते हुए पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र्य का पालन करते हैं, और अनशनादि द्वादश तपश्चरणों द्वारा आत्मा का शोधन करते हैं तथा उपसर्ग परिपहों के आने पर सुदृढ़ रहते हैं—गड़बड़ाते नहीं हैं, प्रत्युत अपने धिदानन्द स्वरूप में तन्मय रहते हैं। स्वात्मराविति में मग्न रहते हुए परवस्तु में उन का अणुमात्र भी राग नहीं होता, समितियों का पालन करते हुए वे बहुत सावधान रहते हैं, और गुप्तियों में संलग्न रहने का निरन्तर अयत्न करते रहते हैं। जब वे गुप्तियों के पालन में असमर्थ होजाते हैं तब यत्नाचार पूर्वक समितियों में प्रवृत्त होते हैं। इस तरह वे धमण धर्म का यथाथरीति से पालन करते हैं। कभी स्वरूपाचरण चारित्र्य में प्रवृत्त होते हैं और कभी ध्यान अध्ययनादि में निमग्न रहते हैं। वे तपश्चरण रूप अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को जलाकर, केवलज्ञानी वन स्वात्मसुख को प्राप्त करते हैं, और परम पद में स्थित हो जाते हैं तथा अनन्तकाल तक वहां चिदानन्द स्वरूप में मग्न रहते हैं।

जो गृहस्थ हिंसादि पंच पापों का एक देश परित्याग कर अणुव्रतादि द्वादश व्रतों का अनुष्ठान करते हैं वे विकलचारित्र्यी गृहस्थ कहलाते हैं। वे अपने पद में रहते हुए उसका निर्भय होकर पालन करते हैं और मन्द कषायों के द्वारा पुण्य का संवर्धन करते हैं। वे विकलचारित्र्य के धारक गृहस्थ हैं, जिन्हें देश-व्रती भी कहा जाता है।

आवक तीन प्रकार के होते हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। जिन्हें जैनधर्म की पक्ष होती है वे पाक्षिक कहलाते हैं जो अतिचार सहित मूलगुणों का और अणुव्रतों का पालन करता है, जिन पूजन

में अनुराग रखता है और व्रतों के धारण करने की इच्छा करता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। जो अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षयोपशम होने से दर्शन, व्रतादि एकादश प्रतिमाओं का अनुष्ठान करता है। वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है, वह निष्ठा से प्रतिमाओं का निर्दोष रीति से पालन करता हुआ परिणामों की स्वच्छ रखने का प्रयत्न करता है, और भावशुद्धि के द्वारा आगे बढ़ता रहता है। उसमें अतिचार अनाचार नहीं लगने देता। इन प्रतिमाओं में से पहली दर्शनादि छह प्रतिमाओं का पालक जघन्य श्रावक कहलाता है और सातवीं से द्वादशी तक मध्यम श्रावक, और अन्तिम दो प्रतिमाओं का धारक उत्तम श्रावक कहलाता है। यह श्रावक अपनी भावविशुद्धि द्वारा सांसारिक देह-भोगों से उदासीन रहता है, और ऐलक तथा क्षुल्लक पद में रहते हुये लंगोटी का भी त्याग करने के लिए उत्कण्ठित रहता है।

तीसरा पद साधक श्रावक का है; जो अपनी आत्मरक्षा का साधन करता है। जो व्रती श्रावक देह-भोगों से विरक्त हो आहारादि का त्यागकर ध्यान शुद्धि द्वारा आत्मा का शोधन करता है और मरण के अन्तिम समय में आर्त रौद्र आदि संव्लेश परिणामों का परित्याग करते हुए अपने शुद्ध चैतन्य रूप का ध्यान करता है। और संतलेखना या समाधि द्वारा शुभ भावों से शरीर का विधिपूर्वक त्याग करता है।

इस तरह रत्नत्रय आत्मा की अमूल्य निधि है, और उसके पालन द्वारा आत्मा कर्म-कलंक से मुक्त होकर आत्मानन्द में निमग्न हो जाता है। अतः इस रत्नत्रय की सदैव आराधना करनी चाहिए।

परमानन्द जैन शास्त्री
६५ जवाहरपार्क लक्ष्मीनगर
दिल्ली-११००५१

चत्तारि मंगलं - अरिहंता मंगलं,
सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं,
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं॥

चत्तारि लोसुत्तमा -

अरिहंता लोसुत्तमा,
सिद्धा लोसुत्तमा,
साहू लोसुत्तमा,
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोसुत्तमो॥

चत्तारि सरणं पवज्जामि -

अरिहंते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि,
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि॥

णमोकार ग्रंथ

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मंगलाचरण	१	रत्नत्रयनाम द्वितीय अधिकार	
श्री अरहन्त भगवान् गुणवर्णन	१	सम्यग्दर्शन का वर्णन	८६
आठ मद नाम, कारण	५	जीवतत्त्व का वर्णन	६०
सात प्रकार भय	८	उपयोग अधिकार वर्णन	६१
छयालीस गुणों का वर्णन	१०	अमूर्तिक	६१
जिनेन्द्र देव के १००८ लक्षण	१२	कर्ता	६२
दस अतिशय	११	भोक्ता	६२
देव कृत चौदह अतिशय	१५	स्वदेह परिणामत्व	६२
आठ मंगल द्रव्य	१६	संसारत्व	६३
आठ प्रातिहार्य	१६	सिद्धत्व	६४
अनंत चतुष्टय	१८	उर्ध्वगतित्व	६४
जिन भगवान् के १००८ नाम	२०	अजीव द्रव्य वर्णन	६५
आचार्य के गुणों का वर्णन	६८	धर्म द्रव्य	६६
षडावश्यक नाम	७२	अधर्म द्रव्य	६६
उपाध्याय के गुणों का वर्णन	७३	आकाश द्रव्य	६६
ग्यारह अंग नाम	७३	काल द्रव्य	६६
ग्यारह अंग वर्णन	७४	सप्त तत्त्व वर्णन	६७
बारह प्रकार की भाषा	७७	षोडश भावना	१०३
दस प्रकार का सत्य	७८	दस धर्म वर्णन	११५
साधु परमेष्ठी का वर्णन	८०	द्वादश अनुप्रेक्षा	११७
पंच महाव्रत	८०	बाईस परिषद्	१२०
पंच समिति	८०	पांच प्रकार का चारित्र	१२२
छयालीस दोष	८१	तप के भेद	१२४
बत्तीस अन्तराय	८२	सम्यक्त्व के आठ अंग	१२६
चौदह मलदोष	८३	सम्यग्ज्ञान वर्णन	१६३
पंचेन्द्रिय निरोध	८३	सम्यक्चारित्र वर्णन	१६७
षट् आवश्यक	८३	आवक की तिरेपन क्रिया	१६६
अद्वियों का वर्णन	८५	पाक्षिक आवक वर्णन	१६६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
आठ मूल गुण	१६६	धर्मनाथ जी	२७६
जीवदया वर्णन	१७६	शान्तिनाथ जी	२८०
सप्त व्यसन वर्णन	१८६	कुंथुनाथ जी	२८१
नैष्ठिक श्रावक वर्णन	२३८	अरहनाथ जी	२८२
ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन	२३६	मल्लिनाथ जी	२८२
साधक श्रावक वर्णन	२४६	मुनिसुब्रतनाथ जी	२८३
लोक स्वरूप वर्णन	२४६	नमिनाथ जी	२८४
अधोलोक वर्णन	२४८	नेमिनाथ जी	२८५
मध्यलोक वर्णन	२५६	पार्श्वनाथ जी	२८०
कल्पकाल वर्णन	२५८	सम्मेद शिखर वर्णन	३०४
चौबीस तीर्थंकर		महावीर स्वामी	३०५
ऋषभदेव जी	२६२	द्वादश चक्रवर्ती	३०८
अजित नाथ जी	२६६	नव नारायण	३१४
संभयनाथ जी	२७०	वलभद्र	३१५
अभिनन्दननाथ जी	२७१	प्रतिनारायण	३१६
सुमतिनाथ जी	२७२	नव नाराय	३१७
पद्मप्रभु जी	२७२	रुद्र वर्णन	३१७
सुपार्श्वनाथ जी	२७३	चौबीस कामदेव	३१८
चन्द्रप्रभु जी	२७४	अकालंकदेव चरित्र	३२५
पुष्पदन्त जी	२७४	कुंद कुंद आचार्य वर्णन	३३२
शीतलनाथ जी	२७५	उर्ध्वलोक वर्णन	३४३
श्रेयान्सनाथ जी	२७६	छह लेश्या	३५५
वासुपूज्य जी	२७७	श्रीपाल चरित्र	३६८
बिमलनाथ जी	२७८	णमोकार पूजा	३६६
अनन्तनाथ जी	२७८		

णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।
 णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥
 ऐसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो ।
 मंगलाणं च सव्वेसि, पढमं हवइ मंगलं ॥

प्रातकाल मंत्र जपो णमोकार भाई,
 अक्षर पैंतीस शुद्ध हृदय में धराई ।
 नर भव तेरो सुफल होत पातक टरजाई,
 विघन जासों दर होत संकट में सहाई ॥१॥
 कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि जाई,
 ऋद्धि सिद्धि पारस तेरो प्रगटाई ॥२॥
 मंत्र जंत्र तंत्र सब जाही से बनाई,
 सम्पत्ति भण्डार भरे अक्षय निधि आई ॥३॥
 तीन लोक मांहि सार वेदन में गाई,
 जगत में प्रसिद्ध धन्य मंगलीक भाई ॥४॥

—बौलतराम



णमोकार ग्रंथ

संगालाचरण

आकृष्टि सुर संपदांबिबधते मुक्ति श्रियो वश्यतां,
उच्चाटं विपदां चतुर्मतिभुवां विद्वेषमात्मनसाम् ।
स्तंभं दुर्गमनं प्रति प्रयत्नतो मोहस्य संमोहनम्,
पाथात्पंच नमस्क्रियाक्षरमयी साराधना वेधता ॥

णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं ।
णमो आइरियाणं । णमो उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्व साहूणं ।

णमो अरहंताणं—अरहंत भगवान् को मेरा नमस्कार हो ।
णमो सिद्धाणं—सिद्ध भगवान् को मेरा नमस्कार हो ।
णमो आइरियाणं—आचार्यों को मेरा नमस्कार हो ।
णमो उवज्झायाणं—उपाध्यायों को मेरा नमस्कार हो ।
णमो लोए सव्व साहूणं—लोक में जितने साधु हैं उन सबको मेरा नमस्कार हो ।
इस प्रकार भगवान् पंच परमेष्ठी को नमस्कार कर आगे उनके गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है ।

अथ कस्मात्त श्री अरहन्त भगवान् गुण वर्णन

कैसे हैं वे अरहन्त भगवान् ? वे अष्टादश दोष रहित एवं छियालोस गुण सहित हैं । अष्टावश दोष कौन से हैं ?

रत्नकरण्डश्रावकाचारोक्तं श्लोकम्
क्षुत्पिपासाजरातंक, जन्मांतक भयस्मया ।
न राग द्वेष मोहाश्च, यस्यास्ताः स प्रकीर्त्यतः ॥१॥

पुनश्च दोहा

जनम जरा तिरषा क्षुधा, विस्मय आरत खेद ।
रोग शोक मव मोह भय, निद्रा चिंता स्वेद ॥१॥
राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष ।
नाहिं होत अरहन्त के, सो छवि सायक मोष ॥२॥

अरहन्त भगवान् के (१) जन्म, (२) जरा, (३) तृषा, (४) क्षुधा, (५) विस्मय, (६) अरति, (७) खेद, (८) रोग, (९) शोक, (१०) मव, (११) मोह, (१२) भय, (१३) निद्रा, (१४) चिंता, (१५) स्वेद, (१६) राग, (१७) द्वेष और (१८) मरण । ये अठारह दोष नहीं होते हैं ।

भावार्थ—सत्यार्थ देव के ये अठारह दोष नहीं होते हैं । ये अठारह दोष सब ही संसारी जीवों को लगे हुए हैं और जो यह दोष देव में भी हों तो वह देव काहे का । अतः सत्यार्थ देव अर्थात् ईश्वर उपरोक्त अष्टादश दोष रहित है । यथार्थ में विचार किया जाए तो आप्तता जो पूर्वोक्त दोष रहित और जन्मातिशय आदि गुण युक्त हो उस ही के सम्भव है और जो राग द्वेष सहित देव हैं वे कहने मात्र के ही देव हैं । दोषों में प्रथम दोष जन्म दोष कहा है ।

(१) जन्म दोष—उसके दुःख प्रत्यक्ष दीखते हैं । कैसा है जन्म दोष ? माता का रुधिर और पिता का वीर्य—इन दोनों के सम्बन्ध विशेष से इस शरीर की उत्पत्ति होती है । और माता जो आहार करती है उसके रस से यह वृद्धि को प्राप्त होता है । कारागार के समान उदर में नव मास पर्यन्त दुःख भोग कर इसका निकलना होता है । कारागार में तो चारों ओर से पवन और कभी-कभी और भी नाना प्रकार के चरित्र देखने में आते हैं और सीमा के मध्य हस्तपाद आदि अंगों का यथेच्छित हिलाना-डुलाना हो सकता है, परन्तु उदर रूपी कारागार के मध्य हस्त, पाद, ग्रीवा आदि के संकुचित रूप से बहुत दुःख से रहना होता है । कारागार में तो रहने की जगह भी मलमूत्र आदि से दुर्गन्ध रहित निर्मल होती है, पर उदर रूपी कारागार के मध्य मल-मूत्र आदि की दुर्गन्ध तथा जाल के समान मांस और रुधिर से व्याप्त एक प्रकार की थैली के मध्य रहना होता है । वरुण नव मास पूर्ण होने पर अत्यन्त दुस्सह कष्ट के साथ बाहर निकलता है । पुनः विचार करो कि बालपने में कैसी-कैसी असाध्य बाधाएँ सहन करनी पड़नी हैं । ऐसा जन्म रूप दोष यथार्थ तत्त्व प्रकृत सत्यार्थ देव आप्त के नहीं होता है ।

(२) जरा दोष—जरा अर्थात् बुढ़ापे के आने पर कुन्द के पुष्प के समान श्वेत दशनावलि अर्थात् दाँतों की पंक्ति तो रहती ही नहीं । जैसे कृतघ्नी अपना कार्य सिद्ध होने के पश्चात् दूर हो जाता है वैसे ही दाँत भी कृतघ्नी के समान दूर हो जाते हैं और हाड़ों की संधियाँ ढीली हो जाती हैं । मानों देह बुढ़ापे को आता देखकर भय मानकर काँपती है और काया रूपी नगरी ऐसी दीखती है मानों जरा रूपी तस्कर द्वारा लूट ली गई हो अतः वह पहचान में नहीं आती है । बालों का रंग पलट जाता है और वे श्वेत हो जाते हैं । शरद ऋतु में जैसे फूले हुए डाम (कांस) वर्षा ऋतु का बुढ़ापा प्रगट करते हैं वैसे ही

ये केश भी मानों बुढ़ापा प्रगट करते हैं। शरीर अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित हो जाता है और परिणाम भी चंचल हो जाते हैं। रोगावस्था में वैसे ही अपने प्राण समान प्रिय पुत्र भी जब निकट नहीं आते हैं जैसे दुष्ट मित्र आपत्ति के समय पास नहीं आते हैं, तब अन्य कुटुम्बी जनों की क्या बात? सब ही अपने अपने स्वार्थ के सगे हैं निज स्वार्थ के बिना कोई भी किसी का प्रिय नहीं। जैसे नीतिकार ने कहा भी है।

शार्दूल छन्द

वृक्ष क्षीण फलं त्यजन्ति विहगाः, बन्धं वनान्तं मुगाः ।

पुष्पं पीत रसं त्यजन्ति मधुपाः, शुष्कं सरः सारसाः ॥

निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका, भ्रष्टं नृपं मन्त्रिणः ।

सर्वं कार्यं वशाज्जनोभिरमते, कः कस्य ने वल्लभः ॥

अर्थ—जिस प्रकार विहग अर्थात् पक्षी वृक्ष के फलहीन होने पर, मृग हरी दूब वाले वन के भस्म होने पर, मधुप अर्थात् भौरे पुष्प के रस पान कर लेने पर, सारस सरोवर के जल रहित होने पर, गणिका अर्थात् वेश्या पुरुष के द्रव्यहीन होने पर, और मन्त्री राजा के राज्य भ्रष्ट होने पर त्याग कर देते हैं उसी प्रकार कुटुम्बी जन भी अपने-अपने कार्य के वशीभूत होने पर उससे प्रेम भरा वार्त्तालाप करते हैं और उसे अपना वल्लभ अर्थात् प्यारा समझते हैं। अपना प्रयोजन सिद्ध होने पर अथवा आपत्ति आई जानकर तत्समय ही उससे पृथक् हो जाते हैं। अतः निष्पक्ष सिद्ध हुआ कि 'सब ही अपने अपने कार्य की सिद्धि के लिए दूसरे की सेवा सुश्रूषा करते हैं, पर के लिए कोई नहीं।' बुढ़ापा आने पर श्रोत्रेन्द्रिय की शक्ति भी न्यून हो जाती है अतः वह अब सुन नहीं पाती है। जठराग्नि भी जरा के आगमन से मन्द हो जाती है अतः परिणाम स्वरूप क्षुधा भी न्यून हो जाती है। क्षुधा के न्यून होने से शरीर की शक्ति घट जाती है अतः चाल अटपटी हो जाती है और नेत्रों की ज्योति कम हो जाती है। मुख के द्वारा दूसरों को म्लानि उपजाने वाला कफ भरने लग जाता है और शरीर इतना पराक्रमहीन हो जाता है कि अपने तन के वस्त्रों की भी सुध नहीं रहती तो और बात का क्या कहना? ऐसा दुःखदाई जरा रूप दूसरा दोष भी सत्यार्थ मार्ग के प्रवर्तक सकल परमात्मा ईश्वर के नहीं होता है अतः ऐसे निर्दोष ईश्वर को मेरा नमस्कार हो।

(३) तृषा अर्थात् प्यास दोष—कैसा है यह दोष? इसके होते ही समस्त संसारी जीव व्याकुल हो जाते हैं और जब तक प्यास शमन नहीं हो जाती तब तक निराकुलता नहीं होती है। ऐसा तीसरा तृषा दोष भी सर्वत्र हितोपदेशी सकल परमात्मा ईश्वर के नहीं होता। ऐसे निर्दोष ईश्वर को बारम्बार नमस्कार हो।

(४) क्षुधा दोष—कैसा है यह दोष? इसके वश में होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ने वन में फल भक्षण कर इस क्षुधा रूपी पिशाचिनी को आहार रूप बलि देकर शान्त किया। और कैसी है यह क्षुधा? जिस समय चौथे काल के आदि में उत्पन्न होने वाले चौदहवें कुलकर नाभिराय के नन्दन धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थकर आदिनाथ भगवान् नीलाङ्गना अप्सरा को नृत्य करते हुए देखकर वैराग्य को प्राप्त हुए और सुरेन्द्रादि द्वारा पालकी चढ़ वन को गए एवं केशलोचन कर षट् मास पर्यन्त आहार का निरोध किया। उस समय उनके संग अनेक राजाओं ने राज्य में त्याग कर मोक्ष की इच्छा से तप धारण किया। पर कुछ समय पश्चात् क्षुधा रूपी पिशाचिनी कृत उपसर्ग को न सह सकने पर, व्याकुल होकर भरत चक्रवर्ती के भय से स्व स्थान को न जाकर वन में प्राप्त वृक्ष आदि के फलों से क्षुधा

शान्त कर, वृक्षों के वक्कल तथा गेरू आदि से रंगे वस्त्र धारण कर उन्होंने शान्त काल संसार में परि-
भ्रमण कराने वाले तीव्र कर्म का बंधु किया। इस क्षुधा के वशीभूत होकर संसार के समस्त प्राणी व्याकुल
होकर अच्छे बुरे का ज्ञान खो देते हैं। और जैसे भी बन सके योग्य, अयोग्य कार्य करके अपनी क्षुधा
को शान्त करने के लिये आहार उपार्जन करने का प्रयत्न करते हैं। और कैसी है यह क्षुधा? इसके वश
होकर मनुष्य अपने प्राणों के समान प्रिय इष्ट स्त्री, पुत्र आदि को तज देश देशान्तर में प्रति गमन करते
हैं। इसके निमित्त मनुष्य चोरी करते हैं और भूठ बोलते हैं। पर जीवन का घाव करते हैं और यदि दैव-
योग से पकड़े जाएँ तो राजाओं के द्वारा अनेक प्रकार के छोटे-छोटे दण्ड पाते हैं, पिटते हैं और दुष्ट
वचन सहते हैं। किसी कवि ने सत्य कहा है :—

छप्पय

मूख बुरी संसार में, मूख सबही गुण खोवे ।
मूख बुरी संसार, मूख सब को मुख जोवे ॥
मूख बुरी संसार में, मूख कुल काण घटावे ।
मूख बुरी संसार, मूख आवर नहि पावे ॥
मूख गमावे लाज, पति भूषण कार में ।
मन रहस मनोहर इम कहें, मूख बुरी संसार में ॥

अर्थ सुगम है। ऐसा क्षुधा रूपी जीया दोष भी सकल परमात्मा अरिहन्त भगवान् के नहीं
होता। उन्हें मेरी बारम्बार नमस्कार हो।

(५) विस्मय दोष—कैसा है यह दोष? इसके होते हुए जीवों के तन, मन, वचन सब काँप
जाते हैं।

भावार्थ—विस्मय नाम आश्चर्य तथा अचम्भे का है सो आश्चर्यकारी वार्त्ता के श्रवण करने से
विद्या, बल, ऐश्वर्य, व्रत, संयम आदि सब ही को बिसराकर चेतनात्मा डावाँडोल हो जाती है। ऐसा
विस्मय नामक पंचम दोष अर्हन्त अर्थात् सकल परमात्मा के नहीं होता है। उन अरहन्त के चरण-कमल
मेरे हृदय में बसैं।

(६) अरति दोष—यह दोष भी अर्हन्त के नहीं होता है। पूर्व जिस इष्ट वस्तु के लिए उत्सुकता
तथा आसक्ति थी उसका वियोग होने से उसका बारम्बार चिंतन करना अरति दोष है। कैसा है यह
दोष? यह ब्रह्मा, विष्णु, और शिव तीनों के गर्भित है।

भावार्थ—ब्रह्मा उर्वशी जाति की तिलोत्तमासुरी के राग से अरति भाव प्राप्त होकर दुःख को
प्राप्त हुए। इस कारण से ब्रह्मा में अरति दोष विद्यमान है अतः वे दुःखी हैं। कृष्ण महाराज का ग्वालिनियों
के साथ रतिभाव था अतः जब ग्वालिनियाँ छिप जाती थीं तब वे अरति भाव को प्राप्त होकर व्याकुल हो
दुःखित हो जाते थे अतः इस कारण से कृष्ण महाराज दुःखी हुए और शिवजी पार्वती के वियोग से अरति
भाव को प्राप्त होकर दुःखी होते थे अतः ईश्वरत्व भाव न होने से नाम मात्र ईश्वर कहलाते हैं। ईश्वर
तो वही है जिसके अरति दोष नहीं होता। ऐसा दुःखदायक अरति नामक दोष सकल परमात्मा अर्हन्त के
नहीं होता। उनको मैं हस्त मस्तक पर धारण कर और मस्तक को पृथ्वी से लगाकर नमस्कार करता हूँ।

(७) लोभ दोष—लोभ अर्थात् दुःख, कैसा है यह दुःख? इसका नाम ही सुनकर जीव भय-भीत
हो जाते हैं। यह दुःख संसारी जीव के ही होता है। और संसार नाम बार-बार जन्म धारण करने का है।

भाषार्थ—बार-बार अवतार लेना ही संसार है। विष्णु महाराज ने बार-बार अवतार धारण किया है अतः वे दुःखी हैं। परन्तु सकल परमात्मा अर्हन्त के दुःख रंजमात्र भी नहीं। दुःख के बीजभूत जो दोष हैं वे स्वप्न में भी उनके पास नहीं आते हैं अतः उन्हें मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

(८) रोग दोष—कैसा है यह दोष? इसके होते हुए जीव की चेष्टा प्रति ही व्याकुल रूप हो जाती है और वह सुध-बुध रहित हो जाता है। यह रोग नामक दोष भी शिवजी के आ तब व्याकुल होकर घटूरा खाकर उन्होंने रोग शान्त किया। पर यह रोग दोष जिनेन्द्र भगवान के नहीं होता। अतः उन्हें मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

(९) शोक दोष—यह दोष भी अर्हन्त के नहीं होता। इष्ट पदार्थों के वियोग होने पर परिणामों में व्याकुलता होना शोक है और सकल परमात्मा अर्हन्त भगवान् के सकल पदार्थों में समभाव है अतः उनमें यह दोष भी नहीं है। ऐसे परमात्मा को मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

(१०) मद अर्थात् गर्व दोष—इसे मान भी कहते हैं। कैसा है यह दोष? यह पर्वत के समान है मान रूपी पर्वत के आश्रय को पाकर जीव अपने आपे को भूल जाते हैं और संसार में नीच दिशा को प्राप्त होते हैं। यह मान आठ पदार्थों का आश्रय पाकर जीव के हो जाता है।

उन अष्ट मद के कारण के नाम इस प्रकार हैं :—

यथोक्तं रत्नकरण्डश्रावकाचारे श्लोकम्
ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमुद्धितपोवपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमादुर्गतस्मयाः ॥

अर्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि तप और शरीर की सुन्दरता—इन अष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से आठ प्रकार का मद हो जाता है।

अपनी विद्या का मद—कि मैं बहुत बुद्धिमान हूँ, मेरी बुद्धि स्मृति तथा तर्कशक्ति बहुत तीव्र है यह ज्ञान मद है। १।

अपनी पूजा अर्थात् प्रतिष्ठा का मद कि मैं सर्वजन प्रतिष्ठित हूँ, मुझे सबसे ऊँचा मानते हैं, यह पूजा-मद है। २।

अपने कुल का मद है कि जितना ऊँचा मेरा कुल है उतना ऊँचा और किसी का नहीं है सो कुल मद है। ३।

उच्च जाति का मद कि मैं ब्राह्मण हूँ क्षत्रिय हूँ वैश्य हूँ। मैं तो ऊँची जाति का हूँ और वह नीच जाति है सो जाति मद है। ४।

बल अर्थात् पराक्रम का गर्व कि मैं ऐसा बलवान हूँ मेरे समान और कोई नहीं। यदि मैं किसी को एक मुष्टि की चोट लगा दूँ तो उसमें ही वह परलोक सिधार जाए। सो बल मद है। ५।

अपने तप का मद कि मैं जैसा तप करता हूँ वैसा कोई और तप नहीं कर सकता सो तप मद है। ६।

ऋद्धि का मद कि जितना मेरे पास धन तथा ऐश्वर्य है उतना और किसी के पास नहीं सो ऋद्धि मद है। ७।

वपु अर्थात् शरीर की सुन्दरता का मद, कि जैसा मेरा कांतिवान सुन्दर शरीर है ऐसा और किसी का नहीं, सो शरीर के रूप का मद है। ८।

(१) ज्ञान मद—इस प्रकार उक्त आठ पदार्थों का आश्रय पाकर मद प्रादुर्भूत होता है। इन मदों को अज्ञानी जन ही धारण करते हैं, ज्ञानी नहीं। ज्ञानी विचार करते हैं कि मैं किसका मद करूँ? मेरी निज वस्तु अर्थात् निजात्मा का स्वभाव जो ज्ञान व दर्शन है वह अभी मुझे प्राप्त हुआ ही नहीं तो जब मेरा ही वस्तु मुझे प्राप्त नहीं तो मैं इन पर वस्तुओं को पाकर कैसा मद करूँ? मेरा तो केवल एक ध्येय है — केवल ज्ञान, उस ज्ञान को ज्ञानावरणी कर्म ने आच्छादित कर दिया है और अब किंचित् ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम में किंचित् ज्ञान प्राप्त हुआ तो मैं किस बात के लिए मद करूँ? कभी मैंने तिर्यच गति में जाकर जन्म लिया तब अज्ञान में मग्न होकर आत्महित का विचार नहीं किया और कभी थावर में जा उपजा तो अक्षर के अनन्तर्वे भाग ज्ञान पाया। जब कुछ सुध-बुध ही नहीं तो आत्महित के विचार का क्या कहना? अब कुछ जाड्य-सांख्यवत् (वस्तु) का स्वरूप कुछ तो समझ में आवे और कुछ न आवे। संक्षेप ज्ञान पाकर मद करूँगा तो पुनः नरक निगोद में भटक भटककर अनन्त काल पर्यन्त दुःख पाऊँगा। ऐसा विचार कर ज्ञानी जन ज्ञान का मद नहीं करते हैं। ये मद विष्णु आदि अन्य देवों में पाए जाते हैं परन्तु ये दोष लोकालोक प्रकाशक सकल परमात्मा अर्हन्त के नहीं होते हैं अतः उन्हें मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

(२) प्रतिष्ठामद—इसे भी ज्ञानी जन नहीं करते हैं। ज्ञानी जन विचार करते हैं कि मेरी आत्मा शुद्ध स्वरूप तीन जगत द्वारा पूज्य है। और यह ही मेरा आत्म विभाव रूप में परिणमित हो गया है, अतः स्थावर योनि में अनेक पर्याय धारण कर पैसों में बिका है। अतः मैं मद कैसे करूँ? मेरा आत्मा तीन लोक का स्वामी है सो अब मैं नामकर्म की प्रकृति आदेयता के क्षयोपशम से इन मनुष्यों द्वारा आदर भाव को प्राप्त हो गया हूँ। यह तो मेरा जब तक पुण्य प्रकृति का उदय है, तब तक मेरा आदर सत्कार होता है पुण्य के क्षीण होते ही मेरे पास कोई नहीं आयेगा और अब भी मैं यदि मद करूँगा तो नरक निगोद में सड़कर बहुत दुःख भोगना पड़ेगा। ऐसा विचार कर ज्ञानी ऐश्वर्य मद (प्रतिष्ठा मद) नहीं करता है।

(३) कुलमद—ज्ञानी लोग अपने कुल का मद नहीं करते हैं। कारण कि ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि यह जो कुछ है सो मेरा नहीं है। सब स्वार्थ के साथी हैं मेरा तो निश्चित कुल चार अनन्त चतुष्टय ही है। वह तो मुझे प्राप्त नहीं हुआ है और जो कोई अब शुभ कर्म के उदय से उत्तम कुल पाया है जब तक मेरा शुभ उदय है तब तक ही यह है तब मैं इस नाशवान कुल का क्या मद करूँ? यदि मैं मद करूँगा तो फिर नरक गति में पड़कर अनेक दुःख भोगना पड़ेगा। ऐसा समझकर के ज्ञानी जन कुल का मद नहीं करते हैं।

(४) जातिमद—उसको भी ज्ञानी कभी धारण नहीं करते हैं। कारण कि ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि मेरी जाति तो केवल सिद्ध पद ही है और ये उच्च जाति को अब मैं प्राप्त हो गया हूँ तो जब तक मेरा शुभ कर्म का उदय है तब तक मैं उच्च जाति में हूँ। अब जो मैं इस जाति का मद करूँगा तो फिर एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इन नीच जातियों में भटक-भटक कर दुःख भोगना पड़ेगा। ऐसा विचार करके ज्ञानी कभी भी जाति मद नहीं करते हैं।

(५) बल मद—ज्ञानी बल मद भी नहीं करते हैं। ज्ञानी विचार करता है कि यह बल मेरे अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुआ है, सो अब यह बल जब तक मेरा पूर्व पुण्य है तब तक मेरे साथ रहेगा। चैतन्य आत्मा इसके अन्दर रहता है जब तक बल भी शरीर के अन्दर ठहरता है पीछे वह बल भी नष्ट हो जाता है अब यह बल पाना तो मेरा तब सफलता को प्राप्त हो, जब छः काय के जीवों

की दया करूँ: तब ही इसी शरीर बल की सफलता है। विनाशिक बल का मद मैं कैसे करूँ, कारण कि यह बल तो रोग के आते ही घट जाता है इसलिए मैं इस प्रकार शरीर बल की प्राप्ति के बारे में कैसे मद करूँ? दूसरे यह बल तो घी, दूध, फल आदि भक्षण करने से ही प्राप्त होता है। और यदि घी, दूध, आदि पुष्टिकारक पदार्थों का भक्षण न करूँ तो शरीर का पराक्रम आदि सब नष्ट हो जाता है इसलिए विनाशिक बल का मद करना व्यर्थ है। मेरा बल तो अनन्त बल है। जब तक वह प्राप्त नहीं है तब तक मद कैसे करूँ। ऐसा समझकर ज्ञानी बल का मद नहीं करते हैं।

(६) अद्वि मद—अर्थात् ऐश्वर्य मद—उसका ज्ञानी लोग मद नहीं करते हैं। ज्ञानी लोग ऐसा विचार करते हैं कि यह ऐश्वर्य तो क्षण भंगुर एवं विनाशिक है। यह तभी तक रहता है जब तक मेरे शुभ कर्म का उदय है। पीछे अशुभ कर्म के उदय होने पर यह रंक कर देता है तथा अनेक प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं—ऐसा जानकर ज्ञानी लोग धन का मद नहीं करते हैं।

(७) तप मद—ज्ञानी लोग अपने तप का भी मद नहीं करते हैं। कारण कि ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि मैं तप कहाँ करता हूँ? सम्यक्त्व तप तो मुझको अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। जो प्राप्त हो जाता तो अब तक संसार में जन्म-मरण को क्यों प्राप्त होता। इतना दुःख क्यों सहता? मेरा तप करना तो तभी सफल हो सकता है जबकि मैं दर्शनावरणयोग आदि घातिया कर्मों का शय्य करके निज चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य को प्राप्त हो जाऊँ। तब ही मेरा तप करना सफल है और इस क्षुद्र तप का जो मैं मद करूँगा तो पुनः संसार में प्रवृत्त काल तक नाना प्रकार के दुःखों को मुझे भोगना पड़ेगा। ऐसा विचार करके ज्ञानी जीव तप का मद नहीं करते हैं।

(८) शरीर मद—शरीर के प्रति भी ज्ञानी लोग मद नहीं करते हैं। अज्ञानी अर्थात् बहिरात्मा जीव ही अपने शरीर का मद करते हैं। ज्ञानी इसके बारे में ऐसा विचार करता है कि यह शरीर अस्थिर, विनाशी, सप्त धातु अर्थात् मांस, रस, अस्थि, रक्त, मज्जा, केश, वीर्य और सात ही उप धातु अर्थात् वात, पित्त, कफ, शिर, स्नायु, चाम और जठराग्नि ऐसे सात से भरे हुए घर के समान है, तब ऐसे शरीर का मैं कैसे मद करूँ? यह जल के बुलबुले के समान अचल और विनाशिक है। ज्ञानी जन ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर महादुर्गन्धमय घृणा रूप है जो प्रातः काल के समय सुन्दर दिखता है और शाम को इस के अन्दर रोग प्रकट हो जाता है ऐसे रोगमयी शरीर के प्रति कैसा मद करूँ? ये शरीर कृतघ्नी सदृश है।

भावार्थ—जैसे कृतघ्नी का पोषण करते-करते भी समय पर वह काम नहीं आता है इसीतरह से यह देह भी कृतघ्नी के समान घी, दूध आदि उत्तमोत्तम रस ग्रहण करते रहने से भी दुर्बल हो जाता है और यह देह बहुत मूल्यवान् सुगन्धित पदार्थ के लगते रहने से भी दुर्गन्ध रूप हो जाता है अतः ऐसे अवगुण से भरी हुई देह का ज्ञानी कभी भी मद नहीं करते हैं। ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि मनुष्य देह मुझे बहुत दुर्लभता से प्राप्त हुई है सो यह मनुष्य जन्म और देह का पाना तब ही सार्थक होता है जब इससे मैं तप करूँगा और निज स्थान को पाऊँ तब ही यह सार्थक है। अन्यथा मैंने चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ यह शरीर अनेक बार पाया और जैसे काग रत्न को फेंक देते हैं उसी प्रकार मैं अनादि काल से इस शरीर रत्न को फेंकता आ रहा हूँ और मैंने विषय भोगों में रत होकर दुर्लभ मनुष्य पर्याय को खोया परन्तु मैंने निज स्थान मोक्ष पद को नहीं पाया इसलिए अब भी मैं उपाय करके संसार से छूटने का यत्न नहीं करूँगा तो बारम्बार मुझे संसार में भटक-भटक कर अनेक प्रकार की नीच योनियों में जाना पड़ेगा और अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ेंगे ऐसा विचार कर

ज्ञानी जीव रंच मात्र भी मद नहीं करते हैं। ऐसा जो मद नाम दसवां दोष है अहंस्त भगवान् में नहीं पाया जाता है। ऐसे अहंस्त भगवान् के चरण की भक्ति मेरे चित्त में हमेशा बसी रहे।

(११) मोह दोष—यह कैसा दोष है? मोह रूपी दोष जिसके होता है वह अचेतन हो जाता है।

भाषार्थ—मोह मदिरा के समान है। जैसे मदिरा पीकर प्राणी बेहोश हो जाता है उसी प्रकार मोह में मग्न होते हुए वह पागल की तरह हो जाता है।

बोहा: जैसे मदिरा पान से, सुध बुध सर्व विलाय ।

तैसे मोह कर्म उदय, जीव गहल हो जाय ॥

तो यह मोह कैसा है? जब बलदेव, कृष्ण महाराज के अचेतन कलेवर को छः महीने पर्यन्त अपने कन्धे पर लेकर भ्रमण करते रहे तो क्षुद्र पुरुष की क्या बात? ऐसा मोह रूपी शत्रु अहंस्त परमात्मा ने ध्यान रूपी खड्ग से जीत लिया है। ऐसे परमात्मा के चरण कमल हमेशा मेरे हृदय रूपी सरोवर में वास करें और अहंस्त की वाणीरूपी किरण से वह कमल सदा काल विकसित रहे।

(१२) भय दोष—कैसा है यह भय दोष? भय नामक दोष के आते ही जीव मात्र धर धर कापने लग जाता है। जब सुध-बुध भूल जाता है और जान जाता है कि यह भय मरण के लघु भ्राता के समान है।

भाषार्थ—जिस प्रकार मृत्यु से जीव कांपता है उसी प्रकार भय से भी जीव कांपता है। यह भय सात प्रकार का है—

बोहा—इस भय भय, परलोक भय मरण वेदना जानु ।

अनरक्ष, अनुगुप्ति भय, अकस्मात् भय सात ॥

अर्थात्—१. इह लोक भय, २. परलोक भय, ३. मरण भय, ४. वेदना भय, ५. अरक्षा भय, ६. अनुगुप्ति भय, ७. अकस्मात् भय ये सात प्रकार के भय हैं।

यह भय कैसा है? जिसको भय होता है वह व्याकुल होकर इधर-उधर छिपता रहता है। जैसे कि भय के होते ही महादेव जी नाम मात्र 'स्वयम्भू' नाम धारक भस्मासुर के भय से विष्णु महाराज के सिंहासन के नीचे आकर छिप गये और कृष्ण महाराज जन्म समय ही कंसराज के भय से मथुरा को छोड़ कर वृन्दावन को चले गये और ग्वालिनी यक्षोदा की पुत्री को कृष्ण के बदले में कंस को सौंपा। तब कंस ने उस कन्या की नासिका को दबाकर चपटा कर दिया।

भाषार्थ—नासिका के ऊपर मुष्टिका प्रहार कर देने से नासिका चपटी हो गई। ऐसा जो दामोदर औरों की बलि देखकर स्वयं बचे तो घन्य है ऐसे ईश्वरपते को! पुनः यशोदा नामक ग्वालिनियों के स्नानसे उत्पन्न दुग्धपान करके कृष्ण वृद्धि को प्राप्त हुए। तत्पश्चात् गायों और भैसों को जाकर घेर लिया और ग्वालिनियों के दधि को चुराकर खाया। फिर भी उन्हें ईश्वर मानते हैं। ऐसे भोले-भाले जीवों की अज्ञानता को क्या कहें? ये लोग मिथ्यात्व के अन्धकार में अन्धे हो गये हैं। अब विचारिए कि जिस भय नामक दोष ने घूर्जटी और अनंग पिता को भी सताया तो अन्य पुरुषों का क्या कहना? ऐसा भय नामक दोष अहंस्त भगवान् सकल परमात्मा के नहीं है, अतः ऐसे सकल परमात्मा हमारी रक्षा करें।

(१३) निद्रा दोष—यह निद्रा कैसी है ? निद्रा के आवेश में यह जीव अचेतन होकर गाफिल हो जाता है ऐसी अवस्था में उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं रह जाती । सोते हुए को चाहे जो भी कुछ कर डालो उसे खबर नहीं रहती । निद्रा रूपी नशा भी विष्णु महाराज के अन्दर पाया जाता है क्योंकि काली नाग की पीठरूपी शय्या पर छः माह तक हाथ पांव पसार कर निद्रा में मग्न रहे । उधर षट्मास के वियोग हो जाने से ग्वालिनियाँ दुःखी होकर रोने लगीं । तो विचार कोजिये कि ऐसे ईश्वर का क्या ठिकाना है । ? ऐसा निद्रा नामक दोष अर्हन्त सकल परमात्मा में नहीं है सो परम पुरुषोत्तम मेरी रक्षा करें ।

(१४) चिन्ता दोष—यह दोष कैसा है ? जिसके होते ही जीव के मन में वैचेतनी हो जाती है । पुनः यह चिन्ता कैसी है ? भस्म से ढकी हुई अग्नि के समान अन्दर शरीर को भस्म कर देती है । उक्तं च, गिरधर कवि की कुण्डली इस प्रकार है—

चिन्ता ज्वाल शरीर बिन, बाधानस लग जाय ।
प्रकट धूम नहि देखिए, उर अन्धर धुधकाय ॥
उर अन्धर धुधकाय जले, ज्यों काँच की भट्टी ।
जल गए लोह, मांस, रह गई हाड की टट्टी ॥
कहें गिरधर सपिण्ड, तुम हो मेरे गिरधर ।
वे नर कैसे जियें, जाहि तम व्यापे चिन्ता ॥

अर्थ—ऐसी चिन्ता रूपी अग्नि काँच की भट्टी के समान जिनके अन्दर रहती है उनके दुःख का क्या पूछना ?

दोष — चिन्ता चिता समान, बिन्दु मात्र अन्तर लखो ।
चिता दहस निःप्राण, चिन्ता बहत सजीव को ॥

ऐसा चिन्ता नामक दोष भी ब्रह्मा, विष्णु, और महेश में पाया जाता है । क्योंकि चिन्ता वहाँ पर अवश्य होती है जहाँ पर राग-द्वेष मौजूद रहता है और जहाँ पर राग-द्वेष है वहाँ पर देवत्वपना नहीं ।

भावार्थ—भक्ति वानों से राग असुरों से बैर, सो असुरों को मारने की चिन्ता होने से निश्चय ही यह दोष भी इनमें पाया जाता है । जब वे स्वयं दुःखी हैं तो अपने भक्तों को कहां से सुख दे सकते हैं ? अतः राग द्वेष रहित बीतराग देव ही सर्वज्ञता और सर्वथा सुखी दीखते हैं । कारण कि वे न भक्तों से प्रेम और न बैर करने वालों से द्वेष रखते हैं इस कारण उनको चिन्ता नहीं, तब राग द्वेष से रहित होने के कारण बीतराग देव ही सर्वत्र सुखी हैं और जब वे स्वयं सुखी हैं तभी हम सभी को भी राग-द्वेष रहित सुखदायी उपदेश देते हैं, पर जो स्वयं सुखी नहीं वह दूसरे को क्या सुख का उपदेश दे सकता है ? इस बात से यह निश्चय हो गया कि राग-द्वेष युक्त जो है उसे चिन्ता है और चिन्ता से वह दुःखी है जो राग-द्वेष से रहित होगा वही चिन्ता से रहित हो सकता है । जहाँ चिन्ता नहीं है वहाँ दुःख नहीं है । इसी लिए अरहन्त परमात्मा में जो अनन्त सुख विद्यमान है वह राग-द्वेष से रहित होने के कारण है । अतः मैं भी उन्हीं की शरण प्राप्त हो जाऊँ जिससे कि मैं भी उनके सुख को धारण कर सकूँ ।

(१५) स्वेद दोष—अर्थात् पसीना यह दोष कैसा है ? इससे शरीर में सुगन्धित वस्तु का लेपन करने पर भी क्षण मात्र में वह पुनः उसे नष्ट करके दुर्गन्ध को प्राप्त करा देता है और प्रगट होते ही बेचैनी होने लगती है। इसके संग से सुगन्धित वस्त्र भी दुर्गन्धित हो जाते हैं ऐसा दुर्गन्ध रूप स्वेद दोष है यह दोष अरहन्त परमात्मा को नहीं होता। ऐसे अरहन्त सकल परमात्मा मेरे भी दोष को दूर करें।

(१६) राग (प्रेम) दोष—कैसा है यह राग ? इस राग रूप जाल की विचित्र गति है। इसमें समस्त संसारी जीव फंसे हुए हैं। जैसे जाल में पशु-पक्षी नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं, इसी प्रकार जो भी इस जाल में फंसा वह भयानक दुःख को भोगता रहता है। पुनः यह राग कैसा है ? अग्नि के समान आतापकारी है।

भावार्थ—जिस वस्तु से जीव को राग अर्थात् प्रेम होता है उसका वियोग हो जाने से आताप अर्थात् दुःख होता है। यावत् अभीष्ट वस्तु प्राप्त न हो तावत् चाह रूपी अग्नि से वह जला करता है। ऐसा राग नामक दोष ब्रह्मा, विष्णु और महेश में भी पाया जाता है।

भावार्थ—ब्रह्मा को देवांगनाओं से, विष्णु को सुदर्शन चक्र से और महेश को त्रिशूल से राग होने से वे सभी दुःखी हैं। ऐसे देव नाम मात्र सुखी हैं। अतः राग रूपी दोष की अग्नि को श्री जिनेन्द्र भगवान् ने समता रूपी शीतल जल से शान्त किया है। उनके चरणारविन्द सदा मेरे हृदय रूपी सरोवर में निवास करें।

(१७) द्वेष अर्थात् वैर दोष—यह दोष कैसा है ? जब मन में द्वेष पैदा हो जाता है तब मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। यह द्वेष दोष अन्य देवों में भी पाया जाता है।

भावार्थ—विष्णु ने राक्षसों से वैर किया था। उनके लिए नरसिंह अवतार धारण करके दैत्येन्द्र हिरण्यकश्यप के वक्षःस्थल को बड़े यत्न से नाखूनों से विदीर्ण किया था। पुनः अर्जुन के सारथी कृष्ण ने महाभारत संग्राम में कौरवों को मारा और महादेवजी ने भस्मासुर का वध किया तथा बाण से अग्नि उत्पन्न करके तीन पुरों को जला दिया। अतः द्वेष इनके अन्दर है, पर केवली भगवान् को किसी से भी द्वेष नहीं है। वे षट्कायिक जीवों के रक्षक अरहन्त परमात्मा भव समुद्र से मुझे पार करें।

(१८) मरण दोष—यह मरण कैसा है ? इस मरण के मुख का ग्रास सभी संसारी जीव हैं। यह दोष भी अरहन्त सकल परमात्मा में नहीं है।

इति अष्टादश दोष वर्णन समाप्तम्।

प्रारम्भ में ही कहा था कि—अठारह दोष रहित और आत्मिक अनन्त चतुष्टय व काष्ठ ३४ अतिशय से युक्त तथा अष्ट प्रातिहार्य से युक्त अरहन्त देव हैं। इसलिए ऊपर अठारह दोषोंका संक्षेप में वर्णन किया गया है।

अब ४६ गुणों का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं—

बोहा—चौतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुन आठ।

अनन्त चतुष्टय गुण धरें, यह छियासीसों पाठ ॥

अर्थ सुगम है। अन्योक्त :-

बोहा—विगत दोष अतिशय गरिम, प्रातिहार्य चतुनंत।

एवंछियासीस गुण सहित, विरक्ततानंतानंत ॥

अब जन्म के दस अतिशयों का वर्णन करते हैं :—

दोहा— अतिशय रूप सुगन्ध तन, नहीं पसेव निहार ।

प्रिय हित वचन, अतुल बल, रुधिर श्वेत आकार ॥

लक्षण सहस्र अरु आठ तन, समचतुष्क संठान ।

वज्रवृषभनाराचयुत, ये जन्मत दस जान ॥

अर्थ—(१) अत्यन्त सुन्दर शरीर है, वह ऐसा नहीं है, कि जैसा काले नाग की फुंकार से विष्णु जी का शरीर श्याम वर्ण हो गया, ऐसा शरीर नहीं कि जैसे शिवजी के शरीर में रोग हो जाने से धतूरे का सेवन किया जिससे कि वह रोग जाता रहा, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान का शरीर नहीं होता । जिनेन्द्रदेव के शरीर की प्रशंसा व स्तुति इन्द्रादि भी अपनी सहस्र जिह्वा से करते समय असमर्थ हो गए तो फिर मनुष्य की बात ही क्या है ?

(२) जिनका शरीर अत्यन्त सुन्दर व सुगन्धित है उनके शरीर सुगन्ध से रोगियों का रोग नाश हो जाता है ।

(३) अस्वेद—भगवान् का शरीर पसीने से रहित होता है । यदि पसीना आ जाय तो उससे दुर्गन्ध का प्रसंग आ जाता है इसलिए भगवान् के शरीर में पसीने का अभाव है ।

(४) भगवान् जिनेन्द्र देव के शरीर में मल मूत्र नहीं । यदि मल मूत्र होता तो उनके शरीर में दुर्गन्ध अवश्य आती । अतः जिनेन्द्र भगवान् का शरीर अत्यन्त सुगन्धित है ।

(५) जिनेन्द्र भगवान् का हितमित वचन—हित का अर्थ सभी जीवों के लिए हितकारि मित अर्थात् सन्देह उत्पन्न न करने वाला हो, ऐसा अल्प वचन, प्रिय कहिए अमृत के समान प्रिय वचन जैसे अमृत रोग को दूर करता है वैसे भ्रम रूपी रोग को हरण करने वाला श्री जिनेन्द्र भगवान का वचन होता है । ऐसे नाम मात्र के महादेव के समान वचन नहीं कि किसी को वर दिया और किसी को श्राप भगवान् जिनेन्द्रदेव के वचन ऐसे कदापि नहीं होते ।

(६) अतुल बल—जिनके शरीर के पराक्रम के समान किसी अन्य का पराक्रम या बल नहीं है ।

(७) दुग्धवत् श्वेत वर्ण के समान रुधिर होता है ।

(८) समचतुरस्र संस्थान—अर्थात् जिनका शरीर ऊँचे नीचे और मध्य में समान भाग से यथायोग्य आकृति वाला है ।

भावार्थ—जैसे साँचे में ढाली हुई वस्तु ज्यों की त्यों सुन्दर रहती है उसी प्रकार परम शान्त मुद्रा भगवान् का शरीर सुशोभित रहता है ।

(९) वज्रवृषभनाराच संहनन—अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के शरीर में वज्र अर्थात् रुष्टन, नाराच अर्थात् कील और संहनन अर्थात् अस्थि पंजर—ये तीनों ही वज्र के समान अभेद्य हैं । इस कारण श्री जिनेन्द्र देव का बल भी अवर्णनीय है ।

भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव के शरीर में १००८ शुभ लक्षण होते हैं जिनमें से कुछ लक्षणों को यहां कहेंगे ।

श्री वृक्षशंख सरोज स्वस्तिक, शक्तिचक्रसरोवरो ।
 चमर सिंहासन छत्रतोरण, रंगपति नारी नरो ॥
 सायर विचारकल्पवेली, कामधेनुध्वजाकरी ।
 वरवज्रबाणकमान कमल, कलश कच्छपकेहरी ॥
 गंगा गौ वस्त गरुड़ गोपुर, वेणु वीणा वीजना ।
 जुगमीन महल मृदंगमाला रत्न द्वीपेन्दुना ॥
 नागेन्द्र भवन विमान अंकुश वृक्षसिद्धारथसही ।
 भूषण पटम्बर हट्ट हाटक, चन्द्रचूड़ामणि महा ॥
 जम्बू तरोवर नयन सुवश बाग जन मन भावना ।
 नौ निधि नक्षत्रसुमेर सारव सालवन्त सुहावना ।
 प्रहसंगलाष्टक प्रातिहार्य प्रमुख और विराजहि ।
 परमित अष्टोत्तर सहस्र प्रभु के अंग लक्षण साजहि ॥

अर्थात्—१—श्री वृक्ष, २—शंख, ३—सरोज अर्थात् कमल, ४—स्वस्तिक, ५—शक्ति, ६—चक्र, ७—सरोवर अर्थात् तालाब, ८—चमर, ९—सिंहासन, १०—छत्र, ११—तोरण, १२—तुरग अर्थात् घोड़ा, १३—नारी, १४—नर, १५—सायर अर्थात् समुद्र, १६—विचार यानी सूर्य १७—कल्पवेल, १८—कामधेनु १९—ध्वजा, २०—हाथी, २१—वरवज्र, २२—बाण, २३—कमान, २४—कमल, २५—कलश, २६—कच्छप, २७—केहरि अर्थात् सिंह, २८—गंगा, २९—वृषभ यानी बैल, ३०—गरुड़, ३१—गोपुर, ३२—वेणु, ३३—वीणा, ३४—विजणा अर्थात् पंखा, ३५—युगमीन, ३६—महल, ३७—मृदंग, ३८—माला, ३९—रत्नद्वीप ४०—नागेन्द्र, ४१—भवन, ४२—विमान, ४३—अंकुश, ४४—सिद्धार्थ वृक्ष, ४५—भूषण, ४६—पटम्बर, ४७—हट्ट, हाटक, ४८—चन्द्र, ४९—चूड़ामणि, ५०—जम्बूवृक्ष ५१—बाग, ५२—नौनिधि, ५३—नक्षत्र, ५४—सुमेरु, ५५—सारव, ५६—सालि—खेत ५७—घन्टा, ५८—दर्पण ५९—भामण्डल, ६० अशोकवृक्ष इत्यादि बहिरंग १००८ लक्षण भगवान् के अंग में विरामान होते हैं ।

केवल-ज्ञान के उत्पन्न होने पर १० अतिशय प्रकट होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

बोहा—योजन दूक शत में सुमिष, गगन गमन मुख चार ।
 नहि प्रवया उपसर्ग नहि, नाहीं, कंबलाहार ॥
 सब ईश्वर बिद्यापनों, नाहीं बडे नक्ष केश ।
 अनिमिष दृग छाया रहित वश केवल के वेश ॥२॥

भावार्थ—(१) जहाँ जिनेंद्र भगवान् समवशरणादि बाह्य विभूति सहित विराजते हैं वहाँ से शत-शत योजन चारों ओर अर्थात् चार सौ कोस तक दुर्भिक्षता रहित सभी जीवों को आनन्दकारी दशों दिशाओं में सुभिक्ष प्रवर्तता है ।

(२) जिनेंद्र भगवान् का केवल-ज्ञान होने के बाद पृथ्वी पर गमन नहीं होता । षट्काय के जीवों की बाधा रहित आकाश में ही गमन होता है ।

(३) मुख तो एक ही है परन्तु जिनेन्द्र के अतिशय से चार मुख दिखाई देते हैं। कारण यह है कि मनुष्य, देव एवं तिर्यच ये चारों तरफ से भगवान् के दर्शन करते हैं। सो चारों तरफ से उनको दर्शन होता है। इस कारण से भगवान् चतुर्मुख दीखते हैं। यहाँ कोई प्रश्न करे कि चार मुख तो ब्रह्मा के भी हैं यह ठीक है परन्तु अधिक मुखों के होने से ईश्वर नहीं कहलाया जा सकता। यदि अधिक मुखों के होने से ही ईश्वर कहलाया जाय तो शिवजी के पुत्र कार्तिकेय के छः मुख हैं उनको भी ईश्वर कहो सो नहीं कहलाया जा सकता। ईश्वर तो वही है जो अलोकाकाश सहित भूत, भविष्यत और वर्तमान काल सम्बन्धी अन्तानन्त पर्यायों को परिणति सहित समस्त तीनों लोकों को स्वयमेव इन्द्रिय उद्योतादिक की सहायता से रहित प्रत्यक्ष देखे, जाने और अपने निजात्मिक अतिशय से चतुर्मुख से युक्त सभी जीवों का हितोपदेष्टा हो वही ईश्वर है। एक बार ब्रह्मा इन्द्र की पदवी लेने की अभिलाषा से दण्ड पाप कर्मकाण्ड आदि को धारण कर लग कर रहा था उस अवसर पर इन्द्र की उर्वशी नामक अप्सरा इन्द्र की आज्ञा से इनके तप को भ्रष्ट करने के निमित्त आई। उस उर्वशी नामक अप्सरा के रूप में राग को बाहुल्यता को प्राप्त होने से उसने अपने चतुर्मुख की रचना की। सो ऐसा चतुर्मुख ब्रह्मा हम लोगों के समान है वह ईश्वरत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। जो क्षुधा, तृषा, राग द्वेष, कामादिक रहित होकर अनन्त अविनाशी सुख में लीन होकर कृतकृत्य हुआ वही सर्वश वीतराग चतुर्मुख धर्मोपदेशी ब्रह्मा हमारे मान्य हैं, अन्य नहीं।

(४) दया का अभाव अर्थात् जहाँ जिनेन्द्र भगवान् केवलज्ञान से युक्त तिष्ठते हैं वहाँ पर जीवों के दया रहित परिणाम नहीं होते हैं।

भाषार्थ—दयाहीन जीव भी दया सहित हो जाते हैं।

(५) जहाँ पर केवली भगवान् का समवशरण तिष्ठता है वहाँ पर किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होता। भला ईश्वर के होते हुए उपद्रव हो तो बड़े आश्चर्य की बात है। जैसे कृष्ण महाराज के होते हुए भी द्वारिकापुरी जलकर भस्म हो गयी। इस प्रकार के उपद्रव यदि ईश्वर के सन्मुख होवें तो वह ईश्वर काहे का? इस कारण उनकी शक्ति ही ईश्वरत्व को अप्रगट करती है इसलिए वह ईश्वर नहीं। ईश्वर तो वही होता है जिसके होते हुए किसी जीव को किसी प्रकार की भी उपसर्ग बाधा न हो सके।

(६) केवल ग्रास वर्जित अर्थात् देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् को केवलज्ञान होने के पश्चात् कंवलहार नहीं होता। अर्थात् वे अन्न के ग्रास उठाकर नहीं खाते हैं यहां श्वेताम्बर मत धारण करने वाले कहते हैं कि वे आहार करते हैं अर्थात् ग्रास उठाकर खाते हैं इसका उत्तर यह है कि यह बात बिल्कुल असम्भव है। कारण कि परमात्मा कंवलहार नहीं करते और यदि करते हैं तो परमात्मा पद के अधिकारी नहीं हो सकते। वे कहते हैं कि भगवान् अवश्य ही कंवलहार करते हैं तो बताओ स्वयं आहार (भिक्षा मांगते) को जाते हैं कि शिष्यों से मंगते हैं यदि यह कहा जाय कि भिक्षा लेने आप जाते हैं तो भी उचित नहीं ठहरता क्योंकि स्वामी केवली भगवान् तो आकाश में विराजमान होंगे और आहार देने वाला श्रावक पृथ्वी पर खड़ा होगा तो वह किस प्रकार आहार देता होगा और यदि यह कहा जाय कि आहार लेते समय केवली भगवान् भी पृथ्वी पर खड़े हो जाते हैं आकाश विहार का अभाव हुआ। यदि यह कहा जाय कि भगवान् अपने लिए आहार शिष्यों से मंगवाते हैं तो उन्हें शिष्यों को आज्ञा देनी होगी और यदि शिष्य आहार लेने न जाय तो उन्हें द्वेष होगा और भगवान् के मन में द्वेष उत्पन्न होता है तो वे वीतराग कहाँ रहे। इससे सिद्ध हुआ कि वे अपने शिष्यों से अपने लिए आहार

नहीं मंगते, फिर भोजन करेंगे तो भोजन में राग हुआ तथा दूसरे भोजन की इच्छा मोहनीय कर्म का कार्य है इसलिए मोहनीय कर्म का सद्भाव सिद्ध हुआ और मोहनीय कर्म के विद्यमान होने से केवलज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। कारण कि शास्त्र में मोहनीय कर्म के क्षय होने के पश्चात् अन्तर्मुहुर्त पर्यन्त क्षीण कषाय नामक बारहवां गुण-स्थान पाकर उसके बाद युगपत् अर्थात् एक समय में ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिया कर्मों के सर्वथा नष्ट होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है इसलिए केवली भगवान् के आहार का न करना सर्व प्रकार से सिद्ध है, और यदि शिष्य पर आहार लाने की आज्ञा न पाली गई तो द्वेष हुआ और पाली गई तो राग हुआ, तो वीतरागता का अभाव हुआ और जब राग द्वेष हुआ तो हितोपदेश का भी निश्चय नहीं हुआ, क्योंकि जिससे राग होगा उसको हित का उपदेश देंगे और जिससे द्वेष होगा उसे अहित का उपदेश करेंगे। तो उनके कहने के अनुसार वीतराग और हित उपदेश का बराबर अभाव सिद्ध हुआ, पुनः जब मुनीश्वर आहार के समय बत्तीस प्रकार का अन्तराय मानते हैं तो क्या केवली सन्तमय नहीं रहेंगे? इस कारण भी केवली को कंवलाहार सदैव बजित है, क्योंकि केवली युगपत् एक समय में सर्व लोकालोक को अपने ज्ञान रूपी चक्षु से अवलोकन करते हैं और जगत में ही उपद्रव से अन्तराय हो तो अन्तराय को देख जानकर केवली भगवान् आहार कैसे ग्रहण करेंगे? इस युक्ति से भी आहार का न होना ही सिद्ध है और जो यह कहा जाय कि भगवान् अन्तराय को नहीं देखते तो उनके प्रति सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध हुआ और सर्वज्ञता, वीतरागता, और हितोपदेश के अभाव होने से देवत्व का अभाव हुआ, क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग व हितोपदेशी इन तीनों गुणों के बिना देव सत्यार्थ कभी किसी काल में कदापि नहीं हो सकता। इसलिए निश्चय हुआ कि केवली के कंवलाहार नहीं है।

(७) समस्त विद्याओं का स्वामित्व, अर्थात् ऐसा नहीं कि एक विद्या अर्थात् व्याकरण पढ़े तो व्याकरण शुद्ध हो, छन्द पढ़े तो छन्द शास्त्र का ज्ञान हो और छन्द के पीछे न्याय शास्त्र तथा अलंकारादि पढ़े। यह बात नहीं, बल्कि उन्हें सम्पूर्ण विद्याओं का विचार रहित युगवत् भास होता है।

(८) भगवान् के नख और केश भी नहीं बढ़ते हैं। ऐसा नहीं कि महादेववत् केशों की जटा लटकती रहे। केवली भगवान् के केश नहीं बढ़ते।

(९) भगवान् निमेष रहित अर्थात् भगवान् के नेत्रों की पलक नहीं गिरती।

(१०) छाया रहित शरीर होता है अर्थात् उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती। कारण यह है कि जिसके छाया होती है उसके शरीर की दीप्ति (ज्योति) में मंदता रहती है, परन्तु श्री जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की दीप्ति के आगे तो कोटि सूर्य और चन्द्रमा की भी दीप्ति लुप्त हो जाती है, इसलिए भगवान् के शरीर की छाया नहीं होती।

भाषार्थ—श्री जिनेन्द्र देव के शरीर के तेज के बराबर सूर्य और चन्द्रमा उपमा पाते हैं, क्योंकि सूर्य रात्रि को लुप्त हो जाता है और चन्द्रमा दिन को ढाक के समान प्रभा हीन हो जाता है, परन्तु जिनेन्द्र भगवान् के शरीर का तेज अर्हनिश सदैव एक सा रहता है, इससे उनके शरीर की उपमा सूर्य चन्द्र नहीं धारण कर सकते। ऐसे केवलज्ञान के होने पर जिनेन्द्र के दश प्रतिशय होते हैं।

अर्थ—देवकृत चौदह अतिशय—

बोहा—देव रचित हैं चारदश, अर्द्ध भागधी भाष ।

आपस मांहि मित्रता, निर्मल दिश आकाश ॥१॥

होत फूल फल ऋतु सब, पृथ्वी कांक्ष समान ।

चरण कमल तल कमल बल, मुखतें जय जयवान ॥२॥

मंद सुगंध व्याप पुनि, गंधोदक की वृष्टि ।

भूमि विषे कंटक नहीं, हर्षतई समसृष्टि ॥३॥

घर्म चक्र आगे चलें, पुनि वसु मंगल सार ।

अतिशय श्री अरहत के ये चौतीस प्रकार ॥४॥

अर्थ—१. अर्द्ध भागधी भाषा का होना। जिसका शब्द एक योजन अर्थात् चार कोश तक सुनाई दे। २. समस्त जीवों में परस्पर मित्रता का होना अर्थात् समस्त जानि विरोधी जीव यथा—हस्ती—सिंह, गो—सिंह, सर्प—गरुड़, माजरीर—स्वान (कुत्ता), माजरीर—मूषक, इत्यादि समस्त मित्र भाव को धारण कर भगवान् के निकट एकत्र होकर बैठते हैं। ३. आकाश का निर्मल होना। ४. दिशाओं का निर्मल होना ऐसा नहीं कि जहां केवल ज्ञान युक्त देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् तिष्ठते हैं वहां आंधी से धूलि की और मेघों द्वारा पानी की वर्षा हो अर्थात् ये उस समय नहीं होते। ऐसा अतिशय जिनेन्द्र के केवलज्ञान का ही है जो समस्त दिशायें मल रहित निर्मल दीखती हैं। ५. सभी ऋतुओं के फलादिक का एक समय फलना षड् ऋतुओं में होने वाले फल पुष्प धान्यादिक निज निज समय को छोड़ कर समस्त एक ही समय में फलते हैं, यह भी भगवान् के केवलज्ञान का ही प्रभाव है। ६. एक योजन पर्यन्त पृथ्वी का तृण कंटकादि रहित दर्पणवत् निर्मल होना। ७. भगवान् के बिहार के समय युगल चरणारविंद के नीचे देवगणों द्वारा आकाश में स्वर्णमयी कमल की रचना करना। ८. देवों के द्वारा आकाश में जय जयकार शब्द का किया जाना। ९. शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन का चलना जिसके स्पर्श से असाध्य रोगियों के रोग दूर हो जाते हैं, यह भी जिनेन्द्र भगवान् के केवलज्ञान का अतिशय है। १०. सुगन्धित जल की वर्षा होना अर्थात् जहां पर जिनेन्द्र भगवान् केवल ज्ञान संयुक्त तिष्ठते हैं वहां पर मंद-मंद सुगन्धि-युक्त जल की वृष्टि आकाश से होती है। वह वृष्टि जीवों के आताप को हरण करने वाली है। ११. पवनकुमार जाति के देवों द्वारा भूमि का तृण कंटक रहित करना। अर्थात् जहां पर जिनेन्द्र भगवान् तिष्ठते हैं वहां पर पवन कुमार देवों के द्वारा भूमि स्वच्छ, तृण कंटकादि रहित निर्मल रहती है, मानों जिनेन्द्र भगवान् के अतिशय से पापरूपी रज दूर करके पृथ्वी पर निर्मलता प्रगट हुई हो। १२. समस्त जीवों का आनन्दमय होना। अर्थात् आनन्दमय क्यों नहीं हों ? जहां पर किसी प्रकार की बाधा नहीं, उपद्रव नहीं और किसी का भय नहीं वहां तो आनन्द होता ही है। विचार करके देखिए कि वर्तमान समय में श्रीष्म ऋतु में किंचित् शीतल पवन और पान करने के लिए मिष्ट शीतल जल यदि प्राप्त हो जाय तो मनुष्य बहुत ही आनन्द मानता है और वहां समवशरण में तो सुगन्धमय पवन और षट् ऋतु के फल फूलों का एक ही समय में फलना तथा वापिकाओं का मिष्ट, शीतल जल और घर्मोपदेश मिलता है जिससे तीन लोक के भ्रमण से उत्पन्न हुए श्रम का अन्त होकर अव्याबाध, निराकुलित अनन्त सुख का स्थान जो मोक्ष का मार्ग है। वह प्राप्त होता है। समवशरण में जो सुख है वैसा संसार में अन्य स्थान में नहीं मिल सकता। इसलिए वहां पर जीवन आनन्दमय होता ही है। १३. भगवान् के आगे घर्मचक्र का चलना,

कैसा है वह धर्म चक्र ? वह मोक्ष मार्ग का प्रकाश करने वाला है । १४. चमर छत्रादिक अष्ट मंगल द्रव्यों का साथ रहना ।

अष्ट मंगल द्रव्यनाम—

बोहा—छत्र, चमर, घंटा, ध्वजा, भारी, पंखा, नव्य ।

स्वस्तिक दर्पण संग रहे, जिन असुमंगल द्रव्य ॥

अर्थ—छत्र, चमर, घंटा, ध्वजा, भारी, पंखा, स्वस्तिक और दर्पण खण्ड ये आठ मंगल द्रव्य हैं जो जिन भगवान् के साथ रहते हैं । इत्यष्ट मंगल द्रव्य नाम ।

ऐसे ही जन्म के दश अतिशय, केवलज्ञान के दस अतिशय और चौदह देव रचित अतिशय ये सब मिलकर ३४ अतिशय अर्हन्त परमात्मा के होते हैं—

अब आठ प्रातिहार्य का वर्णन करते हैं—

तत्तु अशोक के निकट में, सिंहासन छविदार ।

तीन छत्र सिर पर लसे, भामण्डल विछवार ॥१॥

विष्य ध्वनि मुख से खिरे, पुष्प वृष्टि सुर होय ।

हार औसठ चमर चय, बाजे कुन्दुभि जोय ॥२॥

अर्थ—अशोक वृक्ष का होना ।

भावार्थ—जहां केवली भगवान् तिष्ठते हैं, वहाँ अशोक वृक्ष जिनेन्द्र भगवान् के शरीर से सात गुणा ऊंचे होता है ऐसे अशोक वृक्ष की प्रभा से ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों जिनेन्द्र भगवान् का आश्रय पाकर दीप्तिमान हो गया हो । पुनः वह अशोक वृक्ष ऐसा होता है कि जिसके दर्शन से जीव का शोक दूर हो जाता है ॥१॥

रत्नमयी सिंहासन—

भावार्थ—जहाँ पर केवली होते हैं वहाँ अशोक वृक्ष के समीप रत्नमयी सिंहासन पर विराजमान श्री जिनेन्द्र देव ऐसे शोभित होते हैं मानों उदयाचल पर्वत के शिखर पर आकाश में निकली हुई किरणों द्वारा सूर्य का विम्ब ही शोभायमान हो रहा हो ॥२॥

भगवान् के सिर पर छत्र का दुरना—

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान् के मस्तक पर चन्द्रमा और सूर्य की प्रभा के प्रताप का हरण करने वाले और मोतियों की माला के समूह से बड़ी है जिनकी शोभा—ऐसे तीन छत्र भगवान् की तीन लोक की परमेश्वरता को प्रकट करते हैं । इससे तीन लोक की ईश्वरता तथा तीन लोक के नाथ ऐसा नाम जिनेन्द्र देव का सम्भव है और ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि सब नाम मात्र के देव हैं । इनको त्रिलोकी-नाथ नहीं कहा जा सकता । कारण कि नाथ ऐसे शब्द का प्रयोग रक्षा करने वाले के लिए होता है, जो तीन लोक की रक्षा करे उनको त्रिलोकीनाथ कहते हैं । त्रिलोक अर्थात् ऊर्ध्व लोक, मध्य लोक, पाताल लोक इन लोकों के जीवों की जो रक्षा करे उनको त्रिलोकीनाथ कहते हैं । त्रिलोकी नाथ जब होता है तब वह किसी की आशा नहीं करता और जो आशा करता है वह ईश्वर नहीं है । इसलिए ब्रह्मा ईश्वर पद को प्राप्त नहीं हैं । उसका कारण यह है कि ब्रह्मा ने इन्द्र के सिंहासन को प्राप्त करने की इच्छा से बार हजार वर्ष तक तप किया । पर उसे सिंहासन प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् हजारों वर्षों तक तप करके उन्होंने इन्द्र के आसन की इच्छा की इसलिए ऐसा ब्रह्मा ईश्वर पदवी के योग्य नहीं है ब्रह्मा उन्हीं को

कहते हैं कि जो निजात्मा का ध्यान करे। यदि उसे यानी ब्रह्मा को निजात्मा का ध्यान होता तो ध्यान से च्युत होकर वह उर्वशी जाति की तिलोत्तमा देवी को अथवा उसके रूप को राग की दृष्टि से देखकर काम भाव से प्रेरित होकर उसको देखने के लिए चार सिर नहीं बनाता। इस प्रकार ऐसे नाम मात्र का ब्रह्मा जो कामी, क्रोधी व मानी है हमको ईश्वर रूप में मान्य नहीं है। साक्षात् ब्रह्म तो वही है जो निज ब्रह्म को जानकर कृत-कृत्य होकर निजात्म सत्त्व के आस्वादन में लवलीन हो, ऐसा कृतार्थ ब्रह्म सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी, परम पद में रहने वाला, निरंजन अर्थात् कर्म ले से रहित, आदि, मध्य, अन्त, रहित सर्व हितकारक ब्रह्म समवशरण में तीन छत्र से शोभायमान तीन लोक की ईश्वरता को प्रकट करता है सो परम ब्रह्म मेरे रक्षक हों। पुनः विष्णु को त्रिलोकीनाथ कहा जाय तो वह भी त्रिलोकीनाथ नहीं हो सकते, क्योंकि तीन जगत का नाथ अर्थात् ईश्वर तो उसे ही कहेंगे जो तीन लोक की रक्षा करे, सर्व जीवों पर दया करे, सो यदि विष्णु लोक का नाथ अर्थात् रक्षक होता तो तीन लोक में जरासिंधु को क्यों मारता और मथुरापति राजा कंस को क्यों मारता? और दैत्यों के इन्द्र हिरण्यकश्यपु (हिरणाकुंश) का नृसिंह रूप धारण कर अपने नख के द्वारा वक्षःस्थल क्यों विदारण करता? महाभारत में युद्ध के समय अर्जुन का सारथी बनकर संग्राम में कौरवों का क्यों विध्वंस करता। ऐसा कोई विष्णु नहीं हो सकता। विष्णु शब्द का अर्थ तो यह है कि जिनका ज्ञान अनन्त काल तक व्याप्त रहता है और समस्त क्षेत्र, काल सम्बन्धी और समस्त लोकालोक में व्याप्त होकर फैलता है उसको विष्णु कहते हैं। उसको भोले प्राणी ऐसा कहते हैं कि जो समस्त लोक में व्याप्त हो वह विष्णु है। कहा भी है :—

श्लोक—जले विष्णुस्थले विष्णुः, विष्णुः पर्वत मस्तके।

उद्यालमाला मुखी विष्णुः, विष्णुः सर्व जगन्मयः ॥

भावार्थ—जल में विष्णु है, थल में विष्णु है, पर्वत में विष्णु है, अग्नि में विष्णु है अर्थात् समस्त जीवों में विष्णु व्याप्त है। सो ऐसा समझना मिथ्या है। यदि विष्णु सर्व व्यापी है तो हिरण्यकश्यपु को मारने के लिए नृसिंह रूप क्यों धारण किया? इसलिए यह नाम मात्र के विष्णु है, साक्षात् विष्णु नहीं। परन्तु जिसका ज्ञान त्रिकालवर्ती पर्याय से सहित समस्त पदार्थों में व्याप्त हो रहा है, ऐसे सर्वज्ञ वीतराग अहंन्त ही विष्णु है अन्य कोई और नहीं। पुनः महादेव को भी त्रिलोकीनाथ कहा जाता है, परन्तु वह भी तीन जगत का नाथ—ईश्वर नहीं हैं वह भी रक्षक नहीं हैं। तीन लोक का नाथ वही हो सकता है जो सबसे श्रेष्ठ कार्यकर्ता, जीवों का प्रतिपालक तथा उत्तम मार्ग में चलने का उपदेश करे। उस शिव ने वाणी से अग्नि उत्पन्न करके निर्दय होकर तीन पुरों को दग्ध किया। वे अपने साथ पार्वती एवं पुत्र कार्तिकेय को रखते हैं। इसलिए योगी नहीं है। और जो शंकर को ईश अर्थात् सामर्थ्य युक्त ईश्वर कहो तो शंकर का लिंग छेदन कैसे हुआ अर्थात् उनका लिंग कैसे छेदा गया। अगर वह भय रहित है तो त्रिशूल आयुध आदि क्यों धारण करते हैं? ऐसे नाममात्र के शंकर हैं, ये सुख देने वाले नहीं हैं ये रक्षा करने वाले भी नहीं हैं, और जीवों की दया करने वाले भी नहीं हैं। जैसे अकलंक अष्टक स्तोत्र में कहा है कि—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं, सालोक्यमालोकितं।

साक्षात्तेन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलिः ॥

रागद्वेष भया मयात कज्जरा लोलत्वलोभादयो।

नार्यस्पदलघनाय स महावेशो मया बंधते ॥

अर्थ—वह महादेव कैसे हैं ? जो तीन लोक के गोनर और अलोक सहित समस्त त्रैलोक्य को जानने वाले हैं जैसे अंगुलि सहित हथेली में तीन रेखा साक्षात् दिखाई देती हैं । और रागद्वेष, भय, रोग, मृत्यु, जरा, लोभ आदि दोष जिनका पद उल्लंघन न कर सकें, उस महादेव की मैं वंदना करता हूँ । इस जगत में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जिन तथा बुद्ध आदि नाम के धारी देवप्रसिद्ध हैं परन्तु जिनका ज्ञान एक समय में तीन लोक की अनन्तानन्त द्रव्य, गुण और त्रिकालवर्ती अनन्त पर्याय इन समस्त पदार्थ को प्रत्यक्ष जाने वह ही तीन जगत का नाथ, तीन छत्र से शोभायमान ईश्वर कहलाता है । उस ईश्वर को मेरा बार-बार नमस्कार हो ॥ ३ ॥

भगवान् के प्रति भामण्डल का होना—वह भामण्डल कैसा है ? जिसमें भव्य राशि के सात भव झलकते हैं ।

भावार्थ—तीन भव पिछले और तीन भव आगे के और एक भव वर्तमान ऐसे सात भव जिनेन्द्र के पीछे भामण्डल में दिखते हैं सो ये जिनेन्द्र का ही अतिशय है और वह भामण्डल कैसा है ? अपने अतिशय से तीन लोक के पदार्थों की क्षुत्ति को तिरस्कार करता हुआ प्रकाशमान, अनेक सूर्य के समान तेजस्वी होने पर भी चन्द्रसमान शीतल, प्रभा से रात्रि को भी जीतता है ॥ ४ ॥

भगवान् के मुख से निरक्षर ध्वनि होना :—

भावार्थ—भगवान् की दिव्य ध्वनि खिरते समय होट, तालु, रसना, दन्त आदि में क्रिया नहीं होती है । मेघ की गर्जना के समान उनकी ध्वनि होती है स्वर्गापवर्ग का मार्ग बताने में इष्ट समीचीन धर्म और वस्तु स्वरूप कहने में अद्वितीय समस्त भाषा स्वभाव परिणमयी भगवान् की दिव्य ध्वनि होती है ॥ ५ ॥

देवों के द्वारा पुष्प वृष्टि होना—

भावार्थ—मन्दार सुन्दरनमेरु, सुषारीजात आदि कल्प वृक्षों के पुष्पों की जो वृष्टि देवों द्वारा की जाती है, वह मालूम होती है मानों भगवान् के दिव्य गुणों की पंक्ति ही प्रसारित हो रही है ॥ ६ ॥

यक्ष जाति के देवों के द्वारा भगवान् के दोनों ओर ३२-३२ चमरों का छोरना ॥ ७ ॥

भगवान् के समवसरण में दुन्दुभि बाजे बजना ॥ ८ ॥

जब आगे चार अनन्त चतुष्टयों का वर्णन करते हैं ?

बोहा—ज्ञान अनन्तानन्त सुख, दर्शन अनन्त पषाण ।

बल अनन्त अर्हन्त सो इष्ट देव पहचान ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् के अनन्त चतुष्टय हैं—ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, बल अनन्त, सुख अनन्त ऐसे चार अनन्त चतुष्टय केवली भगवान् सकल परमात्मा के होते हैं ।

भावार्थ—सकल परमात्मा की आत्मा के चार घातिया कर्म दूर हो जाते हैं इस कारण चार अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं । 'अथत्ति १- ज्ञानावरणीय, २-दर्शनावरणीय, ३-मोहनीय, ४-अन्तराय, ये घातिया कर्म आत्मा के निजगुण ज्ञान, दर्शन, सुख, बल को घात करने वाले हैं अतः इनको घातिया कर्म कहते हैं । ये घातिया कर्म अनादि काल से जीवन के साथ लगे हैं, और जब तक यह जीवात्मा सकल परमात्मा न होगा तब तक यह कर्म उसके साथ लगे रहेंगे जैसे स्वर्ण में मैल है उसी प्रकार जीव से अनादि काल से कर्म रूपी मैल सम्बन्धित है । जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि में तपने से मैल से पृथक् होकर अपने निज स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप रूपी अग्नि में तप कर कर्म रूप मैल से अलग होता है । अलग होकर अपने निज स्वभाव अनन्त चतुष्टय को

प्राप्त होकर वह आत्मा सकल परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है। उस समय इन्द्रादिक देव आकर सामान्य केवलियों के लिए गन्ध कुटी और भगवान् तीर्थकरों के लिए समवशरण की रचना करते हैं। प्रसंग वश शास्त्रों का रहस्य ले करके समवशरण का वर्णन करते हैं—प्रथम समवशरण की भूमि सब भूमि से पांच हजार धनुष आकाश में ऊँचाई है जिसकी, ऐसी श्री आदिनाथ भगवान् के समवशरण की पृथ्वी बारह योजन प्रमाण, नील मणि के समान प्रभावशाली और दैदीप्यमान किरणों के समूह से अत्यन्त उज्ज्वल गोलाकार है। इसी पर समवशरण की समस्त रचना है। आदिनाथ भगवान् के समवशरण की भूमि का जो प्रमाण था वह नेमिनाथ भगवान् पर्यन्त आधा आधा योजन कम होना गया। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के समवशरण में भूमि का यह प्रमाण पाव पाव योजन कम था।

भाषार्थ—महावीर स्वामी के समवशरण की भूमि का प्रमाण एक योजन का था उसके चारों दिशाओं में समस्त भूमि से लगाकर समवशरण भूमि तक प्रत्येक दिशा में २०, २० हजार स्वर्णमयी सीढ़ी होती हैं, उनकी चौड़ाई तथा ऊँचाई एक र हाथ प्रमाण और लम्बाई एक कोश की होती है। उन सीढ़ियों का प्रमाण भी आदिनाथ भगवान् से लेकर वर्द्धमान भगवान् तक कम होता गया। अब भगवान् ऋषभदेव के समवशरण की रचना, के लिए भूमि का जो प्रमाण है उसको २० का भाग दीजिए उसमें से एक भाग घटाइये, ऐसे नेमिनाथ तक एक भाग घटाना और पार्श्वनाथ तथा महावीर भगवान् के उससे आधा भाग घटाना। प्रथम कहा है जो शिला उस शिला के सम्बन्ध में शिलानमन की चारों दिशाओं में चार गलियाँ हैं। उन गलियों की चौड़ाई, शिलानमन की लम्बाई के प्रमाण है जैसे ऋषभदेव भगवान् के समवशरण में तेईसकोश लम्बी और एक कोश चौड़ी गली है, इस प्रकार धृती साल के द्वार से गन्ध कुटी-द्वार तक लम्बाई जानना। इन गलियों के दोनों ओर स्फटिक मणियुक्त भीत है उसको वेदी कहते हैं। इन दोनों वेदियों के बीच जो चौड़ाई है सो गली की चौड़ाई है उन वेदियों की चौड़ाई ऋषभदेव के साढ़े सात सौ धनुष है और फिर यह चौड़ाई कम होती गई है। उन गलियों के मध्य चार अन्तराल भूमि है और उसमें चार कोट पांच वेदी हैं। इन नौ के अन्तराल में आठ भूमि हैं। फिर शिला के अन्त में कोट है, उसके ऊपर दूसरा कोट है, उससे आगे उपवन की भूमि है। उससे आगे वेदी है, उसके ऊपर ध्वजा समूह भूमि और तीसरा कोट है। उससे आगे कल्प वृक्ष भूमि है, उसके आगे वेदी है उसके ऊपर मन्दिर की भूमि है, उसके ऊपर चौथा कोट है, उसके ऊपर सभा की भूमि है फिर वेदी है। ऐसे तीन गली हैं। तीन गली के अन्तराल भूमि में—भूमि सम्बन्धी रचना जानना चाहिये। उन गलियों में चार कोट पांच वेदी के द्वारा एक गली सम्बन्धी नौ द्वार हैं इस प्रकार चारों गली सम्बन्धी ३६ द्वार हो गये। प्रथम कोट और प्रथम वेदी के मध्य प्रथम भूमि है। प्रथम कोट और प्रथम वेदी के द्वार के बीच जो गली है उसे प्रथम भूमि कहते हैं। ऐसे ही अन्य द्वारों के बीच द्वितीया आदि भूमि है, वहाँ प्रथम भूमि की गली के मध्य भाग में मानस्तंभ है चारों दिशाओं सम्बन्धी चार मानस्तंभ हैं। हर एक मानस्तंभ के चारों, दिशाओं में चार बावड़ी हैं हर गली के दोनों ओर दो नाट्य शालाएँ हैं। ऐसे ही चौथी गली में भी दो नाट्यशालाएँ हैं। छोटी गली के दोनों ओर इससे दुगुनी नाट्यशालाएँ हैं। सप्तम भूमि में चारों दिशाओं में ६-६ रत्न स्तूप हैं और आठवीं भूमि में द्वादश सभा हैं। उन सभाओं में कौन कौन बैठते हैं उसका वर्णन करते हैं। धर्मसंग्रह श्रावकाचार में आया है :—

तेषुमुन्यशरः स्वाभ्यां । क्षोतिभोमासुरस्त्रियः ।

नागव्यन्तरचन्द्रागाः । स्वर्भूनुपशवः क्रमात् ॥

अर्थ—उन १२ सभाओं में अनुक्रमसे मुनि तथा गणधरदेव १., कल्पवासी देवोंकी देवांगनाएं, २. अजिका, ३. ज्योतिस देवों की स्त्रियाँ, ४. व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ, ५. भवनवासी देवों की स्त्रियाँ, ६. भवनवासो, ७. व्यन्तर, ८. ज्योतिषी, ९. कल्पवासी, १०. मनुष्य, ११. पद्म, १२. बैठते हैं।

वैदूर्य्यं स्वर्णमाणिक्य । मयंपीठप्रयंततः ।

अष्टचतुश्चतुश्चाप । प्राशुपयुं परिस्थितिम् ॥

अर्थात्—उस अष्ट भूमि के मध्य में वैदूर्य्यमणि स्वर्ण माणिक्य में तीन पीठ क्रम से आठ धनुष हैं, चार चार धनुष ऊँचे एक के ऊपर एक स्थित हैं।

श्लोक सोपानाः षोडशाष्टार्ता नानारत्न विचित्रताः ।

क्रमशः त्रिषुपीठेषु चतुर्भार्गेषु भांतिते ॥

अर्थात्—उन तीनों पीठों में क्रम से सोलह आठ और आठ सीढ़ियाँ नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित चारों ओर शोभायमान थीं। यह शोभा चारों ओर से दिखाई दे रही थी सबके ऊपर के तीसरे पीठ पर छह सौ धनुष लम्बी व इतनी ही चौड़ी तथा नौ सौ धनुष ऊँची जिसमें रत्नों की दीपिका प्रज्वलित हो रही थी व अत्यन्त सुगन्धित पुष्प व ध्वजायें जिसके चारों तरफ सुशोभित हो रही थीं, ऐसी जिन भगवान् के विराजमान होने की गन्धकुटी बनी थी उसके ऊपर अत्यन्त मनोहर नाना प्रकार के रत्नों से जड़ित स्फटिक मणि का बना हुआ एक सिंहासन है। उसके बीच में अत्यन्त कोमल, पवित्र व अनुपम सहस्रदलवाला एक रक्त वर्ण कमल है। उसके मध्य मार्ग में चार अंगुल अन्तरिक्ष आकाश में जिन भगवान् लोकाकाश व आलोकाकाश को देखते हुए विराजमान होते हैं। और जीवों के शुभाशुभ को जानकर त्रिजगपति अर्थात् तीनों लोक के नाथ श्री जिनेन्द्र देव अपनी मेघ के समान सर्वभाषा भावयुक्त निरक्षर दिव्य ध्वनि से सत्य धर्म के उपदेश की वर्षा करते हैं, और द्वादस सभाओं में असंख्यात जीव अपने अपने भवतापसे संतापित आत्मा की शान्ति के लिए धर्मोपदेशामृत का पान करते हैं, जिनेन्द्रदेव के समवशरण में मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी, अनध्वसायी जीव नहीं रहते।

श्री धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा है—

मिथ्यादृष्टिरमव्योद्य-संज्ञी कोपि न विद्यते ।

यश्चानध्ववसायोपि तः संबिग्नो विपर्ययः ॥

और भगवान् के समवशरण में जीवों में परस्पर शत्रुभाव भी नहीं रहता है।

कहा भी है कि—अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्त्वन्निधौ धैरत्यागः ।

अर्थ—बहुत काल तक अहिंसा धर्म पालन करने वाले के समीप जाति विरोधी जीवों में भी परस्पर में वैरभाव त्याग का व्यवहार हो जाता है। यह केवल जिनेन्द्र भगवान् का ही प्रभाव है।

इति समवशरण वर्णनसमाप्तः

जिन भगवान् को १००८ नामों से विनय सहित नमस्कार करते हैं :

ॐ ह्रीं अर्हं श्रीमते नमः ॥१॥ अनंतचतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी व समवशरणरूप बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, इसलिए आप श्रीमान् कहलाते हैं ॥१॥

ॐ ह्रीं अर्हं स्वयम्भुवे नमः ॥२॥ बिना गुरु के अपने आप समस्त पदार्थों को जानने वाले हैं अथवा अपनी आत्मा में सदैव रत रहते हैं, अथवा अपने आप ही अपना कल्याण किया है, अथवा अपने ही गुणों से स्वयमेव वृद्धि को प्राप्त हुए हैं।

अपने आप केवल ज्ञान और केवल दर्शन के द्वारा समस्त लोकालोक में व्याप्त हो रहे हैं, अथवा भव्य जीवों को मोक्षरूपी सम्पत्ति को देने वाले हैं, तथा द्रव्य पर्यायों को इन्द्रियादि की सहायता रहित अपने आप जानने वाले हैं अथवा ध्यान करने वाले योगियों को आप प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं अथवा लोक शिखर पर अपने आप जाकर विराजमान होने वाले हैं इसलिए आप स्वयंभू कहलाते हैं ॥२॥

ॐ ह्रीं अहं वृषभाय नमः ॥३॥ आप वृष अर्थात् धर्म से भा अर्थात् सुशोभित होते हैं अथवा धर्म की वर्षा करते हैं अथवा भक्त जनों के लिए इष्ट वस्तु की वर्षा करने वाले हैं, इसलिए आप वृषभ कहलाते हैं ॥३॥

ॐ ह्रीं अहं सम्भवाय नमः ॥४॥ आपके द्वारा सभी जीवों को सुख प्राप्त होता है एवं आप का भाव जन्म अत्यन्त उत्कृष्ट है, अथवा आप सुखपूर्वक उत्पन्न हुए हैं, इसलिए आप सम्भव वा सम्भवं कहलाते हैं ॥४॥

ॐ ह्रीं अहं शम्भुवे नमः ॥५॥ आप परमानन्द मोक्षरूपी सुख को देने वाले हैं । इसलिए आप शम्भू कहलाते हैं ॥५॥

ॐ ह्रीं अहं आत्मभुवे नमः ॥६॥ आप अपने आत्मा के द्वारा ही कृतकृत्य हैं अथवा आप शुद्ध-बुद्ध चित्त्वमत्कार स्वरूप आत्मा में लीन रहते हैं अथवा ध्यान के द्वारा योगियों के आत्मा में ही प्रत्यक्ष होते हैं । इसलिए आप आत्मभू कहलाते हैं ॥६॥

ॐ ह्रीं अहं स्वयम्प्रभाय नमः ॥७॥ आप अपनेआप ही प्रकाशमान होते हैं अथवा शोभायमान होते हैं इसलिए आप स्वयं-प्रभ कहलाते हैं ॥७॥

ॐ ह्रीं अहं प्रभवते नमः ॥८॥ सबके स्वामी हैं या सर्वथा समर्थ हैं, इसलिए आप प्रभू हैं ॥८॥

ॐ ह्रीं अहं भोवतये नमः ॥९॥ आप परमानन्द स्वरूप सुख का भोग करने वाले होने से अपने आप भोवता हैं ॥९॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वभुवे नमः ॥१०॥ आप केवलज्ञान के द्वारा सब स्थानों पर व्याप्त हैं, अथवा समस्त लोकों में मंगल करने वाले हैं, अथवा ध्यानादि के द्वारा समस्त लोक में प्रगट होते हैं अथवा समस्त लोकालोक को जानने वाले हैं, इसलिए आप विश्वभू हैं ॥१०॥

ॐ ह्रीं अहं अपुनर्भवाय नमः ॥११॥ अब आपके जन्म, जरा, मरणरूप संसार शेष नहीं रह गया है अथवा आप संसार में ही पुनः उत्पन्न होने वाले नहीं हैं इसलिए आप को अपुनर्भव कहते हैं ॥११॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वात्मने नमः ॥१२॥ आप समस्त लोक को अपने समान जानते हैं अथवा आप विश्व अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप हैं इसलिए आप विश्वात्मा कहे जाते हैं ॥१२॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वलोकेशाय नमः ॥१३॥ तीनों लोकों में रहने वाले समस्त प्राणियों के आप स्वामी हैं इसलिये विश्व लोकेश हैं ॥१३॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वतच्चक्षुषे नमः ॥१४॥ आप के चक्षु अर्थात् केवल दर्शन सर्व जगत् में व्याप्त है इसलिए आप विश्वतच्चक्षु हैं ॥१४॥

ॐ ह्रीं अहं अक्षराय नमः ॥१५॥ कभी नाश नहीं होते इसलिए आप अक्षर हैं ॥१५॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वविदे नमः ॥१६॥ आप षट् द्रव्यों से भरे हुए इस विश्व अर्थात् जगत् का जानते हैं । इसलिए विश्ववित् हैं ॥१६॥

ॐ ह्रीं अर्ह विश्वविद्येश्वराय नमः ॥१७॥ समस्त विद्याओं के ईश्वर आप हैं, आप केवल ज्ञान के स्वामी हैं, आप समस्त विद्याओं के जानने वाले गणधरादिकों के स्वामी हैं इसलिए आप विश्वविद्येश्वर कहे जाते हैं ॥१७॥

ॐ ह्रीं अर्ह विश्वयोनये नमः ॥१८॥ आप समस्त पदार्थों की उत्पत्ति के कारण हैं अर्थात् सब पदार्थों का उपदेश देने वाले हैं इसलिए आप विश्वयोनि कहलाते हैं ॥१८॥

ॐ ह्रीं अर्ह अनश्वराय नमः ॥१९॥ आपके स्वरूप का कभी नाश नहीं होता इसलिए आप अनश्वर कहे जाते हैं ॥१९॥

ॐ ह्रीं अर्ह विश्वदर्शने नमः ॥२०॥ आप समस्त लोकालोक को देखने से विश्व द्रष्टा कहलाते हैं ॥२०॥

ॐ ह्रीं अर्ह विभुवे नमः ॥२१॥ केवलज्ञान के द्वारा आप सब जगह व्याप्त हैं अथवा जीवों को संसार से पार करने में समर्थ हैं और आप परम विभूति संयुक्त हैं, इसलिए आप को विभू कहते हैं ॥२१॥

ॐ ह्रीं अर्ह धात्रे नमः ॥२२॥ चारों गतियों में परिभ्रमण करने वाले जीवों का उद्धार कर मोक्ष स्थान में पहुंचाने वाले हैं तथा दयालु होने से आप सब जीवों की रक्षा करते हैं इसलिए आप धाता कहलाते हैं ॥२२॥

ॐ ह्रीं अर्ह विश्वेशाय नमः ॥२३॥ समस्त जगत के स्वामी होने से आप विश्वेश कहलाते हैं ॥२३॥

ॐ ह्रीं अर्ह विश्वलोचनाय नमः ॥२४॥ समस्त जीवों को सुख की प्राप्ति का उपाय आपने दिखलाया है इसलिए आप जीवों के नेत्रों के समान होने से विश्वलोचन कहलाते हैं ॥२४॥

ॐ ह्रीं अर्ह विश्व व्यापिने नमः ॥२५॥ केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक में आप व्याप्त हैं और केवलि समुद्घात करते समय आप के आत्मा के प्रदेश समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं इसलिए आपको विश्वव्यापी कहते हैं ॥२५॥

ॐ ह्रीं अर्ह विधवे नमः ॥२६॥ आप कर्मों का नाश करने वाले हैं अथवा केवलज्ञान रूपी किरणों के द्वारा मोहरूपी अंधकार का नाश करने वाले हैं इसलिए आप विधु हैं ॥२६॥

ॐ ह्रीं अर्ह वेधाय नमः ॥२७॥ आप धर्म रूप जगत को उत्पन्न करने वाले हैं इसलिए आप वेधा कहलाते हैं ॥२७॥

ॐ ह्रीं अर्ह शाश्वताय नमः ॥२८॥ आप सदा विद्यमान रहते हैं, नित्य हैं इसलिए शाश्वत कहे जाते हैं ॥२८॥

ॐ ह्रीं अर्ह विश्वतो मुखाय नमः ॥२९॥ आप के चारों दिशाओं में चार मुख दीखते हैं तथा आपके मुख के दर्शन मात्र से जीवों का संसार नष्ट हो जाता है जल का मुख्य नाम विश्व है, आप जल के समान कर्मरूपी मल को धोने वाले हैं। विषयों की तृष्णा को नष्ट करने वाले और अत्यन्त स्वच्छ हैं इसलिए आप विश्वतो मुख कहलाते हैं ॥२९॥

ॐ ह्रीं अर्ह विश्वकर्मणे नमः ॥३०॥ आप के मत में समस्त कर्म ही दुख देने वाले हैं एवं आप ने जीविका के लिए षट् कर्मों का उपदेश दिया है इसलिए आपको विश्वकर्मा कहते हैं ॥३०॥

ॐ ह्रीं अर्हं जगज्ज्येष्ठाय नमः ॥३१॥ आप जगत के समस्त प्राणियों में वृद्ध हैं अथवा श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको जगज्ज्येष्ठ कहते हैं ॥३१॥

ॐ ह्रीं अर्हं विश्वमूर्तये नमः ॥३२॥ आप अनन्तगुण मय हैं इसलिए आप विश्व-मूर्ति कहलाते हैं ॥३२॥

ॐ ह्रीं अर्हं जिनेश्वराय नमः ॥३३॥ अनेक कर्मों के नाश करने में गणधर देवों को अथवा चौथे गुण स्थान से बारहवें गुणस्थान तक रहने वाले जीवों को जिन कहते हैं, आप उनके ईश्वर हैं इसलिए आपको जिनेश्वर कहते हैं ॥३३॥

ॐ ह्रीं अर्हं विश्वदूक्त्रे नमः ॥३४॥ आप समस्त लोक को देते हैं इसलिए आप विश्वदूक्त्र कहलाते हैं ॥३४॥

ॐ ह्रीं अर्हं विश्वभूतेशाय नमः ॥३५॥ आप समस्त प्राणियों के ईश्वर हैं और तीन जगत की लक्ष्मी के पति हैं इसलिए आप विश्वभूतेश कहे जाते हैं ॥३५॥

ॐ ह्रीं अर्हं विश्वज्योतिषे नमः ॥३६॥ आपका केवल दर्शन रूपी तेज सब जगह भरा हुआ है तथा आप समस्त जगत में प्रकाश करने वाले हैं । इसलिए विश्वज्योति कहलाते हैं ॥३६॥

ॐ ह्रीं अर्हं अनीश्वराय नमः ॥३७॥ आपका कोई ईश्वर या स्वामी नहीं है इसलिए आपको अनीश्वर कहते हैं ॥३७॥

ॐ ह्रीं अर्हं जिनाय नमः ॥३८॥ आप ने कर्मरूपी शत्रु अथवा काम क्रोध आदि राग द्वेष शत्रु जीते हैं इसलिए आप जिन कहलाते हैं ॥३८॥

ॐ ह्रीं अर्हं जिष्णवे नमः ॥३९॥ आपका स्वभाव ही सबसे उत्कृष्ट रूप तथा प्रकाश रूप है इसलिए जिष्णु कहे जाते हैं ॥३९॥

ॐ ह्रीं अर्हं अमेयात्मने नमः ॥४०॥ आपका ज्ञान प्रमाण रहित अनन्त है इसलिए आप अमेयात्मा कहलाते हैं ॥४०॥

ॐ ह्रीं अर्हं विश्वरीशाय नमः ॥४१॥ आप विश्वरी अर्थात् पृथ्वी के ईश यानी स्वामी हैं इसलिए विश्वरीश कहलाते हैं ॥४१॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्रिजगत्पतये नमः ॥४२॥ आप तीनों लोकों के स्वामी हैं, इसलिए त्रिजगत्पति कहे जाते हैं ॥४२॥

ॐ ह्रीं अर्हं अनन्तजिते नमः ॥४३॥ आप अनन्त संसार को जीतने वाले हैं तथा मोक्ष को रोकने वाले अनन्तनाम के ग्रह को जीतने वाले हैं, इसलिए आप अनन्त जित् कहे जाते हैं ॥४३॥

ॐ ह्रीं अर्हं अचित्यात्मने नमः ॥४४॥ आपके आत्मा का स्वरूप मन से भी चित्त-वर्णन नहीं किया जा सकता इसलिए आपको अचित्यात्मा कहते हैं ॥४४॥

ॐ ह्रीं अर्हं भव्य बन्धवे नमः ॥४५॥ आप भव्य जीवों का सदा उपकार करते हैं इसलिए भव्य बन्धु कहलाते हैं ॥४५॥

ॐ ह्रीं अर्हं अबन्धनाय नमः ॥४६॥ आपको कर्म का बन्ध नहीं है, अथवा घातिया कर्मों के द्वारा आप बंधे हुए नहीं हैं, इसलिए आप अबन्धन कहे जाते हैं ॥४६॥

ॐ ह्रीं अर्हं युगादि पुरुषाय नमः ॥४७॥ आप कर्मभूमि के प्रारम्भ में हुए हैं इसलिए युगादि पुरुष कहलाते हैं ॥४७॥

ॐ ह्रीं अर्हं ब्रह्मणे नमः ॥४८॥ आपके यहां केवलज्ञान आदि समस्त गुण वृद्धि की प्राप्ति होते हैं इसलिए आप ब्रह्मा कहे जाते हैं ॥४८॥

ॐ ह्रीं अहं पंचब्रह्ममाय नमः ॥४९॥ आप पंचपरमेष्ठी स्वरूप हैं इसलिए आप पंचब्रह्ममाय कहलाते हैं ॥४९॥

ॐ ह्रीं अहं शिवाय नमः ॥५०॥ आप सदा परमानन्द में रहते हैं, तथा आप सब का कल्याण करने वाले हैं इसलिए आपको शिव कहते हैं ॥५०॥

ॐ ह्रीं अहं पराय नमः ॥५१॥ आप जीवों को मोक्ष स्थान में पहुँचाते हैं इसलिए पर कहे जाते हैं ॥५१॥

ॐ ह्रीं अहं परतराय नमः ॥५२॥ धर्मोपदेश देने से आप सबके गुरु हैं एवं सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए परतर कहे जाते हैं ॥५२॥

ॐ ह्रीं अहं सूक्ष्माय नमः ॥५३॥ आप इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाने जा सकते। आप केवलज्ञान के द्वारा ही जाने जा सकते हैं इसलिए आप सूक्ष्म कहलाते हैं ॥५३॥

ॐ ह्रीं अहं परमेष्ठिने नमः ॥५४॥ इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य ऐसे मोक्षस्थान में एवं अरहंत पद में रहने के कारण आप परमेष्ठी कहलाते हैं ॥५४॥

ॐ ह्रीं अहं सनातनाय नमः ॥५५॥ तीनों कालों में आप सदा नित्य रहते हैं इसलिए सनातन कहे जाते हैं ॥५५॥

ॐ ह्रीं अहं स्वयं ज्योतिषे नमः ॥५६॥ आप स्वयं प्रकाश रूप हैं, इसलिए स्वयं ज्योति हैं ॥५६॥

ॐ ह्रीं अहं अजाय नमः ॥५७॥ आप संसार में उत्पन्न नहीं होते इसलिए आप अज हैं ॥५७॥

ॐ ह्रीं अहं अजन्मने नमः ॥५८॥ आप किसी शरीर को धारण नहीं करते इसलिए आप अजन्मा हैं ॥५८॥

ॐ ह्रीं अहं ब्रह्मयोनिने नमः ॥५९॥ आप ब्रह्म अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की योनि अर्थात् खान हैं, इसलिए आप ब्रह्मयोनि कहे जाते हैं ॥५९॥

ॐ ह्रीं अहं अयोनिजाय नमः ॥६०॥ आप मोक्ष स्थान में चौरासी लाख योनियों से रहित हो कर उत्पन्न होते हैं, इसलिए आप अयोनिज कहलाते हैं ॥६०॥

ॐ ह्रीं अहं मोहारिविजयिने नमः ॥६१॥ आप मोहनीय कर्म रूपी शत्रु को जीतने वाले हैं इसलिए आप मोहारिविजयी कहे जाते हैं ॥६१॥

ॐ ह्रीं अहं जेत्रे नमः ॥६२॥ आप सब से उत्कृष्ट रीति से रहते हैं इसलिए आप जेता कहे जाते हैं ॥६२॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मचक्रिणे नमः ॥६३॥ गमन करते समय सदा आपके भागे धर्मचक्र रहता है इसलिए आपको धर्मचक्री कहते हैं ॥६३॥

ॐ ह्रीं अहं दयाध्वजाय नमः ॥६४॥ सब प्राणियों पर दया करने रूपी आपकी प्रसिद्ध ध्वजा फहरा रही है इसलिए आप दयाध्वज कहलाते हैं ॥६४॥

ॐ ह्रीं अहं प्रशांतारिणे नमः ॥६५॥ आपके कर्मरूपी शत्रु शांत हो गए हैं इसलिए आप प्रशांतारि कहलाते हैं ॥६५॥

ॐ ह्रीं अहं अनन्तात्मने नमः ॥६६॥ आप अनन्त गुणों को धारण करने वाले हैं तथा आपकी आत्मा कभी नष्ट नहीं होती और आप केवलज्ञानी हैं इसलिए अनन्तात्मा कहे जाते हैं ॥६६॥

ॐ ह्रीं अहं योगिने नमः ॥६७॥ आपने अपने योगों का निरोध किया है इसलिए आप योगी हैं ॥६७॥

ॐ ह्रीं अहं योगीश्वरार्चिताय नमः ॥६८॥ गणधरादि योगीश्वर भी आपको पूजा करते हैं इसलिए आप योगीश्वरार्चित हैं ॥६८॥

ॐ ह्रीं अहं ब्रह्मविदे नमः ॥६९॥ आप अपने ब्रह्म अर्थात् आत्मा का स्वरूप जानते हैं इसलिए आप ब्रह्मवित् हैं ॥६९॥

ॐ ह्रीं अहं ब्रह्मतत्त्वज्ञाय नमः ॥७०॥ आप ब्रह्म तत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व का अथवा केवलज्ञान का मा. दया का अथवा कामदेव के नष्ट करने का मर्म जानते हैं इसलिए आप ब्रह्मतत्त्वज्ञ हैं ॥७०॥

ॐ ह्रीं अहं ब्रह्मोद्याविदे नमः ॥७१॥ आप ब्रह्म अर्थात् आत्मा के द्वारा कहे हुए समस्त तत्त्वों को अथवा आत्मविद्या को जानते हैं, इसलिए आप ब्रह्मोद्यावित् कहलाते हैं ॥७१॥

ॐ ह्रीं अहं यतीश्वराय नमः ॥७२॥ रत्नत्रय सिद्ध करने वाले यतियों में भी आप श्रेष्ठ हैं इसलिए यतीश्वर कहे जाते हैं ॥७२॥

ॐ ह्रीं अहं शुद्धाय नमः ॥७३॥ क्रोध आदि कषायों से रहित होने से आप शुद्ध हैं ॥७३॥

ॐ ह्रीं अहं बुद्धाय नमः ॥७४॥ केवलज्ञानी होने से अथवा सबको जानने से आप बुद्ध हैं ॥७४॥

ॐ ह्रीं अहं प्रबुद्धात्मने नमः ॥७५॥ अपने आत्मा का स्वरूप जानते हैं इसलिए प्रबुद्धात्मा हैं ॥७५॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धार्थाय नमः ॥७६॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ आपको सिद्ध हो चुके हैं तथा मोक्ष प्राप्त करने का ही आपका मुख्य प्रयोजन है एवं आपके द्वारा ही जीवादि पदार्थों की सिद्धि होती है तथा मोक्षका अर्थ अर्थात् कारण रत्नत्रय आपको सिद्ध हो चुका है इसलिए आपको सिद्धार्थ कहते हैं ॥७६॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धशासनाय नमः ॥७७॥ आपका शासन अर्थात् मत पूर्ण तथा प्रसिद्ध है, इसलिए आप सिद्ध शासन कहलाते हैं ॥७७॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धाय नमः ॥७८॥ आपको द्वारा कर्मों के नाश होने से आप सिद्ध कहलाते हैं ॥७८॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धान्तविदे नमः ॥७९॥ आप द्वादशांग सिद्धान्त के पारगामी हैं, इसलिए आप सिद्धान्तविद कहलाते हैं ॥७९॥

ॐ ह्रीं अहं ध्येयाय नमः ॥८०॥ योगी लोग भी आपका ध्यान करते हैं, इसलिए आप ध्येय हैं ॥८०॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धसाध्याय नमः ॥८१॥ आपकी आराधना मुनिजन तथा सिद्ध जाति के देव भी करते हैं इसलिए आप सिद्ध साध्य कहलाते हैं ॥८१॥

ॐ ह्रीं अहं जगद्धिते नमः ॥८२॥ आप सम्पूर्ण जगत् के हितकारी हैं, इसलिए आप जगत् हित कहलाते हैं ॥८२॥

ॐ ह्रीं अहं सहिष्णवे नमः ॥८३॥ आप सहनशील होने से सहिष्णु कहलाते हैं ॥८३॥

ॐ ह्रीं अहं अच्युताय नमः ॥८४॥ आप आत्मा से स्वरूप से कभी भी च्युत नहीं होते इस-
लिए आप अच्युत हैं ॥८४॥

ॐ ह्रीं अहं अनन्ताय नमः ॥८५॥ आपके गुणों का अन्त नहीं है तथा आपके गुण नाशवान्
नहीं इसलिए आप अनन्त हैं ॥८५॥

ॐ ह्रीं अहं प्रभविष्णवे नमः ॥८६॥ आप के अन्तर अनन्त शक्ति है इसलिये आप प्रभविष्णु
कहलाते हैं ॥८६॥

ॐ ह्रीं अहं भवोद्भवाय नमः ॥८७॥ संसार में जन्म मरण से आप मुक्त हो चुके हैं एवं संसार
में आपका जन्म उत्कृष्ट गिना जाता है इसलिये आप भवोद्भव हैं ॥८७॥

ॐ ह्रीं अहं प्रभविष्णवे नमः ॥८८॥ आपकी स्वाभाविक परिणति समय-समय में परिणमनशील
है अथवा सौ इन्द्रों के प्रभुत्व को प्राप्त करने का आपका स्वभाव है इसलिये आप प्रभविष्णु
कहलाते हैं ॥८८॥

ॐ ह्रीं अहं अजराय नमः ॥८९॥ आप बुढ़ापे से रहित हैं अतः आप अजर कहलाते हैं ॥८९॥

ॐ ह्रीं अहं अजयाय नमः ॥९०॥ आपको कोई भी जीत नहीं सकता इसलिए आप अजय
हैं ॥९०॥

ॐ ह्रीं अहं आजिष्णवे नमः ॥९१॥ करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति से भी आपकी कान्ति
अधिक है इसलिए आप आजिष्णु कहलाते हैं ॥९१॥

ॐ ह्रीं अहं धीश्वराय नमः ॥९२॥ आप पूर्ण ज्ञान के स्वामी हैं इसलिए आप धीश्वर
कहलाते हैं ॥९२॥

ॐ ह्रीं अहं अव्ययाय नमः ॥९३॥ आप सदा अविनाशी हैं । आप कभी नाशक रूप अथवा
न्यूनाधिक नहीं होते इसलिए आप अव्यय कहलाते हैं ॥९३॥

ॐ ह्रीं अहं विभावसवे नमः ॥९४॥ कर्मरूपी काष्ठ को जलाने से आप विभावसु अर्थात् अग्नि
हैं । मोहरूपी अन्धकार को नाश करने से आप विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, अथवा धर्म रूपी अमृत की वर्षा
करने से विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, तथा राग-द्वेष आदि विभाव परिणामों को आपने नाश किया है इसलिए
भी आप विभावसु कहलाते हैं ॥९४॥

ॐ ह्रीं अहं असंभूष्णवे नमः ॥९५॥ संसार में उत्पन्न होने का आपका स्वभाव नहीं है इसलिए
आप असंभूष्णु हैं ॥९५॥

ॐ ह्रीं अहं स्वयम्भूष्णवे नमः ॥९६॥ अपने आप ही आप प्रगट अर्थात् प्रकाशमान हुये हैं
इसलिये आप स्वयम्भूष्णु कहलाते हैं ॥९६॥

ॐ ह्रीं अहं पुरातनाय नमः ॥९७॥ आप अनादि सिद्ध हैं, इसलिए पुरातन हैं ॥९७॥

ॐ ह्रीं अहं परमात्मने नमः ॥९८॥ आपका आत्मा परमोत्कृष्ट है इसलिये आप परमात्मा
कहलाते हैं ॥९८॥

ॐ ह्रीं अहं परंज्योतिषे नमः ॥९९॥ आप मोक्षमार्ग को प्रगट करने वाले हैं इसलिये आप
परंज्योति कहलाते हैं और तीनों लोकों में आपही उत्कृष्ट हैं ॥९९॥

ॐ ह्रीं अहं त्रिजगत्परमेश्वराय नमः ॥१००॥ आप तीनों लोकों के स्वामी हैं इसलिए आप
त्रिजगत्परमेश्वर कहलाते हैं ॥१००॥

ॐ ह्रीं अहं दिव्य भाषा पतये नमः ॥१०१॥ आप दिव्य ध्वनि के स्वामी हैं, इसलिये आप
दिव्य भाषा पति हैं ॥१०१॥

ॐ ह्रीं अर्ह दिव्याय नमः ॥१०२॥ आप अत्यन्त मनोहर होने से दिव्य हैं ॥१०२॥

ॐ ह्रीं अर्ह पूतवासे नमः ॥१०३॥ आपकी वाणी सर्वथा निर्दोष है इसलिये आप पूतवाक् कहलाते हैं ॥१०३॥

ॐ ह्रीं अर्ह पूतशासनाय नमः ॥१०४॥ आपका उपदेश अथवा मत पवित्र होने से आप पूत शासन हैं ॥१०४॥

ॐ ह्रीं अर्ह पूतात्मने नमः ॥१०५॥ आपका आत्मा पवित्र है अथवा आप भूय जीवों को पवित्र करने वाले हैं । अतः आप पूतात्मा कहलाते हैं ॥१०५॥

ॐ ह्रीं अर्ह परम ज्योतिषे नमः ॥१०६॥ आपका केवलज्ञान रूपी तेज सर्वोत्कृष्ट है । इसलिये आप परम ज्योति हैं ॥१०६॥

ॐ ह्रीं अर्ह धर्माध्याय नमः ॥१०७॥ आप धर्म के प्रमुख अधिकारी हैं इसलिए धर्माध्यक्ष हैं ॥१०७॥

ॐ ह्रीं अर्ह दमीश्वराय नमः ॥१०८॥ आप इन्द्रियों को निग्रह करने में श्रेष्ठ हैं इसलिए दमी-श्वर कहलाते हैं ॥१०८॥

ॐ ह्रीं अर्ह श्रीपतये नमः ॥१०९॥ आप मोक्षादि लक्ष्मी के भोक्ता वा स्वामी हैं अतएव आप श्रीपति हैं ॥१०९॥

ॐ ह्रीं अर्ह अर्हते नमः ॥११०॥ आप महाज्ञानी होने से भगवान् हैं ॥११०॥

ॐ ह्रीं अर्ह अर्हते नमः ॥१११॥ आप परम पूज्य होने से तथा सभी के द्वारा आराधना करने के योग्य होने से अर्हन्त हैं ॥१११॥

ॐ ह्रीं अर्ह अरजाय नमः ॥११२॥ आप कर्म रूपी रज से रहित होने से अरजा हैं ॥११२॥

ॐ ह्रीं अर्ह विरजाय नमः ॥११३॥ आप के द्वारा भूय जीवों के कर्ममल दूर होने हैं तथा आप ज्ञानावरण दर्शनावरण से रहित हैं अतएव विरजा हैं ॥११३॥

ॐ ह्रीं अर्ह शुचये नमः ॥११४॥ आप परम पवित्र हैं कि वा पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालन करने वाले हैं अथवा मलमूत्र रहित हैं एवं मोहरहित हैं अतः आप शुचि हैं ॥११४॥

ॐ ह्रीं अर्ह तीर्थकृते नमः ॥११५॥ आप धर्मरूपी तीर्थ के कर्ता हैं तथा संसार से पार करने वाले द्वादशांग रूपी तीर्थ कर्ता हैं इसलिए आप तीर्थकृत हैं ॥११५॥

ॐ ह्रीं अर्ह केवलिने नमः ॥११६॥ आप केवलज्ञान से युक्त होने से केवली हैं ॥११६॥

ॐ ह्रीं अर्ह ईशानाय नमः ॥११७॥ आप अनन्त शक्तिमान् हैं तथा सबके ईश्वर हैं इसलिए आप ईशान हैं ॥११७॥

ॐ ह्रीं अर्ह पूजाह्वय नमः ॥११८॥ आप आठ प्रकार की पूजा के लिए योग्य होने से पूजाह्व हैं ॥११८॥

ॐ ह्रीं अर्ह स्नातकाय नमः ॥११९॥ आपने अपने घातिया कर्मों का नाश कर दिया है तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है इसलिये आप स्नातक हैं ॥११९॥

ॐ ह्रीं अर्ह अमलाय नमः ॥१२०॥ आप धातु उपधातु आदि मल रहित होने से अमल हैं ॥१२०॥

ॐ ह्रीं अर्ह अनन्तदीप्तये नमः ॥१२१॥ आपकी केवलज्ञान दीप्ति अथवा आपके शरीर की कान्ति अनन्त है अतः आप अनन्तदीप्ति कहलाते हैं ॥१२१॥

ॐ ह्रीं अहं ज्ञानात्मने नमः ॥१२२॥ आप ज्ञानरूप होने से ज्ञानात्म कहलाते हैं ॥१२२॥

ॐ ह्रीं अहं स्वम्बुद्धये नमः ॥१२३॥ अपने आप ही मोक्ष मार्ग में आप प्रवृत्त हुये हैं अथवा बिना गुरु के स्वयं महाज्ञानी हुए हैं इसलिए आप स्वम्बुद्ध कहलाते हैं ॥१२३॥

ॐ ह्रीं अहं प्रजापतये नमः ॥१२४॥ आप तीनों लोकों के स्वामी होने से अथवा सभी को उपदेश देने से प्रजापति हैं ॥१२४॥

ॐ ह्रीं अहं मुक्तये नमः ॥१२५॥ आप संसार और कर्मों से रहित होने से मुक्त हैं ॥१२५॥

ॐ ह्रीं अहं शक्तये नमः ॥१२६॥ आप में सामर्थ्य होने से अथवा अनन्त शक्ति होने से आप शक्त हैं ॥१२६॥

ॐ ह्रीं अहं निराबाधाय नमः ॥१२७॥ आप बाधा अथवा बल से रहित होने से निराबाध हैं ॥१२७॥

ॐ ह्रीं अहं निष्कलाय नमः ॥१२८॥ आप शरीर रहित होने से निष्कल हैं ॥१२८॥

ॐ ह्रीं अहं भुवनेश्वराय नमः ॥१२९॥ आप तीनों लोकों के स्वामी होने से भुवनेश्वर हैं ॥१२९॥

ॐ ह्रीं अहं निरंजनाय नमः ॥१३०॥ आप कर्मरूपी अंजन से रहित होने से निरंजन कहलाते हैं ॥१३०॥

ॐ ह्रीं अहं जगज्ज्योतये नमः ॥१३१॥ जगत् को प्रकाशित करने से अथवा मोक्ष मार्ग का स्वरूप दिखलाने से आप जगज्ज्योति हैं ॥१३१॥

ॐ ह्रीं अहं निरुक्तोक्तये नमः ॥१३२॥ आपके वचन पूर्वापर अविच्छेद होने से प्रमाण हैं इसलिये आपको निरुक्तोक्ति कहते हैं ॥१३२॥

ॐ ह्रीं अहं निरामयाय नमः ॥१३३॥ आप रोग रहित अथवा शेष रहित होने से निरामय हैं ॥१३३॥

ॐ ह्रीं अहं अचलस्थिताय नमः ॥१३४॥ अनन्तकाल बीतने पर भी आपकी स्थिति अचल रहती है इसलिये आप अचल स्थिति कहलाते हैं ॥१३४॥

ॐ ह्रीं अहं अक्षोभ्याय नमः ॥१३५॥ आप व्याकुलता रहित हैं अथवा आपकी शांति कभी भंग नहीं होती इसलिये आप अक्षोभ्य कहलाते हैं ॥१३५॥

ॐ ह्रीं अहं कूटस्थाय नमः ॥१३६॥ आप सदा निरर्थ रहने से अथवा लोक शिखर पर विराजमान होने से कूटस्थ कहलाते हैं ॥१३६॥

ॐ ह्रीं अहं स्थाणुके नमः ॥१३७॥ आप गमनागमन से रहित होने से स्थाणु हैं ॥१३७॥

ॐ ह्रीं अहं अक्षयाय नमः ॥१३८॥ आप क्षय रहित होने अक्षय हैं ॥१३८॥

ॐ ह्रीं अहं अग्रणीयेनमः ॥१३९॥ तीनों लोकों में सबसे श्रेष्ठ होने के कारण आप अग्रणी कहलाते हैं ॥१३९॥

ॐ ह्रीं अहं ग्रामिण्ये नमः ॥१४०॥ आप मोक्षपद को प्राप्त होने से ग्रामणी कहलाते हैं ॥१४०॥

ॐ ह्रीं अहं नेत्राय नमः ॥१४१॥ आप समस्त प्रजा को धर्मानुसार चलाते हैं इसलिये आप नेता हैं ॥१४१॥

ॐ ह्रीं अहं प्रणेताय नमः ॥१४२॥ आप शास्त्र से उत्पन्न करने वाले अथवा धर्म अथवा धर्म व मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं इसलिये आप प्रणेता कहलाते हैं ॥१४२॥

ॐ ह्रीं अहं न्यायशास्त्रकृते नमः ॥१४३॥ आप प्रमाण और नयों के स्वरूप को दिखाने वाले हैं अतः आप न्यायशास्त्रकृत कहलाते हैं ॥१४३॥

ॐ ह्रीं अहं शास्ताय नमः ॥१४४॥ आप सभी को हितरूप उपदेश देने से शास्ता हैं ॥१४४॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मपतये नमः ॥१४५॥ रत्नत्रय अथवा उत्तम क्षमादि धर्मों के स्वामी होने से आप धर्मपति हैं ॥१४५॥

ॐ ह्रीं अहं धर्माय नमः ॥१४६॥ आप धर्मरूप होने से धर्म हैं ॥१४६॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मात्माय नमः ॥१४७॥ आप धर्मात्माओं की वृद्धि करने से धर्मात्मा हैं ॥१४७॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मतीर्थकृते नमः ॥१४८॥ आप धर्मरूपी तीर्थ की प्रवृत्ति करने से धर्मतीर्थकृत कहलाते हैं ॥१४८॥

ॐ ह्रीं अहं वृषध्वजाय नमः ॥१४९॥ आपकी ध्वजा पर बैल का चिन्ह होने से अथवा वृषभ अर्थात् धर्म की ध्वजा फहराने वाले आप वृषध्वज कहलाते हैं ॥१४९॥

ॐ ह्रीं अहं वृषाधीशाय नमः ॥१५०॥ आप अहिंसा रूपी धर्म के स्वामी होने से वृषाधीश कहलाते हैं ॥१५०॥

ॐ ह्रीं अहं वृषकेतवे नमः ॥१५१॥ आप धर्म को प्रसिद्ध करने से वृषकेतु हैं ॥१५१॥

ॐ ह्रीं अहं वृषायुधाय नमः ॥१५२॥ आपने कर्मरूपी शत्रु को नाश करने के लिये धर्म रूपी शस्त्र को धारण कर रखा है इसलिये वृषायुध कहलाते हैं ॥१५२॥

ॐ ह्रीं अहं वृषाय नमः ॥१५३॥ आप धर्म की वृष्टि करने से वृष हैं ॥१५३॥

ॐ ह्रीं अहं वृषपतये नमः ॥१५४॥ आप धर्म के नायक होने से वृषपति हैं ॥१५४॥

ॐ ह्रीं अहं भग्नये नमः ॥१५५॥ आप सबके स्वामी होने से भग्न हैं ॥१५५॥

ॐ ह्रीं अहं वृषभक्ताय नमः ॥१५६॥ आप वृषभ का चिह्न होने से वृषभक्त हैं ॥१५६॥

ॐ ह्रीं अहं वृषोद्भवाय नमः ॥१५७॥ माता को स्वप्न में वृषभ दिखाई देकर आप उत्पन्न हुये हैं अथवा महान् पुण्य से उत्पन्न हुये हैं इसलिये आप वृषभोद्भव कहलाते हैं ॥१५७॥

ॐ ह्रीं अहं हिरण्यनाभये नमः ॥१५८॥ आप सुन्दर नाभि वाले होने से अथवा नाभिराजा की संसति होने से हिरण्यनाभि हैं ॥१५८॥

ॐ ह्रीं अहं भूतात्मने नमः ॥१५९॥ आपका स्वरूप यथार्थ है, कभी नाश नहीं होता इसलिये आप भूतात्मा हैं ॥१५९॥

ॐ ह्रीं अहं भूतमृते नमः ॥१६०॥ आप जीवों की रक्षा करने से अथवा कल्याण करने से भूतमृत कहलाते हैं ॥१६०॥

ॐ ह्रीं अहं भूतभावनाय नमः ॥१६१॥ आपकी भावना सदा मंगल रूप है इसलिये आप भूत-भावन कहलाते हैं ॥१६१॥

ॐ ह्रीं अहं प्रभवये नमः ॥१६२॥ आपका जन्म प्रशंसनीय है अथवा आपसे आपके वंश की वृद्धि हुई है इसलिये प्रभव कहे जाते हैं ॥१६२॥

ॐ ह्रीं अहं विभवे नमः ॥१६३॥ संसार रहित होने से आप विभव हैं ॥१६३॥

ॐ ह्रीं अहं भास्वने नमः ॥१६४॥ केवलशान्त भाव की भाँति से प्रकाशमान होने से आप भास्वन् हैं ॥१६४॥

ॐ ह्रीं अहं भवाम नमः ॥१६५॥ आप में समय-समय में उत्पाव होता रहता है, इसलिये आप भव हैं ॥१६५॥

ॐ ह्रीं अर्हं भावाय नमः ॥१६६॥ आप अपने स्वभाव में सदा लीन हैं इसलिये आप भाव हैं ॥१६६॥

ॐ ह्रीं अर्हं भवान्तकाय नमः ॥१६७॥ संसार भ्रमण का आप अंत करने वाले हैं, इसलिए भवान्तक को जाते हैं ॥१६७॥

ॐ ह्रीं अर्हं हिरण्यगर्भाय नमः ॥१६८॥ आपके गर्भावतार के समय सुवर्ण की वृष्टि हुई थी इसलिये आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं ॥१६८॥

ॐ ह्रीं अर्हं श्रीगर्भाय नमः ॥१६९॥ आपके गर्भावतार के समय लक्ष्मी ने भी सेवा की थी अथवा आपके अंग-अंग में स्फुरायमान लक्ष्मी शोभायमान हैं, इसलिये आप को श्रीगर्भ कहते हैं ॥१६९॥

ॐ ह्रीं अर्हं प्रभूतविभवे नमः ॥१७०॥ अनन्त विभूति के स्वामी होने से आपको प्रभूत विभव कहते हैं ॥१७०॥

ॐ ह्रीं अर्हं अभवाय नमः ॥१७१॥ आप जन्म रहित होने से अभव कहे जाते हैं ॥१७१॥

ॐ ह्रीं अर्हं स्वयंप्रभुवे नमः ॥१७२॥ आप अपने आप ही समर्थ होने से स्वयंप्रभु कहलाते हैं ॥१७२॥

ॐ ह्रीं अर्हं प्रभूतात्मने नमः ॥१७३॥ केवलज्ञान के द्वारा आपका आत्मा व्याप्त होने से आप प्रभूतात्मा कहलाते हैं ॥१७३॥

ॐ ह्रीं अर्हं जगत्प्रभवे नमः ॥१७४॥ तीनों लोकों के स्वामी होने से आप जगत्प्रभु कहलाते हैं ॥१७४॥

ॐ ह्रीं अर्हं भूतनाथाय नमः ॥१७५॥ समस्त जीवों के स्वामी होने से आप भूतनाथ हैं ॥१७५॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वादिने नमः ॥१७६॥ सबसे प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ होने से आप सर्वादि हैं ॥१७६॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वदृशे नमः ॥१७७॥ आप समस्त लोकालोक को देख सकते हैं इसलिये सर्वदृक् हैं ॥१७७॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वाय नमः ॥१७८॥ आप हितोपदेश कर सभी का कल्याण करने से सर्व हैं ॥१७८॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वज्ञाय नमः ॥१७९॥ आप पूर्ण सम्यक्त्व को धारण करने से सर्वज्ञान हैं ॥१७९॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वदर्शनाय नमः ॥१८०॥ आपका दर्शनपूर्ण अवस्था को प्राप्त हुआ है इसलिए आप सर्व दर्शन कहलाते हैं ॥१८०॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वात्मने नमः ॥१८१॥ आप सबके प्रिय होने से सर्वात्मा हैं ॥१८१॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वलोकेशाय नमः ॥१८२॥ आप तीनों लोकों के समस्त जीवों के स्वामी होने से सर्वलोकेश हैं ॥१८२॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वविदे नमः ॥१८३॥ आप समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से सर्वविद् हैं ॥१८३॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वलोकजिते नमः ॥१८४॥ आप अनन्तवीर्य होने के कारण समस्त लोक को जीतने वाले हैं इसलिए सर्वलोकजित कहलाते हैं ॥१८४॥

ॐ ह्रीं अर्हं सुगतये नमः ॥१८५॥ आपकी पंचम मोक्षगति अतिशय सुन्दर होने से अथवा आपका ज्ञान प्रशंसनीय होने से आप सुगति कहलाते हैं ॥१८५॥

ॐ ह्रीं अर्हं सुश्रुताय नमः ॥१८६॥ आप अत्यन्त प्रसिद्ध होने से अथवा उत्तम शास्त्रज्ञान को धारण करने से आप सुश्रुत हैं ॥१८६॥

ॐ ह्रीं अहं सुश्रुते नमः ॥१८७॥ आप भक्तों की प्रार्थना को अच्छी तरह से सुनते हैं इसलिए सुश्रुत कहलाते हैं ॥१८७॥

ॐ ह्रीं अहं सुवाचे नमः ॥१८८॥ आपकी वाणी सप्तभंग स्वरूप होने अथवा हितोपदेश देने से आप सुवाक् कहलाते हैं ॥१८८॥

ॐ ह्रीं अहं सूर्ये नमः ॥१८९॥ आप सबके गुरु होने से सूरि हैं ॥१८९॥

ॐ ह्रीं अहं बहुश्रुताय नमः ॥१९०॥ आप शास्त्रों के पारंगामी होने से बहुश्रुत कहलाते हैं ॥१९०॥

ॐ ह्रीं अहं विश्रुताय नमः ॥१९१॥ आप जगत् प्रसिद्ध होने से अथवा शास्त्रों से भी आपका यथार्थ स्वरूप जाना नहीं जाता इसलिये आप विश्रुत हैं ॥१९१॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वतः पादाय नमः १९२॥ आपकी केवलज्ञान रूपी किरणें सब ओर फैली हुई हैं इसलिये आपको विश्वतः पाद कहते हैं ॥१९२॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वशीर्षाय नमः ॥१९३॥ लोक के शिखर पर विराजमान होने से आप विश्व-शीर्ष हैं ॥१९३॥

ॐ ह्रीं अहं शुचिस्त्रयाय नमः ॥१९४॥ आपका ज्ञान अत्यन्त निर्दोष है इसलिये आपको शुचि-स्त्रया कहते हैं ॥१९४॥

ॐ ह्रीं अहं सहस्रशीर्षाय नमः ॥१९५॥ अनन्त सुखी होने से आप सहस्रशीर्ष हैं ॥१९५॥

ॐ ह्रीं अहं क्षेत्रज्ञाय नमः ॥१९६॥ आत्मा के स्वरूप को जानने से अथवा लोकालोक को जानने से आप क्षेत्रज्ञ हैं ॥१९६॥

ॐ ह्रीं अहं सहस्राक्षाय नमः ॥१९७॥ आप अनन्तदर्शी होने से सहस्राक्ष हैं ॥१९७॥

ॐ ह्रीं अहं सहस्रपादे नमः ॥१९८॥ अनन्त वीर्य को धारण करने से आप सहस्रपाद हैं ॥१९८॥

ॐ ह्रीं अहं भूतभव्यभवद्वन्त्रे नमः ॥१९९॥ भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों के स्वामी होने से आप भूतभव्यभवद्वन्त्रा हैं ॥१९९॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वविद्यामहेश्वराय नमः ॥२००॥ आप समस्त विद्याओं के तथा केवलज्ञान के स्वामी होने से विश्वविद्यामहेश्वर कहे जाते हैं ॥२००॥

ॐ ह्रीं अहं स्थविष्ठाय नमः ॥२०१॥ सद्गुणों के पूर्ण होने से अथवा आपके प्रदेशों में समस्त जीवों के अवकाश देने की शक्ति होने से आपको स्थविष्ठ कहते हैं ॥२०१॥

ॐ ह्रीं अहं स्थविराय नमः ॥२०२॥ आप आदि, अन्त रहित होने से अत्यन्त बृद्ध हैं अथवा ज्ञान से बृद्ध हैं इसलिए स्थविर कहलाते हैं ॥२०२॥

ॐ ह्रीं अहं ज्येष्ठाय नमः ॥२०३॥ मुख्य होने से आप ज्येष्ठ हैं ॥२०३॥

ॐ ह्रीं अहं पृष्ठाय नमः ॥२०४॥ सबके अग्रगण्य होने से आप पृष्ठ हैं ॥२०४॥

ॐ ह्रीं अहं प्रेष्ठाय नमः ॥२०५॥ अत्यन्त प्रिय होने से आप प्रेष्ठ हैं ॥२०५॥

ॐ ह्रीं अहं वरिष्ठधिये नमः ॥२०६॥ अतिशय बुद्धि को धारण करने वाले होने से आप वरिष्ठधी कहलाते हैं ॥२०६॥

ॐ ह्रीं अहं स्थेष्ठाय नमः ॥२०७॥ आप अत्यन्त स्थिर अर्थात् अविनाशी होने से स्थेष्ठ कहलाते हैं ॥२०७॥

ॐ ह्रीं अहं गरिष्ठाय नमः ॥२०८॥ अत्यन्त गुरु होने से आप गरिष्ठ हैं ॥२०८॥

ॐ ह्रीं अहं वहिष्ठाय नमः ॥२०६॥ अनन्त गुणों के धारक होने तथा अनेक स्वरूप हो जाने से आप वहिष्ठ हैं ॥२०६॥

ॐ ह्रीं अहं श्रेष्ठाय नमः ॥२१०॥ प्रशंसनीय होने से आप श्रेष्ठ हैं ॥२१०॥

ॐ ॐ अहं अनिष्ठाय नमः ॥२११॥ अतिशय सूक्ष्म अर्थात् केवलज्ञान गोचर होने से आप अनिष्ठ कहलाते हैं ॥२११॥

ॐ ह्रीं अहं गरिष्ठगिरे नमः ॥२१२॥ आपकी वाणी पूज्य होने से आप गरिष्ठगी कहलाते हैं ॥२१२॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वभृदाय नमः ॥२१३॥ चतुर्गतिरूप संसार को नष्ट करने के कारण आप विश्वभृद कहलाते हैं ॥२१३॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वश्रये नमः ॥२१४॥ विधि विधान के कर्ता होने से आप विश्वसृष्ट हैं ॥२१४॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वाय नमः ॥२१५॥ तीन लोक के स्वामी होने से आप विश्वेष्ट कहलाते हैं ॥२१५॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वभुके नमः ॥२१६॥ जगत् की रक्षा करने वाले होने से आप विश्वभुक् कहलाते हैं ॥२१६॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वनायकाय नमः ॥२१७॥ सबके स्वामी होने से आप विश्वनायक हैं ॥२१७॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वासिने नमः ॥२१८॥ समस्त प्राणियों के विश्वास योग्य होने से अथवा केवल-ज्ञान के कारण सब जगह निवास करने से आप विश्वासी कहलाते हैं ॥२१८॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वरूपात्मने नमः ॥२१९॥ आपका आत्मा अनन्त स्वरूप है, इसलिए आप विश्वरूपात्मक कहलाते हैं ॥२१९॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वजिते नमः ॥२२०॥ संसार को जीतने से आप विश्वजित कहलाते हैं ॥२२०॥

ॐ ह्रीं अहं विजिनान्तकाय नमः ॥२२१॥ काल को जीतने के कारण आप विजितान्तक कहलाते हैं ॥२२१॥

ॐ ह्रीं अहं विभवाय नमः ॥२२२॥ आपको किसी प्रकार का मत्तो विकार नहीं है इसलिए आप विभव कहलाते हैं ॥२२२॥

ॐ ह्रीं अहं विभयाय नमः ॥२२३॥ भय रहित होने से आप विभय कहलाते हैं ॥२२३॥

ॐ ह्रीं अहं धीराय नमः ॥२२४॥ लक्ष्मी के स्वामी होने से तथा अतिशय बलवान् होने से आपको वीर कहते हैं ॥२२४॥

ॐ ह्रीं अहं विशोकाय नमः ॥२२५॥ शोक रहित होने से आप विशोक कहलाते हैं ॥२२५॥

ॐ ह्रीं अहं विजराय नमः ॥२२६॥ जरा रहित होने से आप विजर हैं ॥२२६॥

ॐ ह्रीं अहं जरणाय नमः ॥२२७॥ नवीन न होने से अर्थात् अनादि कालीन होने से आप जरण वा वृद्ध हैं ॥२२७॥

ॐ ह्रीं अहं विरागाय नमः ॥२२८॥ राग रहित होने से आप विराग हैं ॥२२८॥

ॐ ह्रीं अहं विताय नमः ॥२२९॥ समस्त विषयों से विरक्त होने से आपको विरत कहते हैं ॥२२९॥

ॐ ह्रीं अहं असंगाय नमः ॥२३०॥ पर वस्तु का सम्बन्ध न रखने से आप असंग हैं ॥२३०॥

ॐ ह्रीं अहं विविक्ताय नमः ॥ २३१ ॥ आप एकाकी अथवा पवित्र होने से विविक्त हैं ॥ २३१ ॥

ॐ ह्रीं अहं वीतमत्सराय नमः ॥ २३२ ॥ ईर्ष्या द्वेष न करने से आप वीतमत्सर कहलाते हैं ॥ २३२ ॥

ॐ ह्रीं अहं विनेयजनताबन्धवे नमः ॥ २३३ ॥ आप अपने भक्तजनों के बंधु हैं इसलिए आप विनेयजनता बंधु कहलाते हैं ॥ २३३ ॥

ॐ ह्रीं अहं विलीनाशेषकल्मषाय नमः ॥ २३४ ॥ कर्मरुची समस्त कालिमा रहित होने से आप विलीनाशेषकल्मष हैं ॥ २३४ ॥

ॐ ह्रीं अहं वियोगाय नमः ॥ २३५ ॥ अन्य किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध न होने से अथवा राग रहित होने से आप वियोग हैं ॥ २३५ ॥

ॐ ह्रीं अहं योगविदे नमः ॥ २३६ ॥ योग के जानकार होने से आप योगवित् हैं ॥ २३६ ॥

ॐ ह्रीं अहं विद्वानाय नमः ॥ २३७ ॥ महापंडित अर्थात् पूर्ण ज्ञानी होने से आप विद्वान हैं ॥ २३७ ॥

ॐ ह्रीं अहं विधाताय नमः ॥ २३८ ॥ धर्मरूप सृष्टि के कर्ता होने से अथवा सबके गुरु होने से आप विधाता हैं ॥ २३८ ॥

ॐ ह्रीं अहं सुविधये नमः ॥ २३९ ॥ आपके अनुष्ठान एवं क्रिया अत्यन्त प्रशंसनीय होने से आप सुविधि हैं ॥ २३९ ॥

ॐ ह्रीं अहं सुध्ये नमः ॥ २४० ॥ अतिशय बुद्धिमान होने से आप सुधी हैं ॥ २४० ॥

ॐ ह्रीं अहं शान्तिभाजे नमः ॥ २४१ ॥ आप उत्तम शान्ति के धारण से शान्तिभाक् हैं ॥ २४१ ॥

ॐ ह्रीं अहं पृथ्वी मूर्तये नमः ॥ २४२ ॥ आप में पृथ्वी के समान सबको सहन करने की शक्ति होने से पृथ्वी मूर्ति हैं ॥ २४२ ॥

ॐ ह्रीं अहं शान्तिभाजे नमः ॥ २४३ ॥ आप शान्ति को धारण करने से शान्तिभाक् कहलाते हैं ॥ २४३ ॥

ॐ ह्रीं अहं सलिलात्मकाय नमः ॥ २४४ ॥ जल के समान अत्यन्त निर्मल होने से तथा अन्य जीवों को कर्ममल रहित शुद्ध करने से आप सलिलात्मक हैं ॥ २४४ ॥

ॐ ह्रीं अहं वायुमूर्तये नमः ॥ २४५ ॥ आप वायु के समान पर के सम्बन्ध में रहित होने के कारण वायुमूर्ति हैं ॥ २४५ ॥

ॐ ह्रीं अहं असंगात्मने नमः ॥ २४६ ॥ परिग्रह रहित होने से आप असंसात्मा हैं ॥ २४६ ॥

ॐ ह्रीं अहं वह्नि मूर्तये नमः ॥ २४७ ॥ अग्नि के समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से अथवा कर्मरूपी ईन्धन को जला देने से आप वह्निमूर्ति हैं ॥ २४७ ॥

ॐ ह्रीं अहं अधर्मधृजे नमः ॥ २४८ ॥ अधर्म का नाश करने से आप अधर्मधृक् कहलाते हैं ॥ २४८ ॥

ॐ ह्रीं अहं सुयज्वने नमः ॥ २४९ ॥ कर्मरूपी सामग्री का हवन करने से आप सुयज्वा हैं ॥ २४९ ॥

ॐ ह्रीं अहं यजमानात्मने नमः ॥ २५० ॥ स्वभाव भाव की आराधना करने से अथवा भाव पूजा के कर्ता होने से आप यजमानात्मा हैं ॥ २५० ॥

ॐ ह्रीं अहं सुत्वाय नमः ॥ २५१ ॥ परमानन्दसागर में अभिवेक करने से आप सुत्वा कहलाते हैं ॥ २५१ ॥

ॐ ह्रीं अहं सुत्रामपूजिताय नमः ॥२५२॥ इन्द्र के द्वारा पूज्य होने से आप सुत्राम पूजित हैं ॥२५२॥

ॐ ह्रीं अहं ऋत्विजे नमः ॥२५३॥ ध्यान रूपी अग्नि में शुभाशुभ कर्मों को भस्म करने में अथवा ज्ञानरूप यज्ञ करने से आप आचार्य कहलाते हैं । इसलिए आपको ऋत्विक् कहते हैं ॥२५३॥

ॐ ह्रीं अहं यज्ञपतये नमः ॥२५४॥ यज्ञ के मुख्य अधिकारी होने से आप यज्ञपति हैं ॥२५४॥

ॐ ह्रीं अहं यज्याय नमः ॥२५५॥ सर्व पूज्य होने से आप यज्य हैं ॥२५५॥

ॐ ह्रीं अहं यज्ञांगाय नमः ॥२५६॥ यज्ञ के साधन अर्थात् मुख्य कारण होने से आप यज्ञांग हैं ॥२५६॥

ॐ ह्रीं अहं अमृताय नमः ॥२५७॥ मरण रहित होने से अथवा संसार तृष्णा को निवारण करने से आप अमृत हैं ॥२५७॥

ॐ ह्रीं अहं हविषे नमः ॥२५८॥ अपने आत्मा में तल्लीन रहने से आप हविष कहलाते हैं ॥२५८॥

ॐ ह्रीं अहं व्योममूर्तये नमः ॥२५९॥ आप आकाश के समान निर्मल अथवा केवलज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी होने से व्योममूर्ति हैं ॥२५९॥

ॐ ह्रीं अहं अमूर्तात्मने नमः ॥२६०॥ रूप, रस, गंध, स्पर्श, रहित होने से आप अमूर्तात्मा हैं ॥२६०॥

ॐ ह्रीं अहं निर्लेपाय नमः ॥२६१॥ कर्मरूपी लेप से रहित होने से आप निर्लेप हैं ॥२६१॥

ॐ ह्रीं अहं निर्मलाय नमः ॥२६२॥ रागादि रहित होने से अथवा मलमूत्रादि से रहित होने से आप निर्मल हैं ॥२६२॥

ॐ ह्रीं अहं अचलाय नमः ॥२६३॥ आप सर्वदा स्थित रहने से अचल हैं ॥२६३॥

ॐ ह्रीं अहं सोममूर्तये नमः ॥२६४॥ चन्द्रमा के समान प्रकाशमान और शांति होने से अथवा अत्यन्त सुशोभित होने से आप सोममूर्ति हैं ॥२६४॥

ॐ ह्रीं अहं सुसौम्यात्मने नमः ॥२६५॥ आप अतिशय सौम्य होने से सुसौम्यात्मा हैं ॥२६५॥

ॐ ह्रीं अहं सूर्यमूर्तये नमः ॥२६६॥ आप सूर्य के समान अतिशय कांतियुक्त होने से सूर्यमूर्ति हैं ॥२६६॥

ॐ ह्रीं अहं महाप्रभाय नमः ॥२६७॥ आप अतिशय प्रभावशाली होने से अथवा केवलज्ञान रूपी तेज से सुशोभित होने से महाप्रभ हैं ॥२६७॥

ॐ ह्रीं अहं मंत्रविदे नमः ॥२६८॥ आप मंत्र के जानने वाले होने से मंत्रविद् हैं ॥२६८॥

ॐ ह्रीं अहं मंत्रकृते नमः ॥२६९॥ प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोग रूप मन्त्रों के अथवा जप करने योग्य मन्त्रों के कर्ता होने से आप मन्त्रकृत् हैं ॥२६९॥

ॐ ह्रीं अहं मन्त्रिणे नमः ॥२७०॥ आत्मा का विचार करने से अथवा लोक की रक्षा करने अथवा मुख्य होने से आप मन्त्री हैं ॥२७०॥

ॐ ह्रीं अहं मंत्रमूर्तये नमः ॥२७१॥ मंत्रस्वरूप होने से आप मन्त्रमूर्ति हैं ॥२७१॥

ॐ ह्रीं अहं अनन्तगाय नमः ॥२७२॥ अनन्त ज्ञानी होने से आप अनन्तगा हैं ॥२७२॥

ॐ ह्रीं अहं स्वतन्त्राय नमः ॥२७३॥ स्वाधीन होने से अथवा आत्मा ही आपका सिद्धान्त होने से आप स्वतन्त्र हैं ॥२७३॥

ॐ ह्रीं अहं तंत्र कृते नमः ॥२७४॥ आगम के मुख्य कर्त्ता होने से आप तन्त्रकृत हैं ॥२७४॥

ॐ ह्रीं अहं स्वांताय नमः ॥२७५॥ शुद्ध अंतःकरण होने से आप स्वांत हैं ॥२७५॥

ॐ ह्रीं अहं कृतांतय नमः ॥२७६॥ यम अर्थात् मरण को नाश करने से आप कृतांत कहलाते हैं ॥२७६॥

ॐ ह्रीं अहं कृतांतकृते नमः ॥२७७॥ यम अर्थात् मरण को नाश करने से और पुण्य की वृद्धि के कारण होने से आप कृतांतकृत हैं ॥२७७॥

ॐ ह्रीं अहं कृतये नमः ॥२७८॥ प्रबोध अथवा अतिशय पुण्यवान् तथा हरिहरादि द्वारा पूज्य होने से आप कृती हैं ॥२७८॥

ॐ ह्रीं अहं कृतार्थाय नमः ॥२७९॥ मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने से आप कृतार्थ हैं ॥२७९॥

ॐ ह्रीं अहं सत्कृत्याय नमः ॥२८०॥ आप का कृत्य अतिशय प्रशंसनीय होने से आप सत्कृत्य हैं ॥२८०॥

ॐ ह्रीं अहं कृतकृत्याय नमः ॥२८१॥ करने योग्य समस्त कार्य करने से अथवा समस्त कार्य सफल होने से आप कृतकृत्य हैं ॥२८१॥

ॐ ह्रीं अहं कृतकृत्वे नमः ॥२८२॥ ध्यान रूपी अभि में कर्म, नौ कर्म आदि को भस्म करने से अथवा ज्ञान रूपी यज्ञ करने से अथवा तपश्चर्या रूपी यज्ञ समाप्त होने से आप कृतकृत्य हैं ॥२८२॥

ॐ ह्रीं अहं नित्याय नमः ॥२८३॥ अविनाशी होने से अर्थात् सदा वर्तमान रहने से आप नित्य हैं ॥२८३॥

ॐ ह्रीं अहं मृत्युंजयाय नमः ॥२८४॥ मृत्यु को जीतने से आप मृत्युंजय हैं ॥२८४॥

ॐ ह्रीं अहं अमृतये नमः ॥२८५॥ आपका आत्मा कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता इसलिए आप अमृत्यु हैं ॥२८५॥

ॐ ह्रीं अहं अमृतात्मने नमः ॥२८६॥ मरण रहित होने से अथवा अमृतस्वरूप शांतिदायक होने से आप अमृतात्मा हैं ॥२८६॥

ॐ ह्रीं अहं अमृतोद्भवाय नमः ॥२८७॥ जन्म मरण से रहित होने के कारण अथवा अनिश्चर अवस्था को प्राप्त होने से अथवा भव्य जीवों के लिये मोक्ष प्राप्ति का कारण होने से आप अमृतोद्भव हैं ॥२८७॥

ॐ ह्रीं अहं ब्रह्मनिष्ठाय नमः ॥२८८॥ शुद्ध आत्मा में तल्लीन रहने से आप ब्रह्मनिष्ठ कहलाते हैं ॥२८८॥

ॐ ह्रीं अहं परब्रह्मणे नमः ॥२८९॥ सबसे उत्कृष्ट अथवा केवलज्ञान को धारण करने से आप परब्रह्म हैं ॥२८९॥

ॐ ह्रीं अहं ब्रह्मात्मने नमः ॥२९०॥ ज्ञान स्वरूप होने से आप ब्रह्मात्मा हैं ॥२९०॥

ॐ ह्रीं अहं ब्रह्मसंभवनाय नमः ॥२९१॥ आप से ज्ञान की उत्पत्ति होती है अथवा शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है इसलिए आप ब्रह्मसंभव हैं ॥२९१॥

ॐ ह्रीं अहं महाब्रह्मपतये नमः ॥२९२॥ गणधरादि बड़े ज्ञानियों के स्वामी होने से आप महा-ब्रह्मपति हैं ॥२९२॥

ॐ ह्रीं अहं ब्रह्मेशाय नमः ॥२९३॥ केवली भी आपकी स्तुति करते हैं अथवा केवलज्ञान के स्वामी हैं इसलिए ब्रह्मेश हैं ॥२९३॥

ॐ ह्रीं अहं महा ब्रह्मपदेस्वराय नमः ॥२९४॥ आपमोक्ष के स्वामी अथवा समवशरण के स्वामी होने से महाब्रह्मपदेस्वर हैं ॥२९४॥

ॐ ह्रीं अहं सुप्रसन्नाय नमः ॥२९५॥ आप भक्तों को स्वर्ग मोक्ष देने से अथवा सदा आनन्द-स्वरूप होने से सुप्रसन्न हैं ॥२९५॥

ॐ ह्रीं अहं प्रसन्नात्माय नमः ॥२९६॥ आप मल रहित होने से प्रसन्नात्मा हैं ॥२९६॥

ॐ ह्रीं अहं ज्ञानधर्मदमप्रभवे नमः ॥२९७॥ आप केवलज्ञान दया धर्म और इन्द्रिय निग्रहरूप तपश्चरण के स्वामी होने से ज्ञान धर्मदमप्रभु कहलाते हैं ॥२९७॥

ॐ ह्रीं अहं प्रशमात्मने नमः ॥२९८॥ क्रोधादि रहित होने से आप प्रशमात्मा हैं ॥२९८॥

ॐ ह्रीं अहं प्रशान्तात्मने नमः ॥२९९॥ आप परम शान्तरूप होने से प्रशान्तात्मा हैं ॥२९९॥

ॐ ह्रीं अहं पुराण पुरुषोत्तमाय नमः ॥३००॥ अनादि काल से मोक्षस्थान में निवास करने से अथवा अनादि काल से सदा होने वाले तिरैसठ शलाका पुरुषों में उत्कृष्ट होने से आप पुराण पुरुषोत्तम कहलाते हैं ॥३००॥

ॐ ह्रीं अहं महाशोकध्वज नमः ॥३०१॥ अज्ञान प्रलोक दृष्ट ही आपका चिह्न है इसलिए आपको महाशोकध्वज कहते हैं ॥३०१॥

ॐ ह्रीं अहं अशोकाय नमः ॥३०२॥ आप शोक रहित होने से अशोक हैं ॥३०२॥

ॐ ह्रीं अहं काय नमः ॥३०३॥ सबके पितामह होने से अथवा सबको सुख देने से आपको 'क' कहते हैं ॥३०३॥

ॐ ह्रीं अहं सृष्टाय नमः ॥३०४॥ भक्त लोगों को स्वर्ग, मोक्ष, देने से आप सृष्टा हैं ॥३०४॥

ॐ ह्रीं अहं परमविष्टराय नमः ॥३०५॥ आपका आसन कमल है अथवा कमल ही आपका सिंहासन है इसलिए आपको पद्मविष्टर कहते हैं ॥३०५॥

ॐ ह्रीं अहं पद्मेशाय नमः ॥३०६॥ लक्ष्मी के स्वामी होने से आप पद्मेश हैं ॥३०६॥

ॐ ह्रीं अहं पद्म संभूतये नमः ॥३०७॥ बिहार करते समय इन्द्र लोग आपके धरण कमलों के नीचे कमलों की रचना करते हैं इसलिए आप पद्म संभूति कहे जाते हैं ॥३०७॥

ॐ ह्रीं अहं पद्मनाभये नमः ॥३०८॥ कमल के समान सुन्दर नाभि होने से पद्मनाभि कहे जाते हैं ॥३०८॥

ॐ ह्रीं अहं अनुत्तराय नमः ॥३०९॥ आप से श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है अतएव आप अनुत्तर कहलाते हैं ॥३०९॥

ॐ ह्रीं अहं पद्मयोनये नमः ॥३१०॥ लक्ष्मी के उत्पन्न होने का स्थान होने से आप पद्मयोनि हैं ॥३१०॥

ॐ ह्रीं अहं जगद्योनये नमः ॥३११॥ धर्म रूप जगत की उत्पत्ति होने के कारण से आप जगद्योनि हैं ॥३११॥

ॐ ह्रीं अहं इत्याय नमः ॥३१२॥ ज्ञान गम्य होने से आप इत्य हैं ॥३१२॥

ॐ ह्रीं अहं स्तुत्याय नमः ॥३१३॥ सबके द्वारा स्तुति करने योग्य होने से आप स्तुत्य हैं ॥३१३॥

ॐ ह्रीं अहं स्तुतीश्वराय नमः ॥३१४॥ समस्त स्तुतियों के ईश्वर होने से आप स्तुतीश्वर हैं ॥३१४॥

ॐ ह्रीं अहं स्तवनाह्वय नमः ॥३१५॥ स्तुतियों के पात्र होने से आप स्तवनाह्व हैं ॥३१५॥

ॐ ह्रीं अहं हृषीकेशाय नमः ॥३१६॥ इन्द्रियों को वश में करने से आप हृषीकेश हैं ॥३१६॥

ॐ ह्रीं अहं जितजेयाय नमः ॥३१७॥ काम, क्रोध, रोग आदि को जीत लेने से जितजेय हैं ॥३१७॥

ॐ ह्रीं अहं कृतक्रियाय नमः ॥३१८॥ आपने शुद्ध आत्मा के प्राप्ति के कृत्य पूर्ण किये हैं, इसलिए आप कृतक्रिय हैं ॥३१८॥

ॐ ह्रीं अहं गणाधिपाय नमः ॥३१९॥ बारह प्रकार की सभाओं के स्वामी होने से आप गणाधिप हैं ॥३१९॥

ॐ ह्रीं अहं गणज्येष्ठाय नमः ॥३२०॥ समस्त संघ के मुख्य होने से आप गण ज्येष्ठ हैं ॥३२०॥

ॐ ह्रीं अहं गण्याय नमः ॥३२१॥ अनन्त गुणों के स्वामी होने से आप गण्य हैं ॥३२१॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्याय नमः ॥३२२॥ पवित्र होने से आप पुण्य हैं ॥३२२॥

ॐ ह्रीं अहं गणाग्रण्ये नमः ॥३२३॥ सब के अग्रेसर होने से गणाग्रणी हैं ॥३२३॥

ॐ ह्रीं अहं गुणाकराय नमः ॥३२४॥ गुणों की खान होने से गुणाकर हैं ॥३२४॥

ॐ ह्रीं अहं गुणाबोधये नमः ॥३२५॥ गुणों के समुद्र होने से गुणाबोधि हैं ॥३२५॥

ॐ ह्रीं अहं गुणज्ञाय नमः ॥३२६॥ गुणों को जानने से गुणज्ञ हैं ॥३२६॥

ॐ ह्रीं अहं गुणनायकाय नमः ॥३२७॥ समस्त गुणों के नायक होने से गुणनायक हैं ॥३२७॥

ॐ ह्रीं अहं गुणादरये नमः ॥३२८॥ गुणों का आदर करने से गुणादरी हैं ॥३२८॥

ॐ ह्रीं अहं गुणोच्छेदये नमः ॥३२९॥ क्रोधादि वैमानिक गुणों का नाश करने से अथवा इन्द्रियों का नाश करने से गुणोच्छेदी हैं ॥३२९॥

ॐ ह्रीं अहं निर्गुणाय नमः ॥३३०॥ केवलज्ञानादि गुण निश्चित रूप होने से अथवा वैमानिक गुणों का नाश करने से अथवा गुण अर्थात् तन्तु वा वस्त्र रहित होने से निर्गुण हैं ॥३३०॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्यगिरे नमः ॥३३१॥ आपकी वाणी पवित्र है इसलिए पुण्यगी हैं ॥३३१॥

ॐ ह्रीं अहं गुणाय नमः ॥३३२॥ शुद्ध गुण स्वरूप होने से गुण हैं ॥३३२॥

ॐ ह्रीं अहं शरण्याय नमः ॥३३३॥ सब के शरण भूत होने से शरण्य हैं ॥३३३॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्यवाचे नमः ॥३३४॥ पुण्य रूप वचन होने से पुण्यवाक् हैं ॥३३४॥

ॐ ह्रीं अहं पूताय नमः ॥३३५॥ पवित्र होने से पूत हैं ॥३३५॥

ॐ ह्रीं अहं वरेण्याय नमः ॥३३६॥ सब में श्रेष्ठ होने से अथवा जीवों को अपना सा मुक्त स्वरूप करने से वरेण्य हैं ॥३३६॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्यनायकाय नमः ॥३३७॥ पुण्य के स्वामी होने से पुण्य नायक हैं ॥३३७॥

ॐ ह्रीं अहं अगण्याय नमः ॥३३८॥ आपका परिमाण नहीं किया जा सकता अथवा आपके गुण नहीं गिने जा सकते इसलिए अगण्य हैं ॥३३८॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्यधिये नमः ॥३३९॥ पवित्र ज्ञान होने से पुण्यधी हैं ॥३३९॥

ॐ ह्रीं अहं गण्याय नमः ॥३४०॥ सर्व कल्याण करने से अथवा समवशरण के योग्य होने से गण्य हैं ॥३४०॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्यकृते नमः ॥३४१॥ पुण्य का कर्ता होने से पुण्य कृत हैं ॥३४१॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्य शासनाय नमः ॥३४२॥ आपका मार्ग पुण्य रूप होने से आप पुण्य शासन हैं ॥३४२॥

ॐ ह्रीं अहं धर्माराभाय नमः ॥३४३॥ धर्म का बगीचा रूप (समूह) होने से आप धर्माराभ हैं ॥३४३॥

ॐ ह्रीं अहं गुणग्राभाय नमः ॥३४४॥ गुणों के समूह होने से गुणग्राभ हैं ॥३४४॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्यापुण्यनिरोधकाय नमः ॥३४५॥ पुण्य और पाप दोनों का नाश करने से आप पुण्यापुण्य निरोधक कहे जाते हैं ॥३४५॥

ॐ ह्रीं अहं पापापेताय नमः ॥३४६॥ हिंसादि समस्त पापों से रहित होने से पापापेत कहे जाते हैं ॥३४६॥

ॐ ह्रीं अहं विपातारम्भने नमः ॥३४७॥ पाप रहित होने से विपात्मा कहे जाते हैं ॥३४७॥

ॐ ह्रीं अहं विपात्माय नमः ॥३४८॥ पाप कर्म नष्ट होने से विपात्मा कहे जाते हैं ॥३४८॥

ॐ ह्रीं अहं वीतकल्मषाय नमः ॥३४९॥ कर्म मूल रहित होने से वीतकल्मष हैं ॥३४९॥

ॐ ह्रीं अहं निर्द्वन्दाय नमः ॥३५०॥ परिग्रह रहित होने से निर्द्वन्द्व हैं ॥३५०॥

ॐ ह्रीं अहं निर्मंदाय नमः ॥३५१॥ अहंकार के न होने से निर्मन्द हैं ॥३५१॥

ॐ ह्रीं अहं शांताय नमः ॥३५२॥ उपाधि रहित होने से शांत हैं ॥३५२॥

ॐ ह्रीं अहं निर्मोहाय नमः ॥३५३॥ मोह रहित होने से निर्मोह हैं ॥३५३॥

ॐ ह्रीं अहं निरुपद्रवाय नमः ॥३५४॥ उपद्रव रहित होने से निरुपद्रव हैं ॥३५४॥

ॐ ह्रीं अहं निनिमेषाय नमः ॥३५५॥ आपके नेत्र के पलक दूसरे पलक से नहीं लगते हैं इस-
लिये आप निनिमेषा हैं ॥३५५॥

ॐ ह्रीं अहं निराहाराय नमः ॥३५६॥ कवलाहार न करने से निराहार हैं ॥३५६॥

ॐ ह्रीं अहं निष्क्रियाय नमः ॥३५७॥ क्रिया रहित होने से निष्क्रिय हैं ॥३५७॥

ॐ ह्रीं अहं निरुपप्लवाय नमः ॥३५८॥ सब प्रकार के संकट रहित होने से निरुपप्लव
हैं ॥३५८॥

ॐ ह्रीं अहं निष्कलंकाय नमः ॥३५९॥ सब प्रकार के कलंक रहित होने से निष्कलंक
हैं ॥३५९॥

ॐ ह्रीं अहं निरस्तेनाय नमः ॥३६०॥ पापों के दूर करने से निरस्तेन हैं ॥३६०॥

ॐ ह्रीं अहं निर्धृतांगाय नमः ॥३६१॥ अपराधों का नाश करने से निर्धृतांग हैं ॥३६१॥

ॐ ह्रीं अहं निरास्त्रवाय नमः ॥३६२॥ आस्त्रव रहित होने से निरास्त्रव हैं ॥३६२॥

ॐ ह्रीं अहं विशालाय नमः ॥३६३॥ अतिशयविशाल होने से विशाल हैं ॥३६३॥

ॐ ह्रीं अहं विपुलज्योतये नमः ॥३६४॥ केवलज्ञान रूप अपार ज्योति को धारण करने से
विपुल ज्योति हैं ॥३६४॥

ॐ ह्रीं अहं अतुलाय नमः ॥३६५॥ आपके समान अन्य कोई न होने से अतुल हैं ॥३६५॥

ॐ ह्रीं अहं अचित्य वैभवाय नमः ॥३६६॥ आपकी विभूति का कोई चितन भी नहीं कर
सकता इसलिए आप अचित्य वैभव हैं ॥३६६॥

ॐ ह्रीं अहं सुसंवृत्राय नमः ॥३६७॥ संवर रूप होने से अथवा गणधरादि से वेष्टित रहने से सुसंवृत हैं ॥३६७॥

ॐ ह्रीं अहं सुगुप्तात्मने नमः ॥३६८॥ आपका आत्मा गुप्त होने से अथवा आत्मवादि से अलग होने से आप सुगुप्तात्मा हैं ॥३६८॥

ॐ ह्रीं अहं सुभृताय नमः ॥३६९॥ आप उत्तम जाता होने से सुभृत हैं ॥३६९॥

ॐ ह्रीं अहं सुनयतत्वविदे नमः ॥३७०॥ आप नयनम, संग्रह आदि नयों का मर्म जानते हैं इसलिये सुनयतत्वविद् कहलाते हैं ॥३७०॥

ॐ ह्रीं अहं एकविधाय नमः ॥३७१॥ एक केवलज्ञान अथवा एक आध्यात्मविद्या धारण करने से आप एकविध हैं ॥३७१॥

ॐ ह्रीं अहं महाविद्याय नमः ॥३७२॥ आप अनेक विद्याओं को जानने के कारण महाविद्य हैं ॥३७२॥

ॐ ह्रीं अहं मुनये नमः ॥३७३॥ आप प्रत्यक्ष ज्ञानी होने से मुनि हैं ॥३७३॥

ॐ ह्रीं अहं परिवृद्धाय नमः ॥३७४॥ तपस्विधर्मों के स्वामी होने से आप परिवृद्ध हैं ॥३७४॥

ॐ ह्रीं अहं पतये नमः ॥३७५॥ जगत् की रक्षा करने से अथवा दुख दूर करने से आप पति हैं ॥३७५॥

ॐ ह्रीं अहं धीशाय नमः ॥३७६॥ आप बुद्धि के स्वामी होने से धीश हैं ॥३७६॥

ॐ ह्रीं अहं विद्यानिधये नमः ॥३७७॥ आप ज्ञान के सागर होने से विद्या निधि हैं ॥३७७॥

ॐ ह्रीं अहं साक्षिणे नमः ॥३७८॥ तीनों लोकों को प्रत्यक्ष जानने से आप साक्षी हैं ॥३७८॥

ॐ ह्रीं अहं विनेताय नमः ॥३७९॥ मोक्षमार्ग को प्रगट करने से आप विनेता हैं ॥३७९॥

ॐ ह्रीं अहं विहितातकाय नमः ॥३८०॥ यम का नाश करने से आप विहितातक कहलाते हैं ॥३८०॥

ॐ ह्रीं अहं पित्रे नमः ॥३८१॥ नरकादि गतियों से रक्षा करने के कारण आप पिता हैं ॥३८१॥

ॐ ह्रीं अहं पितामहाय नमः ॥३८२॥ आप सबके गुरु होने से पितामह हैं ॥३८२॥

ॐ ह्रीं अहं पातुवे नमः ॥३८३॥ सबकी रक्षा करने से आप पातु हैं ॥३८३॥

ॐ ह्रीं अहं पवित्राय नमः ॥३८४॥ भक्ति को पवित्र करने से आप पवित्र हैं ॥३८४॥

ॐ ह्रीं अहं पावनाय नमः ॥३८५॥ सबको शुद्ध करने से आप पावन हैं ॥३८५॥

ॐ ह्रीं अहं गतये नमः ॥३८६॥ ज्ञानस्वरूप होने से आप गति हैं ॥३८६॥

ॐ ह्रीं अहं त्राताय नमः ॥३८७॥ सबकी रक्षा करने से आप त्राता हैं ॥३८७॥

ॐ ह्रीं अहं भिषग्बराय नमः ॥३८८॥ नाम लेने मात्र से ही समस्त रोगों को अथवा जन्म, जरा, मरणवि रोगों को दूर करने से आप भिषग् अथवा उत्तम वैद्य हैं ॥३८८॥

ॐ ह्रीं अहं वर्धाय नमः ॥३८९॥ आप सबसे श्रेष्ठ होने से वर्ध हैं ॥३८९॥

ॐ ह्रीं अहं वरदाय नमः ॥३९०॥ स्वर्ग, मोक्षादि को देने के कारण आप वरद हैं ॥३९०॥

ॐ ह्रीं अहं परमाय नमः ॥३९१॥ भक्तों की इच्छा पूर्ण करने से आप परम हैं ॥३९१॥

ॐ ह्रीं अहं पुंसे नमः ॥३९२॥ अपने आत्मा तथा भक्तों को पवित्र करने के कारण आप पुमान हैं ॥३९२॥

ॐ ह्रीं अहं कवये नमः ॥३६३॥ धर्म, अधर्म, का निरूपण करने से आप कवि हैं ॥३६३॥

ॐ ह्रीं अहं पुराण पुरुषाय नमः ॥३६४॥ अनादि कालोंद होने से आप पुराण पुरुष हैं ॥३६४॥

ॐ ह्रीं अहं वर्षीयानाय नमः ॥३६५॥ आप अतिशय वृद्ध होने से वर्षीयान हैं ॥३६५॥

ॐ ह्रीं अहं वृषभाय नमः ॥३६६॥ ज्ञानी होने से आप वृषभ हैं ॥३६६॥

ॐ ह्रीं अहं पुरुवे नमः ॥३६७॥ सबसे अग्रगण्य होने से आप पुरु हैं ॥३६७॥

ॐ ह्रीं अहं प्रतिष्ठा प्रसवाय नमः ॥३६८॥ आपसे स्पर्धु गुण की उत्पत्ति हुई है अथवा आप की सेवा करने से यह जीव जगत मान्य हो जाता है इसलिये आप प्रतिष्ठा प्रसव कहलाते हैं ॥३६८॥

ॐ ह्रीं अहं हेतवे नमः ॥३६९॥ मोक्ष के साक्षात्कार होने से अथवा सभी को जानने से आप हेतु हैं ॥३६९॥

ॐ ह्रीं अहं भुवनैक पितामहाय नमः ॥४००॥ आप तीनों लोकों के जीवों की रक्षा करने अथवा उपदेश देने से भुवनैक पितामह हैं ॥४००॥

ॐ ह्रीं अहं श्रीवृक्षलक्षणाय नमः ॥४०१॥ श्रीवृक्ष का चिन्ह होने से आप श्रीवृक्ष कहलाते हैं ॥४०१॥

ॐ ह्रीं अहं श्लेक्षणाय नमः ॥४०२॥ सूक्ष्म होने से अथवा लक्ष्मी के द्वारा आर्त्तिगन करने से आप श्लक्षण हैं ॥४०२॥

ॐ ह्रीं अहं लक्षणाय नमः ॥४०३॥ लक्षण सहित होने से आप लक्षण्य हैं ॥४०३॥

ॐ ह्रीं अहं शुभलक्षणाय नमः ॥४०४॥ अनेक शुभलक्षणों से सम्पन्न होने के कारण शुभलक्षण हैं ॥४०४॥

ॐ ह्रीं अहं निरक्षाय नमः ॥४०५॥ इन्द्रिय रहित होने से आप निरक्ष हैं ॥४०५॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्डरीकाक्षाय नमः ॥४०६॥ कमल के समान नेत्र होने से आप पुण्डरीकाक्ष हैं ॥४०६॥

ॐ ह्रीं अहं पुष्कलाय नमः ॥४०७॥ केवलज्ञान से वृद्धिगत होने से आप पुष्कल हैं ॥४०७॥

ॐ ह्रीं अहं पुष्करेक्षणाय नमः ॥४०८॥ आप कमलदल के समान दीर्घ नेत्र होने से पुष्करेक्षण हैं ॥४०८॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धिदाय नमः ॥४०९॥ मोक्षरूप सिद्धि को देने से आप सिद्धिदा हैं ॥४०९॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धसंकल्पाय नमः ॥४१०॥ समस्त मनोरथ सफल होने से आप सिद्धसंकल्प हैं ॥४१०॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धात्मने नमः ॥४११॥ आप पूर्णानन्दस्वरूप होने से सिद्धात्मा हैं ॥४११॥

ॐ ह्रीं अहं सिद्धसाधनाय नमः ॥४१२॥ मोक्षमार्ग रूप साधन भूत होने से आप सिद्ध साधन हैं ॥४१२॥

ॐ ह्रीं अहं बुद्धबोध्याय नमः ॥४१३॥ सम्यग्दृष्टियों अथवा विशेष ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य होने से आप बुद्धबोध्य हैं ॥४१३॥

ॐ ह्रीं अहं महाबोधाय नमः ॥४१४॥ आपका रत्नत्रय प्रति प्रशंसनीय होने से आप महाबोधि हैं ॥४१४॥

ॐ ह्रीं अहं वर्यमानाय नमः ॥४१५॥ आपका पूज्यपता अतिशय बड़ा हुषा होने से आप वर्यमान हैं ॥४१५॥

ॐ ह्रीं अहं महाद्विकाय नमः ॥४१६॥ अति अधिक विभूति को धारण करने से महाद्विक है ॥४१६॥

ॐ ह्रीं अहं वेदांगाय नमः ॥४१७॥ प्रथमानुयोग आदि चारों वेदों के कारण होने से अथवा ज्ञान स्वरूप होने से आप वेदांग हैं ॥४१७॥

ॐ ह्रीं अहं वेदविदे नमः ॥४१८॥ चारों अनुयोगों के जानने से अथवा आत्मा का स्वरूप जानने से आप वेदविद् हैं ॥४१८॥

ॐ ह्रीं अहं वेद्याय नमः ॥४१९॥ आगम के द्वारा जानने योग्य होने के कारण आप वेद्य हैं ॥४१९॥

ॐ ह्रीं अहं जातरूपाय नमः ॥४२०॥ उत्पन्न होने के समान ही आपका स्वरूप है अथवा आप रूप रहित हैं इसलिये आप जात रूप हैं ॥४२०॥

ॐ ह्रीं अहं विदांबराय नमः ॥४२१॥ आप विद्वानों में श्रेष्ठ होने से विदाम्बर हैं ॥४२१॥

ॐ ह्रीं अहं वेदवेद्याय नमः ॥४२२॥ केवलज्ञान के द्वारा अथवा आगम के द्वारा जानने योग्य होने से आप वेदवेद्य हैं ॥४२२॥

ॐ ह्रीं अहं स्वसंवेद्याय नमः ॥४२३॥ अनुभव गम्य होने से आप स्वसंवेद्य हैं ॥४२३॥

ॐ ह्रीं अहं विवेदाय नमः ॥४२४॥ आप विलक्षण ज्ञानी होने से अथवा आगम के अगोचर होने से विवेद हैं ॥४२४॥

ॐ ह्रीं अहं वदतांबराय नमः ॥४२५॥ वक्ताओं में श्रेष्ठ अथवा उत्तम होने से आप वदतांबर हैं ॥४२५॥

ॐ ह्रीं अहं अनादिनिधनाय नमः ॥४२६॥ आदि, अंत रहित होने से आप अनादि निधन हैं ॥४२६॥

ॐ ह्रीं अहं व्यक्ताय नमः ॥४२७॥ ज्ञान के द्वारा स्पष्ट प्रतिभासित होने से आप व्यक्त हैं ॥४२७॥

ॐ ह्रीं अहं व्यक्तवाचये नमः ॥४२८॥ आपके वचन समस्त प्राणियों के समझने योग्य हैं इसलिये आप व्यक्तवाक् हैं ॥४२८॥

ॐ ह्रीं अहं व्यक्त शासनाय नमः ॥४२९॥ आपकी आज्ञा अथवा मत समस्त संसार में प्रसिद्ध होने से अथवा आपके कहे हुये शास्त्रों में पूर्वापर विरोध न होने से आप व्यक्त शासन हैं ॥४२९॥

ॐ ह्रीं अहं युगादिकृते नमः ॥४३०॥ आप युग की आदि अर्थात् कर्म भूमि के कर्ता हैं, इसलिये युगादिकृत हैं ॥४३०॥

ॐ ह्रीं अहं युगाधाराय नमः ॥४३१॥ आप युगों का आधार होने से युगाधार हैं ॥४३१॥

ॐ ह्रीं अहं युगादये नमः ॥४३२॥ युग के आरम्भ में होने से आप युगादि हैं ॥४३२॥

ॐ ह्रीं अहं जगदादिजाय नमः ॥४३३॥ जगत् के आदि में अर्थात् कर्मभूमि के आदि में उत्पन्न होने से आप जगदादिज हैं ॥४३३॥

ॐ ह्रीं अहं अतीन्द्राय नमः ॥४३४॥ इन्द्र, नरेन्द्र, आदि सबके विशेष स्वामी होने से आप अतीन्द्र हैं ॥४३४॥

ॐ ह्रीं अहं अतीन्द्रियाय नमः ॥४३५॥ इन्द्रिय गोचर न होने से आप अतीन्द्रिय हैं ॥४३५॥

ॐ ह्रीं अहं धीद्राय नमः ॥४३६॥ ज्ञान होने से अथवा शुक्लध्यान के द्वारा परमात्मस्वरूप होने से धीद्र हैं ॥४३६॥

ॐ ह्रीं अहं महेंद्राय नमः ॥४३७॥ पूजा के अधिपति होने से अथवा इन्द्र से भी अधिक संपत्तिवान् होने से आप महेंद्र हैं ॥४३७॥

ॐ ह्रीं अहं अतीन्द्रियार्थदृक् नमः ॥४३८॥ इन्द्रिय और जगत् के प्रतीक पदार्थों को भी जानने से आप अतीन्द्रियार्थदृक् हैं ॥४३८॥

ॐ ह्रीं अहं अनीन्द्रियाय नमः ॥४३९॥ इन्द्रिय रहित होने से आप अनिन्द्रिय हैं ॥४३९॥

ॐ ह्रीं अहं अहमिन्द्राचार्याय नमः ॥४४०॥ आप अहमिन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से अहमिन्द्राचार्य हैं ॥४४०॥

ॐ ह्रीं अहं महेन्द्रमहिताय नमः ॥४४१॥ समस्त बड़े-बड़े इन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से आप महेन्द्रमहित हैं ॥४४१॥

ॐ ह्रीं अहं महते नमः ॥४४२॥ आप सबसे पूज्य व बड़े होने से महान् हैं ॥४४२॥

ॐ ह्रीं अहं उद्भवाय नमः ॥४४३॥ जन्म, मरण रहित होने से अथवा सर्वोत्कृष्ट होने से आप उद्भव हैं ॥४४३॥

ॐ ह्रीं अहं कारणाय नमः ॥४४४॥ मोक्ष के कारण होने से आप कारण हैं ॥४४४॥

ॐ ह्रीं अहं कृते नमः ॥४४५॥ शुद्ध भावों के कर्त्ता होने से आप कर्त्ता हैं ॥४४५॥

ॐ ह्रीं अहं पारगाय नमः ॥४४६॥ संसार समुद्र के परागामी होने से आप पारग हैं ॥४४६॥

ॐ ह्रीं अहं भवतारकाय नमः ॥४४७॥ भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देने से आप भवतारक हैं ॥४४७॥

ॐ ह्रीं अहं अगाधाय नमः ॥४४८॥ किसी के भी द्वारा अवगाहन न करने से आप अगाध हैं ॥४४८॥

ॐ ह्रीं अहं गहनाय नमः ॥४४९॥ आपका स्वरूप हर एक कोई नहीं कह सकता और न जान सकता है इसलिए गहन हैं ॥४४९॥

ॐ ह्रीं अहं गुह्याय नमः ॥४५०॥ परम रहस्यरूप अर्थात् गुप्त रूप होने से आप गुह्य हैं ॥४५०॥

ॐ ह्रीं अहं पराध्याय नमः ॥४५१॥ आप उत्कृष्ट विभूति के स्वामी होने से पराध्य हैं ॥४५१॥

ॐ ह्रीं अहं परमेश्वराय नमः ॥४५२॥ सबके स्वामी होने से अथवा मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होने से आप परमेश्वर हैं ॥४५२॥

ॐ ह्रीं अहं अनंतर्द्धये नमः ॥४५३॥ आप अनन्त कृद्धियों के धारण करने से अनंतर्द्धि हैं ॥४५३॥

ॐ ह्रीं अहं अमेयर्द्धये नमः ॥४५४॥ आप अपरिमित ऐश्वर्य को धारण करने से अमेयर्द्धि हैं ॥४५४॥

ॐ ह्रीं अहं अचित्यर्द्धये नमः ॥४५५॥ आपकी सम्पत्ति का कोई चिंतन भी नहीं कर सकता इसलिए आप अचित्यर्द्धि हैं ॥४५५॥

ॐ ह्रीं अहं समग्रधिये नमः ॥४५६॥ जगत् के समस्त पदार्थों को जानने योग्य होने से अथवा पूर्ण ज्ञानी होने से आप समग्रधी हैं ॥४५६॥

ॐ ह्रीं अहं प्राग्यग्राय नमः ॥४५७॥ आप सब में मुख्य होने से प्राग्य हैं ॥४५७॥

ॐ ह्रीं अहं प्राग्रहराय नमः ॥४५८॥ सबमें श्रेष्ठता प्राप्त करने से आप प्राग्रहर हैं ॥४५८॥

ॐ ह्रीं अहं अभ्यग्रयाय नमः ॥४५९॥ श्रेष्ठों में भी सबसे श्रेष्ठ होने से आप अभ्यग्रय हैं ॥४५९॥

ॐ ह्रीं अहं प्रत्यग्राय नमः ॥४६०॥ बलवानों में भी अत्यन्तश्रेष्ठ होने से अथवा लोक का मुख्य भाग पसंद करने से प्रत्यग्र हैं ॥४६०॥

ॐ ह्रीं अहं अग्र्याय नमः ॥४६१॥ सबके नायक होने से आप अग्रय हैं ॥४६१॥

ॐ ह्रीं अहं अग्रिमाय नमः ॥४६२॥ सबके अग्रसर होने से आप अग्रिम हैं ॥४६२॥

ॐ ह्रीं अहं अग्रजाय नमः ॥४६३॥ आप सबसे बड़े होने से अग्रज हैं ॥४६३॥

ॐ ह्रीं अहं महातपाय नमः ॥४६४॥ कठिन तपश्चरण करने से आप महातपा हैं ॥४६४॥

ॐ ह्रीं अहं महातेजाय नमः ॥४६५॥ अतिशय तेजस्वी होने से व अतिशय पुण्यवान होने से आप महातेज हैं ॥४६५॥

ॐ ह्रीं अहं महोदकाय नमः ॥४६६॥ आपकी तपश्चर्या का फल सबसे बड़ा अर्थात् केवलज्ञान है इसलिए आप महोदक कहलाते हैं ॥४६६॥

ॐ ह्रीं अहं महोदयाय नमः ॥४६७॥ अतिशय प्रतापी होने से अथवा आपका जन्म सबको आनन्द देने वाला होने से आप महोदय हैं ॥४६७॥

ॐ ह्रीं अहं महायशसे नमः ॥४६८॥ अतिशय यशस्वी होने से आप महायश हैं ॥४६८॥

ॐ ह्रीं अहं महाधाम्ने नमः ॥४६९॥ अतिशय प्रकाशन रूप होने से आप महाधामा हैं ॥४६९॥

ॐ ह्रीं अहं महासत्त्वाय नमः ॥४७०॥ अतिशय बलवान् होने से आप महासत्त्व हैं ॥४७०॥

ॐ ह्रीं अहं महाधृतये नमः ॥४७१॥ आप अतिशय धीर वीर होने से महाधृति हैं ॥४७१॥

ॐ ह्रीं अहं महाधैर्याय नमः ॥४७२॥ कभी भी व्यस्र न होने से आप महाधैर्य हैं ॥४७२॥

ॐ ह्रीं अहं महावीर्याय नमः ॥४७३॥ अतिशय सामर्थ्यवान होने से आप महावीर्य हैं ॥४७३॥

ॐ ह्रीं अहं महासंपदे नमः ॥४७४॥ समवशरण रूप अद्वितीय विभूति को धारण करने से आप महासंपत् हैं ॥४७४॥

ॐ ह्रीं अहं महाबलाय नमः ॥४७५॥ अतिशय बलवान होने से आप महाबल हैं ॥४७५॥

ॐ ह्रीं अहं महाशक्तये नमः ॥४७६॥ अनन्त शक्ति होने से आप महाशक्ति हैं ॥४७६॥

ॐ ह्रीं अहं महाज्योतिषे नमः ॥४७७॥ अतिशय कांति युक्त होने से आप महा ज्योति हैं ॥४७७॥

ॐ ह्रीं अहं महाभूतये नमः ॥४७८॥ पंचस्थाणकों की महाविभूति के स्वामी होने से आप महाविभूति हैं ॥४७८॥

ॐ ह्रीं अहं द्युतये नमः ॥४७९॥ अतिशय शोभायमान होने से आप महाद्युति हैं ॥४७९॥

ॐ ह्रीं अहं महामतये नमः ॥४८०॥ अतिशय बुद्धिमान होने से आप महामति हैं ॥४८०॥

ॐ ह्रीं अर्हं महानीतये नमः ॥४८१॥ अतिशय न्यायवान् होने से आप महानीति हैं ॥४८१॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाक्षीतये नमः ॥४८२॥ अतिशय क्षमावान् होने से आप महाक्षीति हैं ॥४८२॥

ॐ ह्रीं अर्हं महादयाय नमः ॥४८३॥ अतिशय दयालु होने से आप महादय हैं ॥४८३॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाप्राज्ञाय नमः ॥४८४॥ अतिशय प्रवीण होने से आप महाप्राज्ञ हैं ॥४८४॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाभागाय नमः ॥४८५॥ अतिशय भाग्यशाली होने से आप महाभाग हैं ॥४८५॥

ॐ ह्रीं अर्हं महानन्दाय नमः ॥४८६॥ अतिशय आनन्द स्वरूप होने से अथवा भव्य जीवों को आनन्द देने से आप महानन्द हैं ॥४८६॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाकवये नमः ॥४८७॥ शास्त्रों के मुख्य कर्ता होने से आप महा कवि हैं ॥४८७॥

ॐ ह्रीं अर्हं महामहाय नमः ॥४८८॥ अत्यन्त तेजस्वी होने से आप महा महा हैं ॥४८८॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाकीर्तये नमः ॥४८९॥ आपकी कीर्ति सब जगह व्याप्त होने से आप महाकीर्ति हैं ॥४८९॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाकांतये नमः ॥४९०॥ अत्यन्त काँति युक्त होने से आप महाकाँति हैं ॥४९०॥

ॐ ह्रीं अर्हं महावपुषे नमः ॥४९१॥ अतिशय सुन्दर शरीर होने से आप महावपु हैं ॥४९१॥

ॐ ह्रीं अर्हं महादानाय नमः ॥४९२॥ बड़े भारी दानों होने से आप महादान हैं ॥४९२॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाज्ञानाय नमः ॥४९३॥ सबसे बड़े केवलज्ञान को धारण करने से आप महा ज्ञान हैं ॥४९३॥

ॐ ह्रीं अर्हं महायोगाय नमः ॥४९४॥ योगों का अत्यन्त निरोध करने से आप महायोग हैं ॥४९४॥

ॐ ह्रीं अर्हं महागुणाय नमः ॥४९५॥ लोकों का कल्याण करने वाले गुणों से सुशोभित होने से आप महागुण हैं ॥४९५॥

ॐ ह्रीं अर्हं महामहापतये नमः ॥४९६॥ पंच कल्याण रूप महापूजा के स्वामी होने से आप महापति हैं ॥४९६॥

ॐ ह्रीं अर्हं प्राप्त महाकल्याण पंचकाय नमः ॥४९७॥ आपको गभचितार आदि पाँचों कल्याणक प्राप्त हुए हैं इसलिए आप महाकल्याणक पंचक कहे जाते हैं ॥४९७॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाप्रभवे नमः ॥४९८॥ अतिशय समर्थ अथवा सबसे बड़े स्वामी होने से आप महा प्रभु हैं ॥४९८॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाप्रातिहार्याधीशाय नमः ॥४९९॥ अशोक वृक्षादि आठों प्रातिहार्यों के स्वामी होने से आप महाप्रातिहार्याधीश कहे जाते हैं ॥४९९॥

ॐ ह्रीं अर्हं महेश्वराय नमः ॥५००॥ सब मुनियों में उत्तम होने से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानी होने से आप महा मुनि हैं ॥५००॥

ॐ ह्रीं अर्हं मुनये नमः ॥५०१॥ सब मुनियों में उत्तम होने से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानी होने से आप महामुनि हैं ॥५०१॥

ॐ ह्रीं अहं महामोन्याय नमः ॥५०२॥ आपके वचनांलाप पर रहित होने से आप महामोनी हैं ॥५०२॥

ॐ ह्रीं अहं महाध्यान्याय नमः ॥५०३॥ शुबल ध्यान का ध्यान करने से आप महाध्यानी हैं ॥५०३॥

ॐ ह्रीं अहं महादमाय नमः ॥५०४॥ विषय कषायों का दमन करने से अथवा शक्तिमान होने से आप महादम हैं ॥५०४॥

ॐ ह्रीं अहं महाक्षमाय नमः ॥५०५॥ अतिशय क्षमावान होने से आप महाक्षम हैं ॥५०५॥

ॐ ह्रीं अहं महाशीलाय नमः ॥५०६॥ पूर्ण ब्रह्मचारी होने से अथवा शील युक्त होने से आप महाशील हैं ॥५०६॥

ॐ ह्रीं अहं महायज्ञाय नमः ॥५०७॥ स्वाभाविक परिणति रूप अग्नि में विभाव परिणति रूप सामग्री को हवन कर अथवा तपश्चरण रूप अग्नि में विषयाभिलाषा को हवन कर महायज्ञ करने से अथवा केवलज्ञान रूप महायज्ञ प्राप्त होने से आप महायज्ञ कहलाते हैं ॥५०७॥

ॐ ह्रीं अहं महामखाय नमः ॥५०८॥ अतिशय पूज्य होने आप महामख कहे जाते हैं ॥५०८॥

ॐ ह्रीं अहं महाव्रतपतये नमः ॥५०९॥ पंचमहाव्रतों के स्वामी होने से आप महाव्रतपति कहे जाते हैं ॥५०९॥

ॐ ह्रीं अहं मह्याय नमः ॥५१०॥ जगत् पूज्य होने से आप मह्य हैं ॥५१०॥

ॐ ह्रीं अहं महाकांतिधराय नमः ॥५११॥ अत्यन्त तेज को धारण करने से आप महाकांतिधर हैं ॥५११॥

ॐ ह्रीं अहं अधिपाय नमः ॥५१२॥ सब जीवों की रक्षा करने से अथवा सबके स्वामी होने से आप अधिप हैं ॥५१२॥

ॐ ह्रीं अहं महामैत्रीमयाय नमः ॥५१३॥ समस्त जीवों से मैत्रीभाव रखने से आप महा मैत्रीमय हैं ॥५१३॥

ॐ ह्रीं अहं अमेयाय नमः ॥५१४॥ किसी भी परिणाम से गिने अथवा नापे नहीं जाते इसलिए आप अमेय हैं ॥५१४॥

ॐ ह्रीं अहं महापायो नमः ॥५१५॥ मोक्ष के लिए सब से बड़ा उपाय करने से आप महोपाय हैं ॥५१५॥

ॐ ह्रीं अहं महोमयाय नमः ॥५१६॥ मंगलमय, ज्ञानमय अथवा तेज स्वरूप होने से आप महोमय हैं ॥५१६॥

ॐ ह्रीं अहं महाकारुण्यकाय नमः ॥५१७॥ सब जीवों पर दया करने से आप कारुणिक कहे जाते हैं ॥५१७॥

ॐ ह्रीं अहं मंत्रे नमः ॥५१८॥ सबको जानने से आप मंता हैं ॥५१८॥

ॐ ह्रीं अहं महामंत्राय नमः ॥५१९॥ अनेक मंत्रों के स्वामी होने से आप महामंत्र हैं ॥५१९॥

ॐ ह्रीं अहं महायतये नमः ॥५२०॥ इन्द्रिय निग्रह करने वालों में सबसे श्रेष्ठ होने से आप महायति हैं ॥५२०॥

ॐ ह्रीं अहं महानादाय नमः ॥५२१॥ गंभीर दिव्य ध्वनि सहित होने से आप महानाद हैं ॥५२१॥

ॐ ह्रीं अहं महाघोषाय नमः ॥५२२॥ आपकी ध्वनि अतिशय सुन्दर होने से आप महाघोष हैं ॥५२२॥

ॐ ह्रीं अहं महेज्जाय नमः ॥५२३॥ बड़े पुरुषों के द्वारा पूज्य होने से अथवा केवल ज्ञान रूप यज्ञ करने से आप महेज्य हैं ॥५२३॥

ॐ ह्रीं अहं महर्सापतये नमः ॥५२४॥ समस्त तेज के अधिकारी होने से आप महर्सापति हैं ॥५२४॥

ॐ ह्रीं अहं महाध्वरधराय नमः ॥५२५॥ अहिंसादिब्रतों के धारण करने से आप महाध्वरधर कहलाते हैं ॥५२५॥

ॐ ह्रीं अहं धुर्ययि नमः ॥५२६॥ धुरंधर होने से आप धुर्य हैं ॥५२६॥

ॐ ह्रीं अहं महौदार्याय नमः ॥५२७॥ अतिशय उदार होने से आप महौदार्य हैं ॥५२७॥

ॐ ह्रीं अहं महिष्ठवाचे नमः ॥५२८॥ आपकी वाणी परमपूज्य होने से आप महिष्ठवाक् हैं ॥५२८॥

ॐ ह्रीं अहं महात्मने नमः ॥५२९॥ सब में बड़े अथवा पूज्य होने से आप महात्मा हैं ॥५२९॥

ॐ ह्रीं अहं महसांघात्मने नमः ॥५३०॥ समस्त प्रकाश का तेज स्थान होने से आप महसांघाय हैं ॥५३०॥

ॐ ह्रीं अहं महर्षये नमः ॥५३१॥ सब प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त होने से आप महर्षि हैं ॥५३१॥

ॐ ह्रीं अहं महितोदयाय नमः ॥५३२॥ आपका तीर्थंकर रूप अवतार सबको पूज्य है इसलिए आप महितोदय कहलाते हैं ॥५३२॥

ॐ ह्रीं अहं महाक्लेशांकुशाय नमः ॥५३३॥ बड़े-बड़े क्लेशों को दूर करने से अथवा महाक्लेश अर्थात् तपश्चरण रूप अंकुश धारण करने से आप महाक्लेशांकुश हैं ॥५३३॥

ॐ ह्रीं अहं शूराय नमः ॥५३४॥ धातिया कर्मों को जीत लेने से आप शूर हैं ॥५३४॥

ॐ ह्रीं अहं क्षूराय नमः ॥५३५॥ गणधर चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े पुरुषों के स्वामी होने से आप महाभूतपति हैं ॥५३५॥

ॐ ह्रीं अहं गुरुवे नमः ॥५३६॥ धर्मोपदेश सब को देने से आप गुरु हैं ॥५३६॥

ॐ ह्रीं अहं महापराक्रमाय नमः ॥५३७॥ अतिशय पराक्रमी होने से अथवा ज्ञान शक्ति अधिक होने से आप महापराक्रमी हैं ॥५३७॥

ॐ ह्रीं अहं अनन्ताय नमः ॥५३८॥ अन्त रहित अपार होने से आप अनन्त हैं ॥५३८॥

ॐ ह्रीं अहं महाक्रोधरिपुवे नमः ॥५३९॥ क्रोध के भारी शत्रु होने से आप महाक्रोधरिपु हैं ॥५३९॥

ॐ ह्रीं अहं वशिने नमः ॥५४०॥ सब प्राणियों को वश में करने से अथवा इन्द्रियों को वश में करने से आप वशी हैं ॥५४०॥

ॐ ह्रीं अहं महाभवाब्धिसंतारिणे नमः ॥५४१॥ संसार रूप महासागर से पार कर देने से आप महाभवाब्धि संसारी हैं ॥५४१॥

ॐ ह्रीं अर्हं महामोहाद्रिसूदनाय नमः ॥५४२॥ माह रूपी महापर्वतको भेदन करने से आप महाद्रि-सूदन हैं ॥५४२॥

ॐ ह्रीं अर्हं महागुणाकराय नमः ॥५४३॥ सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणों की खान होने से महागुणाकार हैं ॥५४३॥

ॐ ह्रीं अर्हं शांताय नमः ॥५४४॥ कषाय रहित होने से आप शान्त हैं ॥५४४॥

ॐ ह्रीं अर्हं योगीश्वराय नमः ॥५४५॥ आप गणधर आदि महा योगियों के स्वामी होने से महा योगीश्वर हैं ॥५४५॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाशमिने नमः ॥५४६॥ समस्त कर्मों का क्षय करने से अथवा परम सुखी होने से आप शमी हैं ॥५४६॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाध्यानपतये नमः ॥५४७॥ परम शुक्लध्यान के स्वामी होने से आप महाध्यान पति हैं ॥५४७॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाध्यान महाधर्माय नमः ॥५४८॥ अहिंसा धर्म का ध्यान करने से आप ध्यान महाधर्म हैं ॥५४८॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाव्रताय नमः ॥५४९॥ महाव्रतों को धारण करने से आप महाव्रती हैं ॥५४९॥

ॐ ह्रीं अर्हं महाकर्मारिहाय नमः ॥५५०॥ कर्मरूप महाशत्रुओं को नाश करने से आप महाकर्मारिहा हैं ॥५५०॥

ॐ ह्रीं अर्हं आत्मज्ञाय नमः ॥५५१॥ आत्मा का स्वरूप जानने से आप आत्मज्ञ हैं ॥५५१॥

ॐ ह्रीं अर्हं महादेवाय नमः ॥५५२॥ समस्त देवों के स्वामी होने से आप महादेव हैं ॥५५२॥

ॐ ह्रीं अर्हं महेशिताय नमः ॥५५३॥ विलक्षण ऐश्वर्य को धारण करने से आप महेशिता कहलाते हैं ॥५५३॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वक्लेशापहाय नमः ॥५५४॥ शारीरिक और मानसिक वन्धनों को दूर करने से आप सर्वक्लेशापह हैं ॥५५४॥

ॐ ह्रीं अर्हं साधवे नमः ॥५५५॥ निश्चय रत्नत्रय को सिद्ध करने से आप साधु हैं ॥५५५॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वदोषापहराय नमः ॥५५६॥ भव्य जीवों के समस्त दोष दूर करने से आप सर्वदोषापहर हैं ॥५५६॥

ॐ ह्रीं अर्हं हराय नमः ॥५५७॥ अनेक जन्मों में किये हुए पापों का हरण करने से आप हर हैं ॥५५७॥

ॐ ह्रीं अर्हं असंख्येयाय नमः ॥५५८॥ आप असंख्य गुणों को धारण करने से असंख्येयाय हैं ॥५५८॥

ॐ ह्रीं अर्हं अप्रेमात्मने नमः ॥५५९॥ प्रमाण रहित शक्ति को धारण करने से आप अप्रेम-यात्मा हैं ॥५५९॥

ॐ ह्रीं अर्हं शमात्मने नमः ॥५६०॥ आप परम शांतस्वरूप होने से शमान्मा हैं ॥५६०॥

ॐ ह्रीं अर्हं प्रशमाकराय नमः ॥५६१॥ आप शांतिता की खान होने से प्रशमाकर हैं ॥५६१॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वयोगीश्वराय नमः ॥५६२॥ आप समस्त योगियों के ईश्वर होने से सर्व-योगीश्वर हैं ॥५६२॥

ॐ ह्रीं अहं अचिन्त्याय नमः ॥५६३॥ आप किसी के चितवन में नहीं आते इसलिए अचिन्त्य हैं ॥५६३॥

ॐ ह्रीं अहं श्रुतात्मने नमः ॥५६४॥ समस्त शास्त्रों के रहस्यरूप होने से अथवा भावश्रुतज्ञान-रूप होने से आप श्रुतात्मा हैं ॥५६४॥

ॐ ह्रीं अहं विष्टरश्रवाय नमः ॥५६५॥ तीनों लोकों के समस्त पदार्थों के जानने से आप विष्टरश्रवा हैं ॥५६५॥

ॐ ह्रीं अहं दातात्मने नमः ॥५६६॥ जितेन्द्रिय होने से अथवा सबको शिक्षा देने से आप दातात्मा हैं ॥५६६॥

ॐ ह्रीं अहं दमतीर्थेशाय नमः ॥५६७॥ आप इंद्रियों को दमन करने रूप तीर्थ के स्वामी होने से अथवा योग शास्त्र के स्वामी होने से दमतीर्थेश कहलाते हैं ॥५६७॥

ॐ ह्रीं अहं योगात्मने नमः ॥५६८॥ आप योगस्वरूप होने से योगात्मा हैं ॥५६८॥

ॐ ह्रीं अहं ज्ञानसर्वगाय नमः ॥५६९॥ ज्ञान के द्वारा सब जगह होने से आप ज्ञानसर्वग कहलाते हैं ॥५६९॥

ॐ ह्रीं अहं प्रधानाय नमः ॥५७०॥ आप एकाग्रता से आत्मा का ध्यान करने से प्रधान हैं ॥५७०॥

ॐ ह्रीं अहं आत्मने नमः ॥५७१॥ आप ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानात्मा हैं ॥५७१॥

ॐ ह्रीं अहं प्रकृतये नमः ॥५७२॥ आप समवशरण रूप लक्ष्मी उत्कृष्ट है अथवा धर्मोपदेश के रूप कार्य प्रशंसनीय है अथवा सबके कल्याणकारी हैं इसलिए प्रकृति हैं ॥५७२॥

ॐ ह्रीं अहं परमाय नमः ॥५७३॥ उत्कृष्ट लक्ष्मी को धारण करने से आप परम हैं ॥५७३॥

ॐ ह्रीं अहं परमोदयाय नमः ॥५७४॥ परम उदय को धारण करने से अथवा आपका उदय कल्याणकारी होने से आप परमोदय हैं ॥५७४॥

ॐ ह्रीं अहं प्रक्षीणबंधाय नमः ॥५७५॥ कर्मबन्ध सब नष्ट होने से आप प्रक्षीणबंध हैं ॥५७५॥

ॐ ह्रीं अहं कामारये नमः ॥५७६॥ कामदेव के परम शत्रु होने से आप कामारि हैं ॥५७६॥

ॐ ह्रीं अहं क्षेमकृते नमः ॥५७७॥ सबका कल्याण करने से आप क्षेमकृत हैं ॥५७७॥

ॐ ह्रीं अहं क्षेमशासनाय नमः ॥५७८॥ आपका मत वा उपदेश सबको कल्याणकारी होने से आप क्षेमशासन कहलाते हैं ॥५७८॥

ॐ ह्रीं अहं प्रणवाय नमः ॥५७९॥ ओंकार स्वरूप होने से आप प्रणव हैं ॥५७९॥

ॐ ह्रीं अहं प्रणयाय नमः ॥५८०॥ सबके मित्र होने से आप प्रणय हैं ॥५८०॥

ॐ ह्रीं अहं प्राणाय नमः ॥५८१॥ जगत् को प्रिय होने से अथवा सबको शरण देने से आप प्राण हैं ॥५८१॥

ॐ ह्रीं अहं प्राणदाय नमः ॥५८२॥ अतिशय दयालु होने से आप प्राणों को देने वाले हैं इसलिए आप प्राणद हैं ॥५८२॥

ॐ ह्रीं अहं प्राणेश्वराय नमः ॥५८३॥ आप प्रणाम करते हुए इंद्रादिकों के स्वामी हैं अथवा प्रणाम करते हुए भव्य जीवों का पालन-पोषण करने वाले हैं इसलिए आप प्राणेश्वर हैं ॥५८३॥

ॐ ह्रीं अर्हं प्रमाणाय नमः ॥५८४॥ प्रमाण नय के वक्ता होने से अथवा ज्ञानस्वरूप होने से या ज्ञान का साधन होने अथवा लोक प्रमाण एवं देह प्रमाण होने से आप प्रमाण हैं ॥५८४॥

ॐ ह्रीं अर्हं प्रणधिये नमः ॥५८५॥ योगी लोग आपको बड़ी गुप्त रीति से चितवन करते हैं अथवा आप सबके मर्मी वा जानने वाले हैं इसलिए आपको प्रणधि कहते हैं ॥५८५॥

ॐ ह्रीं अर्हं दक्षाय नमः ॥५८६॥ मोक्ष प्राप्त करने में चतुर होने से आप दक्ष हैं ॥५८६॥

ॐ ह्रीं अर्हं दक्षिणाय नमः ॥५८७॥ सरल स्वभावी होने से आप दक्षिण हैं ॥५८७॥

ॐ ह्रीं अर्हं अध्वर्यवे नमः ॥५८८॥ केवलज्ञान रूप यज्ञ को करने से अथवा पाप रूप कर्मों का हवन करने से आप अध्वर्यु हैं ॥५८८॥

ॐ ह्रीं अर्हं अध्वराय नमः ॥५८९॥ सन्मार्ग की प्रवृत्ति करने से आप अध्वर हैं ॥५८९॥

ॐ ह्रीं अर्हं आनन्दाय नमः ॥५९०॥ सदा संतुष्ट रहने से आप आनन्द हैं ॥५९०॥

ॐ ह्रीं अर्हं नन्दनाय नमः ॥५९१॥ सबको आनन्द देने से आप नन्दन हैं ॥५९१॥

ॐ ह्रीं अर्हं नन्दाय नमः ॥५९२॥ सदा बढ़ते रहने से आप नन्द हैं ॥५९२॥

ॐ ह्रीं अर्हं वंछाय नमः ॥५९३॥ सभी के द्वारा वंदना और स्तुति करने से आप वंछ हैं ॥५९३॥

ॐ ह्रीं अर्हं अनिद्याय नमः ॥५९४॥ आप अठारह प्रकार के दोषों से रहित होने के कारण सब प्रकार की निन्दा के अयोग्य हैं ॥५९४॥

ॐ ह्रीं अर्हं अभिनन्दनाय नमः ॥५९५॥ सर्वथा आनन्ददायक होने से आप आप के समव-
शरण के चारों वन भयरहित होने से आप अभिनन्दन हैं ॥५९५॥

ॐ ह्रीं अर्हं कामहाय नमः ॥५९६॥ कामदेव को नाश करने से आप कामहा हैं ॥५९६॥

ॐ ह्रीं अर्हं कामदाय नमः ॥५९७॥ भक्त, भव्य जीवों की इच्छा पूर्ण कर देने से आप कामद हैं ॥५९७॥

ॐ ह्रीं अर्हं काम्याय नमः ॥५९८॥ अतिशय मनोहर होने से अथवा आपकी प्राप्ति की इच्छा सबको होने से आप काम्य हैं ॥५९८॥

ॐ ह्रीं अर्हं कामधेनवे नमः ॥५९९॥ इच्छित पदार्थों को देने से आप कामधेनु हैं ॥५९९॥

ॐ ह्रीं अर्हं अरिजयाय नमः ॥६००॥ रागादि समस्त शत्रुओं को जीतने से आप अरिजय कहलाते हैं ॥६००॥

ॐ ह्रीं अर्हं असंस्कृतसुसंस्काराय नमः ॥६०१॥ बिना किसी संस्कार के स्वभाव से ही सुन्दर होने से आप असंस्कृत सुसंस्कार हैं ॥६०१॥

ॐ ह्रीं अर्हं अप्राकृते नमः ॥६०२॥ आपका स्वरूप प्रकृति से उत्पन्न नहीं हुआ है। वह असा-
धारण अथवा अद्वितीय है इसलिये आप अप्राकृत हैं ॥६०२॥

ॐ ह्रीं अर्हं वैकृतांतकृते नमः ॥६०३॥ रोग अथवा विकारों को नाश करने से आप वैकृतांत-
कृत हैं ॥६०३॥

ॐ ह्रीं अर्हं अंतकृते नमः ॥६०४॥ जन्म, मरण और संसार को नाश करने से अथवा मोक्ष को समीप करने से आप अंतकृत हैं ॥६०४॥

ॐ ह्रीं अर्हं कांतगवे नमः ॥६०५॥ सुन्दर वाणी अथवा सुन्दर प्रभा होने से आप कांतगु हैं ॥६०५॥

ॐ ह्रीं अर्हं कांताय नमः ॥६०६॥ शोभायुक्त होने से आप कांत हैं ॥६०६॥

ॐ ह्रीं अर्हं चित्तमणये नमः ॥६०७॥ चित्तमणि के समान इच्छित पदार्थों को देने से आप चित्तमणि हैं ॥६०७॥

ॐ ह्रीं अर्हं अभीष्टदाय नमः ॥६०८॥ आप भव्य जीवों को इष्ट पदार्थों की प्राप्ति कराते हैं इसलिये आप अभीष्टदा हैं ॥६०८॥

ॐ ह्रीं अर्हं अजिताय नमः ॥६०९॥ काम क्रोधादि किसी भी योद्धा से आप जीते नहीं जाते इसलिये आप अजित हैं ॥६०९॥

ॐ ह्रीं अर्हं जितकामारिणे नमः ॥६१०॥ कामरूप शत्रु को जीतने से आप जितकामारि हैं ॥६१०॥

ॐ ह्रीं अर्हं अमिताय नमः ॥६११॥ मर्यादा रहित होने से आप अमित हैं ॥६११॥

ॐ ह्रीं अर्हं अमितशासनाय नमः ॥६१२॥ आपका शासन अपार होने से आप अमितशासन हैं ॥६१२॥

ॐ ह्रीं अर्हं क्रोधजिताय नमः ॥६१३॥ क्रोध को जीत लेने से आप जितक्रोध हैं ॥६१३॥

ॐ ह्रीं अर्हं जितामित्राय नमः ॥६१४॥ कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने से आप जितामित्र हैं ॥६१४॥

ॐ ह्रीं अर्हं जितक्लेशाय नमः ॥६१५॥ समस्त क्लेशों को जीत लेने से आप जितक्लेश हैं ॥६१५॥

ॐ ह्रीं अर्हं जितांतकाय नमः ॥६१६॥ यम को जीत लेने से आप जितांतक कहलाते हैं ॥६१६॥

ॐ ह्रीं अर्हं जिनेन्द्राय नमः ॥६१७॥ गणधरादि जिनों के इन्द्र होने से आप जिनेन्द्र हैं ॥६१७॥

ॐ ह्रीं अर्हं परमानंदाय नमः ॥६१८॥ उत्कृष्ट आनन्द स्वरूप होने से आप परमानन्द हैं ॥६१८॥

ॐ ह्रीं अर्हं मुनीन्द्राय नमः ॥६१९॥ मुनियों के इन्द्र होने से आप मुनीन्द्र हैं ॥६१९॥

ॐ ह्रीं अर्हं दुंदुभिस्वनाय नमः ॥६२०॥ दुंदुभियों के समान आपकी ध्वनि होने से आप दुंदुभिस्वन हैं ॥६२०॥

ॐ ह्रीं अर्हं महेन्द्रवंद्याय नमः ॥६२१॥ महेन्द्र के द्वारा पूज्य अथवा वंदनीय होने से आप महेन्द्रवंश हैं ॥६२१॥

ॐ ह्रीं अर्हं योगीन्द्राय नमः ॥६२२॥ योगियों के इन्द्र होने से आप योगीन्द्र हैं ॥६२२॥

ॐ ह्रीं अर्हं यतीन्द्राय नमः ॥६२३॥ यतियों के इन्द्र होने से आप यतीन्द्र हैं ॥६२३॥

ॐ ह्रीं अर्हं नाभिनन्दनाय नमः ॥६२४॥ महाराज नाभिराजा के पुत्र होने से आप नाभिनन्दन कहलाते हैं ॥६२४॥

ॐ ह्रीं अर्हं नाभेयाय नमः ॥६२५॥ पिता का नाम नाभि होने से आप नाभेय कहलाते हैं ॥६२५॥

ॐ ह्रीं अर्हं नाभिजाय नमः ॥६२६॥ महाराज नाभि के घर जन्म लेने से आप नाभिज हैं ॥६२६॥

- ॐ ह्रीं अहं अजाताय नमः ॥६२७॥ आप उत्पत्ति रहित होने से अजात हैं ॥६२७॥
- ॐ ह्रीं अहं सुव्रताय नमः ॥६२८॥ आप अहिंसा आदि उत्तम व्रतवान् होने से सुव्रत हैं ॥६२८॥
- ॐ ह्रीं अहं मनुष्ये नमः ॥६२९॥ कर्मभूमि की रचना का अथवा मोक्ष मार्ग का स्वरूप बतलाने से आप मनु हैं ॥६२९॥
- ॐ ह्रीं अहं उत्तमाय नमः ॥६३०॥ सबसे श्रेष्ठ होने से आप उत्तम कहलाते हैं ॥६३०॥
- ॐ ह्रीं अहं अभेद्याय नमः ॥६३१॥ किसी से भी आपका भेद नहीं हो सकता इसलिये आप अभेद्य हैं ॥६३१॥
- ॐ ह्रीं अहं अनत्याय नमः ॥६३२॥ आप नाश रहित होने से अनत्य हैं ॥६३२॥
- ॐ ह्रीं अहं अनाश्वानाय नमः ॥६३३॥ आप अनशन आदि सपक्षरण करने से अनाश्वान हैं ॥६३३॥
- ॐ ह्रीं अहं अधिकाय नमः ॥६३४॥ सबमें अधिक अर्थात् पूज्य होने से आप अधिक हैं ॥६३४॥
- ॐ ह्रीं अहं अधिगुरवे नमः ॥६३५॥ आप सबसे उत्तम उपदेश को देने से अधिगुरु हैं ॥६३५॥
- ॐ ह्रीं अहं सुगिरे नमः ॥६३६॥ आपकी शिक्षाध्वनि सबके लिये कल्याणकारी है इसलिये आप सुगी कहलाते हैं ॥६३६॥
- ॐ ह्रीं अहं सुमेधे नमः ॥६३७॥ आप सम्यग्ज्ञानी होने से सुमेधा हैं ॥६३७॥
- ॐ ह्रीं अहं विक्रमिणे नमः ॥६३८॥ महापराक्रमी होने से आप विक्रमी हैं ॥६३८॥
- ॐ ह्रीं अहं स्वामिणे नमः ॥६३९॥ सबके स्वामी होने से अथवा सब पदार्थों के यथार्थ ज्ञानी होने से आप स्वामी हैं ॥६३९॥
- ॐ ह्रीं अहं दुराधर्षाय नमः ॥६४०॥ किसी के द्वारा निवारण नहीं किये जाने से आप दुराधर्ष हैं ॥६४०॥
- ॐ ह्रीं अहं निस्तुकाय नमः ॥६४१॥ अभिलाषा रहित होने से अथवा स्थिर भाव होने से आप निस्तुक हैं ॥६४१॥
- ॐ ह्रीं अहं विशिष्टाय नमः ॥६४२॥ विशेष रूप होने से आप विशिष्ट हैं ॥६४२॥
- ॐ ह्रीं अहं शिष्टभुजे नमः ॥६४३॥ आप शिष्ट पुरुषों का पालन करने से शिष्टभुक् हैं ॥६४३॥
- ॐ ह्रीं अहं शिष्टाय नमः ॥६४४॥ राग, द्वेष, मोह आदि दोषों से रहित होने से आप शिष्ट हैं ॥६४४॥
- ॐ ह्रीं अहं प्रत्याय नमः ॥६४५॥ विश्वास रूप होने से अथवा ज्ञान रूप होने से आप प्रत्यय हैं ॥६४५॥
- ॐ ह्रीं अहं कामनसे नमः ॥६४६॥ आप मनोहर होने से कामन हैं ॥६४६॥
- ॐ ह्रीं अहं अनद्याय नमः ॥६४७॥ आप पाप रहित होने से अनद्य हैं ॥६४७॥
- ॐ ह्रीं अहं क्षेमिणे नमः ॥६४८॥ आप मोक्ष प्राप्त करने से क्षेमी हैं ॥६४८॥
- ॐ ह्रीं अहं क्षेमकराय नमः ॥६४९॥ सबका कल्याण करने से आप क्षेमकर हैं ॥६४९॥

ॐ ह्रीं अहं अक्षयाय नमः ॥६५०॥ आपका कभी क्षय नहीं होता इसलिये आप अक्षय हैं ॥६५०॥

ॐ ह्रीं अहं क्षेमधर्मपते नमः ॥६५१॥ सभी जीवों का कल्याण करने वाले जैन धर्म के प्रवर्तक होने से आप क्षेमधर्मपति हैं ॥६५१॥

ॐ ह्रीं अहं क्षमिणे नमः ॥६५२॥ क्षमावान् होने से आप क्षमी हैं ॥६५२॥

ॐ ह्रीं अहं अग्राह्याय नमः ॥६५३॥ इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण न होने से अथवा मिथ्यात्वियों के द्वारा ग्रहण न होने से आप अग्राह्य हैं ॥६५३॥

ॐ ह्रीं अहं ज्ञान निग्राह्याय नमः ॥६५४॥ निश्चय ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने से आप ज्ञान निग्राह्य हैं ॥६५४॥

ॐ ह्रीं अहं ध्यान गम्याय नमः ॥६५५॥ आप ध्यान के द्वारा जानने योग्य होने से ध्यानगम्य हैं ॥६५५॥

ॐ ह्रीं अहं निरुत्तराय नमः ॥६५६॥ आप सबसे उत्कृष्ट हैं इसलिये निरुत्तर हैं ॥६५६॥

ॐ ह्रीं अहं सुकृतये नमः ॥६५७॥ आप पुण्यवान होने से सुकृती हैं ॥६५७॥

ॐ ह्रीं अहं धातवे नमः ॥६५८॥ शब्दों की खान होने से आप धातु हैं ॥६५८॥

ॐ ह्रीं अहं इज्याह्वय नमः ॥६५९॥ आप पूजा करने के योग्य होने से इज्याह्व हैं ॥६५९॥

ॐ ह्रीं अहं सुनयाय नमः ॥६६०॥ नयों के सम्यक् प्रकार जाता होने से आप सुनय हैं ॥६६०॥

ॐ ह्रीं अहं निवासाय नमः ॥६६१॥ लक्ष्मी के निवास स्थान होने से आप श्री निवास हैं ॥६६१॥

ॐ ह्रीं अहं चतुराननाय नमः ॥६६२॥ चतुर्वक्त्रः ॥६६३॥ चतुरास्य ॥६६४॥ चतुर्मुखः ॥६६५॥ एक मुख होकर भी चारों ओर से दर्शन होने से अथवा लोगों को चार मुख दिखाने से आप चतुरानन तथा चतुर्मुख कहलाते हैं ॥६६२, ६६३॥

ॐ ह्रीं अहं सत्यात्मने नमः ॥६६६॥ सत्यस्वरूप होने से अथवा जीवों का कल्याण करने से आप सत्यात्मा हैं ॥६६६॥

ॐ ह्रीं अहं सत्यविज्ञानाय नमः ॥६६७॥ आपका विज्ञान सत्य अथवा सफल होने से आप सत्य विज्ञान हैं ॥६६७॥

ॐ ह्रीं अहं सत्यवाचे नमः ॥६६८॥ आपकी वाणी यथार्थ पदार्थों का निरूपण करने वाली है इसलिये आप सत्यवाक् कहलाते हैं ॥६६८॥

ॐ ह्रीं अहं सत्यशासनाय नमः ॥६६९॥ आपका शासन (मत) यथार्थ होने से अथवा सफल अर्थात् साक्षात् मोक्ष प्राप्त करने वाला होने से आप सत्यशासन हैं ॥६६९॥

ॐ ह्रीं अहं सत्याशीर्षे नमः ॥६७०॥ दोनों लोकों में फलदायक होने से आप सत्याशीर्ष हैं ॥६७०॥

ॐ ह्रीं अहं सत्यसंधानाय नमः ॥६७१॥ प्रतिज्ञा को दृढ़ रखने से अथवा सत्य स्वरूप रखने से आप सत्यसंधान हैं ॥६७१॥

ॐ ह्रीं अहं सत्याय नमः ॥६७२॥ आप शुद्ध मोक्षस्वरूप होने से सत्य हैं ॥६७२॥

ॐ ह्रीं अहं सत्यपरायणाय नमः ॥६७३॥ आप सत्यस्वरूप में तत्पर होने से सत्यपरायण कहे जाते हैं ॥६७३॥

ॐ ह्रीं अहं स्थेयसे नमः ॥६७४॥ अत्यन्त स्थिर होने से आप स्थेयान् हैं ॥६७४॥

ॐ ह्रीं अहं स्थवीयसे नमः ॥६७५॥ अतिशय स्थूल होने से आप स्थवीयान् हैं ॥६७५॥

ॐ ह्रीं अहं नेदीयसे नमः ॥६७६॥ भक्तों के समीप होने से आप नेदीयान् हैं ॥६७६॥

ॐ ह्रीं अहं दवीयसे नमः ॥६७७॥ पापों से दूर रहने के कारण आप दवीयान् हैं ॥६७७॥

ॐ ह्रीं अहं दूरदर्शनाय नमः ॥६७८॥ आपके दर्शन दूर ही से होते हैं इसलिये आप दूरदर्शन हैं ॥६७८॥

ॐ ह्रीं अहं अणोरणीयसे नमः ॥६७९॥ परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म होने से आप अणोरणीयान् हैं ॥६७९॥

ॐ ह्रीं अहं अनणुवे नमः ॥६८०॥ सूक्ष्म न होने से आप अनणु हैं ॥६८०॥

ॐ ह्रीं अहं गरीयसां आद्यगुरुवे नमः ॥६८१॥ बड़ों में सबसे बड़े होने से आप गरीयसां आद्य गुरु कहलाते हैं ॥६८१॥

ॐ ह्रीं अहं सदा योगाय नमः ॥६८२॥ सदा योग स्वरूप होने से आप सदायोग हैं ॥६८२॥

ॐ ह्रीं अहं सदा भोगाय नमः ॥६८३॥ आप सदा आनन्द के भोक्ता होने से सदा भोग हैं ॥६८३॥

ॐ ह्रीं अहं सदा तृप्ताय नमः ॥६८४॥ सदा तृप्त रहने से आप सदा तृप्त हैं ॥६८४॥

ॐ ह्रीं अहं सदा शिवाय नमः ॥६८५॥ सदा कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप रहने से आप सदा शिव कहलाते हैं ॥६८५॥

ॐ ह्रीं अहं सदा गतये नमः ॥६८६॥ आप सदा ज्ञान स्वरूप होने से सदागति हैं ॥६८६॥

ॐ ह्रीं अहं सदा सौख्याय नमः ॥६८७॥ सदा सुख स्वरूप रहने से सदा सौख्य है ॥६८७॥

ॐ ह्रीं अहं सदा विद्याय नमः ॥६८८॥ आप सदा ज्ञानस्वरूप रहने से सदा विद्य हैं ॥६८८॥

ॐ ह्रीं अहं सदोदयाय नमः ॥६८९॥ आप सदा उदय रूप होने से अर्थात् सदा कल्याण रूप अथवा प्रकाश स्वरूप रहने से आप सदोदय कहलाते हैं ॥६८९॥

ॐ ह्रीं अहं सुघोषाय नमः ॥६९०॥ आपका सुन्दर शब्द होने से आप सुघोष हैं ॥६९०॥

ॐ ह्रीं अहं सुमुखाय नमः ॥६९१॥ सुन्दर मुख रहने से आप सुमुख हैं ॥६९१॥

ॐ ह्रीं अहं सौम्याय नमः ॥६९२॥ शान्त रहने से आप सौम्य हैं ॥६९२॥

ॐ ह्रीं अहं सुखदाय नमः ॥६९३॥ सबको सुख देने से आप सुखद हैं ॥६९३॥

ॐ ह्रीं अहं सुहिताय नमः ॥६९४॥ सबका हित करने से आप सुहित हैं ॥६९४॥

ॐ ह्रीं अहं सुहृदे नमः ॥६९५॥ निष्कपट, शुद्ध, निर्मल होने से आप सुहृत् हैं ॥६९५॥

ॐ ह्रीं अहं सुगुप्तये नमः ॥६९६॥ मिथ्यादृष्टियों द्वारा आपका स्वरूप न जानने से आप सुगुप्त हैं ॥६९६॥

ॐ ह्रीं अहं गुप्तिभृते नमः ॥६९७॥ आप तीनों गुप्तियों को पालन करने से गुप्तिभृत् हैं ॥६९७॥

ॐ ह्रीं अहं गोप्ताय नमः ॥६९८॥ पापों से आत्मा की रक्षा करने से अथवा जीवों की रक्षा करने से आप गोप्ता हैं ॥६९८॥

ॐ ह्रीं अहं लोकाध्यक्षाय नमः ॥६६६॥ तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखने से आप लोकाध्यक्ष हैं ॥६६६॥

ॐ ह्रीं अहं दमेश्वराय नमः ॥७००॥ इंद्रियदमन करने से तपश्चरण के स्वामी होने के कारण आप दमेश्वर कहलाते हैं ॥७००॥

ॐ ह्रीं अहं बृहद् बृहस्पतये नमः ॥७०१॥ इन्द्रों के सबसे बड़े गुरु होने से आप बृहद् बृहस्पति हैं ॥७०१॥

ॐ ह्रीं अहं वाग्म्ये नमः ॥७०२॥ विलक्षण वक्ता होने से आप वाग्मी हैं ॥७०२॥

ॐ ह्रीं अहं वाचस्पतये नमः ॥७०३॥ वाणी के स्वामी होने से वाचस्पति हैं ॥७०३॥

ॐ ह्रीं अहं उदारधिये नमः ॥७०४॥ उदार बुद्धि होने से अर्थात् सब को धर्म का उपदेश देने से आप उदारधी हैं ॥७०४॥

ॐ ह्रीं अहं मनीषिणे नमः ॥७०५॥ बुद्धिमान होने से आप मनीषी हैं ॥७०५॥

ॐ ह्रीं अहं धीषणाय नमः ॥७०६॥ अपार बुद्धिमान होने से आप धीष्ण हैं ॥७०६॥

ॐ ह्रीं अहं धीमते नमः ॥७०७॥ धारण पटु बुद्धि सहित होने कारण धीमान् कहलाते हैं ॥७०७॥

ॐ ह्रीं अहं शेमुषीशाय नमः ॥७०८॥ बुद्धि के स्वामी होने से आप शेमुषी हैं ॥७०८॥

ॐ ह्रीं अहं गिरांपतये नमः ॥७०९॥ सभी भाषाओं के स्वामी होने से आप गिरांपति हैं ॥७०९॥

ॐ ह्रीं अहं नेकरूपाय नमः ॥७१०॥ अनेक रूप होने से आप नेकरूप हैं ॥७१०॥

ॐ ह्रीं अहं नयोत्तंगाय नमः ॥७११॥ नयों का उत्कृष्ट स्वरूप कहने से आप नयोत्तुंग हैं ॥७११॥

ॐ ह्रीं अहं नैकात्मने नमः ॥७१२॥ आप अनेक गुणों को धारण करने से नैकात्मा हैं ॥७१२॥

ॐ ह्रीं अहं नैकधर्मकृते नमः ॥७१३॥ पदार्थों को अनेक धर्मरूप कथन करने से आप नैकधर्म-कृत हैं ॥७१३॥

ॐ ह्रीं अहं अविज्ञेय नमः ॥७१४॥ साधारण पुरुषों के द्वारा जानने के अयोग्य होने से आप अविज्ञेय हैं ॥७१४॥

ॐ ह्रीं अहं अप्रतय्यतिमने नमः ॥७१५॥ आपके स्वरूप का कोई तर्कवितर्क नहीं कर सकता इसलिये आप अप्रतय्यतिमा हैं ॥७१५॥

ॐ ह्रीं अहं कृतज्ञाय नमः ॥७१६॥ जीवों के समस्त कृत्य जानने से आप कृतज्ञ हैं ॥७१६॥

ॐ ह्रीं अहं कृत लक्षणाय नमः ॥७१७॥ समस्त शुभ लक्षणों से संयुक्त होने के कारण आप कृत लक्षण हैं ॥७१७॥

ॐ ह्रीं अहं ज्ञानगर्भाय नमः ॥७१८॥ अंतरंग में ज्ञान होने से आप ज्ञानगर्भ हैं ॥७१८॥

ॐ ह्रीं अहं दयागर्भाय नमः ॥७१९॥ दयालु होने से आप दयागर्भ हैं ॥७१९॥

ॐ ह्रीं अहं रत्नगर्भाय नमः ॥७२०॥ रत्नत्रयों को धारण करने से अथवा गर्भाविस्था ही में रत्नत्रय का स्वरूप जानने से अथवा गर्भावितार होने से पहले ही रत्नों की वर्षा होने से आप रत्नगर्भ हैं ॥७२०॥

ॐ ह्रीं अहं प्रभास्वराय नमः ॥७२१॥ अतिशय प्रभावशाली होने से आप प्रभास्वर हैं ॥७२१॥

ॐ ह्रीं अहं पद्मगर्भाय नमः ॥७२२॥ गर्भाविस्था में ही लक्ष्मी प्राप्त होने से आप पद्मगर्भ हैं ॥७२२॥

ॐ ह्रीं अहं जगद्गर्भाय नमः ॥७२३॥ आपके ज्ञान के भीतर समस्त जगत् होने से आप जगद्गर्भ हैं ॥७२३॥

ॐ ह्रीं अहं हेमगर्भाय नमः ॥७२४॥ आपका आत्मा स्वर्ण के समान निर्मल होने से अथवा गर्भावतार के समय सुवर्ण की वर्षा होने से आप हेमगर्भ हैं ॥७२४॥

ॐ ह्रीं अहं सुदर्शनाय नमः ॥७२५॥ आपका सुन्दर दर्शन होने से आप सुदर्शन हैं ॥७२५॥

ॐ ह्रीं अहं लक्ष्मीवते नमः ॥७२६॥ समवशरणादे ऐश्वर्य सहित होने से आप लक्ष्मीवान् हैं ॥७२६॥

ॐ ह्रीं अहं त्रिदशाध्यक्षाय नमः ॥७२७॥ देवों को प्रत्यक्ष होने से अथवा तेरह प्रकार के चारित्र्य को धारण करने वाले मुनियों को प्रत्यक्ष होने से अथवा बाल, युवा, वृद्ध तीनों अवस्थाओं में एक सा प्रत्यक्ष होने से आप त्रिदशाध्यक्ष हैं ॥७२७॥

ॐ ह्रीं अहं दृढीयसे नमः ॥७२८॥ अत्यन्त दृढ़ होने से आप दृढीयान हैं ॥७२८॥

ॐ ह्रीं अहं इनाय नमः ॥७२९॥ सबके स्वामी होने के आप इन हैं ॥७२९॥

ॐ ह्रीं अहं ईशिताय नमः ॥७३०॥ तेजोनिधि अर्थात् ऐश्वर्यवान् होने से आप ईशिता हैं ॥७३०॥

ॐ ह्रीं अहं मनोहराय नमः ॥७३१॥ भव्य जीवों के अंतःकरण को हरण करने से आप मनोहर हैं ॥७३१॥

ॐ ह्रीं अहं मनोज्ञाय नमः ॥७३२॥ अंग उपांग मनोहर रहने से आप मनोज्ञ हैं ॥७३२॥

ॐ ह्रीं अहं धीराय नमः ॥७३३॥ बुद्धि को प्रेरणा देने से अथवा भव्य जीवों को सुबुद्धि देने से आप धीर हैं ॥७३३॥

ॐ ह्रीं अहं गंभीरशासनाय नमः ॥७३४॥ आपका शासन अथवा शास्त्र गंभीर होने से आप गंभीरशासन हैं ॥७३४॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मयूषाय नमः ॥७३५॥ आप धर्म के स्तम्भ होने से धर्मयूष हैं ॥७३५॥

ॐ ह्रीं अहं दयायाय नमः ॥७३६॥ सब जीवों पर दया करना एवं आपकी पूजा होने से आप दयाया हैं ॥७३६॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मनेमिने नमः ॥७३७॥ धर्मरूपी रथ की धुरी होने से आप धर्मनेमि हैं ॥७३७॥

ॐ ह्रीं अहं मुनीश्वराय नमः ॥७३८॥ आप मुनियों के ईश्वर होने से मुनीश्वर हैं ॥७३८॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मचक्रायुधाय नमः ॥७३९॥ धर्मचक्र ही आपका आयुध होने से आप धर्मचक्रायुध हैं ॥७३९॥

ॐ ह्रीं अहं देवाय नमः ॥७४०॥ परमानन्द में क्रीड़ा करने से आप देव हैं ॥७४०॥

ॐ ह्रीं अहं कर्महाय नमः ॥७४१॥ शुभाशुभ कर्मों को नाश करने से आप कर्महा हैं ॥७४१॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मघोषणाय नमः ॥७४२॥ धर्म का उपदेश देने से आप धर्मघोषण हैं ॥७४२॥

ॐ ह्रीं अहं अमोघवाक्त्रे नमः ॥७४३॥ श्रोताजनों को यथार्थ बोध कराने वाली आपकी वाणी होने से आप अमोघवाक् हैं ॥७४३॥

ॐ ह्रीं अहं अमोघाज्ञाय नमः ॥७४४॥ आपकी आज्ञा कभी व्यर्थ न होने से आप अमोघाज्ञ हैं ॥७४४॥

- ॐ ह्रीं अर्हं निर्मलाय नमः ॥७४५॥ आप ममत्व रहित होने से निर्मल हैं ॥७४५॥
- ॐ ह्रीं अर्हं अमोघशासनाय नमः ॥७४६॥ आपका शास्त्र कभी व्यर्थ न होने से अर्थात् जीवों को मोक्ष प्राप्त करा देने से आप अमोघशासन हैं ॥७४६॥
- ॐ ह्रीं अर्हं सुरूपाय नमः ॥७४७॥ आपका स्वरूप आनंददायक होने से आप सुरूप हैं ॥७४७॥
- ॐ ह्रीं अर्हं सुभगाय नमः ॥७४८॥ आपके ज्ञान का अतिशय महात्म्य होने से आप सुभग हैं ॥७४८॥
- ॐ ह्रीं अर्हं त्यागिने नमः ॥७४९॥ ज्ञानदान, अभयदान आदि देने से आप त्यागी हैं ॥७४९॥
- ॐ ह्रीं अर्हं समयज्ञाय नमः ॥७५०॥ आत्म सिद्धांत तथा कालस्वरूप जानने से आप समयज्ञ हैं ॥७५०॥
- ॐ ह्रीं अर्हं समाहिताय नमः ॥७५१॥ समाधान रूप होने से अथवा ध्यान स्वरूप होने से आप समाहित हैं ॥७५१॥
- ॐ ह्रीं अर्हं सुस्थिताय नमः ॥७५२॥ गिरायल गिरायल भुज में निमग्न रहने से आप सुस्थित हैं ॥७५२॥
- ॐ ह्रीं अर्हं स्वास्थ्यभाजे नमः ॥७५३॥ आत्मा की निश्चलता को सेवन करने से आप स्वास्थ्यभाक् हैं ॥७५३॥
- ॐ ह्रीं अर्हं स्वास्थाय नमः ॥७५४॥ सदा आत्मनिष्ठ होने से आप स्वस्थ हैं ॥७५४॥
- ॐ ह्रीं अर्हं नीरजस्काय नमः ॥७५५॥ कर्मरूप रज से रहित होने से अथवा ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रहित होने से आप नीरजस्क हैं ॥७५५॥
- ॐ ह्रीं अर्हं निरुद्धाय नमः ॥७५६॥ आपका कोई स्वामी न होने से आप निरुद्धव हैं ॥७५६॥
- ॐ ह्रीं अर्हं अलेपाय नमः ॥७५७॥ कर्म के लेप रहित होने से आप निर्लेप हैं ॥७५७॥
- ॐ ह्रीं अर्हं निष्कलंकात्मने नमः ॥७५८॥ दोष रहित होने से आप निष्कलंकात्मा हैं ॥७५८॥
- ॐ ह्रीं अर्हं वीतरागाय नमः ॥७५९॥ रागादि दोषों से रहित होने से अथवा मोक्ष लक्ष्मी में प्रेम होने से आप वीतराग हैं ॥७५९॥
- ॐ ह्रीं अर्हं गतस्पृहाय नमः ॥७६०॥ आप इच्छा रहित होने से गतस्पृह हैं ॥७६०॥
- ॐ ह्रीं अर्हं वश्येन्द्रियाय नमः ॥७६१॥ इन्द्रियों को वश करने से आप वश्येन्द्रिय हैं ॥७६१॥
- ॐ ह्रीं अर्हं विमुक्तात्मने नमः ॥७६२॥ संसार रूपी बंधन से रहित होने के कारण आप विमुक्तात्मा हैं ॥७६२॥
- ॐ ह्रीं अर्हं निःसपत्नाय नमः ॥७६३॥ दुष्ट भाव न रहने से अथवा निष्कण्टक होने से आप निःसपत्न हैं ॥७६३॥
- ॐ ह्रीं अर्हं जितेंद्रियाय नमः ॥७६४॥ आप इन्द्रियों को जीतने से जितेंद्रिय हैं ॥७६४॥
- ॐ ह्रीं अर्हं प्रशांताय नमः ॥७६५॥ शांत होने से अथवा राद्वेष रहित होने से आप प्रशांत हैं ॥७६५॥

ॐ ह्रीं अहं अनंत धामर्षये नमः ॥७६६॥ अनन्त प्रकाश को धारण करते हुये भी पूज्य होने से आप अनंतधामर्षि हैं ॥७६६॥

ॐ ह्रीं अहं मंगलाय नमः ॥७६७॥ सबको सुख देने से आप मंगल हैं ॥७६७॥

ॐ ह्रीं अहं मलघ्ने नमः ॥७६८॥ पापों को दूर करने से आप मलहर हैं ॥७६८॥

ॐ ह्रीं अहं अनघाय नमः ॥७६९॥ समस्त पापों से रहित होने से आप अनघ हैं ॥७६९॥

ॐ ह्रीं अहं अनीदृक् नमः ॥७७०॥ आप के समान अन्ध कोई न होने से आप अनीदृक् हैं ॥७७०॥

ॐ ह्रीं अहं उपमाभूताय नमः ॥७७१॥ सबके लिये उपमा योग्य होने से आप उपमाभूत हैं ॥७७१॥

ॐ ह्रीं अहं दिष्टये नमः ॥७७२॥ महाभाग्यशाली होने से अथवा शुभाशुभ वाता होने से आप दिष्टि हैं ॥७७२॥

ॐ ह्रीं अहं देवाय नमः ॥७७३॥ प्रबल अथवा स्तुति करने योग्य होने से आप देव हैं ॥७७३॥

ॐ ह्रीं अहं अगोचराय नमः ॥७७४॥ इन्द्रियों के अगोचर अथवा वचनों के अगोचर होने से आप अगोचर हैं ॥७७४॥

ॐ ह्रीं अहं अमूर्तये नमः ॥७७५॥ शरीर रहित होने से आप अमूर्त हैं ॥७७५॥

ॐ ह्रीं अहं मूर्तिमते नमः ॥७७६॥ पुरुषाकार होने से आप मूर्तिमान हैं ॥७७६॥

ॐ ह्रीं अहं एकस्मै नमः ॥७७७॥ अद्वितीय होने से अथवा बिना किसी भी सहायता के मोक्ष प्राप्त कर लेने से आप एक हैं ॥७७७॥

ॐ ह्रीं अहं अनेकस्मै नमः ॥७७८॥ आप अनेक रूप होने से अथवा सब भव्य जीवों का सहायक होने से नैक हैं ॥७७८॥

ॐ ह्रीं अहं नानैकतत्त्वदृशे नमः ॥७७९॥ आत्मा से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों को न देखने से अर्थात् उनमें तल्लीन न होने से आप नानैकतत्त्वदृक् कहलाते हैं ॥७७९॥

ॐ ह्रीं अहं अध्यात्मगम्याय नमः ॥७८०॥ केवल अध्यात्म शास्त्रों के जानने योग्य न होने से आप अध्यात्मगम्य हैं ॥७८०॥

ॐ ह्रीं अहं अगम्यात्मने नमः ॥७८१॥ संसारी जीवों के जानने योग्य न होने से आप अगम्यात्मा हैं ॥७८१॥

ॐ ह्रीं अहं योगविदे नमः ॥७८२॥ योग के जानकार होने से आप योगवित् हैं ॥७८२॥

ॐ ह्रीं अहं योगवन्दिताय नमः ॥७८३॥ योगियों के द्वारा वंदना करने योग्य होने से आप योगवन्दिता हैं ॥७८३॥

ॐ ह्रीं अहं सर्वज्ञाय नमः ॥७८४॥ ज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त होने से आप सर्वज्ञ हैं ॥७८४॥

ॐ ह्रीं अहं सदा भाविने नमः ॥७८५॥ सदा विद्यमान रहने से आप सदा भावी हैं ॥७८५॥

ॐ ह्रीं अहं त्रिकालविषयार्थदुगे नमः ॥७८६॥ तीनों काल अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त पदार्थों को देखने से त्रिकाल विषयार्थदुग हैं ॥७८६॥

ॐ ह्रीं अहं शंकराय नमः ॥७८७॥ सबको सुख का कर्त्ता होने से आप शंकर हैं ॥७८७॥

ॐ ह्रीं अर्हं शंभवाय नमः ॥७८८॥ यथार्थं सुख के अर्थात् मोक्ष रूप सुख के वक्ता होने से आप शंभव हैं ॥७८८॥

ॐ ह्रीं अर्हं दांताय नमः ॥७८९॥ मन को वश करने से आप दांत हैं ॥७८९॥

ॐ ह्रीं अर्हं दमिने नमः ॥७९०॥ आप इन्द्रियों को निग्रह करने से दमो हैं ॥७९०॥

ॐ ह्रीं अर्हं क्षांतिपरायणाय नमः ॥७९१॥ क्षमा करने में तथा तत्पर रहने से आप क्षांति-परायण हैं ॥७९१॥

ॐ ह्रीं अर्हं अधिपाय नमः ॥७९२॥ जगत् के अधिपति होने से आप अधिप हैं ॥७९२॥

ॐ ह्रीं अर्हं परमानंदाय नमः ॥७९३॥ आप अत्यन्त सुखी होने से परमानन्द हैं ॥७९३॥

ॐ ह्रीं अर्हं परात्मज्ञाय नमः ॥७९४॥ निज पर के ज्ञाता होने से अथवा विशुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने से आप परात्मज्ञ हैं ॥७९४॥

ॐ ह्रीं अर्हं परात्पराय नमः ॥७९५॥ सबसे श्रेष्ठ होने से आप परात्पर हैं ॥७९५॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्रिजगद्वल्लभाय नमः ॥७९६॥ तीनों लोकों को प्रिय होने से आप त्रिजगद्वल्लभ हैं ॥७९६॥

ॐ ह्रीं अर्हं अभ्यर्च्य नमः ॥७९७॥ सबसे पूज्य होने से आप अभ्यर्च्य हैं ॥७९७॥

ॐ ह्रीं अर्हं जगन्मंगलोदयाय नमः ॥७९८॥ तीनों लोकों में मंगलदाता होने से आप त्रिजगन्मंगलोदय हैं ॥७९८॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्रिजगत्पतिपूज्याधिने नमः ॥७९९॥ आपके चरण कमल तीनों लोकों में इन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से आप त्रिजगत्पतिपूज्याधि कहलाते हैं ॥७९९॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्रिलोकाग्रशिखामणये नमः ॥८००॥ तीनों लोकों के शिखर के शिखामणि होने से आप त्रिलोकाग्रशिखामणि कहलाते हैं ॥८००॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्रिकालदर्शिने नमः ॥८०१॥ भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों को प्रत्यक्ष देखने से आप त्रिकालदर्शी हैं ॥८०१॥

ॐ ह्रीं अर्हं लोकेशाय नमः ॥८०२॥ तीनों लोकों के ईश (स्वामी) होने से आप लोकेश हैं ॥८०२॥

ॐ ह्रीं अर्हं लोकधात्रे नमः ॥८०३॥ समस्त प्राणियों की रक्षा का उपदेश देने से आप लोक-धाता हैं ॥८०३॥

ॐ ह्रीं अर्हं दृढव्रताय नमः ॥८०४॥ स्वीकार किये हुए निश्चय चारित्र्य को निश्चय कर देने से आप दृढवती हैं ॥८०४॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वलोकानिधाय नमः ॥८०५॥ तीनों लोकों के प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट होने से आप सर्वलोकातिशय हैं ॥८०५॥

ॐ ह्रीं अर्हं पूज्याय नमः ॥८०६॥ पूजा के योग्य होने से आप पूज्य हैं ॥८०६॥

ॐ ह्रीं अर्हं सर्वलोकैकसारथिने नमः ॥८०७॥ समस्त प्राणियों के लिये मुख्य रीति से मोक्ष-मार्ग का स्वरूप दिखलाने से आप सर्वलोकैकसारथि कहे जाते हैं ॥८०७॥

ॐ ह्रीं अर्हं पुराणाय नमः ॥८०८॥ सबसे प्राचीन होने से अथवा मुक्ति पर्यन्त शरीर में निवास करने से आप पुराण हैं ॥८०८॥

ॐ ह्रीं अर्हं पुरुषाय नमः ॥८०९॥ सबसे बड़े होने से अथवा सबको तृप्त करने से अथवा पूज्य

समवधारण में स्थित रहने से आप पुरुष हैं ॥८०६॥

ॐ ह्रीं अहं पूर्वस्मै नमः ॥८१०॥ सबसे पूर्व अर्थात् अर्घसर होने से आप पूर्व हैं ॥८१०॥

ॐ ह्रीं अहं कृतपूर्वांग विस्तराय नमः ८११॥ ग्यारह अंग, चौदह पूर्व का समस्त विचार निरूपण करने से आप कृतपूर्वांग विस्तार हैं ॥८११॥

ॐ ह्रीं अहं आदिदेवाय नमः ॥८१२॥ सब देवों में मुख्य होने से आप अर्द्धदेव हैं ॥८१२॥

ॐ ह्रीं अहं पुराणाद्याय नमः ॥८१३॥ सब पुराणों में प्रथम होने से आप पुराणाद्य हैं ॥८१३॥

ॐ ह्रीं अहं पुरुदेवाय नमः ८१४॥ इंद्रादि देव मुख्यता से आपकी ही आराधना करते हैं अथवा आप सबके ईश हैं इसलिये पुरुदेव हैं ॥८१४॥

ॐ ह्रीं अहं युग मुख्याय नमः ॥८१५॥ इस अवर्सापिणी काल के मुख्य होने से आप युगमुख्य कहे जाते हैं ॥८१५॥

ॐ ह्रीं अहं अधिदेवाय नमः ॥८१६॥ देवों के भी देव होने से आप अधिदेव हैं ॥८१६॥

ॐ ह्रीं अहं युगज्येष्ठाय नमः ८१७॥ इसी युग में सबसे बड़े होने से आप युगज्येष्ठ कहलाते हैं ॥८१७॥

ॐ ह्रीं अहं युगादिस्थितिदेशकाय नमः ॥८१८॥ कर्मभूमि के प्रारम्भ में कर्मभूमि की स्थिति के मुख्य उपदेशक होने से आप युगादिस्थितिदेशक कहलाते हैं ॥८१८॥

ॐ ह्रीं अहं कल्याणवर्णाय नमः ॥८१९॥ आपके शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान होने से कल्याण वर्ण हैं ॥८१९॥

ॐ ह्रीं अहं कल्याणाय नमः ॥८२०॥ कल्याण स्वरूप होने से आप कल्याण हैं ॥८२०॥

ॐ ह्रीं अहं कल्याय नमः ॥८२१॥ सबके कल्याण करने में समर्थ होने से आप कल्या हैं ॥८२१॥

ॐ ह्रीं अहं कल्याणलक्ष्मणाय नमः ॥८२२॥ मंगलस्वरूप होने से अथवा कल्याणरूप लक्षणों को धारण करने से आप कल्याणलक्षण कहलाते हैं ॥८२२॥

ॐ ह्रीं अहं कल्याणप्रकृतये नमः ॥८२३॥ आपका स्वभाव ही कल्याणस्वरूप होने से आप कल्याण प्रकृति कहे जाते हैं ॥८२३॥

ॐ ह्रीं अहं दीप्तकल्याणात्मने नमः ॥८२४॥ चारों ओर प्रकाशमान होता हुआ पुण्य अथवा कल्याण ही आपका स्वभाव है, इसलिये आप दीप्तकल्याणात्मा कहे जाते हैं ॥८२४॥

ॐ ह्रीं अहं विकल्पषाय नमः ॥८२५॥ आप पाप रहित होने से विकल्प हैं ॥८२५॥

ॐ ह्रीं अहं विकलंकाय नमः ॥८२६॥ काम आदि कलंक से रहित होने के कारण आप विकलंक हैं ॥८२६॥

ॐ ह्रीं अहं कलातीताय नमः ॥८२७॥ आप शरीर रहित होने से कलातीत हैं ॥८२७॥

ॐ ह्रीं अहं कलिलघ्नाय नमः ॥८२८॥ आप पापों को नाश करने वाले होने से कलिलघ्न हैं ॥८२८॥

ॐ ह्रीं अहं कलाधराय नमः ॥८२९॥ अनेक कलाओं को धारण करने से आप कलाधर हैं ॥८२९॥

ॐ ह्रीं अहं देवदेवाय नमः ॥८३०॥ इंद्रादि सभी देवों के देव होने से आप देव देव हैं ॥८३०॥

ॐ ह्रीं अहं जगन्नाथाय नमः ॥८३१॥ आप तीनों लोकों के स्वामी होने से जगन्नाथ कहलाते हैं ॥८३१॥

ॐ ह्रीं अहं जगद्वंधवे नमः ॥८३२॥ आप तीनों लोकों की हित भावना रखने से जगद्वंधु हैं ॥८३२॥

ॐ ह्रीं अहं जगद्विभुषे नमः ॥८३३॥ समस्त जगत् के प्रभु होने से आप जगद्विभु हैं ॥८३३॥

ॐ ह्रीं अहं जगद्विर्तैषी नमः ॥८३४॥ तीनों लोकों के लिये कल्याण करने की इच्छा रखने से आप जगद्विर्तैषी हैं ॥८३४॥

ॐ ह्रीं अहं लोकशाय नमः ॥८३५॥ तीनों लोकों के जानने से आप लोकश हैं ॥८३५॥

ॐ ह्रीं अहं सर्वगाय नमः ॥८३६॥ केवलज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त होने से आप सर्वग हैं ॥८३६॥

ॐ ह्रीं अहं जगदग्रजाय नमः ॥८३७॥ समस्त जगत् में श्रेष्ठ होने से अथवा जगत् के मुख्य स्थान में उत्पन्न होने से आप जगदग्रज हैं ॥८३७॥

ॐ ह्रीं अहं चराचर गुरुवे नमः ॥८३८॥ आप अस, स्थावर आदि सभी जीवों के गुरु होने से चराचर गुरु हैं ॥८३८॥

ॐ ह्रीं अहं गोप्याय नमः ॥८३९॥ हृदय में बड़े यत्न से स्थापना करने के योग्य होने से आप गोप्य हैं ॥८३९॥

ॐ ह्रीं अहं गूढात्मने नमः ॥८४०॥ आपका स्वरूप अत्यन्त गुप्त होने से आप गूढात्मा हैं ॥८४०॥

ॐ ह्रीं अहं गूढ गोचराय नमः ॥८४१॥ गूढ अर्थात् जीवादि पदार्थों के जानने से आप गूढ गोचर हैं ॥८४१॥

ॐ ह्रीं अहं सद्यो जाताय नमः ॥८४२॥ सदा तुरन्त ही उत्पन्न होने के समान देख पड़ते हैं अर्थात् सदा नवीन ही जान पड़ते हैं इसलिये आप सद्योजात हैं ॥८४२॥

ॐ ह्रीं अहं प्रकाशात्मने नमः ॥८४३॥ आप प्रकाशरूप होने से प्रकाशात्मा हैं ॥८४३॥

ॐ ह्रीं अहं ज्वलनज्वलनसप्रभाय नमः ॥८४४॥ प्रज्वलित हुई अग्नि के समान दीदीप्यमान होने से आप ज्वलन ज्वलन सप्रभ कहलाते हैं ॥८४४॥

ॐ ह्रीं अहं आदित्य वर्णाय नमः ॥८४५॥ सूर्य के समान तेजस्वी होने से आप आदित्य वर्ण कहलाते हैं ॥८४५॥

ॐ ह्रीं अहं भर्माभाय नमः ॥८४६॥ सुवर्ण के समान कान्तियुक्त होने से आप भर्माभ हैं ॥८४६॥

ॐ ह्रीं अहं सुप्रभाय नमः ॥८४७॥ मन के लिये आनन्द दायक सुन्दर कान्ति होने से आप सुप्रभ हैं ॥८४७॥

ॐ ह्रीं अहं कनकप्रभाय नमः ॥८४८॥

ॐ ह्रीं अहं सुवर्णवर्णाय नमः ॥८४९॥

ॐ ह्रीं अहं रुक्माभाय नमः ॥८५०॥

सुवर्ण के समान उज्ज्वल कान्तियुक्त होने से आप कनकप्रभ हैं ॥८४८॥ सुवर्णवर्ण हैं ॥८४९॥ तथा रुक्माभ कहे जाते हैं ॥८५०॥

ॐ ह्रीं अहं सूर्यं कोटिसमप्रभाय नमः ॥८५१॥ करोड़ों सूर्यों के समान प्रभा होने से आप सूर्य कोटिसमप्रभ हैं ॥८५१॥

ॐ ह्रीं अहं तपनीयनिभाय नमः ॥८५२॥ सुवर्ण के समान सुन्दर पीतवर्ण होने से आप तपनीय-निभा कहलाते हैं ॥८५२॥

ॐ ह्रीं अहं तृणाय नमः ॥८५३॥ ऊँचे शरीर को धारण करने से आप तृण हैं ॥८५३॥

ॐ ह्रीं अहं बालार्कभाय नमः ॥८५४॥ प्रातःकाल के उदय होते हुए सूर्य के समान कान्तिमान और सुन्दर होने के कारण आप बालार्कभ कहलाते हैं ॥८५४॥

ॐ ह्रीं अहं अनिलप्रभाय नमः ॥८५५॥ अग्नि के समान प्रभावान् होने से आप अनिलप्रभ हैं ॥८५५॥

ॐ ह्रीं अहं सन्ध्याभ्रुवभ्रुवे नमः ॥८५६॥ सन्ध्या के बादलों के समान सुन्दर वर्ण होने से आप सन्ध्याभ्रुवभ्रु कहलाते हैं ॥८५६॥

ॐ ह्रीं अहं हेमाभाय नमः ॥८५७॥ सुवर्ण के समान होने से आप हेमाभ हैं ॥८५७॥

ॐ ह्रीं अहं तप्तचामीकर प्रभाय नमः ॥८५८॥ सुवर्ण के समान कान्तियुक्त होने से आप चामीकरप्रभ कहलाते हैं ॥८५८॥

ॐ ह्रीं अहं निप्तप्तकनकच्छायाय नमः ॥८५९॥ कनत्कांचन सन्निभायाय नमः ॥८६०॥ हिरण्यवर्णाय नमः ॥८६१॥ स्वर्णाभाय नमः ॥८६२॥ शांतिकुंभनिभ प्रभाय नमः ॥८६३॥ शुक्लाभाय नमः ॥८६४॥ जातरूपाभाय नमः ॥८६५॥ तप्तजाम्बूनदद्युतये नमः ॥८६६॥ सुधौत कलधौत श्रिये नमः ॥८६७॥ हाटकद्युतये नमः ॥८६८॥

सुवर्ण के समान उज्ज्वल और कान्तियुक्त होने से आप निप्तप्तकनकच्छाया ॥८५९॥ कनत्कांचन सन्निभा ॥८६०॥ हिरण्यवर्णा ॥८६१॥ स्वर्णाभा ॥८६२॥ शांतिकुंभनिभप्रभा ॥८६३॥ शुक्लाभा ॥८६४॥ जातरूपाभ ॥८६५॥ तप्तजाम्बूनद द्युति ॥८६६॥ सुधौतकलधौत श्री ॥८६७॥ और हाटकद्युति कहलाते हैं ॥८६८॥

ॐ ह्रीं अहं प्रदीप्ताय नमः ॥८६९॥ वैदीप्यमान होने से आप प्रदीप्त कहलाते हैं ॥८६९॥

ॐ ह्रीं अहं शिष्टेष्टाय नमः ॥८७०॥ इंद्रादि उत्तम पुरुषों को प्रिय होने से आप शिष्टेष्ट हैं ॥८७०॥

ॐ ह्रीं अहं पुष्टिदाय नमः ॥८७१॥ पुष्टि के दाता होने से आप पुष्टिदाता हैं ॥८७१॥

ॐ ह्रीं अहं पुष्टाय नमः ॥८७२॥ महाबलवान् होने से आप पुष्ट हैं ॥८७२॥

ॐ ह्रीं अहं स्पष्टाय नमः ॥८७३॥ सबको प्रगट दिखाई देने से आप स्पष्ट हैं ॥८७३॥

ॐ ह्रीं अहं स्पष्टाक्षराय नमः ॥८७४॥ आपकी वाणी स्पष्ट तथा आनन्ददायनी होने से आप स्पष्टाक्षर हैं ॥८७४॥

ॐ ह्रीं अहं क्षमाय नमः ॥८७५॥ आप समर्थ होने से क्षम हैं ॥८७५॥

ॐ ह्रीं अहं शत्रुघ्नाय नमः ॥८७६॥ कर्म रूपी शत्रुओं को नाश करने से आप शत्रुघ्न कहलाते हैं ॥८७६॥

ॐ ह्रीं अहं अप्रतिगाय नमः ॥८७७॥ क्रोध रहित होने से आप अप्रतिग हैं ॥८७७॥

ॐ ह्रीं अहं अमोघाय नमः ॥८७८॥ सफल अर्थात् कृतकृत्य होने से आप अमोघ हैं ॥८७८॥

ॐ ह्रीं अहं प्रशास्त्रे नमः ॥८७९॥ धर्मोपदेश देने से आप प्रशास्ता हैं ॥८७९॥

- ॐ ह्रीं अहं शासिताय नमः ॥८८०॥ आप रक्षक होने से शासिता हैं ॥८८०॥
- ॐ ह्रीं अहं स्वभुवे नमः ॥८८१॥ अपने आप उत्पन्न होने से आप स्वयंभू हैं ॥८८१॥
- ॐ ह्रीं अहं शान्तनिष्ठाय नमः ॥८८२॥ काम, क्रोध, आदि को नष्ट करने से अथवा शान्त होने से आप शान्तनिष्ठ हैं ॥८८२॥
- ॐ ह्रीं अहं मुनिज्येष्ठाय नमः ॥८८३॥ मुनियों में श्रेष्ठ होने से आप मुनि ज्येष्ठ हैं ॥८८३॥
- ॐ ह्रीं अहं शिवतातये नमः ॥८८४॥ मूल को परम्परा होने से आप शिवतात हैं ॥८८४॥
- ॐ ह्रीं अहं शिवप्रदाय नमः ॥८८५॥ कल्याण के दाता होने से आप शिवप्रद हैं ॥८८५॥
- ॐ ह्रीं अहं शान्तिदाय नमः ॥८८६॥ शान्तिदायक होने से आप शान्तिद हैं ॥८८६॥
- ॐ ह्रीं अहं शान्तिकृताय नमः ॥८८७॥ समस्त उपद्रवों को शान्त करने से आप शान्तिकृत हैं ॥८८७॥
- ॐ ह्रीं अहं शान्तये नमः ॥८८८॥ कर्मों का क्षय करने से आप शान्ति हैं ॥८८८॥
- ॐ ह्रीं अहं कान्तिमते नमः ॥८८९॥ कान्तियुक्त होने से आप कान्तिमान् हैं ॥८८९॥
- ॐ ह्रीं अहं कामित्प्रदाय नमः ॥८९०॥ मनवांछित फलों को देने वाले होने से आप कामित्प्रभ हैं ॥८९०॥
- ॐ ह्रीं अहं श्रेयोनिधये नमः ॥८९१॥ कल्याण के समुद्र होने से आप श्रेयोनिधि हैं ॥८९१॥
- ॐ ह्रीं अहं अधिष्ठानाय नमः ॥८९२॥ धर्म के मूल कारण और आधार होने से आप अधिष्ठान हैं ॥८९२॥
- ॐ ह्रीं अहं अप्रतिष्ठाय नमः ॥८९३॥ अपने आप ही ईश्वर होने से आप अप्रतिष्ठ हैं ॥८९३॥
- ॐ ह्रीं अहं प्रतिष्ठाय नमः ॥८९४॥ सब जगह प्रतिष्ठित होने से आप प्रतिष्ठित हैं ॥८९४॥
- ॐ ह्रीं अहं सुस्थिताय नमः ॥८९५॥ अतिशय स्थिर होने से आप सुस्थित हैं ॥८९५॥
- ॐ ह्रीं अहं स्थावराय नमः ॥८९६॥ विहार रहित होने से आप स्थावर हैं ॥८९६॥
- ॐ ह्रीं अहं स्थाणुणे नमः ॥८९७॥ निश्चल होने से आप स्थाणु हैं ॥८९७॥
- ॐ ह्रीं अहं पृथीयसे नमः ॥८९८॥ विस्तृत होने से आप पृथीयान हैं ॥८९८॥
- ॐ ह्रीं अहं प्रथिताय नमः ॥८९९॥ अतिशय प्रसिद्ध होने से आप प्रथित हैं ॥८९९॥
- ॐ ह्रीं अहं पृथुवे नमः ॥९००॥ बहुत बड़े होने से आप पृथु कहलाते हैं ॥९००॥
- ॐ ह्रीं अहं दिग्वाससे नमः ॥९०१॥ दिशारूप वस्त्र धारण करने से आप दिग्वासा हैं ॥९०१॥
- ॐ ह्रीं अहं वातरशनाय नमः ॥९०२॥ वायुरूपी करधनी को धारण करने वाले होने से आप वातरशन हैं ॥९०२॥
- ॐ ह्रीं अहं निर्ग्रन्थेराय नमः ॥९०३॥ निर्ग्रन्थ मुनियों में भी श्रेष्ठ होने से आप निर्ग्रन्थेश हैं ॥९०३॥
- ॐ ह्रीं अहं निरम्बराय नमः ॥९०४॥ वस्त्र रहित होने से आप निरम्बर हैं ॥९०४॥
- ॐ ह्रीं अहं निष्कंचनाय नमः ॥९०५॥ परिग्रह रहित होने से आप निष्कंचम हैं ॥९०५॥
- ॐ ह्रीं अहं निराशंसाय नमः ॥९०६॥ इच्छा अथवा आशा रहित होने से आप निराशंस हैं ॥९०६॥
- ॐ ह्रीं अहं ज्ञानचक्षुषे नमः ॥९०७॥ ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने से आप ज्ञानचक्षु कहलाते हैं ॥९०७॥
- ॐ ह्रीं अहं अमोमुहाय नमः ॥९०८॥ अस्यस्त निर्मोह होने से आप अमोमुह हैं ॥९०८॥

- ॐ ह्रीं अर्हं तेजोराशये नमः ॥६०६॥ तेज के समूह होने से आप तेजोराशि हैं ॥६०६॥
- ॐ ह्रीं अर्हं अनन्तौगते नमः ॥६१०॥ अनन्त गतरङ्गी होने से आप अनन्तौजा हैं ॥६१०॥
- ॐ ह्रीं अर्हं अनन्तज्ञानाब्धये नमः ॥६११॥ ज्ञान का सागर होने से आप ज्ञानाब्धि हैं ॥६११॥
- ॐ ह्रीं अर्हं शीलसागराय नमः ॥६१२॥ शील के सागर अथवा स्वस्वभाव के सागर होने से आप शीलसागर कहलाते हैं ॥६१२॥
- ॐ ह्रीं अर्हं तेजोमयाय नमः ॥६१३॥ तेजरूप होने से आप तेजोमय हैं ॥६१३॥
- ॐ ह्रीं अर्हं अमितज्योतिषे नमः ॥६१४॥ अनन्त ज्योति के धारक होने से आप अमितज्योति कहलाते हैं ॥६१४॥
- ॐ ह्रीं अर्हं ज्योति मूर्तये नमः ॥६१५॥ तेजस्वरूप होने से आप ज्योतिमूर्ति हैं ॥६१५॥
- ॐ ह्रीं अर्हं तमोपहाय नमः ॥६१६॥ अज्ञान रूपी अन्धकार के नाश हो जाने से आप तमोपह कहलाते हैं ॥६१६॥
- ॐ ह्रीं अर्हं जगच्चूडामणये नमः ॥६१७॥ तीनों लोकों के मस्तक के रत्न होने से आप जगत् के चूडामणि कहलाते हैं ॥६१७॥
- ॐ ह्रीं अर्हं दीप्तये नमः ॥६१८॥ तेजस्वी होने के कारण अथवा प्रकाशमान होने से आप दीप्त हैं ॥६१८॥
- ॐ ह्रीं अर्हं शंवते नमः ॥६१९॥ अत्यन्त सुखी होने से आप शंवान् कहलाते हैं ॥६१९॥
- ॐ ह्रीं अर्हं विघ्नविनायकाय नमः ॥६२०॥ विघ्नों के अथवा अन्तराय कर्मों के नाश होने से आप विघ्नविनायक कहलाते हैं ॥६२०॥
- ॐ ह्रीं अर्हं कलिघ्नाय नमः ॥६२१॥ दोषों को दूर करने से आप कलिघ्न हैं ॥६२१॥
- ॐ ह्रीं अर्हं कर्मशत्रुघ्नाय नमः ॥६२२॥ कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने से आप कर्मशत्रुघ्न हैं ॥६२२॥
- ॐ ह्रीं अर्हं लोकालोकप्रकाशाय नमः ॥६२३॥ लोक और अलोक को देखने और जानने वाले होने से आप लोकालोक प्रकाशक हैं ॥६२३॥
- ॐ ह्रीं अर्हं अनिद्रानुवे नमः ॥६२४॥ निद्रा रहित होने से आप अनिद्रालु हैं ॥६२४॥
- ॐ ह्रीं अर्हं अतन्द्रालुवे नमः ॥६२५॥ प्रमाद रहित होने से आप अतन्द्रालु हैं ॥६२५॥
- ॐ ह्रीं अर्हं जागरूकाय नमः ॥६२६॥ अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए सदा जागरूक रहने से आप जागरूक कहलाते हैं ॥६२६॥
- ॐ ह्रीं अर्हं प्रमामयाय नमः ॥६२७॥ आप ज्ञानरूप होने से प्रमामय हैं ॥६२७॥
- ॐ ह्रीं अर्हं लक्ष्मीपतये नमः ॥६२८॥ मोक्षरूपी अविनाशी लक्ष्मी के स्वामी होने से आप लक्ष्मीपति हैं ॥६२८॥
- ॐ ह्रीं अर्हं जगज्ज्योतये नमः ॥६२९॥ जगत् को प्रकाशित करने से आप जगज्ज्योति हैं ॥६२९॥
- ॐ ह्रीं अर्हं धर्मराजाय नमः ॥६३०॥ धर्म के स्वामी होने से आप धर्म के राजा हैं ॥६३०॥
- ॐ ह्रीं अर्हं प्रजाहिताय नमः ॥६३१॥ प्रजा के हितैषी होने से आप प्रजाहित कहलाते हैं ॥६३१॥
- ॐ ह्रीं अर्हं मुमुक्षवे नमः ॥६३२॥ निर्वाण के दक्षिरूप होने से आप मुमुक्षु कहलाते हैं ॥६३२॥

ॐ ह्रीं अहं बंध मोक्षज्ञाय नमः ॥६३३॥ बंध और मोक्ष का स्वरूप जानने से आप बंध मोक्षज्ञ हैं ॥६३३॥

ॐ ह्रीं अहं जिताशाय नमः ॥६३४॥ आप इन्द्रियों को जीतने से जिताश हैं ॥६३४॥

ॐ ह्रीं अहं जितमन्मथाय नमः ॥६३५॥ कामदेव को जीतने से आप जितमन्मथ कहलाते हैं ॥६३५॥

ॐ ह्रीं अहं प्रशान्तरसशैलुषाय नमः ॥६३६॥ शान्तरूपी रसामृत का पान करने से आप प्रशान्तरसशैलुष कहलाते हैं ॥६३६॥

ॐ ह्रीं अहं भव्यपेटकनायकाय नमः ॥६३७॥ भव्य जीवों के समुदाय के नायक होने से आप भव्यपेटकनायक कहलाते हैं ॥६३७॥

ॐ ह्रीं अहं मूलकर्ताय नमः ॥६३८॥ धर्म के मुख्य प्रकाशक होने से आप मूलकर्ता हैं ॥६३८॥

ॐ ह्रीं अहं जगज्ज्योतिषे नमः ॥६३९॥ अनन्त ज्योति स्वरूप होने से आप जगज्ज्योति हैं ॥६३९॥

ॐ ह्रीं अहं मलघ्नाय नमः ॥६४०॥ रागद्वेषादि मल को नाश करने से आप मलघ्न हैं ॥६४०॥

ॐ ह्रीं अहं मूलकारणाय नमः ॥६४१॥ आप मोक्ष के मूल कारण होने से मूलकारण हैं ॥६४१॥

ॐ ह्रीं अहं आप्ताय नमः ॥६४२॥ यथार्थ वक्ता होने से आप आप्त हैं ॥६४२॥

ॐ ह्रीं अहं वागीश्वराय नमः ॥६४३॥ स्व प्रकाश की वाणी के स्वामी होने से आप वागीश्वर कहलाते हैं ॥६४३॥

ॐ ह्रीं अहं श्रेयसे नमः ॥६४४॥ कल्याणस्वरूप होने से आप श्रेयान् हैं ॥६४४॥

ॐ ह्रीं अहं आयसोक्तये नमः ॥६४५॥ आपकी वाणी कल्याणरूप होने से आप आयसोक्ति कहलाते हैं ॥६४५॥

ॐ ह्रीं अहं निरुक्तवाचे नमः ॥६४६॥ निःसन्देह वाणी होने से आप निरुक्तवाक् कहलाते हैं ॥६४६॥

ॐ ह्रीं अहं प्रवक्त्रे नमः ॥६४७॥ सबसे उत्तम वक्ता होने से आप प्रवक्ता हैं ॥६४७॥

ॐ ह्रीं अहं वचसामीशाय नमः ॥६४८॥ सब प्रकार के वचनों के स्वामी होने से आप वचसामीश हैं ॥६४८॥

ॐ ह्रीं अहं मारजिते नमः ॥६४९॥ कामदेव को जीतने से आप मारजित हैं ॥६४९॥

ॐ ह्रीं अहं विश्वभावविदाय नमः ॥६५०॥ संसार के समस्त पदार्थों को जानने से अथवा समस्त प्राणियों के अभिप्राय जानने से आप विश्वभाववित् कहलाते हैं ॥६५०॥

ॐ ह्रीं अहं सुतनुवे नमः ॥६५१॥ उत्कृष्ट शरीर को धारण करने से आप सुतनु हैं ॥६५१॥

ॐ ह्रीं अहं तनुनिर्मुक्ताय नमः ॥६५२॥ शरीर रहित होने से आप तनुनिर्मुक्त हैं ॥६५२॥

ॐ ह्रीं अहं सुगतये नमः ॥६५३॥ आत्मा में तल्लीन होने से अथवा सम्यग्ज्ञान धारण करने से आप सुगत हैं ॥६५३॥

ॐ ह्रीं अहं हतदुर्नयाय नमः ॥६५४॥ मिथ्यावृद्धियों की छोटी नयों का नाश करने से आप हतदुर्नय हैं ॥६५४॥

ॐ ह्रीं अहं श्रीशाय नमः ॥६५५॥ अंतरंग और बाह्यलक्ष्मी के स्वामी होने से आप श्रीश हैं ॥६५५॥

ॐ ह्रीं अहं श्रीश्रितपादाब्जाय नमः ॥६५६॥ आपके चरण कमलों की सेवा लक्ष्मी करती है इसलिए आप श्रीश्रितपादाब्ज हैं ॥६५६॥

ॐ ह्रीं अहं वीतभीराय नमः ॥६५७॥ भय रहित होने से आप वीतभीर हैं ॥६५७॥

ॐ ह्रीं अहं अभयकराय नमः ॥६५८॥ भक्त लोगों के भय दूर करने से आप अभयकर हैं ॥६५८॥

ॐ ह्रीं अहं उत्सन्नदोषाय नमः ॥६५९॥ समस्त दोषों को नष्ट कर देने से आप उत्सन्न दोष कहलाते हैं ॥६५९॥

ॐ ह्रीं अहं निर्विघ्नाय नमः ॥६६०॥ विघ्न रहित होने से आप निर्विघ्न हैं ॥६६०॥

ॐ ह्रीं अहं निश्चिन्ताय नमः ॥६६१॥ स्थिर होने से आप निश्चल हैं ॥६६१॥

ॐ ह्रीं अहं लोकवत्सलाय नमः ॥६६२॥ लोगों को अत्यन्त प्रिय होने से आप लोकवत्सल कहे जाते हैं ॥६६२॥

ॐ ह्रीं अहं लोकोत्तराय नमः ॥६६३॥ समस्त लोक में उत्कृष्ट होने से आप लोकोत्तर हैं ॥६६३॥

ॐ ह्रीं अहं लोकपतये नमः ॥६६४॥ तीनों लोकों के स्वामी होने से आप लोकपति हैं ॥६६४॥

ॐ ह्रीं अहं लोकचक्षुषे नमः ॥६६५॥ समस्त लोक की चक्षु के समान यथार्थ पदार्थों के दर्शन होने से आप लोकचक्षु हैं ॥६६५॥

ॐ ह्रीं अहं अपारधिये नमः ॥६६६॥ अनंतज्ञान को धारण करने से आप अपारधी हैं ॥६६६॥

ॐ ह्रीं अहं धीरधिये नमः ॥६६७॥ आप का ज्ञान सदा स्थिर रहता है इसलिये आप धीरधी हैं ॥६६७॥

ॐ ह्रीं अहं बुद्धसन्मार्गाय नमः ॥६६८॥ यथार्थ मोक्षमार्ग को जानने से आप बुद्धसन्मार्ग हैं ॥६६८॥

ॐ ह्रीं अहं शुद्धाय नमः ॥६६९॥ शुद्ध स्वरूप होने से आप शुद्ध हैं ॥६६९॥

ॐ ह्रीं अहं सुनृतपूतवाचे नमः ॥६७०॥ आपके वचन यथार्थ और पवित्र होने से आप सुनृतपूतवाक् हैं ॥६७०॥

ॐ ह्रीं अहं प्रज्ञाधारमिताय नमः ॥६७१॥ बुद्धि के पारगामी होने से आप प्रज्ञाधारमित हैं ॥६७१॥

ॐ ह्रीं अहं प्राज्ञाय नमः ॥६७२॥ अतिशय बुद्धिमान होने से आप प्राज्ञ हैं ॥६७२॥

ॐ ह्रीं अहं यतिये नमः ॥६७३॥ मन को जीतने से अथवा सदा मोक्षमार्ग का प्रयत्न करने से आप यति हैं ॥६७३॥

ॐ ह्रीं अहं नियमितेंद्रियाय नमः ॥६७४॥ इन्द्रियों को वश में करने से आप नियमितेंद्रिय हैं ॥६७४॥

ॐ ह्रीं अहं भवंताय नमः ॥६७५॥ आप पूज्य होने से भवंत हैं ॥६७५॥

ॐ ह्रीं अहं भद्रकृत्वे नमः ॥६७६॥ कल्याणकारी होने से आप भद्रकृत हैं ॥६७६॥

ॐ ह्रीं अर्हं भद्राय नमः ॥६७७॥ निष्कपट अथवा कल्याणस्वरूप होने से आप भद्र हैं ॥६७७॥

ॐ ह्रीं अर्हं कल्पवृक्षाय नमः ॥६७८॥ इच्छित पदार्थों के दाता होने से आप कल्पवृक्ष हैं ॥६७८॥

ॐ ह्रीं अर्हं वरप्रदाय नमः ॥६७९॥ इष्ट पदार्थों की प्राप्ति करा देने से आप वरप्रद कहलाते हैं ॥६७९॥

ॐ ह्रीं अर्हं समुन्मूलित कर्मरि नमः ॥६८०॥ कर्मरूप शत्रुओं को उखाड़ फेंक देने से आप समुन्मूलित कर्मरि कहे जाते हैं ॥६८०॥

ॐ ह्रीं अर्हं कर्मकाष्ठशुश्रूषिण्यै नमः ॥६८१॥ कर्मरूपी लकड़ी को जलाने के लिये आप अग्नि के समान हैं इसलिए आप कर्मकाष्ठशुश्रूषिणी हैं ॥६८१॥

ॐ ह्रीं अर्हं कर्मण्याय नमः ॥६८२॥ क्रिया अर्थात् चारित्र्य में नितांत कुशल होने से आप कर्मण्य हैं ॥६८२॥

ॐ ह्रीं अर्हं कर्मठाय नमः ॥६८३॥ क्रिया करने में दूरवीर अथवा सर्वथा तैयार रहने से आप कर्मठ हैं ॥६८३॥

ॐ ह्रीं अर्हं प्राशवे नमः ॥६८४॥ सबसे ऊँचे अर्थात् उत्कृष्ट या प्रकाशमान होने से आप प्राशु हैं ॥६८४॥

ॐ ह्रीं अर्हं हेयादेयविचक्षणाय नमः ॥६८५॥ त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों के जानने में चतुर होने से आप हेयादेय विचक्षण कहलाते हैं ॥६८५॥

ॐ ह्रीं अर्हं अनंतशक्तये नमः ॥६८६॥ आप में अनन्त शक्तियाँ प्रगट होने से आप अनंत शक्ति हैं ॥६८६॥

ॐ ह्रीं अर्हं अछेदाय नमः ॥६८७॥ छिन्न भिन्न करने योग्य न होने से आप अछेद हैं ॥६८७॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्रिपुरारये नमः ॥६८८॥ जन्म-मरण और मरण इन तीनों को नाश करने से आप त्रिपुरारि कहलाते हैं ॥६८८॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्रिलोचनाय नमः ॥६८९॥ ॐ ह्रीं अर्हं त्रिनेत्राय नमः ॥६९०॥

ॐ ह्रीं अर्हं त्र्यम्बकाय नमः ॥६९१॥ ॐ ह्रीं अर्हं त्र्यक्षाय नमः ॥६९२॥ भूत, भविष्यत और वर्तमान तीनों कालों के जानने और देखने से आप त्रिलोचन ॥६८९॥ त्रिनेत्र ॥६९०॥ त्र्यम्बक ॥६९१॥ तथा त्र्यक्ष कहे जाते हैं ॥६९२॥

ॐ ह्रीं अर्हं केवलज्ञानवीक्षणाय नमः ॥६९३॥ केवलज्ञान ही आप के नेत्र होने से आप केवलज्ञान वीक्षण कहलाते हैं ॥६९३॥

ॐ ह्रीं अर्हं समंतभद्राय नमः ॥६९४॥ सर्वथा मंगल स्वरूप होने से आप समंतभद्र हैं ॥६९४॥

ॐ ह्रीं अर्हं शान्तारिणे नमः ॥६९५॥ कर्मरूप शत्रुओं को नाश करने से आप शान्तारि हैं ॥६९५॥

ॐ ह्रीं अर्हं धर्माचार्याय नमः ॥६९६॥ धर्म के आचार्य होने से आप धर्माचार्य हैं ॥६९६॥

ॐ ह्रीं अर्हं दयानिधये नमः ॥६९७॥ जीवों पर अतिशय दया करने से आप दयानिधि हैं ॥६९७॥

ॐ ह्रीं अर्हं सूक्ष्मदर्शये नमः ॥६९८॥ सूक्ष्म पदार्थों को भी साक्षात् देखने से आप सूक्ष्मदर्शी कहलाते हैं ॥६९८॥

ॐ ह्रीं अर्हं जितानंगाय नमः ॥६९९॥ कामदेव को जीतने से आप जितानंग हैं ॥६९९॥

ॐ ह्रीं अर्हं कृपालुवे नमः ॥१०००॥ दयावान होने से आप कृपालु हैं ॥१०००॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मदेशकजिनाय नमः ॥१००१॥ धर्म का उपदेश देने से आप धर्मदेशक कहलाते हैं ॥१००१॥

ॐ ह्रीं अहं शुभयवे नमः ॥१००२॥ मोक्षरूप शुभ को प्राप्त करा देने से आप शुभयु हैं ॥१००२॥

ॐ ह्रीं अहं सुखसाद्भूताय नमः ॥१००३॥ सुख को अपने स्वाधीन करने से आप सुखसाद्भूत कहलाते हैं ॥१००३॥

ॐ ह्रीं अहं पुण्यराजये नमः ॥१००४॥ पुण्य का राशि (समूह) होने से आप पुण्यराशि कहे जाते हैं ॥१००४॥

ॐ ह्रीं अहं अनामयाय नमः ॥१००५॥ रोग रहित होने से आप अनामय हैं ॥१००५॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मपालाय नमः ॥१००६॥ धर्म की रक्षा करने से आप धर्मपाल हैं ॥१००६॥

ॐ ह्रीं अहं जगत्पालाय नमः ॥१००७॥ जगत् की रक्षा करने से आप जगत्पाल हैं ॥१००७॥

ॐ ह्रीं अहं धर्मसाम्राज्यनायकाय नमः ॥१००८॥ आप धर्मरूप साम्राज्य के स्वामी होने से धर्मसाम्राज्यनायक कहलाते हैं ॥१००८॥

इति अष्टोत्तर सहस्रनाम समाप्तः ॥

बोझा

वक्ष्ये शत अष्टोत्तर कहे सार्थक श्री जिननाम ।

पढ़े सुने जे भविक जन पावें सौख्य ललाम ॥१॥

इस प्रकार महा तेजस्वी श्री जिनेन्द्र देव के विद्वान् लोगों ने ये एक हजार आठ नाम संचय किये हैं । जो पुरुष इन नामों का स्मरण करता है उसकी स्मृति बहुत ही पवित्र हो जाती है ॥

इति श्री अर्हद् भगवद् गुण वर्णन समाप्तः ॥१॥

अर्थ निकल परमात्मा (सिद्ध) गुण प्रारम्भः ॥ कैसे है सिद्ध भगवान् ? वे अष्टकर्मों के अभाव से प्रादुर्भाव सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों से सुशोभित हैं ॥

अष्ट गुणनाम श्लोकः

सम्यक्त्वदर्शनं ज्ञानमनंतबीजमद्भुतम् ।

सौख्यवगाह्याव्याधाः सहागुरुलघुत्वकाः ॥१॥

सोरठा

समकित दर्शन ज्ञान, अगुरु लघुअवगाहना ।

सूक्ष्मबीरजबान, निरावाधगुणसिद्ध के ॥२॥

अर्थात् सम्यक्त्वादि अष्ट गुण सिद्ध भगवान् के मोहनीयादि कर्म के अभाव से प्रादुर्भूत व्यवहार मात्र कहे हैं । निश्चय से तो अनंतगुण हैं ।

भावार्थ—मोहनीय कर्म के अभाव से क्षांतिसम्यक्त्व प्रगट हुआ ॥१॥ दर्शनावरणी कर्म के अभाव से केवलदर्शन प्रगट हुआ ॥२॥ और ज्ञानावरणी के दूर होने से केवलज्ञान प्रगट हुआ ॥३॥ अनंत-राय कर्म के अभाव से अनंत बल प्रगट हुआ ॥४॥ आयु कर्म के अभाव से आवगाहनत्व गुण प्रगट हुआ ॥५॥

गोत्र कर्म के अभाव से अगुहलघुत्व गुण प्रगट हुआ ॥६॥ नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट हुआ ॥७॥ वेदनीय कर्म के अभाव से निराबाधत्व गुण प्रगट हुआ ॥८॥ इस प्रकार अष्ट कर्मों के अभाव से सिद्ध भगवान् निकल परमात्मा हैं उनके आठ गुण प्रगट होते हैं। उस निकल परमात्मा को मेरा बारबार नमस्कार हो। और कैसे है वे निकल परमात्मा? वे इन्द्रिय अगोचर ज्योति स्वरूप सुख पिङ्ग समुद्रवत् स्थिर हैं। अंतिम शरीर से किंचित् दून शरीराकार प्रमाण तीन लोक अग्न के भाग में तिष्ठते हैं सो उनका आकार दृष्टान्त पूर्वक जिनागम के अनुसार लिखते हैं :—

मसना हाडार का ने लगे एक वृद्धस्त जी।
साँधों करो इक मोम को फिर गारा लेप धरांत जी ॥
सुखवाय ता को अग्नि बेकर मोम काढ़त ठानिये।
पोलाखा में रहें जैसे सिद्ध आकृति जानिये ॥१॥

भावार्थ—जैसे मोम का एक पुतला नख शिख पर्यन्त समधतुरस्त संस्थानवाला पुरुषाकार बनाया जावे फिर उसके ऊपर जैसे मनुष्य की त्वचा होती है वैसे मृत्तिका लेप करके, सुखाकर अग्नि में तपाकर मोम के शरीराकार आकृति गीली मिट्टी के साँधे के मध्य केवल पुरुषाकार आकाश रह गया, वैसे ही निकल परमात्मा जो सिद्ध भगवान् है। उनका स्वरूप जानना चाहिये। आकाश तो शून्य और जड़ है और वह पूरे चेतन चिद्रूप है। इतना ही इसमें अन्तर है। आकृति में कुछ अन्तर नहीं है। इस प्रकार परम ब्रह्म का स्वरूप निराकार और साकार इस दृष्टान्त से अनुभव करना चाहिये। पुन कैसे हैं वे सिद्ध भगवान्? सिद्धालय में विराजमान हैं ज्ञान नेत्र से प्रगट होते हैं, चर्म नेत्र से दिखाई नहीं देते। सिद्ध भगवान् द्रव्यपेक्षा स्थिर और अर्थ पर्याय से उत्पाद्, व्यय, धौव्य से युक्त हैं। भावार्थ—संख्यात गुणावृद्धि अनंतगुणावृद्धि, संख्यात भाग गुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतभागगुण हानि असंख्यातभाग गुण हानि, अनंतभाग गुण हानि, ऐसे षट् पतित हानि वृद्धि अर्थ पर्याय से सिद्धों के होते हैं। और कैसे हैं सिद्ध भगवान्? ध्यान रूपी अग्नि से कर्मकाष्ठ जलाकर विकार रहित, अविनाशी अनंत-काल पर्यन्त, तीन लोक के शिरोमणि, उत्कृष्ट स्थान ऐसे लोक शिखर पर स्थित ज्ञान स्वरूप, तीन लोक के द्वारा बंदनीय सिद्ध परमात्मा को मेरा बारम्बार नमस्कार हो। इतिसिद्धगुण वर्णन समाप्त : ॥

आचार्य के गुणों का वर्णन करते हैं :—

बोहा—द्वादश तप वशधर्मयुत् पालें पंचाचार।

षट् आवश्यक त्रयगुण्तिगुण, आचारजपवसार ॥१॥

बाह्य प्रकार का तप, दस प्रकार के धर्म, पाँच प्रकार के पंचाचार, षट् आवश्यक और तीन गुण्ति इस प्रकार छत्तीस गुण आचार्य के होते हैं। ऐसे गुणों के धारक आचार्य को मैं नमस्कार करता हूँ।

प्रथम द्वादश प्रकार के तप के स्वरूप का निरूपण करते हैं :—

बोहा—अनशन ऊनोदर करें, अत संख्या रस छोरि।

विषक्ति शयनआसन धरे, कायक्लेश को ठौर ॥१॥

अनशन तप—

अर्थ—अनशन अर्थात् उपवास करना।

भावार्थ आचार्य और मुनि उपवास करते हैं, नित्य प्रति आहार नहीं करते, क्योंकि नित्य आहार करने से शरीर पुष्ट हो जाता है और शरीर के पुष्ट हो जाने से बल बढ़ता है और बल बढ़ने से इन्द्रिय बल बढ़ता है इसलिए इन्द्रियां वश में नहीं रहतीं जिससे तप का उद्यम नहीं होता इसलिए आचार्य मुनि अनशन तप धारण करते हैं।

ऊनोदर—

तप अर्थात् कम भोजन करने को ऊनोदर तप कहते हैं। भावार्थ—आचार्य व मुनि कम आहार ग्रहण करते हैं। कारण की उदर परिपूर्ण आहार करने से आलस्य अर्थात् प्रमाद बढ़ जाता है प्रमाद बढ़ने से तप, जप संयम, पठन-पाठन आदि क्रियाओं में असावधानी होती है। ऐसा समझकर आचार्य मुनि ऊनोदर तप करते हैं अर्थात् आहार कम मात्रा में लेते हैं।

व्रतिपरिसंख्यान तप—

अर्थात् आहार के विषय में अटपटी वृत्ति लेकर विचरना।

भावार्थ—जब आचार्य या मुनि आहार के लिए वन से गमन करते हैं तब ऐसी वृत्ति विचारे कि आज हम एक, दो, चार या पाँच घर में ही आहार के लिए जायेंगे अथवा किसी एक मुहल्ले में ही जायेंगे, इतने में यदि भिक्षा मिल गयी तो आहार लेंगे अन्यथा नहीं लेंगे तथा मिट्टी के कलश, चाँदी के कलश, पीतल के कलश, ताँबे के कलश आदि जहाँ मिलेंगे तो उस घर में जायेंगे, मैदान में या अमुक स्थान में अमुक भोजन मिलेगा तब आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा नहीं। इस प्रकार की अटपटी वृत्ति लेकर वन से गमन करना और नियमानुसार यदि आहार की विधि न मिले तो पुनः वन में वापिस लौट कर उपवास करना। इस प्रकार के नियम को व्रतिपरिसंख्यान कहते हैं ॥३॥

रस परित्याग तप—

इन्द्रियों को दमन करने के लिए, संयम की रक्षा के लिये, जिह्वेन्द्रिय की लोलुपता के निवारण के लिए दूध, घी, दही, तेल, शक्कर नमक आदि रसों का यथासमय त्याग करना रसपरित्याग तप है ॥४॥

विविक्तशय्यासन—

जीवों की रक्षा करने के लिए प्रासुक स्थान में जैसे मठ, गुफा, पर्वत तथा बनखंडादि एकान्त स्थान में जहाँ पर ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान, पठन, पाठनादि क्रियाओं में विघ्न न हो, वहाँ पर शयन तथा आसन करना विविक्त शय्यासन तप है ॥५॥

कायक्लेश तप—

शरीर के सुख स्वभाव को मिटाने के लिए तथा दुःख प्राप्त होने पर कायरता न होने के लिए शरीर को याशक्ति कष्ट देते रहना अर्थात् शरीर का ममत्व भाव त्याग करना, जैसे उष्ण ऋतु में सूर्य के सम्मुख होकर तप करना तपे हुए पहाड़ पर जा कर तपकरना कायक्लेश तप है ॥६॥ ये छह प्रकार के तप बाह्य तप हैं तथा लोगों को दिखाई देने के कारण बाह्य तप कहलाते हैं उपर्युक्त छह बाह्य तपों का पालन करने वाला ही आभ्यन्तर तपों का सम्यक प्रकार से पालन कर सकता है इसलिए सबसे पहले बाह्य तप का वर्णन किया गया।

अब छह प्रकार आभ्यन्तर तप का वर्णन करते हैं—

बोहा—प्रायश्चित्त विनय धरं संयावृत स्वाध्याय।

पुनर्व्यसर्ग विचारके, धरं ध्यान मन लाय ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त १. विनय २. वैयावृत्य ३. स्वाध्याय ४. व्युत्सर्ग ५. और ध्यान ६. ये छह अभ्यन्तर तप कहलाते हैं ।

प्रमाद अर्थात् आलस्य से जो दोष लगा हो उसे दूर करने के लिए ध्यान करना तथा गुरु से निवेदन करके दंडादि लेना प्रायश्चित्त तप है ॥१॥ पूज्य पुरुषों का आदर सत्कार करना विनय तप है ॥२॥ मुनि आदि के रोगादि से ग्रस्त होने पर उनकी सेवा टहल करना वैयावृत्य तप है ॥३॥ आलस्य को त्याग कर ध्यानाध्ययन करना व उपदेश देना स्वाध्याय तप है ॥४॥ धन धान्यादि बाह्य परिग्रह तथा अंतरंग क्रोधादि परिग्रह को छोड़कर शरीर से ममत्व का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है ॥५॥ चित्त-वृत्ति को सब तरफ से संकोच कर एक ओर चित्त को स्थिर करना ध्यान तप है ॥६॥ इस प्रकार से छह तप हैं आगे हम इन तपों के भेद कहते हैं :

सबसे पहिले प्रायश्चित्त के नौ भेदों का विवेचन करते हैं प्रायश्चित्त के आलोचना १. प्रतिक्रमण २. तदुभय अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण ये दोनों ३. विवेश ४. व्युत्सर्ग ५. तप ६. छेद ७. परिहार ८. तथा उपस्थापना ९. ये नौ प्रकार हैं । मूलगुणों में यदि कोई दोष लग जाए तो उसका बारम्बार चिन्तन करते हुए अपने को धिक्कारना आत्मनिन्दा करना गुरु के दिक्कत करने किता हुआ दोषों को स्पष्ट रीति से कहना आलोचना है ॥१॥ मैंने जो प्रमादवश अपराध किया है, मेरे सामायिक आदि करने में जो दोष लगा हो वह मिथ्या हो इस प्रकार कहना प्रतिक्रमण है ॥२॥ कोई दोष हो जाय तो आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाता है और कोई दोष प्रतिक्रमण करने से शुद्ध होता है और कोई दोनों के करने से शुद्ध होता है । इस प्रकार आलोचना और प्रतिक्रमण करने को उभय प्रायश्चित्त कहते हैं ॥३॥ आहार पान उपकारणादि का किसी नियमित समय तक त्याग कर देना विवेक प्रायश्चित्त है । विवेक अर्थात् त्याग की हुई वस्तु यदि अनजान से उदय में आ जाय तो उसे न लेना और इस प्रकार का विचार करके आहार ग्रहण करना विवेश है ॥४॥ काल का परिमाण करके कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है ॥५॥ अनशन आदि तप अथवा देना, लेना आदि उपवास करना प्रायश्चित्त तप है ॥६॥ दिन पक्ष, मास संवत्सरादि का परिमाण कर दीक्षा का छेद करना छेद प्रायश्चित्त है ॥७॥ पक्ष मासादि के नियम से संघ से पृथक् कर देना परिहार प्रायश्चित्त है ॥८॥ समस्त दीक्षा को छेद कर पुनः दीक्षा को देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है ॥९॥ इस प्रकार प्रायश्चित्त के नौ भेद जानने चाहिए ।

दूसरा अभ्यन्तर विनय तप है । जिसके दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र्य विनय और उपचार विनय ऐसे चार भेद हैं । निःशक्ति आदि दोष रहित सम्यग्दर्शन की आराधना करना दर्शन विनय है ॥१॥ प्रमाद रहित होकर शुद्ध मन से अत्यन्त सम्मान पूर्वक जिन सिद्धान्त को पढ़ना ज्ञान विनय है ॥२॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के धारी पाँच प्रकार के चरित्र को पालन वाले मुनिजनों से प्रेम करना चारित्र्य विनय है ॥३॥ आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखते ही खड़े हो जाना, सन्मुख जाकर हाथ जोड़ना, उनके पीछे-पीछे गमन करना, मन से उनका गुणगान करना तथा बार-बार उनका स्मरण करना उपचार विनय है । तीसरा वैयावृत्य तप है । आचार्य १. उपाध्याय २. तपस्वी ३. शैशिक्ष ४. खलन ५. गण ६. कुल ७. संघ ८. साधु ९. और मनोज्ञ १०. इन दस प्रकार के साधुओं की वैयावृत्य करना अर्थात् शरीर सम्बन्धी व्याधि अथवा दुष्ट जीवों द्वारा किये हुए उपसर्गादि के समय सेवा करना ये दस प्रकार के वैयावृत्य हैं ।

चौथे तप स्वाध्याय के पांच भेद हैं—निर्दोष ग्रन्थ का तथा उसके अर्थ का स्वयं पठन करना वांचना स्वाध्याय है ॥१॥ पठन करते हुए जहाँ संशय हो, उसको बड़े जानियों से प्रश्न करके अपनी शंका को दूर कर लेना पृच्छना स्वाध्याय है ॥२॥ विचार द्वारा तथा गुरुजनों से जाने समझे हुए तत्त्व को बारम्बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है ॥३॥ जो विचार करके निर्णय किया हो उसको आचार्यों के वाक्यों से मिलाकर ग्राम्नाय स्वाध्याय है ॥४॥ उन्मार्ग को दूर करने के लिए पदार्थों का समीचीन स्वरूप प्रकाश करना, उपदेश रूप कथन करना धर्मोपदेश स्वाध्याय है ॥५॥

पाँचवां व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का है—एक बाह्योपधित्याग है ॥१॥ क्रोधादि अतरंग परिग्रहों का त्याग आभ्यन्तरोपधित्याग तप है ॥२॥

छठा ध्यान नामक आभ्यन्तर तप ध्यान पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन भेदों से चार प्रकार का है। प्रथम लोक के स्वरूप का चिंतन, पाताल, मध्य, नरकादिक का चिंतन, मध्य लोक में द्वीप, क्षेत्र, पर्वतादि का चिंतन, ऊर्ध्वलोक के स्वर्गादि का चिंतन, करना पिंडस्थ ध्यान है ॥१॥ अपने हृदय के मध्य कमल स्थापन कर उसमें कणिका की स्थापना करें, कणिका के मध्य में ओंकार स्थापन कर उन कणिकाओं में स्वर-व्यंजन स्थापन करके ध्यान करना पदस्थ ध्यान है ॥२॥ संभवशरणादिक विभूति सहित सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान धातिया कर्म रहित अनन्त चतुष्टय संयुक्त परहंत भगवान् के स्वरूप का चिंतन करना रूपस्थ ध्यान है ॥३॥ सब कर्मों से रहित, पीद्गलिक मूर्तिक शरीर से रहित, अनन्त गुणों के भंडार ऐसे भगवान् सिद्ध परमात्मा का जो ध्यान करता है सो रूपातीत ध्यान है ॥४॥ ऐसे बारह प्रकार के तप का वर्णन किया। आगे दश प्रकार का जो धर्म आचार्य आचरण करते हैं, उसे लिखते हैं—

दोहा—क्षमारुमादं व आर्जवा, सत्य शौचतापाग।

संयम तप त्यागी सरब, आकिंचनतियत्याग ॥१॥

अर्थ—१. उत्तम क्षमा, २. मार्दव, ३. आर्जव, ४. सत्य, ५. शौच, ६. संयम, ७. तप, ८. त्याग, ९. आकिंचन्य और १०. ब्रह्मचर्य ऐसे दश प्रकार के धर्म हैं। दुष्ट मनुष्यों के द्वारा तिरस्कार, हास्यादि क्रोध की उत्पत्ति के कारण होने पर भी, सम्यग्ज्ञान पूर्वक अपनी दण्ड देने की शक्ति होते हुए भी अपराध को क्षमा करना उत्तम क्षमा है ॥१॥ सम्यग्ज्ञान पूर्वक अभिमान के कारण होते हुये भी गर्व न करना उत्तम मार्दव है ॥२॥ मन, वचन, काय की कुटिलता त्याग कर सरल रूप से रहना उत्तम आर्जव है ॥३॥ पदार्थों का स्वरूप ज्यों का त्यों वर्णन करना और प्रशस्त वचन अर्थात् धर्म के अनुकूल स्व पर हितकारी वचन बोलना सत्य है ॥४॥ आत्मा को कषायों द्वारा मलिन न होने देना उत्तम शौच है ॥५॥ इन्द्रिय और मन को विषयों से रोकना और षड् प्रकार के जीवों की रक्षा करना उत्तम संयम है ॥६॥ सांसारिक विषयाभिलाषा तजकर धनशनादि द्वादश प्रकार का तप करना उत्तम तप है ॥७॥ अन्धान्यादिक का त्याग बाह्य त्याग और द्वेषादिक को छोड़ना अंतरंग तप है ॥८॥ आत्मस्वरूप से भिन्न शरीरादिक में ममत्व रूप परिणामों का अभाव उत्तम आकिंचन्य है ॥९॥ स्त्री मात्र से चित्त घटाकर अपना ब्रह्म जो आत्मा है उसमें चित्त का स्थिर करना सो उत्तम ब्रह्मचर्य है ॥१०॥ ऐसे दश प्रकार उत्तम धर्म का प्रतिपादन किया है।

अब पंचाचार और तीनगुप्ति का वर्णन करते हैं :—

बोहा—दर्शन ज्ञान चारित्र्य तप, वीरज पंचाचार ।

तोनों मन बन्ध काय सो, आचारज सुखकार ॥

अर्थ—भावकर्म, द्रव्यकर्म, लोकर्म आदि समस्त पदार्थों से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान करना तथा इसकी उत्पत्ति के कारण षड् द्रव्य, सप्त तत्त्व अथवा सुगुरु, सुदेव, सुधर्म का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । इस सम्यग्दर्शन रूप प्रवृत्ति को दर्शनाचार कहते हैं ॥१॥ शुद्ध चैतन्य आत्मा को मिथ्यात्व, रागादि पर भावों से पृथक् जानकर उपाधि रहित जानना तो सम्यग्ज्ञान है । इस सम्यग्ज्ञान रूप प्रवृत्ति को ज्ञानाचार कहते हैं ॥२॥ उपाधि रहित शुद्धात्मा के स्वाभाविक सुखास्वाद में निश्चल चित्त होना अथवा संसार के कारण भूत हिसादि पापों का अभाव करना सम्यक्चारित्र्य है । इस सम्यक्चारित्र्य रूप प्रवृत्ति को चारित्र्याचार कहते हैं ॥३॥ समस्त पर द्रव्यों से इच्छा रोककर अनशनादि रूप प्रवर्तन करना तप है । इस तपरूप आचरण को तपाचार कहते हैं ॥४॥ पूर्वोक्त कहे चार प्रकार के आचारों के रक्षण करते में शक्ति न छिपाना अथवा परिग्रह आने पर भी इनसे च्युत नहीं होना वीर्य है । इस वीर्य रूप प्रवृत्ति को वीर्याचार कहते हैं ॥५॥ मन से राग द्वेष रूप परिणामों का परिहार करना मनोगुप्ति है ॥१॥ असत्य वचन का परिहार कर मौनपूर्वक ध्यान अध्ययन आत्मचितवननादि करना वचन-गुप्ति है ॥२॥ हिसादि पापों से निवृत्तिपूर्वक तथा काय सम्बन्धी कुचेष्टा की निवृत्ति कर कायोत्सर्ग धारण करना काय गुप्ति है ॥३॥

॥अथ षडावश्यकर्मात्म ॥

बोहा—समताधर बंदन करें, नानास्तुति बनाय ।

प्रतिक्रमण स्वाध्याययुत, कायोत्सर्ग लगाय ॥१॥

अर्थ—भेदज्ञान पूर्वक सांसारिक पदार्थों को अपने आत्मा से पृथक् जानकर जीवन मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख में समान भाव रखना तथा शुभाशुभ कर्मों के उदय में राग द्वेष रूप परिणामों को न करना समता है ॥१॥

चतुर्विंशति तीर्थकरों में से एक तीर्थकर की या पंचपरमेष्ठी में से एक की मुख्यता कर मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक स्तुति करना बंदना है ॥२॥ मुख्यता बिना चौबीस तीर्थकरों की अथवा पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना स्तवन है ॥३॥ आहार, शरीर, शयन, आसन, गमनागमन और चित्त के व्यापार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आश्रयभूत काल में लगे हुये व्रत सम्बन्धी अपराधों को शोधना, निन्दा गृहीयुक्त अपने अशुद्ध परिणाम पूर्वक किये हुए दोषों का परित्याग करना प्रतिक्रमण है ॥४॥ काय से निर्ममत्व होकर खड़े हुए या बैठे हुए शुद्धात्म का चितवन करना कायोत्सर्ग है ॥५॥ वाचना, पृच्छनादि पंच प्रकार शास्त्रों का अध्ययन अथवा शुद्धात्मा चितवन करना स्वाध्याय है ॥६॥ इस प्रकार आचार्य के अनशनादि बारह तप, उत्तम क्षमादि दशधर्म, दर्शनाचारादि पंचाचार, समता बंदनादि षडावश्यक कर्म तथा त्रिगुप्ति सहित गुणों का धर्मेन किया । इन छत्तीस गुणों के अतिरिक्त आचार्य अवपीडक अपरिश्रायी आदि अष्ट गुणयुक्त होते हैं और अपने संघ के मुनि समूह को लगे हुए दोषों का प्रायश्चित और धर्मोपदेश, शिक्षा-दीक्षा देते हैं ।

अब यहां प्रसंगवश आचार्य शिष्य को कैसे, कौन से काल में और कौन से देश काल को त्याग कर दीक्षा देते हैं सो कहते हैं :—

प्रथम मुनि धर्म के धारण करने योग्य पुरुष का लक्षण कहते हैं—मुनि धर्म का धारण करने वाला पुरुष उत्तम देश का उत्पन्न हुआ हो। उत्तम वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, शूद्र न हो, क्योंकि जाति का असर भी कुछ न कुछ भवश्य रहता है। उत्तम कुल और उत्तम गोत्र का हो। शरीर के अंगोपांग शुद्ध हों और अन्धा, बधिर, लूला, लंगड़ा, कुबड़ा आदि दोषों से रहित हो। कुष्ठ, उन्माद, मृगी, मूर्छादि बड़े रोगों से रहित हो। राज्य विरुद्ध तथा लोक विरुद्ध आचरण का धारक न हो। कषायों से रहित हो अर्थात् मन्द कषायी हो। पंचेन्द्रिय के विषय भोगों में अरुचि करने वाला हो। शुभ चेष्टा वा उत्तम प्रवृत्ति का धारक शुभाचरण पालने वाला, हास्य, कौतूहल से उपराम वृद्धि वाला, मोक्ष का इच्छुक महावीरार्य परिणामी ऐसा शिष्य संघ में कुशलता और धर्मवृद्धि का कारण दीक्षा देने योग्य होता है। ऐसे मुमुक्षु को आचार्य योग्य, अयोग्य समय विचार कर दीक्षा देते हैं। आचार्य जो देश अवसर प्राप्त होने पर मनुष्य को दीक्षा नहीं देते, उनके नाम इस प्रकार हैं।

जहाँ पर प्रथम ग्रहारीय अर्थात् कोई अशुभ ग्रह हो तो दीक्षा नहीं देते ॥१॥ सूर्यग्रहण, ॥२॥ चन्द्रग्रहण ॥३॥ इन्द्र धनुष ॥४॥ इसका उल्टा ग्रह अर्थात् वक्री ग्रह आया हो ॥५॥ आकाश में घ के बादलों से आच्छादित हो रहा हो ॥६॥ तथा उसको वह महीना कष्टदायक हो ॥७॥ अधिक मास हो ॥८॥ संक्रान्ति अर्थात् उसी दिन सूर्य उस राशि से दूसरी राशि पर बदलने वाला हो ॥९॥ असंपूर्ण तिथि हो ॥१०॥ इन दश कारणों का परित्याग कर निमित्तज्ञान के वेत्ता आचार्य शुभ मास, शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभयोग, शुभ मुहूर्त, शुभग्रह देख शुभ लग्न में शिष्य को दीक्षा देते हैं ॥ और स्वयं पंचाचार पालते तथा संघ के सब मुनि समूह को प्रवर्तते हैं ॥ जिस प्रकार राजा प्रजा की कुशलता की वृद्धि तथा रक्षा करता है उसी प्रकार ये अपने संघ के आचार और रत्नत्रयादि की रक्षा और वृद्धि करते हैं इसलिये इनको संघपति भी कहते हैं। और ये अपना शरीर भी बहुत वृद्ध तथा इन्द्रिय शिथिल होता जानकर अधिक से अधिक बारह वर्ष पहले से समाधिमरण करने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का समागम मिलाते हैं और अपने संघ का राग घटाने के लिए त्याग कर पर संघ में जाकर अपवित्र शरीर के निमित्त कुछ भी ममत्त्व न कर रत्नत्रय धर्म की रक्षा के लिए कायकषाय को कृश करते हुए द्वादशानुप्रेक्षा की आराधना युक्त पंचपरमेष्ठी के स्वरूप तथा आत्मध्यान में लवलीन हो देह सजते हैं।

॥ अथ उपाध्याय गुण प्रारम्भ ॥

बोहा— चौदह पूर्व में धरें, ग्यारह अंग सुजान।

उपाध्याय पंचवीस गुण पढ़े पढ़ावे ज्ञान ॥१॥

अर्थ—ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का पाठोपना इन पञ्चीस गुणों से युक्त उपाध्याय, जिस प्रकार अध्यापक शिष्यों को पठन पाठन के द्वारा ज्ञान की वृद्धि कराता है और स्वयं उस ज्ञान की वृद्धि के लिए पठन-पाठन करता है उसी प्रकार उपाध्याय सब संघ को अंग पूर्वदि शास्त्रों का ज्ञान कराते और स्वयं पठन-पाठन करते हैं। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी मेरे ज्ञान की वृद्धि करें।

॥ अथ ग्यारह अंग नाम ॥

बोहा—

प्रथमहि आचारंग गिन, ब्रूजा सूत्र कृतांग।

स्वानांग तीजा सुभग, चौथा समवायांग ॥

व्याख्याप्रज्ञप्ति पंचमो, ज्ञातृकथा षट् ज्ञान ।
 पुनि उपासकाध्ययन, अन्तः कृतदश ठान ॥२॥
 अनुसरण उपपाददश, सूत्र विपाक पिछान ।
 ग्यारह प्रश्नव्याकरणकुत्त, ग्यारह अंग प्रमाण ॥३॥

अर्थ—आचारांग १, सूत्रकृतांग २, स्थानांग ३, समवायांग ४, व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग ५, ज्ञातृधर्म-
 कथांग ६, उपासकाध्ययनांग ७, अन्तः कृतदशांग ८, अनुत्तरोपपादकदशांग ९, प्रश्नव्याकरणांग १०, और
 विपाक सूत्रांग ११ ये ग्यारह अंग हैं । अब प्रकरण वश यहाँ पर द्वादशांग तथा चौदह पूर्वों में से किस-किस
 पूर्व में कितने-कितने पद हैं तथा उनमें किस-किस विषय का वर्णन है, उसे संक्षेप में लिखा जाता है ।
 प्रथम आचारांग अठारह हजार पद का है । इसमें यती के धर्म का वर्णन है ।

विशेष सूचना—इस जिनवाणी की संख्या मध्यम पद से जाननी चाहिये । पद तीन प्रकार के
 होते हैं । अर्थपद, प्रमाण पद और प्रमाण अध्ययनपद । इनमें से शास्त्र को वेष्टन में बांधो, वह पुस्तक
 लाओ' इत्यादि अनियमित अक्षरों के समुदाय रूप किसी विशेष के बोध वाक्य को अर्थ पद कहते हैं ।
 आठ आदिक अक्षरों के समुदाय को प्रमाण पद कहते हैं । जैसे श्लोक के एक चरण में आठ अक्षर होते हैं ।
 इसी प्रकार अन्य शब्दों के पदों में भी अक्षरों का न्यूनाधिक प्रमाण होता है, परन्तु गाथा में कहे हुए पद
 के चार अक्षरों का प्रमाण सदैव के लिए निश्चित है, इसी को मध्यम पद कहते हैं । एक मध्यम पद में
 सोलह सौ चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षर होते हैं । १॥ दूसरा सूत्र-
 कृतांग छत्तीस हजार पद का है । उसमें स्व समय और पर समय का विशेष वर्णन है । २॥ तीसरे स्थानांग
 के ब्यालिस हजार पद हैं । इसमें से एक से दस तक गिनती का व्याख्यान है जैसे एक केवलज्ञान, एक
 मोक्ष, एक आकाश, एक अधर्म इत्यादि और दो दर्शन ज्ञान, अथवा राग द्वेष, इत्यादि, तीन रत्नत्रय,
 तीन सत्य, तीन दोष, तीन प्रकार कर्म, तीन वेद इत्यादि । चार गति, चार अनन्त चतुष्टय, चार कषाय
 इत्यादि । पंच महाव्रत, पंचस्तिकाय, पंच प्रकार का ज्ञान इत्यादि अष्ट द्रव्य, पट्लेश्या, आदि । सप्त
 तत्त्व, सप्त व्यसन, सप्त नरक आदि । अष्ट कर्म, अष्ट मद, अष्ट गुण, अष्ट ऋद्धि, अष्टांग निमित्त ज्ञान,
 इत्यादि । नव पदार्थ, नवधा शील, नवधा भक्ति इत्यादि । दश प्रकार धर्म, दशधा परिग्रह, दश दिशा
 इत्यादि की चर्चा तीसरे स्थानांग में है । ३॥ चौथा समवायांग एक लाख चौसठ हजार पद का है । इस
 में द्रव्यादिक की तुल्यता का वर्णन है कि कोई द्रव्य किसी से न्यून नहीं । तभी द्रव्य सत्ता लक्षण से समान
 हैं । धर्म, अधर्म जीव और लोकाकाश प्रदेशों के समान हैं । यह तो द्रव्य की तुल्यता का वर्णन हुआ और
 क्षेत्र में ढाई द्वीप । प्रथम स्वर्ग का ऋजु विमान । प्रथम नरक का सीमंतक नामा बिल और सिद्धशिलाएँ
 पैतालिस २ लाख योजन के हैं । यह क्षेत्र समानता कही । दश कोड़ाकोड़ी सागर की एक उत्सर्पिणी और
 दस कोड़ाकोड़ी सागर की एक अवसर्पिणी यह काल की समानता का वर्णन हुआ ।
 ज्ञान की अनंतता और दर्शन की अनन्तता यह भाव की सत्यता कही गयी । इस भांति समवायांग
 में निरूपण किया है । ४॥ पाँचवां व्याख्या प्रज्ञप्ति दो लाख अट्ठाईस हजार पद का है । इसमें सांसारिक
 विषय सुख से विरक्त शिष्य के जीव है या नहीं, वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है, नित्य है या अनित्य,
 एक है या अनेक, इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का विस्तार पूर्वक व्याख्यान है । ५॥ छठा ज्ञातृ धर्म कथांग
 पाँच लाख छप्पन हजार पद का है । इसमें जीवादि वस्तुओं का स्वभाव, तीर्थंकरों का महात्म्य, उनकी
 दिव्य ध्वनि का समय तथा महात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दसविध धर्म, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय धर्म का

स्वरूप इत्यादि जिनधर्मों की अमृत कथा का कथन है ॥६॥ सातवां उपासकाध्ययनांग ग्यारह लाख सत्तर हजार पद का है। इसमें धावक के सम्पूर्ण व्रतों का वर्णन है ॥७॥ आठवां अंतः कृद्दशांश तीस लाख अष्टावन हजार पद का है। इसमें प्रत्येक तीर्थकर के तीर्थ में (एक तीर्थकर का तीर्थ कहते हैं) जो दश-दश भुक्ति चार प्रकार का तीर्थ उपसर्ग सहज करके संसार के अन्त को प्राप्त हुए अर्थात् अन्तः कृत केवली हुए हैं उसका वर्णन है। अन्तः कृत केवली कहने का भाव यह है कि जिनका केवल कल्याणक और निर्वाण कल्याणक साथ हो अर्थात् आयु का अन्त होने पर ही केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ॥८॥ नवमां अनुत्तरोपपादक दशांग बानवे लाख चवासीस हजार पद का है उसमें एक एक तीर्थकर के तीर्थ में दश-दश भुक्ति उपसर्ग जीतकर नव अनुदिश, पंच अनुत्तर को प्राप्त हुए उन का कथन है। उपसर्ग दश प्रकार का है उनका व्योरा इस प्रकार का है—

तीन प्रकार मनुष्य कृत स्त्री १, पुरुष २, नपुंसक ३, तीन प्रकार तिर्यचकृत स्त्री ४, पुरुष ५, नपुंसक ६, नपुंसक देवों में नहीं होते। इससे दो प्रकार के देवकृत देव ७ और देवांगना ८, स्वशरीर कृत ९ तथा दशवां अचेतन, पन्थरादिक अचेतन कृत उपसर्ग होता है ॥१०॥ ऐसे दस प्रकार के उपसर्ग को शुद्धात्मवादी मुनि जन ही जीतते हैं ॥११॥ दशवां प्रश्न व्याकरणांग निगानवे लाख सोलह हजार पद का है। इसमें अपेक्षिणी १, विक्षेपिणी २, संवेगिनी ३, और निर्वैदिनी ४। ऐसे चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है ॥१०॥ ग्यारहवां विपांग सूत्रांग एक करोड़, चौरासी लाख पद का है। इसमें कर्मों के विपाक अर्थात् उदय का वर्णन है ॥११॥

इन ग्यारह अंगों के सर्व पद चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार हैं।

इति ग्यारह अंग वर्णन ॥

बारहवां अष्टिवादांग। एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पस हजार पांच पद का है। इस में तीन सौ तिरसठ कुत्रादियों का कथन है। इसमें पहले क्रियावादियों के मूल भेद एक सौ अस्सी हैं। दूजे अक्रियावादियों के चौरासी भेद, तीसरे अज्ञानवादियों के सड़सठ भेद, चौथे विनयवादियों के बीस भेद, ऐसे समस्त भेद तीन सौ तिरसठ हुए।

अब प्रथम एक सौ अस्सी क्रियावादियों का कथन करते हैं—नियत कहिये निश्चय स्वभाव कहिये वस्तु का स्वभाव, काल कहिए समय, दैव कहिये पूर्वकर्म का उदय और पौरुष कहिये उद्यम ये पांच, स्व कहिए आप, पर कहिए दूसरा, नित्य कहिए स्थिर, अनित्य कहिए अस्थिर, इन चारों से गुणा करने पर बीस भेद होते हैं। इन बीसों को नव पदार्थों से गुणा करने पर एक सौ अस्सी होते हैं। यह क्रियावादियों के भेद हैं। ये एक एक अंश का बल ग्रहण कर वाद करने वाले हैं ॥१॥

अक्रियावादियों के भेद जीवादिक सात तत्त्वों का स्वतः कहिए आपसे और परसे गुणा कीजिए तो चौदह भेद होते हैं। इन चौदहों को नियत, स्वभाव काल दैव पौरुष इन पांचों से गुणा करने पर सत्तर भेद होते हैं। नियत, काल ये दो भेद स्वतः सप्त तत्त्वों से गुणा करने पर चौदह भेद हुए। पूर्वोक्त सत्तर और चौदह भेद मिलाने पर समस्त चौरासी भेद अक्रियावादी के होते हैं ॥२॥ मोक्ष के उपाय से विमुख, उदय को मुख्य मानकर पौरुष नहीं करते और एक एक स्थल का आलंबन ग्रहण करके वाद करते हैं ॥

अज्ञानवादी के भेद :

नव पदार्थों को सप्तभंगों से गुणा करने पर तिरेसठ होता है। सप्तभंग स्वरूप का वर्णन — प्रथम भंग स्यात् अस्ति कहिए कथंचित् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जीवादि द्रव्य है ॥१॥ दूसरा भंग स्यादनास्ति कहिए कथंचित् पर द्रव्य पर क्षेत्र, पर काल और परभाव की अपेक्षा नहीं है ॥२॥ तीसरा भंग स्यादस्तिनास्ति कहिए एक ही अस्तिनास्ति है इससे अस्ति नास्ति उभयरूप है ॥३॥ चौथा भंग स्यादवक्तव्य कहिए वचन से अगोचर है । + अस्ति कहिए तो नास्ति का अभाव और नास्ति कहिए तो अस्ति का अभाव इससे अवक्तव्य है ॥४॥ पाँचवाँ अस्ति अवक्तव्य कहिए स्वभाव से तो है, किन्तु वचन अगोचर है । अस्ति कहिए तो नास्ति के अभाव से अवक्तव्य है ॥५॥ छठवाँ भंग स्यात् नास्ति अवक्तव्य कहिए जीवादि तत्वों परभाव की अपेक्षा नहीं है, परन्तु नास्ति ही कहिए तो अस्ति के अभाव से अवक्तव्य है ॥६॥ सातवाँ भंग अस्ति नास्ति अवक्तव्य कहिए जीवादि पदार्थ अस्ति नास्ति है, परन्तु कहने में अनुक्रम से आते हैं, एक साथ नहीं कहे जाते अतः अस्ति नास्ति अवक्तव्य है ॥७॥ विज्ञानवादी के प्रश्न को एक सदभावपक्षी कोई सत्यासत्य पक्षी और कोई अवक्तव्य पक्षी ऐसे इन चारों से पूर्वोक्त सरसठ भेद होते हैं । ये भी तत्व के यथार्थ ज्ञान से शून्य एक एक अंश को ग्रहण करवाकर एक एक नय का बल लेकर वाद करते हैं ॥३॥

विनयवादी के भेद—

मन, वचन, काय और दान से आठ प्रकार के विनय को गुणा करें तो बत्तीस भेद होते हैं । आठ विनय के नाम—माता १, पिता २, देव ३, नृप ४, जाति ५, बाल ६, वृद्ध ७, और तपस्वी ८, इन आठों का मन, वचन और काय से दान सत्कार करना, इस भाँति विनयवादी के बत्तीस भेद कहे हैं ॥

भावार्थ—यह जान कि विनय करना तो जिनधर्म का मूल है, परन्तु विनयवादी के भेद को जानकर मूर्तिमात्र को देव, भेष मात्र को गुरु, पत्र तथा अक्षर मात्र को शास्त्र और जल मात्र को तीर्थ मानते हैं और स्वरूपज्ञान से शून्य होते हैं । इस प्रकार वादियों का कथन है जिसमें ऐसे दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के पाँच भेद हैं ।

पहला परिकर्मक १, दूसरा सूत्र २, तीसरा प्रथमानुयोग ३, चौथा पूर्व ४, और पाँचवा चूलिका ॥५॥ परिकर्मक के पाँच भेद हैं—पहला भेद चन्द्रप्रज्ञप्ति है १, छत्तीस लाख पाँच हजार पद का है । उसमें चन्द्रमा के भोगादि का वर्णन है ॥१॥ दूसरा भेद सूर्यप्रज्ञप्ति २, पाँच लाख तीन हजार पदों का है । उसमें सूर्य के योगादिक सम्पदा का वर्णन है ॥२॥ तीसरा भेद जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ॥३॥ तीन लाख पन्चीस हजार पद का है ।

उसमें जम्बू द्वीप का विस्तार सहित वर्णन है ॥३॥ चौथा भेद द्वीपोदधिप्रज्ञप्ति ४, बावन लाख छत्तीस हजार पद का है । उसमें सम्पूर्ण द्वीप समुद्रों का वर्णन है ॥४॥ पाँचवा भेद व्याख्याप्रज्ञप्ति ५, चौरासी लाख छत्तीस हजार पद का है । उसमें पुद्गल द्रव्य स्मृतिक और जीवादिक पाँच अस्मृतिक इन षष्ठद्रव्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन है ॥५॥ ऐसे समस्त परिकर्म के एक करोड़ इक्यासी लाख पाँच हजार पद हैं ।

पुनः दृष्टि-वादांग का दूसरे भेद सूत्र के अठासी लाख पद हैं । उनके प्रथम भेद में ब्रह्म के अभाव का कथन, दूजे भेद में श्रुति स्मृति, पुराण का अर्थ, श्रुति कहिए केवली को दिव्य ध्वनि, स्मृति कहिए गणधरों की वाणी, पुराण कहिए मुनियों के वचन, तीसरे भेद में नियत कहिए निश्चय का कथन और चौथे भेद में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का निरूपण ये नाना भेद सूत्र में हैं । बारहवें अंग का तीसरा भेद प्रथमानुयोग पाँच हजार पद का है । इसमें तिरेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन है । बारहवें दृष्टि-वादांग का चौथा भेद पूर्व है । वह चौदह प्रकार का है । अथ चौदह पूर्व नाम ॥

बोहा—उत्पाद पूर्व अग्रायणी, तीजा वीरजवाद ।

अस्ति नास्ति परवाद पुनि पंचम ज्ञान प्रवाद ॥१॥

षष्ठम कर्म प्रवाद है सत्यज्ञान पहिचान ।

आत्मवाद है आठवां, नवमीं प्रत्यास्थान ॥२॥

विद्यानुवाद पूरबदशम, पूर्वकल्याण महंत ।

प्राणवाद क्रियावाद है लोकवाद है अन्त ॥३॥

अर्थ - पहला उत्पाद पूर्व एक करोड़ पद का है । उसमें द्रव्य के उत्पाद, व्यय और औव्य का वर्णन है ॥१॥ दूसरा अग्रायणीपूर्व छयानधे लाख पद का है । उसमें चौदह वस्तुओं का वर्णन है चौदह वस्तुओं के नाम इस प्रकार है :-

पूर्वांत, अपरांत, ध्रुव, अध्रुव, अच्यवनलब्धि, संप्रणिलब्धि, कल्प, अर्थ, भौमवाय सर्वायंकल्पक निर्वाण, अतीत, अनागत, सिद्ध, उपाय ये चौदह वस्तु दूजे पूर्व में हैं उनमें पांचवीं वस्तु अच्यवनलब्धि के पाहुड बीस में चौथे पाहुड कर्म प्राकृत में योगद्वार है उन योगद्वारों के नाम कृति १, वेदना २, स्पर्श ३, कर्म ४, प्रकृति ५, बंधन ६, निबंधन ७, सात ८, प्रक्रम ९, उपक्रम १०, उदय ११, मोक्ष १२, संक्रम १३, लेख्या १४, लेख्याकर्म १५, लेख्या परिणाम १६, असातासाता १७, दीर्घह्रस्व १८, भवधारण १९, पुद्गलात्मा २०, निधतानिधत २१, सनिकांचित अनिकांचित २२, कर्मस्थितिक २३, और स्कम्भ २४, ये दूजे पूर्व की पांचवीं वस्तु के चौथे पाहुड में चौबीस योगद्वार कहे हैं । उनमें अल्प बहुत्व धर्म का विशेष वर्णन है और भी पूर्व के वस्तुओं के सिद्धान्तों में अन्यान्य पाहुड है ॥२॥ तीसरा वीर्यनिवाद पूर्व सत्तर लाख पद का है । इसमें वीर्यवंत संतों के पराक्रम का वर्णन है ॥३॥ चौथा अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व साठ लाख पद का है । उसमें जीवादि पदार्थों के अस्ति नास्ति भंग का निरूपण है । स्वभाव से सभी अस्ति-रूप और परभाव से सभी ही नास्ति रूप हैं ॥४॥ पांचवां ज्ञानप्रवाद पूर्व एक कर्म एक करोड़ पद का है उसमें ज्ञान के पांच भेदों का निरूपण है ॥५॥ छठवां कर्मप्रवाद पूर्व एक करोड़ अस्सी लाख पद का है उसमें कर्मबंध के बंध का वर्णन है ॥६॥ सातवां सत्य प्रवाद पूर्व एक करोड़ छह पद का है । उसमें द्वादश प्रकार की भाषा और दश प्रकार सत्य का निरूपण है ।

अब प्रथम बारह प्रकार की भाषा का वर्णन करते हैं ।

प्रथम आभ्याख्यायन भाषा

कोई हिंसादिक का अकर्ता और कोई हिंसादिक का कर्ता है । शठबुद्धि ऐसा कहते हैं कि हिंसा कर्तव्य है ऐसे दुर्वचन का नाम आभ्याख्यायिनी भाषा है ॥१॥ जिनके कहने से परस्पर कलह हो जाय सो कलहनी भाषा है ॥२॥ तीसरी पैशून्य भाषा, पर के दोष तथा गुप्त वार्ता प्रगट कर दूसरे के सम्मुख प्रगट करना ॥३॥ चौथी अबद्ध प्रलापभाषा-निष्प्रयोजन तथा वितथ्यवृथा बकवाद करना ॥४॥ पांचवीं रत्युत्पादक भाषा जिससे विषयों के भोगने की इच्छा हो ॥५॥ छठी अरत्युत्पादक भाषा जिससे अस्ति उत्पन्न हो ॥६॥ सातवीं वचन श्रवण भाषा जिससे श्रोताओं की अग्रयार्थ वस्तुओं में अक्षक्ता हो ॥७॥ आठवीं निष्कृति भाषा अर्थात् मन में मायाचार रखकर वार्ता करना ॥८॥ नवमीं अप्रतिभाषा जो स्वयं से विद्या आयु तथा ज्ञान वृद्ध हैं उनको नमस्कार तथा विनययुक्त वचन न कहना ॥९॥ दशवीं मोघभाषा जिससे मनुष्य की स्तेय अर्थात् चोरी रूप प्रवृत्ति हो जाय ॥१०॥ ग्यारहवीं सम्यक्त्व भाषा जिसके श्रवण करने से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाय ॥११॥ और बारहवीं मिथ्यादर्शन भाषा

जिसके श्रवण करने से जीवों की मिथ्यामार्गरूप प्रवृत्ति हो जाय ॥१२॥ ऐसी बारह प्रकार की भाषा है । वे सब जीवों में यथायोग पायी जाती हैं उनमें से पंचेन्द्रियों में तो सभी पायी जाती हैं ।

अब दश प्रकार के सत्य का वर्णन करते हैं :—

प्रथम नाम सत्य जैसे कोई मनुष्य नेत्रहीन अथवा असुन्दर नेत्र वाला हो तो उसको कमलनयन अथवा नयनसुख संज्ञावश कहना ॥१॥ दूसरा रूप सत्य—जैसे चित्रकार अथवा शिल्पकार के द्वारा बनाये गये मनुष्य के आकार तथा कुंजराकार को अचेतन व शक्ति रहित होने पर भी पराक्रमी कहना ॥२॥ तीसरा स्थापना सत्य-व्यवहार के लिये छती अनछती वस्तु की स्थापना करके तदाकार प्रतिमा मंदिरादिक में विराजमान करके उसमें अपने इष्ट की कल्पना कर लेना ॥३॥ चौथा प्रतीतिसत्य औपशमिक आदि पंचभावों को आगम प्रमाण प्रतीत करके व्याख्यान करना । भावार्थ-शास्त्र पर श्रद्धान करके व्याख्यान करना प्रतीति सत्य है ॥४॥ पांचवां स्मरणसत्य भेरी आदि अनेक प्रकार के वादित्र का शब्द होते हुये उच्च स्वर का जो वादित्र हो उसका नाम लेना ॥५॥ छठा संयोजन सत्य जिनमें चेतन अचेतन द्रव्य की रचना का विभाग नहीं है । जैसे युद्ध के समय दोनों सेनाओं में चक्रव्यूह गड्ढव्यूह, कौंचव्यूहादि अनेक प्रकार के व्यूह रचे जाते हैं । उनमें सेना तो चेतन हैं पर अचेतन द्रव्यों से पूरित है और उसको चक्रव्यूह कहना, सां चक्रता अचेतन परन्तु चक्र के आकार सेना रची गई अतः उसको चक्रव्यूह कहते हैं । इसको संयोजना सत्य कहते हैं ॥६॥ सातवां जनपद सत्य—जनपद नाम देश का है । देश में कई आर्य और कई ग्लेच्छ देश है । उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष शब्द का व्यवहार करना ॥७॥ आठवां उपयोग सत्य-ग्राम नगर की रीति आचार्यपद-साधुपद का उपदेश, जो पुरुष इन बातों में प्रवीण है उनका वचन उन विषयों में प्रमाण करना यथा ग्रामाचार तथा नगराचार के जानने में जो दक्ष हो, उनका वचन प्रमाण राजनीति में राजगुरु का वचन प्रमाण योगरीति में योगीश्वरों के वचन का प्रमाण करके उपदेश देना आदि उपयोग सत्य है ॥८॥ नववां भावसत्य जैसा यथार्थज्ञान केवली भगवान् के होता है वैसा छद्मस्थ के नहीं होता । जो छद्मस्थ हैं वे ज्ञान से मंद हैं ऐसा समझकर केवली के वचन का श्रद्धान करके अपने भावों में मानना अर्थात् केवली का वचन अन्यथा नहीं हो सकता ऐसा कहा गया है इस प्रकार उनके वचन की अपने भाव में प्रतीति करके कहना ॥९॥ दशवां समय सत्य—जो षट् द्रव्य का तथा सप्त तत्वों का और उनके भेद प्रभेद के स्वरूप का यथार्थ वक्ता (कहने वाला) एक जैन धर्म ही है उसमें जो निरूपण किया है सो अक्षर प्रत्यक्षर सत्य है ऐसी जिनवाणी की दृढ़ प्रतीति करना ॥१०॥ इस प्रकार से दश प्रकार के सत्य का निरूपण किया गया ॥७॥

आठवां आत्मप्रवाह पूर्व है । यह छब्बीस करोड़ पद का है । इसमें जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, नित्यत्व, अनित्यत्वादि अनन्त स्वभाव का तथा प्रमाण, नय, निक्षेप का निरूपण किया गया है ॥८॥

नववां प्रत्यास्थानपूर्व है । इसमें चौरासी लाख पद हैं । उसमें द्रव्य संवर और भावसंवर का प्ररूपण है ॥९॥ दशवां विद्यानुवाद पूर्व है । वह एक करोड़ दश लाख पद का है । उसमें प्रसेना आदि सातसौ छुद्र विद्या और रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओं का वर्णन है ॥१०॥ ग्यारहवां कल्याण प्रवाद पूर्व है । इसमें २६ करोड़ पद हैं । उनमें समस्त ज्योतिषगण, अष्टांग निमित्त ज्ञान, तिरसठ शलाका पुरुषों का तथा असुरेन्द्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन है ॥११॥ बारहवां प्राणवादक्रियापूर्व है । वह तेरह करोड़ पद का है । उसमें अष्टांग चिकित्सा, श्वासोच्छ्वास की निश्चलता और पवनाभ्यास का साधन तथा पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश इन पांच तत्वों के पवन के परिवार का वर्णन किया गया है ॥१२॥

तेरहवां श्रियाविशालपूर्व । इसमें नौ करोड़ पद हैं इसमें पिगल व्याकरण तथा शिल्पादि अनेक कलाओं का निरूपण है ॥१३॥ चौदहवां त्रिलोक बिन्दुसार है । इसमें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं । इसमें नक्षत्र राशि व्यवहार विधि तथा परिक्रम विधि आदि का कथन है समस्त पूर्वों के ६५ करोड़ ५० लाख पांच पद हैं ॥इति चौदह पूर्व वर्णनम् ॥

पुनः द्वादशांग का पांचवां भेद चूलिका है इसके पांच भेद हैं । इनका नाम जलमत १. यलगन २. आकाशगत ३. रूपगत ४. मायागत ५. हैं । पांचों में प्रत्येक चूलिकाओं के दो करोड़, नव लाख, नवासी हजार, दो सौ पद हैं । पांचों चूलिका के एकत्र किये दस करोड़, उनचास लाख, छियालिस हजार पद हैं । यहाँ तक तो अंगप्रविष्ट का कथन किया । सर्वद्वादशांग वाणी के एक अरब, बारह करोड़ तिरासी लाख, अठ्ठावन हजार, पांच पद हैं । इनके उपरान्त आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचसत्तर अक्षर और बचे । इनका पद पूर्ण न हो सका । इसलिये इनके बत्तीस अक्षर प्रमाण बत्तीस लाख, तीन हजार तीन सौ अक्षरों हुये और पन्द्रह अक्षर बचे । इन श्लोकों के चौदह अंग प्रकीर्णक रचे । पहला सामायिक प्रकीर्णक इसमें साम्यभाव का वर्णन है ॥१॥ दूसरा स्तवन प्रकीर्णक । इसमें चतुर्विंशति तीर्थकरों का स्तवन है ॥२॥ तीसरा वंदना प्रकीर्णक । इसमें पंच परमेष्ठी, चैत्य, चैत्यालय तथा तीर्थवंदना का प्रकरण है ॥३॥ चौथा प्रतिक्रमण प्रकीर्णक । इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से किये गये अपराध उनके शोधन तथा प्रायश्चित्तादि का वर्णन है ॥४॥ पांचवां वैनयिक प्रकीर्णक । पंचविध विनय अर्थात् दर्शन विनय १. ज्ञानविनय २. चारित्र विनय ३. तप विनय ४. श्रीर उपचार विनय ५. इनका विशेष वर्णन है ॥५॥ छठा कृतिकर्म प्रकीर्णक । इसमें त्रिकाल सामायिक विधि का विशेष वर्णन है ॥६॥ सातवां दस वैकालिक प्रकीर्णक । इसमें ग्रहगोचर और ग्रहण आदि का वर्णन है ॥७॥ आठवां उत्तराध्ययन प्रकीर्णक है । इसमें अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी के निर्वाणगमन का वर्णन है ॥८॥ नववां कल्पव्यवहार प्रकीर्णक है । इसमें सुयोग्य आचरण जनित दोषों के प्रायश्चित्त का वर्णन है ॥९॥ दशवां कल्पाकल्प प्रकीर्णक । इसमें विषय कषायादिक हेय तथा ज्ञान वैराग्यादि उपादेय के विधि निषेध का वर्णन है ॥१०॥ ग्यारहवां महाकल्पप्रकीर्णक है । इसमें यति के उचित अर्थात् योग्य वस्तु, क्षेत्र काल का विशेष वर्णन है ॥११॥ बारहवां पुण्डरीक प्रकीर्णक है । इसमें प्रायश्चित्त विधि का वर्णन है । किन किन कर्मों के द्वारा देवादिक किन किन गतियों का जीव प्राप्त होता है, इसका वर्णन है ॥१२॥ तेरहवां महापुण्डरीक प्रकीर्णक है । इसमें किन किन शुभ कर्मों के उदय से महा श्रद्धा के धारक देवों की पदवी प्राप्त होती है, इसका वर्णन किया गया है ॥१३॥ चौदहवां पुण्डरीक निशीत का प्रकीर्णक है । इसमें दोषों की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त सूत्रों का वर्णन है ॥१४॥ इस प्रकार श्री उपाध्याय परमेष्ठी के ग्यारह अंग चौदहपूर्व के ज्ञान स्वरूप २५ गुण होते हैं ॥ ये उपाध्याय परमेष्ठी स्वयं आचार्य के निकट शिक्षा ग्रहण और तत्व चर्चा करते रहते हैं । तथा आचार्य के आदेशानुसार निकटवर्ती अन्यशिष्यों को भी पढ़ाते हैं इसलिए उनको पाठक भी कहते हैं । यद्यपि ये भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के ज्ञाता, पंचाचार परायण, उत्तम क्षमादि दशलक्षण रूप धर्म के धारक होने से आचार्य के समान सर्वदा तत्पर रहते हैं, परन्तु अन्तर इतना ही है कि आचार्य शिक्षा दीक्षा देने के अधिकारी व संघ के अधिष्ठाता समझे जाते हैं और ये उपाध्याय नहीं, क्योंकि संघ में संघाधिपति तो एक ही होता है परन्तु उपाध्याय अनेक होते हैं । इनका अध्ययन और अध्यापन करना ही मुख्य कर्म होता है । ऐसे ज्ञान के सागर श्री उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति पूजा तथा गुणानुवाद करने से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है । इसके समान मुझे भी ज्ञान की प्राप्ति हो ॥

समाप्तोऽयं उपाध्यायगुणानुवादः ॥

आगे साधु परमेष्ठी का वर्णन करते हैं :—

दोहा—पंचमहाव्रत पंचसमिति पंच इन्द्रियरोध ।

षट् आवश्यक नियम गुण, अष्टाविंशति बोध ॥१॥

अर्थ—पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, सप्तनियम गुण इस प्रकार २८ मूल गुण के धारक साधु होते हैं और दया के उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमंडलु और ज्ञान के उपकरण शास्त्र से युक्त होते हैं । आगम कथित ४६ दोष, ३२ अन्तराय, १४ मलदोष को बचाकर शुद्धाहार को ग्रहण करते हैं । ये ही मोक्षमार्ग के साधक होने से साधु और सच्चे गुरु कहलाते हैं ।

पंचमहाव्रत का दोहा

हिंसा अनृत तस्करी, अब्रह्म परिग्रह पाप ।

मन वचन से त्याग बो, पंचमहाव्रत थाप ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह—इन पांच पापों से सर्वथा त्यागरूप महाव्रत पांच प्रकार का है । अहिंसा महाव्रत—प्रमत्त योग पूर्वक षट्पाप के पीत के द्वयों और भज से प्राणों के घात का सर्वथा त्याग करना ॥१॥

अचौर्य महाव्रत—प्रमत्त योग पूर्वक बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने का त्याग करना । यद्यपि अचौर्य व्रत का प्रयोजन बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने का है तथापि मुनि धर्मोपकरण और अन्न के सिवाय दी हुई वस्तु को भी नहीं ग्रहण करते—क्योंकि साधु सर्व प्रकार परिग्रह त्यागी होते हैं ॥२॥ सत्य महाव्रत—प्रमत्तयोग पूर्वक असत्य वचन का सर्वथा त्याग सत्य महाव्रत है ॥३॥ ब्रह्मचर्य महाव्रत—वेद के उदय जनित मैथुन सम्बन्धी संपूर्ण क्रियाओं का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है ॥४॥ परिग्रहत्याग महाव्रत—१४ प्रकार अंतरंग परिग्रह और दश प्रकार बाह्य परिग्रह का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करना परिग्रह त्याग महाव्रत है ॥५॥

पंचसमिति नाम

दोहा—ईर्ष्याभाषाएषणा, पुनि क्षेपण आदान ।

प्रतिस्थापना युत क्रिया, पाँचों समिति विधान ॥६॥

अर्थ—भली प्रकार गमनादि में प्रवृत्तिसमिति है वह पांच प्रकार है । प्रथम ईर्ष्या समिति जो मार्ग पशु मनुष्यादिक के गमनागमन से खुद गया हो ऐसे प्रासुक मार्ग के सूर्य के प्रकाश में चार हाथ प्रमाण भूमि को भली प्रकार से निरखते हुए सावधानतापूर्वक तीर्थ, दर्शन, गुरुयात्रादि धर्म कार्य तथा आहार, विहार, निहा आदि आवश्यकीय कार्यों के निमित्त गमन करना ईर्ष्या समिति है ॥१॥ दूसरी भाषा समिति—सर्व प्राणियों के हितकारी, कोमल मिष्ट, प्रिय, सत्य, प्रामाणिक, शास्त्रोक्त मिथ्यात्व रूपी रोग को दूर करने वाले वचन बोलना भाषा समिति है ॥२॥ तीसरी एषणा समिति—छियालिस दोष, बत्तीस अंतराय और चौदह मल दोष टालकर कुलीन श्रावक के घर तप और पुष्टी के प्रयोजन से रहित, अपने निमित्त न किया हुआ अनुदिष्ट आहार ग्रहण करना एषणा समिति है ॥३॥ यहाँ प्रसंगवश संक्षिप्तरूप से आहार सम्बन्धी छियालिस दोष, बत्तीस अंतराय और १४ मल का वर्णन किया जाता है ।

अथ छियालिस दोष—प्रथम उद्गम दोष कथन । जो दातार के अभिप्राय से प्रकट हों वे उद्गम दोष कहलाते हैं । षट्काय के जीवों के बध द्वारा आहार उत्पन्न करना अधः कर्म दोष है ॥१॥ साधु का नाम लेकर भोजन तैयार कराना उद्देशिक दोष कहलाता है ॥२॥ संयमी का आगमन जानकर भोजन बनाने का आरम्भ करना अवसाय दोष है ॥३॥ प्रासुक भोजन में अप्रासुक भोजन मिला देना पूतिदोष है ॥४॥ संयमी के ग्रहण योग्य भोजन में असंयमी के योग्य भोजन का मिलाना मिश्रदोष है ॥५॥ रसोई के स्थान से अन्यत्र पकाये हुए या दूसरे के स्थान में रखता हुआ भोजन लाकर देना स्थापित दोष है ॥६॥ यक्ष नागादि के निमित्त बनाया हुआ भोजन देना बलि दोष है ॥७॥ पात्र को पड़-गाहकर पीछे काल (समय) की हानि वृद्धि करना अथवा नवधा भक्ति में शीघ्रता व बिलम्ब करना प्रावर्तित दोष है ॥८॥ अंधेरा जानकर मंडप आदि को प्रकाशरूप करना प्राविशकरण दोष है ॥९॥ अपने घर में किसी वस्तु के विद्यमान न होने पर दूसरे से उधार लाकर देना प्रामिशिक दोष है ॥१०॥ जो वस्तु अपने घर में मौजूद हो उसको दूसरे गृहस्थी से अपने वस्तु के बदले में लाकर देना परिवर्तक दोष है ॥११॥ तत्काल दूरदेश से आई हुई वस्तु देना अभिषट दोष है ॥१२॥ बंधी व छौदा लगी हुई वस्तु को खोल कर देना उद्भिन्न दोष ॥१३॥ रसोई के स्थान से ऊपर की मंजिल में रखी हुई वस्तु को सीढ़ी पर चढ़कर लाकर देना मालारोहण दोष है ॥१४॥ उद्वेग, वास, भय के कारण भोजन देना प्राच्छेय दोष है ॥१५॥ दातार का असमर्थ होना अनिसार्थ दोष है ॥१६॥ सोलह उत्पादन दोष—जो आहार प्राप्त करने में अभिप्राय संबन्धी दोष पात्र के आश्रय लगते हैं यथा गृहस्थ को मंजन मंडल कीटनादिधारी कर्म का उपदेश देकर आहार ग्रहण करना धात्री दोष है ॥१॥ दातार को अन्य देश का समाचार सुनाकर आहार ग्रहण करना दूत दोष है ॥२॥ अष्टांग निमित्त ज्ञान दातार को बताकर आहार ग्रहण करना निमित्त दोष है ॥३॥ अपनी जाति, कुल, तपश्चरणादि बतलाकर आहार लेना प्राजीवक दोष है ॥४॥ दातार की अभिरुचि के अनुकूल वचन कहकर आहार लेना वनीयक दोष है ॥५॥ दातार को औषधि बताकर आहार का ग्रहण करना चिकित्सा दोष है ॥६॥ क्रोध, मान, माया, लोभ पूर्वक आहार ग्रहण करना क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है ॥७-८-९-१०॥ भोजन के पहले दातार की प्रशंसा कर आहार ग्रहण करना पूर्वस्तुति दोष ॥११॥ आहार ग्रहण करने के पश्चात् दाता की प्रशंसा करना पश्चात् स्तुति दोष ॥१२॥ आकाशगामिनी, जलगामिनी आदि विद्या दातार को बताकर आहार ग्रहण करना विद्या दोष ॥१३॥ सर्पविषधारी विच्छू आदि जीवों के विष दूर करने वाला मंत्र बताकर आहार ग्रहण करना मंत्र दोष है ॥१४॥ शरीर की सुन्दरता तथा पुष्टता के निमित्त चूर्णादि बताकर आहार ग्रहण करना चूर्ण दोष है ॥१५॥ दातार को अवश के वश करने की युक्ति बताकर आहार लेना मूल कर्म दोष है ॥१६॥

१४ आहार सम्बन्धी दोष—जो दोष भोजन के आश्रय से लगते हैं । यथा—यह भोजन योग्य है, अयोग्य है, खाद्य है या अखाद्य है, भोजन में ऐसी रीति का होना शंकित दोष है ॥१॥ सचिवकन (चिकने) हाथ तथा बर्तन में रखे हुए भोजन को ग्रहण करना मृक्षित दोष है ॥२॥ सचित्त पात्रादि पर धरा हुआ भोजन ग्रहण करना निक्षप्त दोष है ॥३॥ सचित्र पात्रादि में ठका हुआ भोजन ग्रहण करना पिहित दोष है ॥४॥ दान देने की शीघ्रता से भोजन को न देकर या अपने वस्त्रों को संभालकर आहार देना संव्यवहरण दोष है ॥५॥ मृतक आदि वांषयुक्त अशुद्ध आहार ग्रहण करना दायक दोष है ॥६॥ सचित्त मिश्रित आहार ग्रहण करना उन्मिश्र दोष है ॥७॥ अग्नि से परिपूर्ण, नहीं पका हुआ है या जला हुआ अथवा तिल, तंदुल, हरण आदि से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण बदले बिना जल ग्रहण करना

अपरिणत दोष है ॥८॥ हस्ताल, गेरु, खड़िया आदिक अप्राशुक, द्रव्य से लिप्त हुए भोजन वा हस्त द्वारा लिया हुआ आहार ग्रहण करना लिप्त दोष है ॥९॥ दातार द्वारा पात्र के हस्त में स्थापन किया हुआ आहार जो पाणिपात्र से गिरता हो अथवा अपने पाणिपात्र में आये हुए आहारको छोड़ और आहार लेकर ग्रहण करना परित्यजन दोष है ॥१०॥ शीतल भोजन व जल में उष्ण वस्तु अथवा उष्ण भोजन व जल में शीतल वस्तु मिलाना संयोजन दोष है ॥११॥ प्रमाण से अधिक गृह्यता से भोजन करना अप्रमाण दोष है ॥१२॥ और अति गृह्यता सहित आहार लेना अंगार दोष है ॥१३॥ यह भोजन प्रकृति विरुद्ध है—ऐसा संव्लेश या ग्लानि करते हुए आहार लेना धूमदोष है ॥१४॥

॥ इति ४६ दोष वर्णनम् ॥

अपने निमित्त स्वतः भोजन तथा उसकी सामग्री तैयार करना अधः कर्म दोष है । यह दोष ४६ दोषों के अतिरिक्त महान् दोष कहलाता है ॥

वस्तीस अन्तराय । अन्तराय सिद्ध भक्ति होने के पश्चात् माना जाता है । भोजन को जाते समय ऊपर से काकादिक पक्षियों का बीट कर देना ॥१॥ गमन समय पग को बिछा मल से लिप्त हो जाना ॥२॥ वमन हो जाना ॥३॥ भोजन को गमन करते हुए किसी के द्वारा मनाकर देना ॥४॥ रुधिर तथा पीव आदि का किसी अंग में से वह निकलना ॥५॥ भोजन के समय अश्रुपात हो जाय अथवा अन्य को अश्रुपात व विलाप करते देखना ॥६॥ भोजन को जाते समय यदि घुटने से ऊँचे चढ़ना पड़े ॥७॥ साधु का हाथ घुटने के नीचे स्पर्श हो जाय ॥८॥ भोजन के निमित्त नाभि से नीचा माथा करके द्वार में से निकलना पड़े ॥९॥ स्थाप की हुई वस्तु भोजन में आजाय ॥१०॥ भोजन करते हुए अपने सन्मुख किसी प्राणी का बध हो जाय ॥११॥ भोजन करते हुए काकादि पक्षी घास ले जाय ॥१२॥ भोजन करते हुए पात्र के हस्त में से घास गिर जाय ॥१३॥ किसी प्रकार का अस जीव साधु के हाथ में गिरकर प्राण रहित हो जाय ॥१४॥ भोजन के समय मृतक पंचेन्द्रिय का कलेवर दृश्य पड़ जाय ॥१५॥ भोजन के समय किसी प्रकार का उपसर्ग आ जाय ॥१६॥ भोजन करते हुए साधु के दोनों पावों के मध्य में से मेंढक मूषकादि पंचेन्द्रिय जीव निकल जाय ॥१७॥ दाता के हाथ में से भोजन का पात्र गिर पड़े ॥१८॥ भोजन करते समय साधु के शरीर से मल तथा मूत्र निकल जावे ॥१९॥ भोजन निमित्त भ्रमण करते हुए शूद्र के घर प्रवेश होजाय ॥२०॥ साधु भ्रमण करते हुए मूर्छा खाकर गिर पड़े ॥२१॥ भोजन करता हुआ साधु रोगवश बैठ जाय ॥२२॥ भ्रमण करते हुए श्वानादि पंचेन्द्रिय जीव काट खाय ॥२३॥ सिद्ध भक्ति किये पीछे हस्त का भूमि से स्पर्श हो जाय ॥२४॥ भोजन के समय कफ धूकादि गिर पड़े ॥२५॥ भोजन के समय साधु के उदर से कृमि निकल आये ॥२६॥ भोजन करते समय साधु के हस्त से किसी परवस्तु का स्पर्श हो जाय ॥२७॥

भोजन करते समय कोई दुष्ट साधु को या किसी अन्य को खड्ग से मारे या हत्याकरे तो भोजन छोड़ देना चाहिए ॥२८॥ भोजन के निमित्त जाते समय आग लग जाए या आग लगने की खबर सुने तो आहार छोड़ दे ॥२९॥ भोजन करने समय साधु के चरण से किसी वस्तु का स्पर्श हो जाय तो भोजन छोड़ देना चाहिए ॥३०॥ भोजन करते समय भूमि में पड़ी हुई वस्तु को हाथ से छू ले या उठा ले तो अन्तराय हो जाता है ॥३१॥ अपवित्र वस्तु का स्पर्श हो जाय ॥३२॥ इन ३२ अन्तराय के अतिरिक्त चाण्डाल आदि से स्पर्श हो जाय या किसी का कलह हो या इष्ट शिष्यादिक का या अन्य प्रधान पुरुषों के मरण की सूचना सुन ले तो अन्तराय माना जाता है ।

चौदह मल दोष

नख, बाल, प्राण रहित शरीर, अस्थि, कण, (जौ गेहूं आदि का तुष) राध, त्वचा, बीज, रक्त मास, सचित्त फल, कन्द, सचित्ताचित्त फल और मूल इस प्रकार ये चौदह मल दोष हैं। इस प्रकार अन्तराय के छयालिस दोष का वर्णन किया गया है।

॥ इति छयालिस दोष वर्णनम् ॥

अब चौथो आदान निक्षेपण समिति का वर्णन करते हैं :—

रखी हुई वस्तु को ग्रहण करने को आदान कहते हैं और ग्रहण की हुई वस्तु के धारण करने को निक्षेपण कहते हैं। जिससे किसी जीव को बाधा न पहुंचे इसी प्रकार ज्ञान के उपकरण शास्त्र, संयम के उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमंडलु तथा संस्तर आदि को यत्नाचार पूर्वक उठाने धरने को आदान निक्षेपण समिति कहते हैं।

पाँचवीं प्रतिष्ठापन समिति

जीव जन्तु रहित तथा एकान्त स्थान में अर्थात् जहां असंयमी पुरुषों का प्रचार न हो, अचित्त अर्थात् हरि काय आदि रहित, शहर से दूर, गुप्त जगह, बिल छिद्र आदि से रहित, जीवरोध से रहित अथवा जहां किसी का आना जाना न हो ऐसे निर्जन स्थान पर मल मूत्र आदि का त्याग करना प्रतिष्ठापन समिति है। इस प्रकार ये पाँच प्रकार की समिति हैं।

॥ पचेन्द्रिय निरोधम् ॥

सपरस रसना नासिका, नयन श्रोत को रोध।

षट् आवशि मंजन तज्जन शयन भूमि को शोध ॥

अर्थ—स्पर्शन आदि पचेन्द्रिय विषयों में राग द्वेष रहित हो जाना पंचेन्द्रिय निरोध कहा जाता है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

स्पर्शन इन्द्रिय निरोध—चेतन पदार्थ स्त्री पुत्र आदि, अचेतन पदार्थ शय्या आदि, स्पर्शन इन्द्रियों के विषय भूत कठोर, कोमल, शीत, उष्ण, सचिवकन और रुक्ष पदार्थों में राग द्वेष न करना स्पर्शन इन्द्रिय निरोध है।

रसना इन्द्रिय निरोध—अनशन, पान, खाद्य स्वाद्य—ये चार प्रकार का आहार और दूध, दही, घी, नमक, शक्कर, तेल आदि ये छः रस हैं और तीखे, कड़वे, कषायले, खट्टे, मीठे, पंचरस रूप इष्ट अनिष्ट आहार में राग द्वेष न करना सो रसन इन्द्रिय निरोध है।

घ्राणेन्द्रिय निरोध—सुख दुख के कारण रसरूप सुगन्धित दुर्गन्धित पदार्थों में राग द्वेष नहीं करना यह घ्राण इन्द्रिय निरोध है।

चक्षु इन्द्रिय निरोध—कुरूप, सुहावने, भय उत्पन्न करने वाले पदार्थों का तथा रक्त, पीत, हरित, स्वेत आदि रंगों को देखकर राग द्वेष न करना चक्षु इन्द्रिय निरोध है।

श्रोत्रेन्द्रिय निरोध—चेतन स्त्री, पुरुष, पशु आदि और अचेतन मेघ, बिजली आदि और मिश्रित तबला, सारंगी आदि से उत्पन्न शुभ प्रशंसा निन्दा आदि के शब्द सुनकर राग, द्वेष नहीं करना ये श्रोत्र इन्द्रिय निरोध है।

॥ अथ षट् आवश्यकम् ॥

अवश्य करने योग्य क्रिया को आवश्यक कहने हैं। ये छः प्रकार की हैं—

सामायिक, बन्दना, स्तवन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग—इस प्रकार ये छः आवश्यक

क्रियायें हैं। इनके स्वरूप का वर्णन आचार्य के छत्तीस गुणों में आ चुके हैं तो भी यहाँ केवल दिग्दर्शन मात्र इनका वर्णन किया जाता है—

परद्रव्यों के राग, द्वेष रहित होकर साम्य भाव रखना सामायिक है। १। चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एक तीर्थंकर का स्तवन करना वन्दना है। २। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तवन है। ३। अतीत काल में अशुभ परिणाम किये हुए दोषों का परित्याग करना प्रतिक्रमण है। ४। वांचना, पृच्छना आदि पाँच प्रकार शास्त्रों का अध्ययन अथवा आत्म चिंतन करना स्वाध्याय है। ५। शरीर से समत्व रहित होकर आत्मा में लीन होना कायोत्सर्ग है। ६। इस प्रकार ये षट्—आवश्यक हैं।

अब शेष सात नियम गुणों को कहते हैं—

(१) अस्नान गुण—जल तथा मल-युक्त शरीर होने पर भी स्नान नहीं करने को जल सिंचन आदि शरीर संस्कार नहीं करने को अस्नान गुण कहते हैं। परन्तु साधु को शूद्र के स्पर्श हो जाने पर तथा दीर्घ शंका, लघुशंका को जाने के पश्चात् षड् आवश्यक शुद्धि के निमित्त शुद्धता करना आवश्यक है।

(२) भूमि शयन गुण—जीवादि रहित प्राशुक भूमि में अथवा सस्तर रहित जिससे संयम का घात न हो ऐसी चटाई, लड़की के पटड़े तथा शिला आदि सस्तर पर एकान्त स्थान में झौंघे अथवा सीध रहित एक करबट से दंड अथवा घनुष के समान शयन करने को भूमि शयन गुण कहते हैं।

अब आगे पाँच नियम गुण कहते हैं—

बोहा—वस्त्र त्याग केशलोच कर, लघु भोजन इकवार।

मुखर्तें दांतन ना करें, ठाढ़ें लेय आहार॥

अर्थ—(३) वस्त्र त्याग गुण—मुनि धर्म के विराधक कपास, रेशम, सन के टाट आदि वनस्पति के वस्त्रों तथा भृगादिक से उत्पन्न भृगछाल आदि चर्म तथा वृक्षों के पत्र, छाल आदिक से शरीर को आच्छादित न करना और न तत्सम्बन्धित मन, वचन, काय आदि से राग करना वस्त्र त्याग गुण है।

(४) केश लोच गुण—अपने हाथ से सिर, दाढ़ी, मूछों के केशों का उत्कृष्ट दो मास में, मध्यम तीन मास में, जघन्य चार मास में लोच करना चौथा केशलोच गुण है।

(५) एक मुक्ति गुण—तीन घड़ी दिन चढ़ने के बाद, तीन घड़ी दिन शेष रहने के पहले, मध्य में दो तीन मुहूर्त काल के भीतर ही भीतर दिन में केवल एक ही अल्प आहार लेना एक मुक्ति गुण कहलाता है।

(६) अदन्त धोवन गुण—इन्द्रिय संयम की रक्षा और वीतरागता को प्रगट करने के निमित्त हाथ की अंगुली से, नख से व दातों के द्वारा दातों का धोवन न करना अदन्त धोवन गुण है।

(७) एक स्थिति भोजन—दीवार आदि के आसरे के बिना, दोनों पाँवों में चार अंगुल का अन्तर रखकर ४६ दोष, बत्तीस अन्तराय, चौदह मल दोष टालकर पाणिपात्र में आहार लेने को एक स्थिति भोजन कहते हैं।

उपर्युक्त अट्ठाईस मूल गुणों को समुचित रूप से पालन करने से आत्मा के चौरासी लाख गुणों की उत्पत्ति होती है।

उसका वर्णन इस प्रकार है।

हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील और तृष्णा पाँच पाप; क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय; मन, वचन, काय की तीन दुष्टता; मिथ्या दर्शन, प्रमाद, पैशुन्य, अज्ञान, भय, रति, अरति, हास्य जुगुप्सा, इन्द्रियों का निग्रह इन २१ दोषों का त्याग करना और अतिचार, अनाचार, प्रतिक्रमण और व्यतिक्रमण

ऐसे चार प्रकार से पृथ्वीकायिक आदि १० के परस्पर संयोग रूप (१००) सौ, की हिसा का त्याग, दस अब्रह्म के कारणों का त्याग १०, आलोचना दोषों का त्याग १०, प्रायश्चित के भेदों से परम्पर गुणों से (२१×४×१००×१०×१०×१०=८४०००००) उपर्युक्त प्रकार दोनों के अभाव से आत्मा में अहिंसा के चौरासी लाख उत्तर गुणों की प्राप्ति होती है।

अतिचार, अनाचार, अतिक्रमण, व्यतिक्रम के लक्षण—

इलोक—अतिक्रमो मानस शुद्धि हानि, व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।

तथाति चारंकरणासत्त्वं, भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानि॥

अर्थ—मन की शुद्धता में हानि होना अतिक्रमण है।

विषयों की अभिलाषा को व्यतिक्रम कहते हैं।

व्रत के आचरण में शिथिलता होना अतिचार है। सर्वथा व्रत का भंग होना अनाचार है। रत्नत्रयात्मक आत्मस्वरूप साधने में तत्पर और बाह्य में शास्त्रोक्त दिग्म्वर वेष्टधारी, अठाईस मूल गुणों के साधक साधु मेरी रक्षा करो।

कैसे हैं वे साधु? जिनके आत्मध्यान के बल से अनेक प्रकार की ऋद्धि प्राप्त होती है इस अपेक्षा से उनको ऋद्धि भी कहते हैं। उन ऋद्धियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

बुद्धि ऋद्धि, औषधिऋद्धि, क्षेत्रऋद्धि, बलऋद्धि, तपऋद्धि, रसऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, और क्षिप्रऋद्धि,—ये आठ ऋद्धियाँ हैं। इनमें पहली बुद्धिऋद्धि के अठारह प्रकार हैं—

(१) केवल ऋद्धि—केवलज्ञान व केवलदर्शन होना जिसमें त्रिकालवर्ती सर्व रूपी अरूपी द्रव्य के गुण समस्त गुण, पर्याय को जानना तथा देखना।

(२) मनः पर्यायऋद्धि—यह ऋद्धि ऋजुमति, तथा विपुलमति दो प्रकार की है। पर के मन में स्थित पदार्थ को किसी की बिना सहायता से जान लेना मनः पर्यायऋद्धि है।

(३) अवधि ऋद्धि—यह देशावधि, सर्वावधि परमावधि, नाम से तीन प्रकार की त्रिकाल-गोचररूपी पदार्थों को देशकाल की मर्यादा लिए जान लेना अवधि ऋद्धि है।

(४) वीर्यबुद्धि ऋद्धि—किसी ग्रन्थ के एक श्लोक को ग्रहण करके सम्पूर्ण ग्रन्थ का ज्ञान होना।

(५) कोष्ठबुद्धिऋद्धि—जिस प्रकार कोठे में नाना प्रकार की वस्तुएं रखी रहती हैं और आवश्यकता होने पर अलग-प्रलग वस्तु निकाल कर देते हैं इसी प्रकार मुनीश्वर जो कुछ पढ़ें अथवा सुनें, वह भिन्न-भिन्न याद रहे, एक वार्ता का अक्षर दूसरी वार्ता में न मिले उसको कोष्ठबुद्धिऋद्धि अथवा कोष्ठस्थाधान्योपम् ऋद्धि कहते हैं।

(६) सम्भिन्नस्रोतऋद्धि—बारह योजन लम्बे, नौ योजन चौड़े क्षेत्र के मनुष्य पशुओं का शब्द एकत्र एक काल में भिन्न-भिन्न श्रवण करना।

(७) पदानुसारिणीकऋद्धि—आदि मध्यान्त के एक-एक पद से ही समस्त ग्रन्थ का कंठाग्र हो जाना।

(८) दूरी स्पर्शतऋद्धि—आठ प्रकार के स्पर्श का ज्ञान पवन के स्पर्श होने से हो जाना।

(९) दूरी रसनऋद्धि—मनुष्य क्षेत्र के रसों का स्वाद जान लेना।

(१०) दूरी गन्धऋद्धि—बहुत दूर के सुगन्ध, दुर्गन्ध का जानना।

(११) दूरावलोकनऋद्धि—प्रत्येक पदार्थ को दूर से देखना तथा जानना ।

(१२) दूरीश्रवणऋद्धि—सात प्रकार के स्वर और पाँच प्रकार की वादित्र ध्वनि को दूर से देखना तथा जानना ।

सप्तस्वर नाम—(१) ऋषभ (मनुष्य शब्द) (२) रिषाद (मेघ गर्जना) (३) गन्धार (बकरी की बोली) (४) खरज (धिलार्द की बोली) (५) मध्यम (उपरोक्त चारों बोली एक साथ) (६) धैवत (हाथी की चिन्ता) (७) पञ्चम (कोयल की बोली) ये सात स्वर हैं ।

पञ्च वादित्र—(१) चर्म (मृदंग आदि) (२) फूंक (बाँसुरी आदि) (३) तांततार (वीणा आदि) (४) ताल (मंजीरा आदि) (५) जल लहर (पानी का शब्द) ये पाँच प्रकार वादित्र हैं ।

(१३) दस पूर्वऋद्धि—जिससे दस पूर्व का ज्ञान होवे ।

(१४) चौदह पूर्वऋद्धि—जिससे चौदह पूर्व का ज्ञान होवे ।

(१५) इन्द्रियदमनऋद्धि—जिसके द्वारा पाँच इन्द्रियों का दमन कर तपश्चरण करे ।

(१६) वाद बुद्धिऋद्धि—दूसरे को वाद में जीतना ।

(१७) प्रज्ञाऋद्धि—तत्त्वार्थ अथवा पदार्थों के भेद को बिना शास्त्र को पढ़े स्वयं जान लेना ।

(१८) निमित्तकबुद्धिऋद्धि—इसके आठ भेद हैं—पशु-पक्षियों की भाषा सुनकर उस भाषा से शुभाशुभ फल को जानना, सो स्वर भेद है ॥१॥ ग्रह नक्षत्रादिक को देखकर शुभाशुभ को जानना सो अन्तरिक्ष है ॥२॥ पृथ्वी कम्पनादि लक्षणों को जानकर शुभाशुभ फल को बताना अंगभूत है ॥३॥

वैद्यक सामुद्रिक आदि से मनुष्य तथा जीवायों का शुभाशुभ जानना सो मंड है ॥४॥

वस्त्र, शस्त्र, पशु, पक्षी और अग्नि आदि से शुभाशुभ जानना चिह्न है ॥५॥

तिल, मक्का, लहसन आदि अंग के चिह्नों को देखकर उनके शुभाशुभ को जानना सो व्यंजन है ॥६॥

श्री वत्स, शंख, चक्रादि चिह्न को देखकर उनके शुभाशुभ को जानना सो लक्षण है ॥७॥

स्वप्न से शुभाशुभ जानना सो स्वप्न चिह्न है ॥८॥

ये आठारह भेद बुद्धि ऋद्धि के हैं ।

दूसरी औषधऋद्धि आठ प्रकार की हैं ।

(१) विष्टा ऋद्धि—मुनि की विष्टा रोगी के शरीर से लग जाए तो सर्व रोगों का नाश होना ।

(२) मल ऋद्धि—मुनि का कान नाक आदि का मल रोगी के लग जाए तो सर्व रोगों का नाश होना ।

(३) आम्र ऋद्धि—रोगी या दरिद्री को मुनि महाराज के शरीर का स्पर्श हो जाए तो रोग वा दरिद्रता जाती रहे ।

(४) उज्ज्वल ऋद्धि—मुनि के शरीर का पसेव दरिद्री अथवा रोगी के लग जाए तो दरिद्रता और रोग जाता रहे ।

(५) चुत्लक ऋद्धि—दरिद्री वा रोगी मनुष्य के मुनि का मूत्र, कफ धूक, लग जावे तो दरिद्रता व रोग जाता रहे ।

(६) सर्वौषधि ऋद्धि—मुनि के शरीर का स्पर्श कर जो पवन आवे, उसके लगते ही रोगी का सर्व रोग नाश होवे ।

(७) दृष्टि विष ऋद्धि—किसी को किसी साँप ने काटा हो अथवा किसी ने विष खा लिया हो तो मुनि के देखते ही निर्विष हो जावे ।

(८) विष नाशन ऋद्धि—मुनि को भोजन में कोई विष दे दे तो बाधा न करे ।

तीसरी क्षेत्र ऋद्धि है उसके दो भेद होते हैं—

(१) अछिन्न ऋद्धि—मुनि जिसके घर में आहार ले तो उस दिन भोजन अटूट हो जाये ।

(२) अविच्छिन्न ऋद्धि—मुनि जिस चीके में आहार ले उसमें चक्रवर्ती की सेना अलग बैठकर भोजन करे तो भी कमी न होवे ।

चौथी बल ऋद्धि के तीन प्रकार हैं—

(१) मनोबल ऋद्धि—जिसके बल से द्वादशांग वाणी का अंतर्मुहूर्त में पाठ कर लिया जाए ।

(२) वचन बल ऋद्धि—जिसके बल से द्वादशांग वाणी का अन्तर्मुहूर्त में वचन द्वारा पाठ कर लिया जाए ।

(३) काय बल ऋद्धि—द्वादशांग वाणी का पाठ अन्तर्मुहूर्त में काय द्वारा कर लेना अथवा पहाड़ समान भारी बोझ को उठा लेना ।

पाँचवी तप ऋद्धि सात प्रकार की है—

(१) घोर ऋद्धि—श्मशान आदि भयानक स्थानों में निःशंक ध्यान लगा कर परिपह सह लेना ।

(२) महत् ऋद्धि—निर्विघ्न १०८ व्रत का क्रम पूर्वक पालन करना और उपवास करना ।

(३) उग्र तप ऋद्धि—एक दो अथवा तीन दिन तथा पक्ष मासादिक का उपवास प्रारम्भ कर मरणासन्न होने पर भी विचलित नहीं होता ।

(४) दीप्ति ऋद्धि—घोर तप करने से भी देह की कान्ति न घटना ।

(५) तप ऋद्धि—जो वस्तु ग्रहण की जाए अथवा पान की जाए उसका मल, मूत्र, मॉस कुछ भी न बने । जिस प्रकार अग्नि में गिरने से सब पदार्थ भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार भोजन का मल, मूत्र आदि रूप में परिणमन न होना ।

(६) घोर गुण ऋद्धि—रोग आदि के होने पर भी अनशन आदि व्रत का अतिचार रहित पालन करना ।

(७) घोर ब्रह्मचर्य ऋद्धि—ऐसा ब्रह्मचर्य का पालन करना कि जिससे स्वप्न में भी चित्त बलाग्रमान न हो ।

छठी रस ऋद्धि के ४ भेद हैं—

(१) पयस्त्रवा ऋद्धि—मुनि जिस गृहस्थ के घर भोजन करें तो उनके पाणिपात्र में रुक्ष-भोजन भी क्षीर रस रूप में परिणमन हो जाए और उस दिन समस्त रसोई दुग्धमय हो जाए ।

(२) घृतस्त्रवा ऋद्धि—मुनि जिस गृहस्थ के घर भोजन करें तो उस दिन समस्त रुक्ष भोजन भी घृतसहित हो जाए ।

(३) मिष्टास्त्रव ऋद्धि—मुनि जिस गृहस्थ के घर भोजन करे तो उस दिन रसोई मिष्टरस हो जाए ।

(४) अमृतस्त्रवा ऋद्धि—मुनि जिस गृहस्थ के घर भोजन करे उस दिन रसोई अमृतमय हो जाए ।

सातवीं विक्रिया ऋद्धि—ग्यारह प्रकार की होती है—

- (१) अणिपा ऋद्धि—जिसके बल से अपना शरीर छोटा कर सकते हैं।
- (२) महिमा ऋद्धि—जिससे पर्वत के समान दीर्घ शरीर धारण कर सकते हैं।
- (३) लघिमा ऋद्धि—जिसके बल से आक वृक्ष के तुल्य समान हलका शरीर धारण कर सकते हैं।
- (४) गरिमा ऋद्धि—जिसके बल से पर्वत के समान भारी शरीर धारण कर सकते हैं।
- (५) प्राप्ति ऋद्धि—जिससे पृथ्वी पर बैठे भेरु आदि को पादांगुष्ठ से स्पर्श कर सकते हैं।
- (६) प्राकाम्य ऋद्धि—जिससे समुद्र, सरोवर आदि के जल में पृथ्वी पर गमन करने के समान गमन करे।
- (७) ईश्वरत्व ऋद्धि—जिससे अपनी इच्छा के अनुसार वैभव धारण कर सकते हैं।
- (८) वशित्व ऋद्धि—जिससे मनुष्य, पशु आदि को इच्छानुसार वश में कर सकते हैं।
- (९) अप्रतिघात ऋद्धि—जिससे पर्वत, कोट आदि को भेदकर अनिरुद्ध आकाशवत् चले जावें।
- (१०) अन्तर्ध्यान ऋद्धि—जिससे अन्य मनुष्यों से दृष्टि अगोचर होकर स्वयं सब मनुष्यों को देख सकते हैं।

(११) कामरूपित्व ऋद्धि—जिससे पशु, पक्षी आदि का रूप इच्छानुसार बना सकते हैं।

आठवीं क्रिया ऋद्धि के दो मूल भेद और दश उत्तर भेद हैं। दो मूल भेद—(१) चारण ऋद्धि (२) आकाशगामिनी ऋद्धि।

चारण ऋद्धि आठ प्रकार की है—

- (१) जल चारण ऋद्धि—जिसमें भूमि, वायु और जल पर गमन कर सकते हैं।
- (२) जंघाचारण ऋद्धि—जिससे पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर चल सकते हैं।
- (३) पुष्प चारण ऋद्धि—पुष्पों पर पांव रखते हुए गमन करे परन्तु फिर भी फूल न टूटे।
- (४) फल चारण ऋद्धि—जिससे फलों पर पैर रखकर चलने पर भी फल न टूटें।
- (५) पत्र चारण ऋद्धि—जिससे पत्तों पर पैर रखकर चलने पर भी पत्र न टूटे।
- (६) शयन चारण ऋद्धि—जिससे कोमल तन्तु वाली बेल पर पैर रखकर चलने पर भी बेल न टूटे।
- (७) तन्तुचारण ऋद्धि—जिससे मकड़ी के तन्तु पर पैर रखकर चलने पर भी तन्तु न टूटे।
- (८) अग्निशिखा चारण ऋद्धि—जिससे अग्नि शिखा पर पैर रखकर चलने पर भी पैर न जले।

आकाशगामिनी ऋद्धि दो प्रकार है—

- (१) पद्मासन ऋद्धि—जिससे पद्मासन बैठे हुए आकाश में गमन कर सकते हैं।
- (२) कायोत्सर्ग ऋद्धि—जिससे खड़े हुए आकाश में जा सकते हैं।

आठ प्रकार की चारण ऋद्धि और दो प्रकार आकाशगामिनी ऋद्धि—इस प्रकार क्रिया ऋद्धि के दश भेद हैं।

॥ इति साधु गुण वर्णन समाप्त ॥

अब अन्त में पंच परमेष्ठी की स्तुति कर प्रथम अधिकार समाप्त करेंगे।

कैसे हैं अर्हंत भगवान ? जो गृहावस्था को छोड़कर, मुनिव्रत धारण कर कर्मों की निर्जरा कर उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान के बल से मोहनीय आदि चार कर्मों का नाश कर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूपी अन्तरंग लक्ष्मी और समवधारण आदि बाह्य लक्ष्मी को प्राप्त कर परमौदारिक शरीर से भव्य जीवों को निज उपदेशामृत की वर्षा कर संसार भ्रमण से प्राप्त हुई संतुष्टता को शान्त करते हैं अर्थात् उससे छुड़ा देते हैं । ऐसे अर्हंत भगवान को मेरा बारम्बार नमस्कार हो ।

कैसे हैं सिद्ध भगवान ? जो कर्मरहित सम्यक्त्वादि अष्ट गुण भंडित, जन्म, जरा, मरण रहित अविनाशी, निष्कल परमात्मा लोक के शिखर में स्थित हैं उनको मेरा बारम्बार नमस्कार हो ।

कैसे हैं आचार्य महाराज ? जो द्वादशांग रूप श्रुतसागर के पारगामी स्वपर कल्याण के कर्ता स्वयं पंचचार रूप का पालन करते हैं और संघ समूह को करवाते हैं उन आचार्यों को मेरा बारम्बार नमस्कार हो ।

कैसे हैं उपाध्याय परमेष्ठी ? ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी पच्चीस गुण के धारक, मोक्ष मार्ग के उपदेशक उपाध्याय को निजात्म रात्व को प्राप्ति के लिए बारम्बार नमस्कार हो ।

कैसे हैं साधु परमेष्ठी ? संसारी विषय कषाओं से विरक्त, निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारी मोक्ष मार्ग का साधन करने में तत्पर, अतश्नादि व्रत करके कर्मों की संवर व निर्जरा के कर्ता ऐसे साधु परमेष्ठी मुझे मोक्ष मार्ग का उपाय बताएं ।

इति पंच परमेष्ठी गुण का वर्णन करने वाला प्रथम अधिकार सम्पूर्ण हुआ ।

॥ अथ रत्नत्रय नामक द्वितीयोऽधिकारः ॥

संसारी जीवों की दुःखमय दशा को देखकर परम पूज्य तीर्थंकर भगवान ने अपार संसार से विरक्त होकर गृहस्थ अवस्था को छोड़कर मुनि पद धारण करके शुभाशुभ कर्मों को जीतकर परम शुक्ल ध्यान के बल से चार धातियां कर्मों का नाश करके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्टय से युक्त परमौदारिक शरीर में रह कर संसारी जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया जिसमें मोक्ष व मोक्ष के कारण तथा संसार के कारण और स्वरूप को सम्यक् प्रकार से दर्शाया और मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मा के निज स्वभाव सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान सिद्ध करने के लिए कर्म जनित विभावों को छोड़कर निजस्वभाव में प्रवृत्त होने के लिए सम्यक् चरित्र धारण करने का उपदेश दिया । अनादि काल से किए हुए गृहीत, अगृहीत, मिथ्यात्व स्वरूप रोग को एकदम दूर करने की शक्ति सर्वसाधारण मनुष्य में नहीं है इसलिए जैसे बहुत काल पर्यन्त सेवन करते अफीम के व्यसनी मनुष्य का एकदम व्यसन को छोड़ने में असमर्थ जानकर क्रम क्रम से छोड़ने की परिपाटी बताई जाती है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान ने निज दिव्य ध्वनि के द्वारा संसार रोग से मुक्त होने के लिए संसारी जीवों का मुनि और श्रावक धर्म ऐसी दो श्रेणियों का उपदेश दिया । पूर्ण सुखी होने का यत्न तो यद्यपि मुनि पद ग्रहण करने से होता है परन्तु जब तक ऐसा न हो सके, जब तक उस शक्ति को धारण करने में असमर्थता हो तब तक गृहस्थाश्रम में रहकर मनुष्य यथाशक्ति, यथाक्रम, सम्यक् प्रकार और रुचि पूर्वक अभ्यास करते रहने से, व्रत की वृद्धि होने से मुनिव्रत धारण करने की शक्ति प्राप्त कर सकता है अतः यहां प्रथम अणुव्रत रूप गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हैं ।

प्रथम सम्यक् दर्शन का वर्णन करते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व रूपी नींव के बिना चरित्र रूपी महल नहीं बन सकता जैसे कहा भी है कि—

श्लोक—मंदिराणामधिष्ठानं तरुणां सुवृद्धं जड़म् ।

यथा मूलं व्रतादीनां, सम्यक्त्वमुदितं तथा ॥

अर्थ—जिस तरह मकानों की नींव जब तक दृढ़ न हो तब तक मकान चिरकाल पर्यन्त नहीं ठहर सकता तथा वृक्षों के सुवृद्ध रहने का मूल कारण जड़ है, उसी तरह कितने भी व्रत नियमादि धारण किए जाएं पर जब तक सम्यक्त्व न होगा तब तक वे श्रृंग के बिना शून्य (बिन्दु) लिखने वत् निष्फल हैं । अतएव व्रतादिकों का मूल कारण सम्यक्त्व को समझ कर प्रथम उसी के धारण करने में प्रयत्नशील होना चाहिए । इसी कारण आचार्यों ने कहा है—‘सम्मं धम्मं मूलो’ । अर्थात् सम्यक्त्व धर्म की जड़ है जिसके प्रभाव से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को द्रव्यलिङ्गी मुनि से भी श्रेष्ठ कहा है क्योंकि यद्यपि द्रव्यलिङ्गी मुनि व्रतादि धारण करता है तथापि सम्यक्त्व रहित होने से मोक्षमार्गी नहीं है और गृहस्थ चरित्र रहित है तो भी सम्यक्त्व महित होने से मोक्षमार्गी कहा है ।

सम्यग्दर्शन प्रकरण :—सम्यग्दर्शन स्वरूप—

जीवादी सदृहणं सम्मत्तं रूपमप्यणो तं तु ।

दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु हो दि सदि जम्हि ॥

अर्थ—जीवादिक तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है वह आत्मा का स्वरूप अर्थात् आत्मा का खास स्वभाव है और उसके होने पर ज्ञान दुरभिनिवेश रहित होकर सम्यग्ज्ञान रूप हो जाता है जिस का श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है ।

वह तत्व क्या वस्तु है ? अपने स्वभाव को छोड़कर पर स्वभाव को ग्रहण नहीं करना और सदा निज स्वभाव में रहना तत्व है और वह तत्व जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष सात होते हैं । अब इनका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है ।

प्रथम जीव तत्व वर्णन

जीव शब्द के कहने से निश्चयरूप से उस वस्तु से प्रयोजन है जो ज्ञान, दर्शन (देखना, जानना) लक्षण से संयुक्त असंख्यात प्रदेशी है क्योंकि ज्ञान रूपी गुण जीव के ही पास है अन्य किसी के पास नहीं । जिस वस्तु से जीव नहीं होता है उसे जड़ कहते हैं । जड़ में देखने व जानने की शक्ति नहीं होती, यह शक्ति जीव के ही पास है । जीव त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य पर्यायों को जानने में समर्थ है तथापि अनादि काल से द्रव्य कर्म के संयोग से राग, द्वेष वश परिणमन करता हुआ विभावरूप हो रहा है इसलिए इस में स्वभाव, विभाव रूप से नौ प्रकार की परिणति पाई जाने के कारण श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य ने इसका नौ प्रकार से वर्णन किया है । वे नव अधिकार इस प्रकार हैं:—

गाथा—जीवो उवश्रोतमग्नो अमृत्तिकस्ता सवेहपरिमाणो ।

भोक्ता संसारत्यो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

अर्थ—जीवत्व, उपयोगत्व, अमृत्तित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सदेह परिमाणत्व, संसारत्व, सिद्धत्व और उर्ध्वगतित्व—इस प्रकार जीव के ज्ञान कराने वाले नव अधिकार हैं ।

महापुराण का श्लोक इस प्रकार है—

चेतना लक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनः स्थितिः ।

ज्ञाता वृष्टा च कर्त्ता च, भोक्ता वेह प्रमाणकः ॥

गुणवाग्कर्ममिमुंस्ता, बूर्ध्ववश्यास्वाभावकः ।

परिणतोपसंहारः विसर्पान्या प्रवीपवत् ॥ २४/६२-६३

इस श्लोक का तात्पर्य भी ऊपर की गाथा के अनुसार है इसीलिए अर्थ नहीं लिखा है। अब पृथक्-पृथक् अधिकारों का वर्णन करते हैं।

प्रथम जीवाधिकारः—

यथार्थ में जिसके एक चेतना ही प्राण है और व्यवहार से इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण लेकर तीनों कालों में जीवन धारण करे वह जीव है। इन प्राणों के दश विशेष भेद हैं यथा—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय तीन बल, और आयु व श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणों से ही यह जीव अनादिकाल से जीता है। प्रत्येक जीव के कम से कम चार प्राण और अधिक से अधिक दश प्राण होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के चार प्राण अर्थात् स्पर्श, इन्द्रिय, शरीर का बल, आयु और श्वासोच्छ्वास होते हैं। दो इन्द्रिय जीवों के पूर्वोक्त चार प्राणों से रसना इन्द्रिय और बल, ये दो प्राण अधिक होते हैं अर्थात् उनके छः प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय वाले जीवों के पूर्वोक्त छः प्राण और एक घ्राण इन्द्रिय ये सात प्राण होते हैं। चार इन्द्रिय वाले जीवों के पूर्वोक्त सात प्राण और एक चक्षु इन्द्रिय ये आठ प्राण और श्रोत्र इन्द्रिय ये नव प्राण होते हैं। इन्हें मनबल रहित होने से असैनी पंचेन्द्रिय कहते हैं और जिनके पूर्वोक्त नव प्राण मन बल सहित हों अर्थात् समस्त दश प्राण हो उन्हें सैनी पंचेन्द्रिय कहते हैं।

द्वितीय उपयोग अधिकार का वर्णन

निश्चय नय बुद्ध चैतन्य भाव ही जीव का लक्षण है और व्यवहार नय से चार प्रकार का दर्शन, अवधि और आठ प्रकार का ज्ञान जीव का लक्षण है। चार प्रकार के दर्शन में हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन। सुमति, सुश्रुति, कुमति, कुश्रुति, सुअवधि, कुअवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान ये आठ प्रकार का ज्ञान है नेत्र इन्द्रिय से सामान्य रूप से देखता चक्षु दर्शन है। नेत्र इन्द्रिय बिना धार इन्द्रिय और मन से द्रव्य की समान रूप में देखता अचक्षु दर्शन है पंचेन्द्रिय और मन की सहायता बिना मूर्तिक पदार्थ का सामान्य रूप से प्रत्यक्ष देखना अवधि दर्शन है। समस्त मूर्तिक प्रमूर्तिक पदार्थों को केवल ज्ञान से सामान्य रूप से प्रत्यक्ष देखना केवल दर्शन है।

पाँचों इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थ को जानना मतिज्ञान है।

मतिज्ञान पूर्वक जाने हुए पदार्थ से सम्बन्धित अन्य पदार्थों का जानना श्रुतज्ञान है।

पंचेन्द्रिय और मन की सहायता बिना मूर्तिक पदार्थ को एक देश प्रत्यक्ष जानना अवधिज्ञान है।

मति, श्रुति और अवधि ये तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि के जब होते हैं तब कुमति, कुश्रुति कुअवधि कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुति, अवधि कहलाते हैं।

किसी जीव के मन में चितवन किए हुए पदार्थ को जानना प्रत्यक्ष मनः पर्ययज्ञान है। यह ज्ञान सम्यग्दृष्टि मनुष्य के ही हो सकता है अन्य किसी के नहीं।

समस्त मूर्तिक, प्रमूर्तिक द्रव्य गुण पर्याय को प्रत्यक्ष जानना केवलज्ञान है ऐसा केवलज्ञान सबसे बड़ा है।

तृतीय प्रमूर्तिक अधिकार

निश्चयनय से जीव स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इन चार गुणों से रहित होने से प्रामूर्तिक है। परन्तु व्यवहारनय से कर्मबंध (शरीरादि) से सहित होने के कारण जीव मूर्तिक भी कहा जाता है।

चतुर्थ कर्ता अधिकार

व्यवहार से जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों का तथा आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अधातिया—ऐसे आठ कर्मों का कर्ता है और अशुद्ध निश्चयनय ये अशुद्ध चेतन परिणाम रागादिक भावकर्मों का कर्ता है और शुद्ध निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्य भावों का अर्थात् शुद्धज्ञान व दर्शन का ही कर्ता है।

पाँचवाँ भोक्ता अधिकार

व्यवहारनय से यह जीव अपने शुभाशुभ परिणामों द्वारा बाँधे हुए ज्ञानवरणादिक पौद्गलिक कर्मों के सुख दुःख स्वरूप फल का भोक्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से विषय, कषाय, दया, समता आदि अपने भावों का भोक्ता है और शुद्ध निश्चयनय में रहने शुद्ध चैतन्य भावों का ही भोक्ता है।

छठा स्वदेहपरिमाणत्व अधिकार

शुद्ध निश्चयनय तो प्रत्येक जीव लोक के बराबर असंख्यात् प्रदेश वाला है। अर्थात् लोकाकाश के प्रदेश जितनी संख्या में हैं उतने ही प्रदेश प्रत्येक जीव के हैं परन्तु व्यवहारय से नाम कर्म के उदय से जैसा छोटा-बड़ा वह शरीर धारण करता है उसी के आकार के उसके आत्म प्रदेश संकोच विस्तार रूप हो जाते हैं। जैसे दीपक का प्रकाश जब मकान छोटा होता है तो भी सारे मकान में फैला हुआ होता है और यदि उस ही दीपक को बड़े मकान में रख दिया जाये तो भी सारे मकान में प्रकाश विस्तृत हो जाता है उसी प्रकार यह हाथी के शरीर में जाता है तो हाथी के शरीर का प्रमाण हो जाता है और वही जीव जब किसी छोटी वस्तु का शरीर धारण करता है तो संकुचित होकर उतना ही छोटा हो जाता है। इसी प्रकार बालक की देह में जीव बालक के शरीर के बराबर होता है और ज्यों-ज्यों शरीर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों जीव भी विस्तृत हो जाता है परन्तु केवल समुद्घात अवस्था में आत्म-प्रदेश शरीर के बाहर निकलते हैं। कषाय आदि सात कारणों के उपस्थित होने पर मूल शरीर को न छोड़कर आत्म प्रदेश के बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। वे सात हैं —

(१) कषाय (२) वेदना (३) मरणांतिक (४) आहारक (५) वैक्रियिक (६) तेजस (७) कार्माण। जहाँ असह्य पीड़ा में जीव प्रदेश ध्वराहट से निकलें और शीघ्रि स्पर्श कर फिर शरीर में आवें सो वेदना समुद्घात है।

जहाँ किसी शत्रु के मारने से क्रोधवश जीव प्रदेश सर्व ओर को देह से बाहर निकलें सो कषाय समुद्घात है। मरण समय आत्म प्रदेशों का शरीर के बाहर एक ही दिशा को निकलना सो मरणांतिक समुद्घात है।

जब मुनि को किसी पदार्थ में संदेह उत्पन्न होता है तब जो प्रसन्न गुणस्थानवर्ती ऋद्धिधारी महामुनि के दशम द्वार (मस्तक) से एक हाथ प्रमाण वाले रसादिक धातु और संहनन से रहित सम-चतुरस्त्रसंस्थान संयुक्त चन्द्रकांति के समान श्वेत पुतलाकार आत्मप्रदेश निकल जहाँ केवल ज्ञान के धारी स्थित हों वहाँ जाकर पदार्थ का निश्चयकर अन्तर्मुहूर्त में उलटा आकर शरीर में प्रवेश करता है और वह एक ही ओर निकलता है वह आहारक समुद्घात है। देव नारकी व मनुष्यों के आत्म प्रदेश कारण से विक्रिया करने को अपने अंग से आत्म प्रदेशों का बाहर निकलना वैक्रियिक समुद्घात है।

मुनि के द्वारा जब दुष्टों द्वारा हुआ अनिष्ट, उपद्रव आदि देखकर क्रोध सहा न जावे तब बायें कन्धे से आत्म प्रदेश रक्तवर्ण पुतलाकर निकल मुनि ने जिस बात को अनिष्ट समझा था उस

सहित १२ योजन प्रमाण के समस्त जीव पुद्गलों को भस्म करता है और फिर उल्टा आकर मुनि को भस्मकर आप भी भस्म हो जाता है। सूचना—किसी स्थान पर ऐसा भी लिखा है कि मुनि के बाएँ कंधे से आत्मप्रदेश पुतलाकार रूप में निकल १२ योजन लम्ब, तब योजन चौड़े क्षेत्र को मुनि सहित भस्म कर देते वह अशुभ तैजस समुद्घात है। लोक में किसी प्रकार की दुर्भिक्षादि व्याधि देखकर करुणावश मुनि के बाएँ कंधे से मनुष्य के आकार समान श्वेत वर्ण आत्म प्रदेशों का पुतला निकलकर अपनी शक्ति से बारह योजन प्रमाण क्षेत्र के जीवों की व्याधि दुर्भिक्षादि को दूरकर फिर उल्टा आकर शरीर में प्रवेश करता है। वह शुभ तैजस है। ऐसे दो प्रकार तैजस समुद्घात है।

तेरहवें गणस्थान में जब केवली भगवान की आयु थोड़ी रह जाती है और कुछ संसार भ्रमण शेष रहता है तब मुनि दंडक पार करते हैं तब प्रथम समय में दंड रूप आत्मा के प्रदेश निकलें दूसरे में कपाट रूप हो जाएँ तीसरे में प्रतर रूप, चौथे में लोक पूर्ण हो जाएँ, फिर पाँचवें में संकुचित होकर प्रतर रूप हो जाएँ, छठे में कपाट रूप, सातवें में केवली शरीर में प्रवेश कर शरीर प्रमाण आत्मा के प्रदेश हो जाते हैं। इन कारणों के उपस्थित होने पर ही चैतन्य शरीर से बाहर निकलता है। इनके सिवाय आत्मा देह प्रमाण ही रहता है और निष्कर्म अवस्था (सिद्धावस्था) में चरम शरीर से किंचित न्यून आकार प्रमाण आत्मप्रदेश रहते हैं।

विशेष—जो महामुनि उत्कृष्ट रूप से आयु के छह मास अवशेष रहने पर केवल जानी होते हैं उनके तो नियम से केवल समुद्घात होता है और जो आयु के षट् मास से अधिक अवशिष्ट रहने पर केवल जानी होते हैं उनके यदि अन्त में आयु की स्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाए और वेदनीय, नाम तथा गोत्र इन तीनों कर्मों की स्थिति विशेष हो तो उनके उक्त तीनों कर्मों की स्थिति आयुक्रम के समान करने के लिए नियम से समुद्घात होता है जिससे आत्म प्रदेशों के विस्तारित होने से वेदनीय आदि तीनों कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे किसी गीले वस्त्र को यदि फैला दिया जाता है तो उस में से जल परमाणु शीघ्र ही क्षय होकर अल्प समय में ही सूख जाते हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रदेश केवल समुद्घात के समय दंड कपाट आदि रूप विस्तृत होने से वेदनीय आदि तीनों कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं जिन केवलियों के खड़े हुए समुद्घात होता है उनको प्रथम समय में आत्मा के प्रदेश वातबलयों की मोटाई को छोड़ कर चौदह राजू लम्बे और द्वादश अंगुल परिणाम मोटे घन रूप दंडाकार निकलते हैं। और यदि बैठे हुए समुद्घात होता है तो अपने शरीर से तिगुने मोटे और वातबलयों की बहुलताहीन चौदह राजू लम्बे दंडरूप आत्म-प्रदेश होते हैं। दूसरे समय में दंडाकार को तजकर यदि केवली पूर्व मुख स्थित हों तो पूर्व पश्चिम खड़े हुए समुद्घात करने वालों के द्वारा दस अंगुल परिमित और बैठे हुए व अपने शरीर से तिगुने मोटे कपाट रूप आत्म-प्रदेश होते हैं।

तीसरे समय में आत्मा के प्रदेश वातबलय बिना समस्त लोक में प्रतररूप और चौथे समय में वातबलयों सहित ३४३ राजू प्रमाण लोक में घन रूप आत्मा के प्रदेश व्याप्त होकर लोकपूर्ण होते हैं। पश्चात् पाँचवें समय में संकुचित होकर प्रतर रूप छठे में कपाट रूप, सातवें में दंड रूप आठवें में मूल शरीर प्रमाण हो जाता है।

सातवाँ संसारत्व अधिकार

जब तक यह जीव कर्मों के वशीभूत होकर नाना प्रकार जन्म मरण करते हुए संसार में भ्रमण करता रहता है तब तक संसारी है। संसारी जीवों के मुख्यतः दो भेद हैं—स्थायर और त्रस। स्थायर पाँच प्रकार के हैं—

(१) पृथ्वीकायिक (२) जलकायिक (३) अग्निकायिक (४) वायुकायिक (५) वनस्पति कायिक ।

यस जीव चार प्रकार के होते हैं—दो इन्द्रिय लट, शंख आदिक, तीन इन्द्रिय पिपीलिका (चीटी) खटमल बिच्छू आदि, चतुः इन्द्रिय भ्रमर, मक्खी आदि । पंचेन्द्रिय के दो भेद हैं—समनस्क और असमनस्क । पशु, पक्षी, देव, नारकी, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय हैं जिनको अपने हित-अहित अथवा गुण दोष आदि का विचार हो उनको समनस्क पंचेन्द्रिय और जो विचार शून्य हों उनको असमनस्क पंचेन्द्रिय कहते हैं और बाकी के सर्वजीव असमनस्क ही जानने चाहिए । जिनमें से एकेन्द्रिय जीव बादर तथा सूक्ष्म दो प्रकार के हैं । जो पृथ्वी आदि से रुक जाएं अथवा दूसरों को रोकें उन्हें बादर और पृथ्वी आदि से स्वयं न रुकें और न दूसरे पदार्थों को रोकें उनको सूक्ष्म कहते हैं और ये एकेन्द्रिय आदि से लेकर सब ही जीव पर्याप्त अपर्याप्त भेद से दो प्रकार के होते हैं ।

(१) आहार (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) श्वासोच्छ्वास (५) भाषा और (६) मन ये छः पर्याप्ति हैं । इनमें से एकेन्द्रिय के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्ति होती हैं । सभी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्ति होती हैं । पर्याप्ति सहित जीव को पर्याप्त कहते हैं और जिस जीव के उत्पन्न होने पर जब तक उपर्युक्त चार पांच या छः पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक उसे अपर्याप्त जीव कहते हैं ।

सिद्धत्व अधिकार

यदि सामान्यतः देखा जाय तो अष्ट कर्मों के नाश होने से जीव निजात्मीक, निराकुलित सुख को प्राप्त होकर धरम शरीर से किंचित न्यून आकार लिए लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाता है और अनन्त काल पर्यन्त इसी सुखी अवस्था में रहता है ऐसे सिद्ध होजाने पर जीव सिद्ध कहलाता है । एक एक सिद्ध की उत्कृष्ट अवगाहना में अनन्त सिद्ध विराजमान होते हैं, परन्तु प्रत्येक सिद्ध महाराज की आत्मा पृथक् रहती है अन्य सिद्धों से मिलकर एकीभाव नहीं होती । वह सिद्ध महाराज समुद्रवत् स्थिर हैं अर्थात् उनके प्रदेश चलायमान नहीं होते हैं परन्तु समुद्र लहरवत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से एक सत्ता लिए स्थित है । यदि विशेष रूप से देखा जाए तो अष्ट कर्मों के अभाव से सम्यक्त्वादि अष्ट गुण उत्पन्न होते हैं जो अनादिकाल से कर्मों से आच्छादित हो रहे थे यथा—मोहनीय के अभाव से सम्यक्त्व, ज्ञानावरणी के अभाव से केवलज्ञान, दर्शनावरणी के अभाव से अनन्त दर्शन, अंतराय के अभाव से अनन्तवीर्य, नामकर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, आयु के अभाव से अवगाहनत्व, गोश्रकर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व, वेदनीय के अभाव से अव्याबाध गुण सिद्धों के उत्पन्न होते हैं ।

उर्ध्वगतित्व अधिकार

जीव चार प्रकार के कर्म बंध के सर्वथा अभाव होने से वक्रता रहित सीधापन वर्जित, अग्नि की शिखावत् उर्ध्वगमन कर एक ही समय में सिद्ध क्षेत्र में जा पहुंचता है, और जब तक कर्म रहित होता है तब तक मृत्यु होने पर नवीन शरीर धारण करने के लिए आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान इन चार दिशाओं को न जाकर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर चारों दिशाओं में तथा ऊपर नीचे को, इस प्रकार छः दिशाओं में धेणीवद्ध गमन करता है । संसारी जीव की गति जैसे तीर चलता है वैसी भी होती है । इसमें एक समय लगता है । यह गति भुक्त और संसारी दोनों की होती है और एक मोड़ खाकर भी होती है जैसे पानी को हाथ से अलग कर देने में एक मोड़ आता है । इसमें काल के दो समय लगते

हैं और दो मोड़ लिए भी होती है जैसे हल, इसमें तीन समय लगते हैं और तीन मोड़ा लिए भी होती है जैसे गी का मूतना, इसमें चार समय लगते हैं। मोड़ वाली तीन प्रकार की गति संसारी जीव के होती है विग्रह गति में जीव एक या दो या तीन समय बिना आहार के रहता है और इससे अधिक रहकर फिर अन्नस्थ नो कर्म वर्गणा रूप आहार ग्रहण कर लेता है। सारांश यह है कि जब तक वह जीव स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य केवल ज्ञान को प्राप्त न करे तब तक अनादि कर्म संयोग से शरीर रूप और मतिज्ञान आदि विकल ज्ञान रूप रहता है।

अथ अजीव तत्त्व वर्णन

इस प्रकार जीव तत्त्व का कथन करने के पश्चात् दूसरे अजीव तत्त्व का वर्णन करते हैं चतुर्ना रहित अर्थात् अपने अथवा दूसरे के न देखने जानने की शक्ति को अजीव कहते हैं। वह अजीव त्रिनागम में पाँच प्रकार के कहे गये हैं।

यथा — पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

यह लोक सर्वत्र षट् द्रव्यों से भरा हुआ है। वह छः द्रव्य ऊपर कहे हुए पाँच प्रकार के अजीव और एक जीव द्रव्य है। इन पाँच द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल अमूर्तिक और पुद्गल द्रव्य रूपाणि गुण संयुक्त होने से मूर्तिक है इसमें शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, यम, छाया, आताप और उद्योत आदि पर्यायें होती हैं। इसकी स्वाभाविक पर्याय परमाणु और स्वभाव गुण दो अविरोधी स्पर्श, रस, वर्ण, गंध ऐसे पाँच हैं जो परमाणु में होते हैं। पुद्गल की वैभाविक पर्याय स्कंध और वैभाविक गुण संयुक्त स्पर्श से स्पर्शान्तर रस से रसान्तर आदि बीस हैं तथा पुद्गल द्रव्य संख्यात असंख्यात, अनन्त प्रदेशी मूर्तिक परतन्त्र क्रियावान हैं। शरीर, भन, वचन, इवास, निश्वास से जीव द्रव्य का उपकार करता है। भावार्थ—आहार, वर्गणादि पाँच तरह के पुद्गल समूहों से शरीरादि बनते हैं। तथा सुख दुःख और जीना-मरना ये उपकार भी पुद्गलों के हैं क्योंकि सुख दुःख मरना भी कर्म रूप पुद्गलों के कारण से होता है।

पुद्गल वर्गणा छः प्रकार की हैं—

(१) स्थूल स्थूल—जो खंड होकर सहज में न मिले ऐसे दृढ़ पदार्थ जैसे पत्थर मिट्टी लकड़ी आदि।

(२) स्थूल—जो खंड करने पर किसी चीज की सहायता के वैसे ही मिल जाए जैसे जल, तेल, दुग्ध आदि।

(३) स्थूलसूक्ष्म—जो देखने में बहुत मालूम हों परन्तु पकड़ने में न आवें जैसे चांदनी, धूम, छाया आदि।

(४) सूक्ष्म स्थूल—जो नेत्रों से दुष्पिणोचर न होकर अन्य इन्द्रियों से जाने जावें जैसे शब्द, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि। ये नेत्रों के द्वारा देखने में नहीं आते परन्तु अन्य इन्द्रियों द्वारा साक्षात् प्रगट होते हैं। कर्मवर्गणा अनेक प्रकार की है। यह इन्द्रियों को भी प्रतीत नहीं होती। बाधा हुआ यह आत्मा अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है।

(५) सूक्ष्म—अनेक भाँति की कर्म वर्गणा जो इन्द्रिय ज्ञान गोचर नहीं होती जिनसे बंधा हुआ यह आत्मा अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है।

(६) सूक्ष्म सूक्ष्म—सबसे छोटा पुद्गल परमाणु जिसका फिर विभाग न हो सके।

यह पुद्गल द्रव्य लोक के भीतर ही हैं। परमाणु नित्य और स्कंध परमाणु नाशवान हैं।

भेद और परमाणु संघात मिलकर स्कंध रूप होता है। स्निग्ध और रुक्ष गुण से बंध होता है। यदि गुणहीन हो अथवा दोनों में समान हो अथवा एक तीन से कितने ही गुण अधिक परिच्छेद हो तो बंध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि बंध तब ही होता है जब एक में दूसरे से दो गुण अधिक हो जैसे चार स्निग्ध वाले के साथ पाँच, सात, नौ अधिक स्निग्ध वा रुक्ष वाले के साथ ही बंध होगा इसी प्रकार समस्त बंधों में दो दो गुण अधिक वाले का ही बंध होता है। इस नियम के अनुसार एक गुण वाले और तीन गुण वाले का भी बंध होना चाहिए, किन्तु वह नहीं होता क्योंकि यह नियम है कि 'न जघन्य गुणानान्तृ' अर्थात् जघन्य गुण सहित परमाणुओं में बंध नहीं होता है। अतएव एक गुण वाले का तीन गुण वाले के साथ बंध नहीं होता। किन्तु तीन गुण वाले का पाँच गुण वाले के साथ बंध हो सकता है क्योंकि तीन गुण वाला जघन्य गुण वाला नहीं है। एक गुण वाले को ही जघन्य गुण कहते हैं। और बंध अवस्था में अल्प गुण के स्कंध अधिक गुण वाले के ही स्कंध रूप हो जाते हैं। यह पुद्गल द्रव्य का संक्षेप में वर्णन किया है।

धर्म द्रव्य वर्णन

यह धर्म द्रव्य गमन करते हुए पुद्गल और जीवों को उदासीन रूप से सहकारी होता है। धर्म द्रव्य के बिना जीव या पुद्गल चल नहीं सकता है। परन्तु धर्म द्रव्य किसी स्थिर वस्तु को बलपूर्वक भी नहीं चलाता है पानी मछलियों के चलने में सहकारी होता है। किन्तु प्रेरक नहीं होता। यह द्रव्य असंख्यात प्रदेश, नित्य अविनाशी, विभाग पर्याय रहित, निष्क्रिय तिल में तैलवत् समस्त लोकाकाश में व्याप्त है।

अधर्म द्रव्य वर्णन

यह अधर्म द्रव्य पुद्गल और जीवों को स्थित होते हुए उदासीन रूप से सहायता देता है जैसे मार्ग में चलने वाला पथिक वृक्ष की छाया में बैठ जाता है परन्तु वह चलते हुए मनुष्य को प्रेरक होकर नहीं ठहराता है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्थिर होने को प्रेरणा नहीं करता है। यह द्रव्य भी असंख्यात, प्रदेशी, अविनाशी, निष्क्रिय, अमूर्तिक है और तीन लोक में सर्वत्र व्याप्त है।

आकाश द्रव्य वर्णन

यह आकाश द्रव्य जीवादि पाँच तत्वों को अधकाश दान देने वाला, जड़, अरूपी, अनन्त प्रदेशी एक है इसमें भी स्वभाव पर्याय होती है विभाग पर्याय नहीं होती। जितने आकाश में धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य स्थित हैं वह लोकाकाश है और जहाँ ये एक भी नहीं हैं केवल आकाश ही आकाश है वह अलोकाकाश है।

काल द्रव्य वर्णन

यह काल द्रव्य वर्तना लक्षण युक्त है। प्रत्येक द्रव्य का परिवर्तन करने वाला अर्थात् पर्याय से पर्यायांतर होने में उदासीन रूप से सहकारी होता है जिस प्रकार कुम्हार के चाक के फिरने में चाक के नीचे की कीली कारण है यद्यपि फिरने की शक्ति चाक है, चाक ही फिरता है किन्तु वह बिना नीचे की कीली के फिर नहीं सकता, इसी प्रकार जीव, पुद्गल आदि समस्त पदार्थ जो अपने आप परिणमन होते रहते हैं उनके परिणमन में काल निमित्त कारण है। व्यवहार नय से इसकी पर्याय समय, पल, घटिका, मुहूर्त और दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, अयन वर्षादि है वह निश्चय काल की पर्याय है। नवीन से पुराना, पुराने से नवीन करना काल द्रव्य का ही उपकार है। समय काल की पर्याय का सबसे छोटा अंश है। इसी के समूह से आवली, घटिका आदि व्यवहार काल का प्रमाण होता है। यह द्रव्य अवि-

नाशी, अमूर्तिक और जड़ है इसके अणु लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर असंख्यात हैं क्योंकि लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर काल द्रव्य का एक-एक अणु रत्नों की राशि के समान भरा है। रत्नों की राशि का उदाहरण देने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार रत्न-राशि एकत्रित होने पर भी उनमें प्रत्येक रत्न पृथक्-पृथक् रहता है उसी प्रकार काल के अणु पृथक्-पृथक् हैं वे मिलकर एकत्र नहीं हो सकते, एक प्रदेशी हैं। इस कारण काल को काय संज्ञा नहीं दी जा सकती। काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश व जीव को अशिकाय कहते हैं इनमें स्वभाव पर्याप्त होती है विभाव नहीं होती।

इति उपरोक्त छः द्रव्यों में से चार द्रव्य वर्णन समाप्त हुआ।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल उदासीन स्वभाव रूप और स्थिर रहते हैं और बाकी दो द्रव्य-जीव और पुद्गल में ही लोकाकाश में भ्रमण की शक्ति है इससे इन दोनों को क्रियावान कहते हैं शेष चार द्रव्य निष्क्रिय होते हैं।

अजीव तत्त्व वर्णन समाप्त हुआ।

इनमें जीव-अजीव दो तत्त्वों के अतिरिक्त शेष पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति जीव और अजीव (पुद्गल) के संयोग तथा वियोग की विशेषता से है। जीव पुद्गल का संयोग रहना, संसार और जीव व पुद्गल का अत्यन्त वियोग हो जाना मोक्ष है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में ये सप्त तत्त्व अति ही कार्य-कागी हैं। ये आत्मा के स्वभाव व विभाग बताने के लिए दोषक के समान हैं। इसलिए सबसे पहले हमको जानना चाहिए क्योंकि इसके जाने बिना दृढ विश्वास नहीं हो सकता और विश्वास बिना कर्तव्य और अकर्तव्य की यथार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इन सप्त तत्त्वों को जानने का मुख्य प्रयोजन यही है जिससे आत्मा के स्वभाव-विभाग का श्रद्धान्त ऐसा हो जाए कि आस्त्रव के द्वारा बंध होता है और बंध जीव, अजीव का संसर्ग कर दुःख पाता है और संवर से आस्त्रव-यकता है तथा निर्जरा से क्रमशः बंध छूटता है। कर्म के सर्वथा अभाव होने से जीव को मोक्ष होता है, इससे ये दोनों मोक्ष रूप कार्य के कारण हैं इनमें से अजीव, आस्त्रव बंध हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं और जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य हैं और मोक्ष होने पर संवर, निर्जरा भी हेय हैं, आस्त्रव, संवर और निर्जरा कारण हैं, बंध और मोक्ष कार्य हैं इन सातों तत्त्वों में पाप, पुण्य मिलाने से नव पदार्थ हो जाते हैं, इस प्रकार इन सबका श्रद्धान्त करना सम्यग्दर्शन है और तत्त्वों के ज्ञान बिना श्रद्धान्त होना असम्भव है। इसी कारण साक्षात् आत्मा का श्रद्धान्त कराने वाले सप्त तत्त्वों के वर्णन में से दो तत्त्वों का पूर्ण वर्णन कर शेष पाँच तत्त्वों का वर्णन करते हैं।

आस्त्रव तत्त्व वर्णन

जीवों की मिथ्यात्व, अविरत कषायादि भावों से युक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होने से तथा उनके अभाव में पूर्व बद्ध कर्म के उदय होने से, केवल योगों द्वारा आत्म-प्रदेशों के चंचल होने से आत्मा के बद्ध होने के लिए पुद्गल परमाणुओं को सन्मुख होना द्रव्यास्त्रव और आत्मा के जिन भावों से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप होते हैं उन भावों को भावास्त्रव कहते हैं। इस भावास्त्रव के (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय (४) प्रमाद (५) योग ये पाँच भेद हैं। जीवादि तत्त्व का अन्यथा श्रद्धान्त करना मिथ्यात्व है। इसके दो भेद हैं (१) ग्रहीत मिथ्यात्व और (२) अग्रहीत मिथ्यात्व। पर के उपदेश के बिना पूर्वोपाजित मिथ्यात्वकर्म के उदय से जो अतत्त्व श्रद्धान्त हो उसे अग्रहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ग्रहीत

मिथ्यात्व के (१) एकांत मिथ्यात्व (२) विपरीत मिथ्यात्व (३) संशय मिथ्यात्व (४) वैनयिक मिथ्यात्व और (५) अज्ञानिक मिथ्यात्व ऐसे पाँच भेद हैं।

(१) पदार्थों में अनेक धर्म होते हैं उनमें से सबका अभाव कर एक ही धर्म को मान केवल उसीका श्रद्धान करना उसे एकांत मिथ्यात्व कहते हैं।

(२) संप्रत्य निर्ग्रन्थ हैं, केवली ग्रासाहारी हैं, स्त्री को मोक्ष होता है, इस प्रकार विपरीत रुचि को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं।

(३) अनेक भूतों के तत्त्वों को धुनकर रत्नत्रय मोक्ष मार्ग है या नहीं तथा धर्म, अहिंसा लक्षण है या नहीं इत्यादि संदेह रूप श्रद्धान को संशय मिथ्यात्व कहते हैं।

(४) समस्त देव, कुदेव, धर्म, अधर्म, शास्त्र, कुशास्त्र इन सबको एक-सा समझना या सच्चे तत्त्वों और झूठे तत्त्वों को एक-सो महत्त्व की दृष्टि से देखना, मानना, वैनयिक मिथ्यात्व कहते हैं।

(५) देव, कुदेव, धर्म, कुधर्म, शास्त्र, कुशास्त्र, तत्त्व, कुतत्त्व तथा वक्ता, कुवक्तादि संसार तथा मोक्ष के कारणों में हिताहित की परीक्षा रहित श्रद्धान करना अज्ञानिक मिथ्यात्व है।

षट्काय के जीवों की अरक्षा तथा इन्द्रिय और मन की विषयों से प्रवृत्ति के न रोकने को अविरत कहते हैं। वह बाहर प्रकार का है—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र तथा मन इनको वश में न करना इनके विषयों में सदैव लोलुपी बने रहना तथा पृथ्वी कायिक, अपकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक तथा द्वीन्द्रियादि त्रसकाय वाले जीवों की रक्षा करना सो अविरति है। जो आत्मगुण धातकर वलेशित करें सो कषाय है। इसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों में से प्रत्येक के शक्ति की अपेक्षा के तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर ऐसे चार भेद हैं। ऐसे कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ १६ भेद और हास्य, रति, अरति आदि नौ कषाय के सबभेद, इस प्रकार सब मिलाकर इसके २५ भेद हैं। चार अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व तथा सप्तव्यसनादि अन्याय रूप क्रियाओं में प्रवृत्ति कराने वाला और आत्मा स्वरूपाचरण चारित्र का घातक है। चार प्रत्याख्यानाचरण क्रोध, मान, माया, लोभ, यह कषाय आत्मा के देश चारित्र का घातक है अर्थात् श्रावक के व्रत इसके उदय होते हुए रचमात्र भी नहीं होते, तथापि अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से सम्यक्त्व होने पर अन्याय रूप विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती है। चार प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय आत्मा के सकल चारित्र के घातक हैं अर्थात् इसके होते हुए पंच महाव्रत नहीं हैं। यह कषाय भेद हैं। इस कारण क्षयोपशम के अनुसार श्रावक व्रत हो सकते हैं। चार संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ यह कषाय, आत्मा के यथाख्यात चारित्र के घातक हैं अर्थात् यह कषाय अति मन्द होने के कारण संयम के साथ उदय होते हुए भी संयम का घात नहीं करता है केवल इसका उदय यथाख्यात चारित्र का ही घातक है।

नौ कषाय के नौ भेदः—

- (१) हास्य—जिसके उदय होने से हँसी उत्पन्न हो।
- (२) रति—जिसके उदय होने से विषयों में आसक्तता हो।
- (३) अरति—जिसके उदय होने से पदार्थों में अप्रीति उत्पन्न हो।
- (४) शोक—जिसके उदय होने से चित्त में खेद उत्पन्न हो।
- (५) भय—जिसके उदय से चित्त में उद्देग हो।

- (६) जुमुप्सा—जिससे पदार्थों में ग्लानि रूप भाव हो।
- (७) पुंवेद—जिसके उदय से स्त्री से रमने की इच्छा हो।
- (८) स्त्रीवेद—जिसके उदय से पुरुष से रमने की इच्छा हो।
- (९) नपुंसक वेद—जिसके उदय होते ही स्त्री-पुरुष दोनों से रमने के भाव हों।

इस प्रकार कषाय के समस्त पञ्चीस भेद होते हैं ?

निरतिषारपूर्वक चारित्र्य पालने में निरुत्साही व मन्त्रोद्यमी होने को प्रमाद कहते हैं। इसके पन्द्रह भेद होते हैं—स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा, और देशकथा ये चार विकथा, क्रोध, मान, माया लोभ ये चार कषाय, स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रिय, स्नेह और निद्रा—ऐसे पन्द्रह प्रकार प्रमाद है।

स्त्रियों के अंग, हाव, भाव, वस्त्र, और आभूषण आदि का वर्णन करना, उसके नेत्र कमल समान है, यदि सिंह के समान है अतः वह बहुत सुन्दर रूपवान है इत्यादि वर्णन करना स्त्रीकथा है।

अमुक राजा कायर है, हमारा राजा शूर है, अमुक राज्य में छोड़ा तथा हाथी बहुत अच्छे होते हैं, अमुक राज्य में सेना बहुत है इत्यादि वर्णन करना राजकथा है।

लड्डू बरफी आदि पदार्थ खाने में अच्छे होते हैं, अमुक मनुष्य बहुत प्रीति से भक्षण करता है, मुझको भी ये अच्छे लगते हैं अमुक मिष्ठान अमुक देश में बहुत अच्छा बनता है, उसको मैं भी मंगाकर खाऊँगा। इस प्रकार खाने पीने की कथा को भुक्तकथा या भोजनकथा कहते हैं।

दक्षिण देश में अन्न की उपज अधिक होती है, वहाँ के निवासी भी अधिक विलासी हैं, पूर्व देश में अनेक प्रकार के वस्त्र, गुड़, शक्कर, आवल आदि होते हैं, उत्तर देश के पुरुष शूर होते हैं, वहाँ गेहूँ अधिकतर उत्पन्न होते हैं, कुम-कुम, दाख, दाड़िम आदि सुगमता से मिलते हैं, पश्चिम देश में कीमल वस्त्र होते हैं, वहाँ जल निर्मल और स्वच्छ होता है इत्यादि देशों का वर्णन करना सो देशकथा है।

इस प्रकार ये चार विकथाएँ हैं। यदि ये ही कथाएँ राग-द्वेषरहित धर्मकथा के रूप से केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ दिखलाने के लिए कहे जायें तो विकथा नहीं कही जा सकती हैं।

कषाय के चार भेद—

(१) अपने और पर के घात करने के परिमाण तथा पर के अपकार करने रूप भाव अथवा क्रूर भाव क्रोध है।

(२) जाति, कुल एश्वर्यादि से उद्धत रूप तथा अन्य से नम्रीभूत न होने रूप परिणाम मान है।

(३) अन्य के ठगने निमित्त कुटिलता रूप माया है।

(४) अपने उपकारक द्रव्यों में अभिलाषा रूप भाव व लोभ है।

ऐसे चार कषाय हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में स्वच्छन्द रूप से प्रवृत्ति और स्नेह के वशीभूत होकर—यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ—इत्यादि दुराग्रह को स्नेह वा प्रणय अथवा मोह कहते हैं। जो खाये हुए अन्न के परिपाक होने में कारण हैं अथवा मद, खेद आदि दूर करने के लिए जो सोना है उसे निद्रा कहते हैं। ऐसे पन्द्रह प्रमाद का वर्णन किया।

योग—मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों के चंचल होने को योग कहते हैं। वे योग पन्द्रह प्रकार के हैं—चार मनयोग, चार वचन योग और सात काययोग, अब इनका वर्णन करते हैं—

(१) मन की सत्यरूप प्रवृत्ति सत्य मनोयोग है। (२) मन की असत्यरूप प्रवृत्ति असत्य मनोयोग है। (३) मन की सत्यासत्य मिश्ररूप प्रवृत्ति उभय मनोयोग है। (४) मन को असत्य-सत्य के विकल्प रहित प्रवृत्ति अनुभव मनोयोग है। (५) वचन की सत्यरूप प्रवृत्ति सत्यवचन योग है। (६) वचन की असत्यरूप प्रवृत्ति असत्यवचन योग है। (७) वचन की सत्यासत्य मिश्ररूप प्रवृत्ति मिश्र वचन योग है। (८) वचन की सत्य-असत्य के विकल्प रहित प्रवृत्ति अनुभव वचन योग है। (९) औदारिक शरीर की प्रवृत्ति औदारिक काय योग है। (१०) औदारिक मिश्र काय योग प्रवृत्ति औदारिक मिश्र काय योग है। (११) वैक्रियिक शरीर की प्रवृत्ति वैक्रियिक काययोग है। (१२) वैक्रियिक मिश्र काययोग की प्रवृत्ति वैक्रियिक मिश्र काययोग है। (१३) आहारक शरीर की प्रवृत्ति आहार काययोग है। (१४) आहारक मिश्र काययोग की प्रवृत्ति आहारक मिश्र काययोग है। (१५) कार्माण शरीर की प्रवृत्ति कार्माण काययोग है।

जब मन, वचन, काय के भावतीव्र कषाय रूप होते हैं तब पाप्मास्त्रव होता है और जब मंद कषाय रूप होते हैं तब पुण्यास्त्रव होता है। कषाय सहित जीव के स्थिति लिए हुए संसार का कारण रूप जो आस्त्रव होता है इसे सांपरायिक आस्त्रव कहते हैं और जब कषाय रहित पूर्ववद्ध कर्मनुसार योगों की क्रिया से स्थिति रहित आस्त्रव होता है उसे ईर्यापथिक आस्त्रव कहते हैं। सांपरायिक आस्त्रव में प्रकृति बंध, प्रदेश बंध स्थिति बंध और अनुभाग बंध आदि चारों प्रकार का बंध होता है ये आस्त्रव समस्त संसारी जीवों के होता है। ईर्यापथिक आस्त्रव में केवल प्रकृति बंध और प्रदेश बंध ऐसे दो ही प्रकार का बंध होता है। ये आस्त्रव उपशान्ति कषाय, क्षीण कषाय तथा सयोग केवली नामक गुणस्थान वालों के होता है और अयोग केवली नामक चोदहर्वे गुणस्थान में मन, वचन, काय के योगों का अभाव होने से आस्त्रव का अभाव है ये समान्य आस्त्रव के भेद हैं।

अब ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के आस्त्रव होने के विशेष — २ कारण कहते हैं।

(१) यदि कोई धर्मात्मा मोक्ष मार्ग के कारण भूत तत्त्व ज्ञान को कथनी कर रहा हो परन्तु उसका श्रवण कर ईर्ष्या भाव से न सराहना तथा चुप हो जाना, इस प्रकार के भाव को प्रदोष कहते हैं।

(२) शास्त्र ज्ञाता जानकर कोई तत्त्वार्थ धर्म का स्वरूप पूछे तो उस विषय को जानते हुए भी "मैं इस विषय को नहीं जानता" ऐसा कह कर उसको न बताना निह्वान भाव है।

(३) यह पढ़कर मेरे समान विद्वान हो जाएगा। इस ईर्ष्या से किसी को न पढ़ाना मात्सर्य भाव है।

(४) किसी के विद्याभ्यास में विघ्न कर देना पाठशाला पुस्तकादि का विच्छेद कर देना अथवा जिस कार्य से विद्या की वृद्धि होती हो उसमें विघ्न कर देना अंतराय है।

(५) पर प्रकाशित ज्ञान को रोक देना आसादन तथा आच्छादन भाव है।

(६) प्रशस्त ज्ञान को दूषण लगा देना उपघात है।

यदि ये छः कारण के विषय में हों तो ज्ञानावरण कर्मों का और दर्शन के विषय में हों तो दर्शनावरण कर्मों का आस्त्रव होता है। यद्यपि आस्त्रव प्रत्येक समय आयु कर्म के अतिरिक्त सातों कर्मों का होता है तथापि स्थिति बंध और अनुभाग बंध की अपेक्षा से ये विशेष कारण कहे गए हैं। अर्थात् ऐसे — २ भावों से इन-इन ज्ञानावरणादि प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक-अधिक पड़ते हैं और शेष प्रकृतियों में कम-कम पड़ते हैं जैसे शुभयोग से पुण्य प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ता है और पाप

प्रकृतियों में कम पड़ता है और जब अशुभ योग होता है तब पाप प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक और पुण्य प्रकृतियों में कम पड़ता है ।

अथ असाता वेदनीय कर्म के कारणः—

- (१) पीड़ा रूप परिणाम दुःख है ।
- (२) अपने उपकारक द्रव्य के वियोग होने पर परिणाम मलिन करना, चिंता करना, खेदरूप होना सो शोक है ।
- (३) निन्द्य कार्यजनित अपनी अपकीर्ति सुनकर पश्चात्ताप करना ताप है ।
- (४) लप्प होने के कारण अश्रुपात सहित विलाप करना, रुदन करना आक्रन्दन है ।
- (५) आयु, बल इन्द्रियादि प्राणों का वियोग करना वध है ।
- (६) अश्रुपात सहित ऐसा विलाप करना कि जिससे सुनने वाले के चित्त में दया, उत्पन्न करने से असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है ।

अथ असाता वेदनीय कर्म के मुख्य कारणः—

भूत अर्थात् सामान्य प्राणी और वृत्ति अर्थात् अहिंसादि व्रतों के धारण करने वाले श्रावकादि की पर पीड़ा देखकर ऐसे परिणाम होना मानों यह दुःख हम को ही हो रहे हैं, उनको दत्त चित्त होकर दूर करने का प्रयत्न करना भूतवृत्त्यनुकम्पा ही अपने और पर के उपकार के लिए औषधि आहारादि चार प्रकार के पदार्थों का देना दान है । दुष्टकर्मों के नाश करने में राग सहित संयम को तथा धर्मानुराग सहित संयम अणुवत् ग्रहण करने को सराग संयम कहते हैं । अपने अभिप्राय रहित पराधीनता से यथा रागादि के भोगोपभोग का अवरोध होना अकाम निर्जरा और तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ, मिथ्या दृष्टियों का अज्ञान पूर्वक तप करना, मन, वचन, काय के योगों का शुभ रहना, क्रोध का अभाव कर क्षमा भाव करना, लोभ का निराकरण कर उत्तम शौच धारण करना—इन छः प्रकार के भावों से साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है ।

दर्शन मोहनीय आस्रव के विशेष कारण

(१) चार घातिया कर्म रहित, अनन्त चतुष्टय संयुक्त केवली भगवान के क्षुधा, तृषा, आहार निहार आदि असम्भव दोषों का कहना केवली का अवर्णवाद है ।

(२) आप्तोक्त अहिंसा धर्मोपदेशी शास्त्र में मद्य, मांस मधु तथा रात्रि-भोजन आदि का ग्रहण कहा है इत्यादि दोष लगाना शास्त्र का अवर्णवाद है ।

(३) परिग्रह वर्जित निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियों के संघ को निर्लज्ज आदि दोष लगाना मुनि संघ का अवर्णवाद है ।

(४) हिंसा रहित दयामयि जैन धर्म के सेवन करने वाले परमव में नीच गति को प्राप्त होते हैं इत्यादि दोष लगाना धर्म का अवर्णवाद है ।

(५) चार प्रकार के देवों को मांस भक्षी, सुरापानी तथा सप्त धातुमय मानुषी शरीर से काम सेवन करने वाला यताना देवावर्णवाद है ।

उपयुक्त इन भावों से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारण कषायों के उदय होने से तीव्र परिणाम होता और इसी कारण वचन भी कठोर निकालना शरीर से दुष्टाचरण करना इनसे अरिष्ट मोहनीय के कषाय वेदनीय कर्म का आस्रव इस भाँति जानना चाहिए ।

(१) दीन दुःखी की हंसी तथा वृथा प्रलाप करने से हास्य का आस्रव होता है।

(२) योग्य काम को नहीं रोककर दीन दुःखी की बाधा दूर करने से रति का आस्रव होता है।

(३) दुष्ट क्रिया में उत्साह करने तथा कुसंगति से अरति का आस्रव होता है।

(४) स्वयं रंज के करने से तथा दूसरों के कराने से तथा दूसरे को शोकयुक्त देखकर प्रसन्न होने से शोक आस्रव होता है।

(५) आप भययुक्त रहने, दूसरे को भय कराने भययुक्त देखकर निर्दयी होकर हर्षित होने से भय का आस्रव होता है।

(६) आत्मजानी, शरीर संस्कार रहित तपस्वियों की निन्दा करने से तथा उनके शरीर को देखकर घृणा उत्पन्न करने से जुगुप्सा का आस्रव होता है।

(७) काम की अति तीव्रता से पर स्त्री का रागपूर्वक आदर करने तथा स्त्रियों के समान हाव भाव, आलिंगन आदि करने से स्त्रीवेद का आस्रव होता है।

(८) स्त्री सेवन में अल्प राग करने अर्थात् अपनी ही स्त्री में सन्तोष रखने से तथा बार-बार संस्कार जो गंध पुष्पमालादि आभरण से अनादर करने में निष्कपट रहने से पुरुषभेद का आस्रव होता है।

(९) चार कथायों की तीव्रता से गुह्येन्द्रिय के छेदन करने से, स्त्री पुरुष के काम सेवन के अंगों को छोड़कर अनंग सेवन करने से, तथा ब्रह्मचारियों को व्रत से चलायमान करने से, महाव्रतियों को व्रत से डिगाने से नपुंसकवेद का आस्रव होता है।

अथ आयु कर्म के आस्रव के विशेष कारण :—

बहुत आरम्भ करना और परिग्रह में बहुत ममत्व करना नरकायु के आस्रव के कारण हैं अर्थात् जो जीव पृथ्वी, वस्त्र, आभूषण आदि अपने उपकारक पदार्थों का बहुत संग्रह करने की तीव्र इच्छा अन्याय, चोरी, मायाचार असत्य भाषण आदि जिस उपाय से प्राप्त वे हों चाहें दूसरे का सर्वस्व जाता रहे हमें तो लाभ हो जाये ऐसे सोचने वाले मनुष्यों के अवश्य नरकायु का आस्रव होता है। दुष्ट विचारों का करने वाला दुराग्राही, निर्दयी, मद्य, मांस के सेवन में लंपटो अनंतानुबन्धी कथायों सहित हिंसक, क्रूर परिणामी, कृत्य, अकृत्य, का विचार न करने वाला, बहुत परिग्रह और आरम्भ करने वाला इत्यादि कृष्ण लेश्या के धारक तथा रौद्र ध्यानी मनुष्यों को भी नरकायु का ही आस्रव कहा है।

बहुत मायाचार करना तिर्यच आयु के आस्रव का कारण है। अन्य के ठगने के निमित्त कुटिलता करना, माया और उसका आचरण करने वाला मायाचारी कहलाता है। शोक, भय, मत्सरता, ईर्ष्या, पर निन्दा करने में तत्पर, सदा अपनी प्रशंसा करने वाला, अहंकाररूप ग्रह से घिरा हुआ, दूसरे के यश का नाश करने वाला, इत्यादि कापोत लेश्या के धारण करने वाला तथा चेतन अथवा अचेतन, प्रिय वस्तु के वियोग होने पर शोक करना अनिष्ट चेतन व अचेतन पदार्थ के संयोग होने से चित्त कुल-षित रखना, योगी होने पर उपाय को न करने से सदैव चिन्ता में मग्न रहना, और मरण पश्चात् आगामी भोगों-उपभोगों की प्राप्ति में चित्त की इच्छा बनाए रखना, ऐसे आर्त्तध्यानी मनुष्य भी तिर्यच आयु के आस्रव करने वाले होते हैं।

थोड़ा आरम्भ, थोड़ा परिग्रह, कोमल परिणाम और सरल स्वभाव से मनुष्य आयु का आस्रव होता है तथा सबको समान देखने वाला हितकारी प्रिय, मिष्टभाषण, दान, शूर, दयालु, सत्कर्मा में निपुण विनयवान, दान, पूजा, सज्जन पुरुषों का प्रेमी, निष्कपट आदि शुभ भाव, शुभ व्यवहार से प्राणी मनुष्य आयु का आस्रव करते हैं।

दिग्व्रत, देशव्रत आदिव्रत, सप्तशील तथा अहिंसा आदि पंचाणुव्रतों को धारण न करने वाले के शुभ-अशुभ भाव और व्यवहार के अनुसार चारों गतियों का आस्रव होता है और सरल स्वभाव आरम्भ परिष्कृत रहित के बीच गत रहित होने पर भी देव आयु का आस्रव होता है। जैसे—भोग भूमि में उत्पन्न होने वाले स्वर्ग ही जाते हैं और सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप ये भी देव आयु के आस्रव के कारण हैं। सराग संयम (राग सहित संयम) संयमासंयम (त्रस हिंसा के त्यागरूप संयम और स्थावर हिंसा के अत्यागरूप संयम) से अर्थात् सम्यक्त्व सहित अणुव्रत आदि द्वादश व्रतों के पालन करने से स्वर्गीय देव आयु का आस्रव होता है और अकाम निर्जरा अर्थात् परवश भुक्त, व्यास ताड़न, मारन, दुर्वचन सहना, दीर्घकाल पर्यन्त रोग आदि कष्ट भोगना और उसी अवस्था में मन्द कषाय रूप परिणाम रखना तथा अज्ञान तप अर्थात् आत्मज्ञान रहित, भावना की शुद्धता में न पहुँचकर तप करना इनसे भवन्धिक देवआयु का अथवा स्वर्ग में नीच देव आयु का आस्रव होता है। जो जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं उनके नियम से भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देव आयु वर्जित कल्पवासी देव आयु का ही आस्रव होता है।

नाम कर्म के आस्रव के कारण

मन, वचन, काय की कुटिलता अथवा मिथ्या सम्वाद के परिणाम, अशुभ नाम के आस्रव के कारण हैं जैसे झूठी शपथ खाना, मद करना, दूसरों को कुरूप अथवा बुरे अंगोपांग वाला देखकर नकल चिढ़ाना तथा देखकर प्रसन्न होना इत्यादि तथा इससे विपरीत मन, वचन, काय की सरलता, विसंवाद के परिणाम का अभाव, शुभ नाम कर्म के आस्रव का कारण है जैसे धर्मात्मा पुरुषों को देखकर प्रसन्न होता, दूसरे को लज्जान तथा सुन्दर अंगोपांग सहित देखकर द्वेष भाव न करना, प्रमाद न करना इत्यादि और षोडश कारण भावना के धारण करने से तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति का आस्रव होता है।

षोडश कारण भावनाः—

(१) पञ्चीस दोष (शंका कांक्षा आदि आठ दोष, आठ मद, छः अनायतन और तीन मूढ़ता) रहित निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना दर्शन विशुद्धि भावना है।

(२) दर्शन, ज्ञान, चरित्र में तथा दर्शन, ज्ञान, चरित्र के धारकों तथा देव, शास्त्र गुरु, और धर्म में प्रत्यक्ष रूप से निरभिमानी होकर सविनय प्रणाम करना, आदर सत्कार और उच्चासन देना विनय सम्पन्नता है।

(३) अहिंसा आदि अणुव्रत और दिग्विप्रत आदि सप्तशीलों का निरतिचार पालन करना शीलव्रतेष्वतीचार भावना है।

(४) सदैव ज्ञान में उपयोग लगाना अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना है।

(५) संसार के दुखों से डरते रहना संवेग भावना है।

(६) शक्ति समान दान देना शक्तितस्त्याग है।

(७) शक्ति के अनुसार तप करना तप भावना है।

(८) मुनियों का उपसर्ग मिटाना साधु समाधि है।

(९) रोगी मुनियों की सेवा करना वैयावृत्य है।

(१०) अरहन्त भगवान की भक्ति करना और उनके गुणों का चिन्तन करना अर्हद्भक्ति है।

(११) स्वयं पंचाचार पालन करनेवाले तथा मुनि समूह को पालन करवाने वाले संघाधिपति आचार्य के गुणों में अनुशासन करना— आचार्य भक्ति है।

(१२) ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता, एवम् पच्चीस गुण के धारक उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है।

(१३) अहिंसा धर्म के प्ररूपक वीतरागोक्त शास्त्र के गुणों में अनुराग करना प्रवचन भक्ति है।

(१४) सामायिक, वन्दना, स्तवन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छः आवश्यकों में हानि न करने, इनको समय पर करना पञ्चदशकापरिहाणि मान्य है।

(१५) स्याद्वाद विद्या का अध्ययन कर अज्ञान रूप अन्धकार के विस्तार को दूर कर अन्य मतावलम्बियों को आश्चर्य में डालने वाले मोक्षमार्ग का प्रभाव बढ़ाना मार्ग प्रभावना है।

(१६) साधर्मि जनों से निष्कपट समीचीन भाव सहित गोवत्ससम् अटूट प्रीति करना प्रवचनवात्सल्य है।

इस प्रकार ये सोलह भावना तीर्थकर प्रकृति के आस्रव का कारण हैं।

गोत्र कर्म के आस्रव के कारण: —

अपने गुण तथा दूसरे के दोष, अभिमान तथा ईर्ष्या से प्रगट करना तथा अपने अवगुण और दूसरे के गुणों का आच्छादन करना, निर्दोष को दोष लगाना, अपनी जाति, कुल, रूप, बल, ऐश्वर्य, विद्यादि का गर्व करना, दूसरे के विद्यमान गुण देखकर उसकी निन्दा करना, हँसी करना तथा उसे मानी बताना देव, गुरु, धर्म तथा अपने से वृद्धजनों का आदर, विनय, सत्कार नहीं करना ये सब नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

नीच गोत्र के आस्रव के विपरीत के कारण अर्थात् अपनी निन्दा, पर की प्रशंसा करना, पराए गुण व अपने अवगुण प्रकट करना, अपने गुण व पर के अवगुण ढांकना, अभिमान न करना, अपने से वृद्धों की विनय करना, जाति, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, विद्यादि गर्व के कारण होते हुए मद नहीं करना ये ऊँचे गोत्र कर्म के आस्रव के कारण हैं।

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण

कोई दान देता हो अथवा दान देने की इच्छा करता हो उसमें विघ्न करने से दान अन्तराय का, किसी को लाभ होते देखकर उसमें विघ्न करने से लाभ अन्तराय का, दूसरे के उपयोग या भोग में आने योग्य सामग्री के प्राप्त होने में विघ्न करने से भोगोपभोग अन्तराय का, किसी के बल, वीर्य में विघ्न डालने से वीर्यन्तराय कर्म का आस्रव होता है।

इस प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के शुभाशुभ आस्रव होने के प्रधान-प्रधान कारणों का वर्णन किया।

अथ बंध तत्त्व का वर्णन—

जो आत्मा के राग, द्वेष आदि अशुद्ध परिणाम कर्मरूप पुद्गल परमाणुओं को आत्मा के प्रदेश से वचने के कारण हों उनको भाव बंध कहते हैं और वही कर्मरूप पुद्गल जब आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रवागाही होते हैं उसे द्रव्य बंध कहते हैं। वह बंध चार प्रकार का होता है—(१) प्रदेश बंध (२) प्रकृति बंध (३) स्थिति बंध (४) अनुभाग बंध।

(१) आत्मा के मन, वचन, काय की क्रिया से कर्मरूप पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रवागाही रूप होना प्रदेश बंध है।

(२) कर्म वर्गणाओं में पृथक्-पृथक् आत्मगुण के घात करने को प्रकृति बंध कहते हैं।

(३) जितने काल तक कर्म वर्गणा सत्ता रहे, रस देकर निर्जरित हो, उस काल की मर्यादा को स्थित बंध कहते हैं।

(४) तीव्र, मंद रस देने की जो कर्मों की शक्ति है उसे अनुभाग बंध कहते हैं।

प्रवेश बंध वर्णन—

आत्मा के मन, वचन, काय रूप योग विशेषों के द्वारा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों के होने योग्य कर्म वर्गणाओं का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही होना प्रवेश बंध है। सर्व संसारी जीवों के प्रत्येक समय में अभव्य राशि से अनन्त गुणा और सिद्ध राशि से अनन्तवें भाग ऐसे मध्य के अनन्तानन्त प्रमाण को लिए हुए कार्माण वर्गणाओं का बंध होता है। इन प्रत्येक समय में अष्ट कर्मों का भिन्न-भिन्न न्यूनाधिक विभाग होता है वह इस प्रकार का है—सबसे अधिक वेदनीय का, क्योंकि वेदनीय कर्म सुख-दुख का कारण है इसलिए इसकी निर्जरा बहुत होती है, इससे किंचित् न्यून मोहनीय का है, उससे किंचित् न्यून ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीनों का बराबर-बराबर भाग इनसे किंचित् न्यून नाम और गोत्र दोनों का बराबर-बराबर और सबसे कम आयुर्कर्म का विभाग होता है। प्रत्येक समय में बंधो हुई कार्माण वर्गणाओं में सात कर्म रूप बंटवारा और आयु बंध के योग विभाग के अन्तर्मूर्त काल में अष्ट कर्म रूप बंटवारा होता है जैसे एक बार ही खाया हुआ एक ग्रास रूप में अन्न का, रक्त, रस, मांसादि सप्तधातु रूप में परिणमन हो जाता है।

प्रकृति बंध का वर्णन—

प्रकृति नाम स्वभाव का है जैसे नीम की प्रकृति कटु, गन्ने की मीठी, नीबू की खट्टी, ऐसे ही कर्मों के विभाग में आई हुई वर्गणाओं में उसी स्वभाव वाली प्रकृति का पड़ जाना प्रकृति बंध है जैसे ज्ञानावरण की प्रकृति ज्ञान रोकने की, दर्शनावरण की प्रकृति दर्शन रोकने की, वेदनीय की सुख-दुःख जानने की, मोहनीय की भ्रम उपजाने की, अन्तराय की विघ्न करने की, आयु की भव में रखने की, गोत्र की ऊँच-नीच करने की, नाम कर्म की अनेक योनियों में नाना प्रकार शरीर रचने की प्रकृति होती है। ये अष्ट कर्मों की सामान्य प्रकृति बंध का स्वरूप वर्णन किया। अब विशेष तथा अन्तर प्रकृतियों के बंध तत्त्वों का स्वरूप कहते हैं।

प्रथम कर्म ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियाँ हैं।

(१) आवरण नाम परदे वा ढकने का है जो मन और इन्द्रियों से उत्पन्न मतिज्ञान का आवरण करे वह मतिज्ञानावरण है।

(२) जो मन अनित अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक ज्ञान का आच्छादन करे वह श्रुत ज्ञानावरण है।

(३) जो देशावधि, परमावधि, सर्वावधि इन तीनों भेद रूप अवधिज्ञान का आवरण करे वह अवधिज्ञानावरण है।

(४) ऋजुमति, विपुलमति भेद रूप जो मतःपर्यय ज्ञान का आवरण करे वह मनःपर्यय ज्ञानावरण है।

(५) जो सर्व द्रव्यवर्ती, त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों के जानने वाले केवल ज्ञान का आवरण करे वह केवल ज्ञानावरण है।

ये पाँच प्रकृतियाँ आत्मा की ज्ञान शक्ति को रोकती हैं। दूसरी मूल प्रकृति दर्शनावरण की है उसकी उत्तर प्रकृति नीचे हैं।

(१) जो नेत्रजनित दर्शन को रोके अर्थात् जिसके उदय से नेत्र रहित एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय अथवा पंचेन्द्रिय शरीर प्राप्त हो तो नेत्रान्ध वा न्यून दृष्टि हो वह अक्षुदर्शनावरण है।

(२) जिसके उदय होने से नेत्र रहित त्वचा, जिह्वा, घ्राण, श्राव जनित स्पर्श, रस, गन्ध का दर्शन न हो, वह अक्षु दर्शनावरण है।

(३) विषय और इन्द्रियों के योग से सामान्य सत्तामात्र के ज्ञान को दर्शन कहते हैं उसके उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, की मर्यादा के अवधि ज्ञान से पहले होने वाला सामान्य दर्शन न हो वह अवधि दर्शनावरण है।

(४) केवल ज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन का जो आवरण करे वह केवल दर्शनावरण प्रकृति है।

(५) जो सामान्य रूप से अचेत कर पदार्थों के देखने को रोकती है वह निद्रा, दर्शनावरण प्रकृति है।

(६) जो अधिक अचेत कर पदार्थों के सामान्य अवलोकन को रोकती है वह निद्रा, निद्रा दर्शनावरण प्रकृति है।

(७) जिसके उदय से बार-बार निद्रा आती है और कुछ चेत सहित श्रम, मद आदि के कारण बैठे-बैठे शरीर में निद्रा का आवेश हो व जो पंचेन्द्रियों के व्यापार का निरोध कर पदार्थों के देखने को रोकती है वह प्रचला दर्शनावरण प्रकृति है।

(८) जो एक निद्रा पूर्ण न हो और दूसरी गहरी निद्रा का आवेश हो जाये, मुख से राल बहने लग जाय, नेत्र, गात्र चलायमान हो जायें, सुई आदि तीक्ष्ण पदार्थों के लगने से भी चेत न हो उसे प्रचला दर्शनावरण प्रकृति कहते हैं।

(९) जिस निद्रा के आने से मनुष्य चैतन्य सा होकर अनेक रौद्र कर्म कर लेता है और अचेत हो जाता है अथवा सचेत होने पर उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता कि मैंने अचेत अवस्था में क्या-क्या काम कर डाले तब उसको स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म प्रकृति कहते हैं।

पदार्थों के सामान्य अवलोकन को रोकने वाले दर्शनावरण कर्म के ऐसे ती भेद हैं।

तीसरी मूल प्रकृति वेदनीय कर्म के दो भेद हैं।—(१) साता वेदनीय (२) असाता वेदनीय।

जिसके उदय से जीव की इच्छा के अनूकूल शारीरिक, मानसिक सुख के कारण पदार्थों की प्राप्ति हो उसे साता वेदनीय कहते हैं और जिसके उदय से दुःख दायक जीव की इच्छा के प्रतिकूल अन्य पदार्थों की प्राप्ति हो उसे असाता वेदनीय कहते हैं।

चौथी मूल प्रकृति मोहनीय है। उसके दो भेद हैं—(१) दर्शन मोहनीय और (२) चरित्र मोहनीय।

इनमें से दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व अर्थात् मिश्र मोहनीय ये तीन और चरित्र मोहनीय के अकषाय मोहनीय और कषाय मोहनीय ये दो भेद हैं।

अकषाय मोहनीय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे नौ प्रकार का है और कषाय मोहनीय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलनानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे सोलह प्रकार का है।

इसके उदय से सर्वज्ञ भावित मार्ग में अर्थात् जीवादि तत्त्वों में जिसके श्रद्धान के कारण देव शास्त्र, गुरु में पराङ्मुखता तथा अरुचि हो और अतत्त्वों में श्रद्धान हो उसे मिथ्यात्व कहते हैं। उसके

उदय से सम्यक्त्व नाममात्र को भी नहीं होता है। जब शुभ परिणाम के उदय से मिथ्यात्व प्रकृति का अनुभाग न्यून हो जाता है तब सम्यग् मिथ्यात्व के उदय से कुछ-कुछ भाव सम्यग् श्रद्धान रूप अन्तर्मुहूर्त को होते हैं अर्थात् जिसको न तो सम्यक्त्व रूप कह सकते हैं। और न मिथ्यात्व रूप, उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं और जिसके उदय से सम्यक्त्व का मूलघात तो न हो परन्तु चल, मल, अगाढ़ इन तीनों दोषों का सहभाव रहे उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं। इन मिथ्यात्व प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम से क्षयोपशमिक सम्यक्त्व और क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

चारित्र्य मोहनीय की पच्चीस प्रकृति के आचरण कहते हैं।

चारित्र्य बिगाड़ने से चारित्र्य मोहनीय अथवा कषायों को प्रगट करने से कषाय मोहनीय कहलाती हैं। इनमें से चार अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ मिथ्यात्व के साथ मिलकर सम्यक् श्रद्धान को बिगाड़ते हैं। इनके उदय से जीव, राज विरुद्ध, लोक विरुद्ध, धर्म विरुद्ध, अन्याय रूप क्रिया तथा सप्त व्यसन आदि पापों को निर्गल सेवन करता है। इनका उदाहरण पाषाण रेखावत् क्रोध, पाषाण स्तम्भवत् मान, बाँस की जड़वत् माया, घुँघची के वर्णवत् लोभ होता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ आवक के अणुद्रव्यों को नहीं होने देते और न्यायपूर्वक विषय में अति लोलुपता कराते हैं। इनका उदाहरण—हल रेखावत् क्रोध, अस्थिस्तम्भवत् मान, मीटे के सींगवत् माया और मजीठ के रंगवत् लोभ हैं।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इनके उदय से जीव महाव्रत धारण नहीं कर सकता है। क्षयोपशम के अनुसार देशव्रत धारण कर सकता है। इनका उदाहरण—

धूल तथा बालू रेखावत् क्रोध, काष्ठ स्तम्भवत् मान, हिरण शृंगवत् माया, कुसुम वर्णवत् लोभ है।

संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये यथाख्यात चारित्र्य के घातक हैं अर्थात् इनके उदय से चारित्र्य में कुछ शिथिल भाव रहते हैं। इनके उदाहरण जल रेखावत् क्रोध, वन के स्वतन्त्रवत् मान, गौ शृंगवत् माया और हल्दी के रंगवत् लोभ कहा है।

ऐसे ये सोलह कषाय प्रबल हैं और हास्यादिक नव कषाय मंद हैं पर ये भी शुद्ध चारित्र्य में मल लगाने वाले हैं।

(१) जिसके उदय से हास्यरूप भाव हो उसे हास्य प्रकृति कहते हैं।

(२) जिसके उदय से इष्ट भोगोपभोग वस्तु का इष्टजनों में प्रेमरूप भाव हो वह रति है।

(३) जिसके उदय से इष्ट पदार्थों के वियोग में अथवा अनिष्ट पदार्थों के संयोग में आर्त्तरूप भाव हो वह अरति है।

(४) जिसके उदय से चित्त में खेद व उद्वेग उत्पन्न हो वह शोक है।

(५) जिसके उदय से परिग्रह, प्राणों के नाश का व रोग का, चोर का अकस्मात् अग्नि, जल, घुष्ट जंतु आदि का डर हो वह भय है।

(६) जिसके उदय से ग्लानिरूप भाव हो वह जुगुप्सा है।

(७) जिसके उदय से स्त्री से रमने की इच्छा हो और स्वभाव निष्कपट हो वह पुरुषवेद है।

(८) जिसके उदय से पुरुष से रमने की इच्छा हो वह स्त्रीवेद है।

(९) जिसके उदय से स्त्री पुरुष दोनों से रमण करने के भाव हो वह नपुंसक वेद है।

चौथी मूल प्रकृति आयु है उसके चार भेद हैं—(१) नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु ।

(१) जिसके उदय से नरक में नारकी के शरीर को धारण कर स्थिति काल पर्यंत रहना होता है वह नरकायु है ।

(२) जिसके उदय से एकेन्द्रिय वृक्ष आदि से लेकर पंचेन्द्रिय पशु पक्षी पर्यन्त तिर्यच शरीर में रहना होता है वह तिर्यच आयु है ।

(३) जिसके उदय से देव शरीर धारण कर स्थिति काल पर्यन्त रहना पड़े वह देवायु है ।

(४) जिसके उदय से मनुष्य शरीर धारण कर स्थिति काल पर्यन्त रहना होता है वह मनुष्यायु है ।

पांचवी मूल प्रकृति नाम कर्म है । इसकी ६३ प्रकृति हैं । जिसके उदय से यह जीव पूर्वभव से भवान्तर प्रतिगमन करता है वह गति नाम कर्म है । वह चार प्रकार है—

जिसके उदय से आत्मा नरक जावे उसको नरक गति नाम कर्म, जिसके उदय से तिर्यच योनि में जाये उसे तिर्यच गति नाम कर्म, जिसके उदय से मनुष्य भव में जाये उसे मनुष्य गति नाम कर्म और जिसके उदय से देव पर्याय को प्राप्त हो उसे देव गति नाम कर्म कहते हैं ।

उक्त नरकादि गतियों में जो अविरोद्ध सदृश धर्मों से आत्मा को एक रूप करता है उसे जाति नाम कर्म कहते हैं । वह पाँच प्रकार है—

जिसके उदय से आत्मा पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति आदि स्थावर योनि पाते हैं उसे एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, जिसके उदय से अस योनि में स्पर्शन, रसना दो इन्द्रिय, काय और वचन दो बल इवासोच्छवास और आयु इस प्रकार छः प्राण होते हैं उसे द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, जिसके उदय से नासिका एवं उपरोक्त छः प्राण होते हैं उसे त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, जिसके उदय से चक्षु एवं उपरोक्त सात प्राण हों उसे चतुरिन्द्रिय नाम कर्म, जिसके उदय से श्रोत्र सहित आठ प्राण हो अर्थात् मन रहित नौ प्राण हो उसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय नाम कर्म और जिसके उदय से नव प्राण मन सहित हो उसे संज्ञी पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं ।

जिसके उदय से शरीर की रचना होती है उसे शरीर नाम कर्म कहते हैं । यह शरीर नाम कर्म पाँच प्रकार का है—

१. औदारिक शरीर २. वैक्रियक शरीर ३. आहारक शरीर ४. तैजस शरीर और ५. कामणि शरीर ।

१. जिसके उदय से स्थावर (पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति) पाँच, विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय) सम्पूच्छन (अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विशेषता के तीन लोक में भरे हुए चारों ओर के पुद्गल परमाणुओं से माता पिता के रज और वीर्य के संयोग के बिना उत्पन्न होने वाले शरीर) गर्भज (माता पिता के श्रोणित शुक्र से उत्पन्न होने वाले शरीर) जीवों के स्थूल अर्थात् इन्द्रियों से देखने योग्य शरीर की रचना हो उसे औदारिक शरीर कहते हैं ।

२. जिसके उदय से उत्पाद स्थान से पुद्गल वर्गणा ग्रहण कर अनेक प्रकार की विक्रियां शक्ति वाला देवनारकियों का शरीर उत्पन्न हो उसको वैक्रियक शरीर कहते हैं ।

(३) जिसके उदय से छोटे गुणस्थानवर्ती मुनियों के सूक्ष्म विषय के निर्णय के लिए जो आहारक शरीर की रचना हो उसे आहारक शरीर कहते हैं।

(४) जिसके उदय से उपांगरहित तेजस शरीर की रचना हो उसे तेजस शरीर कहते हैं।

(५) जिसके उदय से अंगोपांग का भेद प्रगट हो उसको अंगोपांग नाम कर्म कहते हैं। मरुत्त, पीठ, छाती का पंजर, बाहु, उदर, जांघ, हाथ और पाँव ये अंग और इनकी छोटी शाखा उंगली, नाक कान आदि उपांग है। यह अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकार का है—

(१) औदारिक शरीरांगोपांग (२) वैक्रियिक शरीरांगोपांग (३) आहारक शरीरांगोपांग। इस प्रकार के शरीर के ही अंगोपांग होते हैं। जिससे अंगोपांग की ठीक-ठीक रचना हो उसे निर्माण नाम कर्म कहते हैं जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणु परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त हों उसका बंधन नामकर्म कहते हैं। बंधन नामकर्म इस प्रकार है—(१) औदारिक बंधन (२) वैक्रियिक बंधन (३) आहारक बंधन (४) तेजस बंधन और (५) कार्माण बंधन। जिस-जिस प्रकार का शरीर होता है उसमें उसी प्रकार के बंधन होते हैं।

पाँच प्रकार की संघात प्रकृति है। संघात नाम मांस के लेशन का है। जैसे गारे में इंट मिली रहती है लेशन होने से बिखरती नहीं बँही मांस के संघात से हाड चिपके रहते हैं अर्थात् जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीरों से परमाणु छिद्ररहित एकता को प्राप्त हों वह संघात—(१) औदारिक संघात (२) वैक्रियिक संघात (३) आहारक संघात (४) तेजस संघात और (५) कार्माण संघात ऐसे पाँच प्रकार हैं। जिस प्रकार का शरीर है उसमें उसी प्रकार संघात होता है।

जिस कर्म के उदय से शरीर की आकृति हो उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। वह छह प्रकार का है—

(१) जिसके उदय से सर्व अंग यथोचित सुन्दर शोभायमान हों वह समचतुरस्र-संस्थान है।

(२) जिसके उदय के नाभि से नीचे के अंग छोटे और ऊपर के बड़े हों जैसे वृक्ष, वह न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान है।

(३) जिसके उदय से नीचे का भाग स्थूल और लम्बा हो और ऊपर का कद छोटा हो वह स्वाति संस्थान है।

(४) जिसके उदय से नीचे का भाग कुबड़ा हो, पीठ में कूबड़ा हो और छाती में गढा हो जिससे झुक कर चले वह कुब्जक संस्थान है।

(५) जिसके उदय से बीना शरीर हो वह वामन संस्थान है।

(६) जिसके उदय से सर्व अंगोपांग छोटे-बड़े बेडोल हों वह हुंडक संस्थान है।

जिस कर्म के उदय से हाडों के बंधन में विशेषता हो उसे संहनन नाम कर्म कहते हैं। वह छः प्रकार है—(१) वज्रवृषभनाराच संहनन (२) वज्रनाराच संहनन (३) नाराच संहनन (४) अर्ध नाराच संहनन (५) कीलक संहनन और (६) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

(१) नशों के हाडों के बंधने का नाम वृषभ है। नाराच नाम कीलने का है और संहनन नाम हाडों के समूह का है अतः जिस कर्म के उदय से वृषभ (बैष्टन) नाराच (कील) और संहनन नाम (अस्थिपंजर) ये तीनों वज्रवत् अभेद्य हों वह वज्रवृषभनाराच संहनन है।

(२) जिस कर्म के उदय से नाराच संहनन तो वज्र में हों और वृषभ सामान्य हो यह वज्र-नाराच संहनन है।

(३) जिसके उदय मे हाड़ और संधियां कीलित हों, परन्तु वज्रमय न हों और वज्रमय वेष्टन भी न हों वह नाराच संहनन नामकर्म है।

(४) जिसके उदय से हाड़ों की संधियां अर्द्धकीलित हों अर्थात् एक तरफ से कीलित हों दूसरी तरफ न हों वह अर्द्धनाराच संहनन नामकर्म है।

(५) जिसके उदय से हाथ परस्पर कीलित हों वह कीलक संहनन नामकर्म है।

(६) जिसके उदय से हाड़ों की संधियां तो कीलित नहीं होतीं परन्तु नस, स्नायु और मांस से बंधी हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है।

जिस कर्म के उदय से शरीर में स्पर्श हो उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं यह आठ प्रकार का है—

(१) कर्कश स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से कोमल शरीर प्राप्त हो।

(२) मृदु स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से कोमल शरीर प्राप्त हो।

(३) गुरु स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से भारी शरीर प्राप्त हो।

(४) लघु स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से हल्का शरीर प्राप्त हो।

(५) स्निग्ध स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से चिकना शरीर प्राप्त हो।

(६) रुक्ष स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से खुरदरा शरीर प्राप्त हो।

(७) शीत स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से शीतल शरीर प्राप्त हो।

(८) उष्ण स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से उष्ण शरीर प्राप्त हो।

यह आठ प्रकार का स्पर्श कहा।

जिसके उदय से शरीर में रस (स्वाद) उत्पन्न हो उसे रस नामकर्म कहते हैं। यह कर्म पांच प्रकार का है—

(१) तिक्त रस नामकर्म—जिसके उदय से चरपरा शरीर प्राप्त हो।

(२) कटुरस नामकर्म—जिसके उदय से कड़वा शरीर प्राप्त हो।

(३) कषायला रस नामकर्म—जिसके उदय से कषायला शरीर प्राप्त हो।

(४) अम्ल रस नामकर्म—जिसके उदय से खट्टा शरीर प्राप्त हो।

(५) मधुर रस नामकर्म—जिसके उदय से मीठा शरीर प्राप्त हो।

ये पांच रस नामकर्म प्रकृति हैं।

जिसके उदय से शरीर में गंध हो वह गंध नामकर्म है। यह दो प्रकार का है—एक सुगंध नामकर्म—जिसके उदय से सुगन्धित शरीर प्राप्त हो और दूसरा दुर्गन्ध नामकर्म—जिसके उदय से दुर्गन्धित शरीर प्राप्त हो।

जिसके उदय से शरीर में वर्ण उत्पन्न हो वह वर्णनामकर्म प्रकृति है। यह पांच प्रकार की है—

(१) शुक्ल वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से श्वेत शरीर प्राप्त हो।

(२) कृष्ण वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से श्याम शरीर प्राप्त हो।

(३) पीत वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से पीला शरीर प्राप्त हो।

(४) नील वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से नीला शरीर प्राप्त हो।

(५) रक्त वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से लाल शरीर प्राप्त हो।

जिस कर्म के उदय से आत्मा के प्रदेश मरण के पीछे और नवीन शरीर धारण करने के पहले मार्ग में पूर्व शरीराकार रहें वह विग्रहगति नामकर्म है, वह चार प्रकार का है—

(१) नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म—जिस समय जीव मनुष्य या तिर्यच शरीर को त्याग कर नरक गति जाने को सन्मुख होता है उस समय मार्ग में जिसके उदय से आत्मा के प्रदेश पूर्व शरीराकार रहे उसे नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य कहते हैं।

(२) देव गति प्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म—जिस समय जीव मनुष्य या तिर्यच शरीर को त्याग कर देवगति में जाने को सन्मुख होता है उस समय मार्ग में जिसके उदय से आत्मा के प्रदेश पूर्व शरीराकार रहें उसे देव गति प्रायोग्यानुपूर्व्य कहते हैं।

(३) मनुष्य गत्यानुपूर्वी नामकर्म—जब देव शरीर वा नारक शरीर को छोड़ वा मनुष्य शरीर अथवा तिर्यच शरीर को छोड़कर मनुष्य गति को जाता है तब मार्ग में मनुष्य गत्यानुपूर्वी प्रकृति का उदय होता है।

(४) तिर्यच गत्यानुपूर्वी—जब तिर्यचगति को जाता है तब तिर्यच गत्यानुपूर्वी प्रकृति का उदय होता है। इस कर्म का उदय जघन्य काल एक समय, मध्यम दो समय और उत्कृष्ट तीन समय मात्र है।

जिस कर्म के उदय से शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक, तूल की तरह हल्का न हो उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से अपने शरीर के (बड़े सींग, बड़ा पेट, कस्तूरी का बैना आदि) अवयव अपना ही घात करने वाले हों उसे उपघात नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से तीक्ष्ण नख व सींग, विषधू वा तत्सदृश के डंक आदि अंगोंवाण, पर के घात करने वाले होते हों उसे परघात नाम कर्म कहते हैं।

जिसके उदय से आतापमय शरीर होता है उसे आताप नामकर्म कहते हैं जैसे सूर्य के विमान में पृथ्वीकायिक जीव मणि स्वरूप होते हैं। उद्योत प्रकृति के उदय से आताप रहित प्रकाश रूप शरीर होता है, जैसे चन्द्रमा के विमान में पृथ्वीकायिक जीव मणिस्वरूप होते हैं।

जिस कर्म के उदय से शरीर में स्वासोच्छवास हो उसको उच्छवास नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से आकाश में गति हो उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। यह दो प्रकार है :—

जो हाथी की गति के समान सुन्दर गति का कारण होता है उसे प्रशस्तविहायोगति नामकर्म कहते हैं और जो ऊँट, गर्दभ आदि की गति के समान असुन्दर गति का कारण होता है, उसे अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से एक शरीर का भोक्ता एक ही जीव होता है उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से पृथ्वी, अप, तेज आदि एकेन्द्रिय शरीर प्राप्त हो उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से आत्मा द्विन्द्रियादि शरीर धारण करता है उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव अपने को स्नेह दृष्टि से अवलोकन करें उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से रूप आदि गुण युक्त होने पर भी दूसरों की दृष्टि में निश्च प्रतीत हो वह दुर्भग नामकर्म है।

जिसके उदय से मनोहर, सुन्दर स्वर हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हो उसे साधारण नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से बुरा असुहावना स्वर हो उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से शरीर के अंगोपांग सुन्दर हों उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से मस्तक आदि अवयव रमणीक न हो उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से अग्नि, जल, पर्वत, दुर्ग, पृथ्वी, वज्रपटल आदि को भेदकर निकल जाने वाला सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से स्वयं रोकने तथा अन्य को रोकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त हो उसे बाधर शरीर नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से जिस पर्याप्त में जाए उसके अनुसार आहार आदि की पूर्ण प्राप्ति हो वह पर्याप्ति नामकर्म है। वह छः प्रकार का है :—

(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) प्राणपान पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति और (६) मनः पर्याप्ति।

एकेंद्रिय जीवों के भाषा और मन को छोड़कर चार, द्विन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और अर्धेन्द्रिय जीवों के भाषा सहित पाँच और सैतो पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्ति होती हैं।

जिसके उदय से जीव को पूर्ण शरीर प्राप्त न होने से पूर्व ही मरण को प्राप्त हो वह अपर्याप्ति नामकर्म है।

जिसके उदय से धातु, उपधातु अपने-अपने स्थान में स्थिर रहें वह स्थिर नामकर्म है और जिस कर्म के उदय से शरीर में धातु-उपधातु स्थिर न रहे वह अस्थिर नामकर्म है।

जिसके उदय से कान्ति सहित शरीर हो वह आदेय और कान्ति रहित शरीर हो तो वह अनादेय नामकर्म है।

जिसके उदय से संसार में जीव की प्रशंसा हो वह यशस्कीर्ति और जिसके उदय से अवगुण प्रगट हों वह अयशस्कीर्ति नामकर्म है।

जिसके उदय से समवशरण लक्ष्मी का धारक तीर्थंकर पद के लक्षणयुक्त शरीर हो वह तीर्थंकरत्व नामकर्म है।

इस प्रकार नामकर्म की मुख्य ब्यालीस प्रकृति हैं और इनके अवांतर भेदों को जोड़ने में सत्तर तिरानवें हो जाती हैं।

गोत्र कर्म :—

जिस कर्म के उदय से संतान के क्रम से चले आये जीव के सदाचरण निषिद्धाचरण रूप उच्च-नीच गोत्र में जन्म हो वह गोत्रकर्म है और वह उच्च गोत्र और नीच गोत्र के भेद से दो प्रकार का है। जिसके उदय से उत्तम चरित्र वाले लोक पूज्य इक्ष्वाकू आदि कुलों में जन्म हो उसे उच्च गोत्रकर्म और जिसके उदय से निषिद्धाचरण वाले निध, दरिद्री, अप्रसिद्ध, दुखों से आकुलित कुल में जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं।

अन्तराय कर्म :—

अब अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ कहते हैं :—

(१) दानांतराय—जिस कर्म के उदय से या तो दान देने की शक्ति ही न हो और यदि हो तो दान देने का यत्न करते हुए भी किसी विघ्न से दान न दे सके वह दानांतराय है।

(२) लाभांतराय—जिसके उदय से वांछित इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए भी लाभ न हो।

(३) भोगांतराय—जिसके उदय से या तो भोग्य पदार्थ प्राप्त न हों और यदि प्राप्त हों तो रोग आदि के होने से भोग न सकें वह भोगांतराय है।

(४) उपभोगांतराय—जिसके उदय से या तो उपभोग्य पदार्थ ही न मिलें और यदि मिलें तो किसी विघ्न से भोग न सकें। गंध, अंतर, पुष्पमाला, तांबूल, भोजन, पान आदि जो एक ही बार भोगने में आएँ वे भोग हैं और शय्या, आसन, स्त्री, आभरण, घोड़ा-गाड़ी आदि जो बार-बार भोगने में आएँ वे उपभोग हैं।

(५) वीर्यांतराय - जिसके उदय से पौरुषहीन, निबल चित्त हो, वे जप, तप, व्रत आदि कुछ भी न कर सकें वह वीर्यांतराय है।

अब बन्ध पदार्थ से अन्तर्भूत पुण्य और पाप बंध भी हैं इसलिए उनमें से पहले पुण्य प्रकृतियों को कहते हैं। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ये पुण्य रूप हैं। वे इस प्रकार हैं :—(१) साता वेदनीय (२) तिर्यंच आयु (३) मनुष्य आयु (४) देव आयु (५) उच्च गोत्र ये पांच और नाम कर्म की तरेसठ मनुष्य गति (१) देव गति (२) पंचेन्द्रिय जाति (३) निर्माण (४) समचतुरस्र संस्थान (५) वज्र वृषभ-नाराज्य संहनन (६) मनुष्य गत्यानुपूर्वी (७) देव गत्यानुपूर्वी (८) अगुरु लघु (९) परघात (१०) जलतवास (११) अतप (१२) उद्योद् (१३) अशस्त विहायोगति (१४) प्रत्येक शरीर (१५) अस (१६) सुभग (१७) सुस्वर (१८) शुभ (१९) बादर (२०) पर्याप्ति (२१) स्थिर (२२) आदेय (२३) यशस्कीर्ति (२४) तीर्थकरत्व (२५) और पांच शरीर (२६-३०) तीन अंगोपांग (३१-३३) पांच बंधन (३४-३८) पांच संघात (३९-४३) आठ प्रशस्त स्पर्श (४४-५१) पांच प्रशस्त रस (५२-५६) दोगंध (५७-५८) चार प्रशस्त वर्ण (५९-६३) उक्त (६८) प्रकृतियों में शेष कर्म प्रकृतियाँ पाप रूप हैं।

स्थिति बंध वर्णन—

कषाय की तीव्रता मन्दता के अनुसार जितने काल तक कर्म वर्णना सत्ता में रहे, फल देकर उनकी निर्जरा हो उस समय की मर्यादा पड़ने को स्थिति बंध कहते हैं। स्थिति बंध दो प्रकार का है—(१) जघन्य स्थिति बंध और (२) उत्कृष्ट स्थिति बंध।

इसमें उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय और वेदनीय की बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। इस उत्कृष्ट स्थिति का बंध मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के होता है।

नाम कर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीसकोड़ाकोड़ी सागर की मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर की तथा आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर की होती है।

अब कर्मों की जघन्य स्थिति कहते हैं—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु इन पांच की जघन्य स्थिति अन्तर्भूत (जो दो घड़ी के भीतर-भीतर हो उसे अन्तर्भूत कहते हैं) नामकर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त और वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

इस प्रकार स्थिति बंध का वर्णन किया।

अनुभाग बंध वर्णन—

कषायों की तीव्र मंदता के अनुसार कर्म वर्गणाओं में जो फलदायक तीव्र मन्द शक्ति का उत्पन्न होना है वह अनुभाग बंध है। वह फल दान शक्ति कर्मों को मूल प्रकृति तथा उत्तर प्रकृति उत्तर प्रकृतियों के नामानुसार ही होती है जैसे ज्ञानावरण का फल ज्ञान का आच्छादन करना दर्शनावरण का फल दर्शन का आवरण करना है इसी प्रकार मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों में जैसा जिसका नाम है वैसी ही फल शक्ति जाननी चाहिये।

इन प्रकृतियों में बंध उदय आदि ये दस अवस्थाएँ होती हैं—

छप्पय—

जीवकरम मिली बंध वेय रस तास उवें मति,
उदीरमा उपाय रहें अब लों सत्ता गनि,
उत्करसन धिति बढ़ें घटे अपकरसन कहियत,
संकरमन पर रूप उदीरन बिन उपसम मत संक्रमण,
उदीरन बिन निधस्त घट बढ़ उदरन संक्रमण,
अनु निजा निर्कासित बंध वस भिन्न पव जानि मन ।

अर्थात्—

(१) राग द्वेष, मिथ्यात्व आदि परिणामों से जो पुद्गल द्रव्य का ज्ञानावरण आदि रूप होकर आत्मा के प्रदेशों से परस्पर सम्बन्ध होना है वह बन्ध है।

(२) अपनी स्थिति पूरी करके कर्मों का फल देने के सम्मुख प्राप्त होना उदय है।

(३) तप आदि निमित्तों से स्थिति पूरी किए बिना अपकर्षण के बल से कर्मों का उदयावली काल प्राप्त करना उदीरणा है।

(४) बंधकाल से स्थिति काल पर्यंत जब तक उदय, उदीर्णादि दूसरे भेद का प्रवर्तन न हो उस अवस्था का नाम सत्ता है।

(५) कर्मों के निमित्त से कर्मों की स्थिति व अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है।

(६) स्थिति व अनुभाग का कम हो जाना अपकर्षण है।

(७) आयु कर्म के बिना शेष सात कर्मों की किसी एक बंध रूप प्रकृति की दूसरी प्रकृति में परिणमन हो जाना संक्रमण है।

(८) कर्मों का उदय व उदीरणा रहित सत्ता में स्थिर रहना उपसम है।

(९) जो कर्म संक्रमण व उदयावली में प्राप्त न हो वह निधस्त है।

(१०) जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण धारों ही अवस्थाएँ न हों वह निर्काचितकरण (अवस्था) है।

इस प्रकार बंध की दस अवस्था जिनेन्द्र भगवान ने कही है इस प्रकार बंध तत्त्व का वर्णन किया आगे संवर तत्त्व का वर्णन करते हैं।

संवर तत्त्व का वर्णन—

आस्त्रवों का निरोध करना संवर है। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। कर्म स्त्रव के निरोध करने को कारण भूत वत और समित्यादि के पालन-रूप में परिणाम हो जाना भाव

संवर है। कर्मवर्गणाओं का आगमन रुकना द्रव्य संवर है। यह नीति है कि जिस कारण से जिस कार्य की उत्पत्ति होती है उस कारण के अभाव में उस कार्य की उत्पत्ति का भी अभाव हो जाता है। इसलिए इस जीव के जो संसार परिभ्रमण के कारण हैं, मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योगों द्वारा आस्रव होकर बंध होता है, उस आस्रव को रोकने के लिए सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व का देशव्रत तथा महाव्रत धारण करने से अविरत रूप भावों का निरालसी तथा ध्यानी होने प्रमादों का यथाख्यात चारित्र्य की प्राप्ति से कषायों का मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के निरोध से योगों का संवर करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है। इसी संवर को प्राप्त करने लिए आचार्यों ने ये कारण बतलाये हैं—पाँच व्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषद्, पाँच प्रकार का चारित्र्य, यह संवर के लिए कारण हैं।

तीन गुप्ति—

- (१) मनोयोग का रोकना मनोगुप्ति है।
- (२) वचनयोग का रोकना वचनगुप्ति है।
- (३) काययोग का रोकना कायगुप्ति है।

पाँच समिति—

(१) जो मार्ग मनुष्यों और तिर्यचों के गमनागमन से खुद गया हो, सूर्य के आताप से तप्त हो गया हो, हलादि से जोता गया हो, ऐसे प्राशुक मार्ग से रवि के प्रकाश में आगे को चार हाथ भूमि को भली प्रकार देखकर मंद-मंद गमन करना, जिससे कोई जीव प्रमाद अथात् असावधानी से न विराधा जाये। ऐसे शास्त्र श्रवण, तीर्थ यात्रा तथा आहार विहारादि आवश्यक कार्य के निमित्त गमन करना सम्यगोर्या समिति है।

(२) सर्व प्राणियों के लिए हितकर, कोमल, मिष्ट, सत्य वचन बोलना और लौकिक कर्कश हास्यरूप परात्मनिदा प्रशंसक शब्दों का न बोलना सम्यग्भाषा समिति है।

(३) निर्दोष (उदगमादि ४६ दोष रहित) शुद्ध (१४ मल दोष रहित) निरंतराय (३२ अन्तराय-रहित) उत्तम श्रावक के घर अपने निमित्त नहीं किया हुआ एक बार लघु भोजन ग्रहण करना सम्यगेषणा समिति है।

(४) ज्ञान के उपकरण शास्त्र, संयम के उपकरण पीछी, शीच के उपकरण कमंडल आदि को नेत्रों से देखकर निर्जंतु भूमि में यत्न पूर्वक उठाना, रखना, पटकना नहीं और हाथ पर देखकर पसारना समेटना निक्षेपण समिति है।

(५) जीव जन्तु रहित उचित प्राशुक भूमि पर मलमूत्र आदि क्षेपण करना सम्यग्उत्सर्ग समिति है।

दस धर्म का वर्णन—

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्जव, उत्तम अर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शीच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आर्किचन और उत्तम ब्रह्मचर्य इन दस लक्षणों से आत्मा के स्वभाव की परीक्षा होती है।

उत्तम क्षमा—

दुष्ट लोगों के द्वारा तिरस्कार, हास्य, ताड़न, मारण आदि क्रोध उत्पत्ति के कारण उपस्थित होने पर भी उन्हें दण्ड देने की शक्ति होने पर भी उन पर क्रोध नहीं करना, उनके विषय

में दुर्विचार भी नहीं करना, निन्दा तिरस्कार न स्वयं करना न औरों से कराना सुख दुःख क्लेश को पूर्व पूर्वोपाजित कर्मों के फल जानकर समभावों से सहन करना उत्तम क्षमा है।

उत्तम मार्दव धर्म—

अपने रूप, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य आदि का अभिमान नहीं करना, विद्वत्ता का अभिमान नहीं करना, धर्मात्मा, व्रती व विद्वानों को देखकर अथवा गुरुजनों को देखकर खड़ा होना तथा नमस्कार करना, उच्च आसन देना, आदर सत्कार करना, उनके सामने खड़ा होकर नहीं बोलना, मन, वचन काय से उनकी आज्ञा का पालन करना, देव, गुरु, शास्त्र का चित्त से आदर, उनके गुरुओं का चितवन करना उत्तम मार्दव धर्म है।

उत्तम आर्जव धर्म—

मन, वचन, काय की कुटिलता को त्याग कर परिणाम सरल रखना अर्थात् कभी छल कपट नहीं करना, जैसा मन में हो वैसा ही वचन के द्वारा प्रकाश में लाना और जो कुछ प्रकाश में लाया है तदनुसार ही देह से करना उत्तम आर्जव है।

उत्तम सत्य धर्म—

छल कपट रहित वचन बोलना, सर्व हितकारी प्रामाणिक मिष्ट कोमल वचन बोलना, धर्म की हानि या कलंक लगाने वाला प्राणियों को संक्लेश दुःख पहुँचाने वाला वचन न कहना उत्तम सत्य धर्म है।

उत्तम शौच धर्म—

अनीति से दूसरों के धन, सम्पत्ति, गृह आदि पदार्थों को ग्रहण करने की तीव्र अभिलाषा का अभाव और सुकृत की प्राप्ति में संतोष कर मलिन आचरण का त्याग करना तथा अन्तरंग आत्मा से जोमादिक कषायों को दूर कर सदा निर्मल रखना उत्तम शौच धर्म है।

उत्तम संयम धर्म—

इन्द्रियों को विषयों से रोकना संयम है। उत्तम संयम धर्म के दो भेद हैं। पहला प्राणि संयम दूसरा इन्द्रिय संयम।

बाह्य पंचेन्द्रियों और मन को विषय सेवन से रोकना, दुराचारों से बचना इन्द्रिय संयम है। अन्तरंग से छह काय के जीवों की रक्षा करना प्राणि संयम है।

उत्तम तप धर्म

सांसारिक विषयाभिलाषा रहित होकर अनादि कर्म बन्ध से सच्चिदानन्द स्वरूप निर्मल आत्मा को अनशनादि बारह प्रकार के तप से तपाकर कर्म मल रहित करना उत्तम तप है।

उत्तम त्याग धर्म—

निश्चय त्याग तो अपनी आत्मा से अनादिकाल से लगे हुए राग, द्वेष, मोहादि परभावों से जिसके कारण वह सदा भयवान् दुखी रहता है, छुटाकर निर्भय कर देना है। व्यवहार में आहार, औषधि शास्त्र और अभय, ये चार दान हैं। व्यवहार में साधु, मुनि आदि गुरुजनों को वा सम्यक्त्ववान् व्रती श्रावक को उनके दर्शन, ज्ञान और चरित्र की वृद्धि के लिए भक्ति भाव से और दुःखित, भूखे, अंगहीन हीनदरिद्रियों को करुणा भाव से भूख-प्यास में आहार पानी देना, रोग अवस्था में शुद्ध औषधि देना, विद्याभिलाषियों को शास्त्र दान देना, भयभीत जीवों को अभयदान देना उत्तम त्याग है।

उत्तम आर्किचन्य धर्म—

शुद्ध चैतन्य अमूर्तिक आत्मा से सर्वथा भिन्न स्वरूप पुद्गलमयी रूपी अन्तर्बाह्य चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग तथा शरीर से निर्ममत्व का होना आर्किचन है।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म—

स्पर्श इन्द्रिय के विषय, मैथुन कर्म से सर्वथा परान्मुख होने को ब्रह्मचर्य और ब्रह्म अर्थात् निजात्मा में रमण करने को निश्चय ब्रह्मचर्य कहते हैं अर्थात् उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं।

इस प्रकार तबत दस धर्म मुमुक्षु को धारण करने चाहिये।

द्वादश अनुप्रेक्षा—

जो वैराग्य उत्पन्न करने को भाता समान और बारम्बार चिन्तवन करने योग्य हो वह अनुप्रेक्षा कहलाती है। वह बारह हैं।

(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोक (११) बोधिदुर्लभ (१२) स्वाध्यातत्व (धर्म)।

इन बारह प्रकार के स्वरूप का बारम्बार चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा है।

१. अनित्य अनुप्रेक्षा—

सांसारिक पदार्थ देह, धन, सम्पत्ति, घोड़ा, हाथी, स्त्री, कुटुम्बी, मित्रादि तथा आज्ञा मानने वाले थाकर तथा पंचेन्द्रियों के भोग ये सब थोड़े-थोड़े दिन रहने वाले हैं और जल के बुलबुले के समान अस्थिर हैं, अनित्य हैं जैसे इन्द्र वनुष देखते ही विलय हो जाता है व बिजली शीघ्र ही चमक कर विलय हो जाती है, ऐसा ही इन पदार्थों का संयोग है, पुण्य क्षीण होने पर सब चले जाते हैं। इस प्रकार चिन्तवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

२. अशरण अनुप्रेक्षा—

जैसे वन के एकान्त स्थान में सिंह के द्वारा पकड़े हुए भृग की कोई शरण नहीं होती उसी प्रकार इस संसार में काल के मुख का ग्रास बने हुए प्राणियों को कोई शरण नहीं है। इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, राजा महाराजादिक भी अवधि पूर्ण होने पर काल के गाल में चले जाते हैं तो औरों की क्या रक्षा करेंगे। जल में, थल में, नभ में, नरक में, सर्व संसार में कोई भी स्थान शरण योग्य नहीं है। जितनी चाहे मणि हो, चाहे जितने मंत्र, यंत्र औषधि आदि किये जायें परन्तु कोई भी काल से नहीं बच सकते हैं। काल से वे ही बचे हैं जिन्होंने आत्म कल्याण करके सब कर्मों से मुक्त हो अविनाशी पद पाया है। वह पद जिस पूज्य धर्म से प्राप्त होता है वह धर्म ही व्यवहार में शरण है और निश्चय में यह आत्मा अपने को आप ही शरण रूप है। इस प्रकार चिन्तवन करना अशरण अनुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा—

यह संसार जन्म, जरा, मरण दुःखस्वरूप है। इसमें जीव निरन्तर एक देह से दूसरे शरीर में जन्म ले-लेकर चतुर्गति में दुःख सहन करते हैं। पृथ्वीकाय योनि सात लाख, जल काय योनि सात लाख, अग्निकाय योनि सात लाख, पवन काय योनि सात लाख, प्रत्येक वनस्पति काय योनि दस लाख ये सब मिला कर बावन लाख भेद स्थावर एकेन्द्रिय के हैं। जिन्हें स्पर्शन इन्द्रिय मात्र का ज्ञान है वे खनन, तपन

शीत, उष्णादि की बाधा से अत्यन्त दुःखी हैं। दो इन्द्रिय योनि दो लाख, तीन इन्द्रिय दो लाख, चार इन्द्रिय दो लाख ये सब छह लाख विकलत्रय योनि हैं और चार लाख पञ्चेन्द्रिय तिर्य्यच योनि हैं, ऐसे समस्त बासठ लाख तिर्य्यच योनि जो ताड़न, मारन, छेदन, भेदन, खनन, तापन, बधबंधन, भारारोपण, खान, पान, आदि विरोध से महादुःखी हैं नारकी योनि चार लाख जो प्रगट रूप में महा दुःख रूप ही हैं। देव योनि चार लाख जो नाम मात्र सुखाभास को ही सुख मानती है, वास्तव में वह दुःख ही है। पराई सेवा अथवा पराया वैभव देखकर जलना आदि महान दुःख देवों में हैं और चौदह लाख योनि मनुष्य जिनमें कोई दरिद्रता से, कोई रोगों से, कोई सन्तान के न होने से, कोई स्त्री, पुत्रादि के वियोग से, कोई शत्रुओं से, अत्यन्त दुःखी है अर्थात् प्रत्येक जीव को कोई न कोई दुःख लगा हुआ है। इसमें कोई भी सुखी नहीं है इस प्रकार मनुष्य को इन बीस लाख योनियों में भ्रमण करना है अतः संसार को दुःखमय चितवन कर उसमें रुचि नहीं करना संसारानुप्रेक्षा है।

४. एकत्वानुप्रेक्षा—

यह जीव अकेला स्वयं ही जन्मता है और स्वयं ही मरता है, अकेला ही नरक की वेदना सहता है, तिर्य्यच व मनुष्य गति में नाना दुःख है। अपना पुत्र, अपनी स्त्री कोई भी दुःख के साथी नहीं हो सकते अर्थात् दुःख नहीं बटा सकते और न कोई साथ ही आने-जाने वाले हैं। अपने शुभाशुभ बाधे हुए कर्मों का सुख-दुःख रूप फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। दूसरा कोई साथी नहीं होता है। फिर किसके प्रेम में फँसना? स्वयं आत्म कल्याण में पुरुषार्थ करना ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार अपने को निःसहाय एकाकी चितवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा—

जब अपनी आत्मा से शरीर ही भिन्न है तो कुटुम्बी नातेदार, पुत्र, मित्र, धन, धान्य आदि अन्य सब पदार्थ तो प्रत्यक्ष रूप से भिन्न ही हैं जो क्षण भर में किंचित वैमनस्यता होने पर अपने से बिगड़ जाते हैं फिर किससे स्नेह करना और बूथा किसके लिए पापोपार्जन करना? जगत में सब संबन्ध मतलब का है अतः आत्महित करना ही श्रेष्ठ है ऐसा चितवन करते हुए इनसे संबंध नहीं बाहना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

६. अशुचित्वानुप्रेक्षा

यह शरीर अस्थि, मांस मज्जा, रक्त, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है। चर्म की चादर से ढका हुआ सुन्दर दीखता है। जिस शरीर के नव द्वारों से चित्त को घृणाकारी मल-मूत्र आदि अशुचिता बहती है इससे अधिक अपवित्रकौन है। इससे प्रेम करना बूथा है। यदि यह पवित्र है तो आत्मा के सम्बन्ध से हो है। जीव के निकलते ही इसे स्पर्श करने पर स्नान करते हैं तो ऐसे मस्तिन से क्या प्रेम करना! इस प्रकार शरीर के स्वरूप का चितवन कर राग भाव घटाना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

७. आस्रवानुप्रेक्षा—

मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और मन, बधन, काय के योगों द्वारा कर्मों का आस्रव होता है और वह कर्म बंध होकर आत्मा को संसार में परिभ्रमण का कारण होता है। अतएव आस्रव के निरोध के लिए उसके मुख्य कारण कषायों को रोकना आस्रवानुप्रेक्षा है।

८. संवरानुप्रेक्षा—

कर्म वर्गणाश्रयों के आगमन में निमित्त रूप मन, वचन, काय के योगों के तथा मिथ्यात्व और कषाय आदि के मन्द होने से कर्म आश्रय का घटना संवर है। संवर से आश्रय रुकता है और बंध का अभाव होता है और बंध के न होने से संसार का अभाव होता है और जीव मुक्त हो जाता है। इस प्रकार संवर के स्वरूप का चिंतन करना संवरानुप्रेक्षा है।

९. निर्जरानुप्रेक्षा—

पूर्वोपाजित शुभाशुभ कर्मों के उदय के अनुसार इष्ट अनिष्ट सामग्री के समागम होने पर राग द्वेष रहित साम्य भाव धारण करने से सत्ता में स्थित कर्मों का स्थिति अनुभाग न्यून होकर बिना फल दिये ही कर्म वर्गणार्थ कर्मस्थ शक्ति रहित होकर समाप्त होती है। इस प्रकार संवरपूर्वक आत्मा के प्रवेशों के कर्मों का एकोद्देश क्षय होना निर्जरा और समस्त कर्मों का अभाव मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप का बारम्बार चिंतन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

१०. लोकानुप्रेक्षा :—

यह समस्त लोक अनन्तानन्त आकाश के बीचोंबीच अनादि निधन तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण अनाकार है। वास्तव में तो लोक एक ही है। परन्तु व्यवहार में उसके उर्ध्व लोक, मध्य लोक और पाताल लोक ऐसे तीन लोक हैं। यह लोक उत्तर से दक्षिण को सात राजू लम्बा है और चौदह राजू ऊँचा है और पूर्व से पश्चिम को तल में सात राजू चौड़ा है फिर ऊपर को क्रम से घटकर सात राजू की ऊँचाई पर मध्य लोक में एक राजू चौड़ा है और फिर क्रम से बढ़कर साढ़े दस राजू की ऊँचाई पर चौड़ाई पाँच राजू है। फिर क्रम से घटकर अन्त में एक राजू चौड़ाई है। यह लोक चारों तरफ से (१) घनोदधि वातवलय (२) धन वातवलय (३) तनु वातवलय, इन तीन वातवलयों से घिरा हुआ आकाश के प्रदेशों में निराधार है। उसमें भरे हुए अनन्तानन्त जीव अनादि काल से अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन को भूलकर इन्द्रिय जनित सुखों की प्राप्ति करने के लिए यथार्थ स्वरूप जाने बिना अज्ञान वश मिथ्या मार्ग का सेवन कर नित्य असह्य दुःख सहते हुए चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं। जीवों के अतिरिक्त पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य और भी इस लोक में स्थित हैं। इस प्रकार लोक के स्वरूप का चिंतन करना लोकानुप्रेक्षा है।

११. बोधिवुल्लभ भावना :—

साधारण स्थावर काय से प्रत्येक स्थावर काय होता दुर्लभ है फिर क्रमशः उत्तरोत्तर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चोइन्द्रिय और असीनी पंचेन्द्रिय पशु, भवनत्रिक देव, मलेच्छ शूद्र, स्वर्ग-वासी देव आर्य क्षेत्र में उत्तम कुलीन मनुष्य पर्याय का होना ऊँच गोत्र, दीर्घायु समस्त इन्द्रियों की परिपूर्णता, आत्म ज्ञान होने योग्य क्षयोपशम, पवित्र जिनधर्म की प्राप्ति, साधर्म्य का सत्संग और बोधि अर्थात् रत्नत्रय का प्राप्त होना अतिशय दुर्लभ है। इस दुर्लभता का बारम्बार चिंतन करना बोधिवुल्लभ अनुप्रेक्षा है।

१२. धर्मअनुप्रेक्षा :—

निश्चय में धर्म वस्तु का स्वभाव है। व्यवहार में रत्नत्रय स्वरूप तीन प्रकार उत्तम क्षमा आदि दश लक्षण रूप दश प्रकार व अहिंसा लक्षण रूप ही धर्म है। आत्मा का शुद्ध निर्मल स्वभाव ही

अपना धर्म है। इसकी प्राप्ति के बिना यह जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता रहता है। वह धर्म ही संसारसागर से निकाल मोक्षस्थान में पहुंचाने वाला है इस प्रकार से धर्म स्वरूप का चितवन करना धर्म अनुप्रेक्षा है।

। इति द्वादशानुप्रेक्षा ।

अथ बाईस परीषह वर्णन—

असाता वेदनीय कर्म के निमित्त नाना प्रकार के कष्ट अर्थात् दुःख होने पर भी व्याकुल न होकर उस दुःख और क्लेश को पूर्वोपाजित कर्म का फल समझकर समताभाव से कर्मों की निजरा के लिए सहन करना परिषह है। परिषह बाईस प्रकार का है—

(१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंशमशक (६) नग्नता, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और, (२२) अदर्शन।

इस प्रकार ये बाईस परीषह हैं।

(१) अन्नशन उदोदर आदि तप बहुत काल तक करने पर भी निर्दोष, शुद्ध, निरंतराय आहार मिले तो ग्रहण करना और नहीं मिले तो खेद खिन्न न होकर क्षुधा आदि वेदना को धैर्यपूर्वक सहन कर लेना क्षुधा परीषह विजय है।

(२) मुनि का भोजन दूसरे के आधीन है, इससे प्रकृति के विरुद्ध उष्ण प्रकृति वाले भोजन से अथवा ऋतु के ग्रीष्म आताप से तृषा सताए तो विकल चित्त न होकर शांतिरूपी जल से शान्त कर देना वह तृषा परीषह जय है।

(३) संसारी जीव अंतरंग से विषय-वासना को और बाह्य लोक-लज्जा के वशीभूत होकर नग्न नहीं रह सकते हैं, नग्न होना बड़ा कठिन कार्य है परन्तु तपस्वी साधु वस्त्र रहित नग्न होकर भी माता की गोद के बालक के समान निर्विकार नग्न रूप से उत्पन्न हुई लोक-लाज को जीतकर निर्भय रहते हैं, निर्भय होकर रहना ही नग्न परीषह जय है।

(४) अनेक प्रकार के देश, काल आदि जनित कष्ट आने पर तथा असह्य क्षुधा, तृषा आदि की बाधा होने पर भी व्याकुलता रहित, शांतचित्त रहना वह अरति परिषह जय है।

(५) जिन स्त्रियों के हाव-भाव आदि से महान बड़े-२ शूरवीरों का मन भी विकृत हो जाता है यह मुनि उसे जीतते हैं अतः यह स्त्री परिषह का जीतना है।

(६) चार हाथ प्रमाण भूमि को भली प्रकार से देखकर नंगे पाँव मार्ग में गमन करते हुए सूखे तृण, कंटक पैरों में लगने पर भी अथवा छेदने पर प्रथम गृहस्थ अवस्था में भोगे हुए वाहन उपवाहनों को स्मरण न करना, व्याकुल तथा खेद खिन्न न होना वह चर्या परीषह जय है।

(७) पर्वत को गुफा, शिला तथा वृक्षों के कोटरों में ध्यान करने के निमित्त संकल्प किए हुए आसन से उपसर्ग के कारण आने पर भी तथा मनुष्य खोर, सिंह, बाघ, बैरीकृत आक्रमण आदि की वधूप, शीत आदि की बाधा से आसन से न हटना, कायरता तथा व्याकुलता रहित निर्भय स्थिर रहना वह निषद्यापरीषह जय है।

(८) डांस, मस्त्रिका, मच्छर, बिच्छू आदि तथा जंगली जन्तु पक्षी जनित काटने, मारने की पीड़ा को ध्यान में मग्न रहते हुए शांतिपूर्वक खेदरहित सहन करना वह दंशमशक परीषहजय है।

(९) पिछली रात्रि में कोमल या कठोर कंकरीली भूमि पर अथवा शिला पर खेद न मानते हुए एक आसन से अल्प निद्रा लेना और पूर्वकाल में कोमल शय्या पर शयन करते थे और महल में सुरक्षित रहते थे ऐसा न सोचना वह शय्या परीषहजय है।

(१०) ग्रीष्म काल में सूर्य के आताप से तपते हुए पर्वतों पर आतापन योग धारण कर गर्मी की बाधा को समभावों से सहन करना वह उष्ण परीषहजय है।

(११) शीतकाल में जलाशयों के निकट ध्यान स्थित होते हुए शीतल पवन वा पाले की असह्य घोर बाधा को समभावों से खेद रहित सहन करना वह शीत परीषहजय है।

(१२) सर्व प्राणियों के हितकारक साधुओं को कोई दुष्ट, अनिष्ट, दुर्वचन चोर, ठग, पाखण्डी, लज्जा रहित, मूर्ख बताए तो उसको सुनकर क्षमा तथा शांति ग्रहण करना वह आक्रोश परीषहजय है।

(१३) जहाँ कोई निरपराध ही अपने दुष्ट स्वभाव से मारने लग जाए वा बाँध दे तो उस पर रोष नहीं करना और शांतिपूर्वक खेदरहित सहन करना वह बन्ध परीषह का जीतना है।

(१४) चिरकाल पर्यंत घोर तप करते समस्त शरीर शुष्क हो जाने पर निर्दोष, शुद्ध, निरन्तराय, आहार आदि की प्राप्ति न होने पर भी लाभ के समान संतुष्ट रहना अर्थात् भोजन, पान औषध आदि की किसी से इच्छा प्रगट न करना याचना परीषहजय है।

(१५) साधु शास्त्रोक्त नियत समय पर आहार के निमित्त दातार के घर जाकर याचना न करे, नवधा भक्ति सहित निरन्तराय शुद्ध भोजन मिले तो लेवे नहीं तो महीनों का अंतर पड़ने पर भी तप से शिथिल, कायर न होकर उससे पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा जानकर साम्यभाव धारण कर खेदयुक्त न होना वह अलाभ परीषह का जीतना है।

(१६) वात, पित्त, कफ आदि की न्यूनाधिकता से उत्पन्न हुई पीड़ा की चिकित्सा की वांछा नहीं करना, रोग जनित पीड़ा को खेदरहित सह लेना वह रोग परीषहजय है।

(१७) मार्ग में गमन करते समय तृण, कंटक, कंकरो के चुनने पर भी उससे उत्पन्न वेदना को साम्यभाव से सह लेना तथा पाँव में अथवा अन्य अंगों में काँटा फांस आदि के लगने पर अपने हाथ से न निकाला और न निकलवाने की इच्छा करना और यदि कोई स्वतः निकाल दे तो उसमें हर्ष नहीं मानना वह तृण स्पर्श परीषह जीतना है।

(१८) यावज्जीवन स्नान का त्याग करने पर अपने शरीर पर पसेव से भीगे अंगों पर धूल पड़ने से उत्पन्न हुआ ग्लानि का कारण मल को देखकर उसके दूर करने के निमित्त स्नान आदि की इच्छा न करना और न ही उसके कारण चित्त में खेद करना वह मल परीषह जीतना है।

(१९) स्वयं अत्यन्त और वृद्ध होने से सत्कार के योग्य होते हुए भी कोई आदर, सत्कार, प्रणाम आदि न करे तो चित्त में खेद न करना और मानापमान में समभाव रखना सत्कार पुरस्कार परीषह का जीतना है।

(२०) तर्क, छन्द, कोष, व्याकरण आदि का विशेष ज्ञान होते हुए भी विद्वत्ता का अभिमान न करना प्रज्ञा परीषहजय है।

(२१) धीर तपश्चरण आदि करने पर भी प्रयत्नि, शनः पर्यन्त, केवल ज्ञान की स्वयं को प्राप्ति नहीं होती तथा अन्य को अल्पकाल और थोड़े तपश्चरण आदि से ज्ञान की प्राप्ति देखकर खेद खिन्न न होना और तप से शिथिल न होना अज्ञान परीषह जय है।

(२२) बहुत काल पर्यन्त धीर तप करते हुए भी ऋद्धि प्राप्त न हो तो चित्त में ऐसा विकल्प न करना कि शास्त्र में ऐसा सुना है कि तप के बल से अनेक प्रकार की ऋद्धि प्राप्त होती है। परन्तु मुझे बहुत काल से कठिन-कठिन तप करते हुए भी किसी प्रकार की ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई। कदाचित् यह शास्त्रोक्त वार्ता असत्य तो नहीं है इस प्रकार संदेह न करना अदर्शन परीषह जय है।

इन बाईस परीषह जनित पीड़ा को समभावों से सहन करना भी परम संवर का कारण है। ये सब परीषह किन-२ कर्म कृत कितनी और किन-२ गुणास्थानों में कितनी-२ होती हैं उनका वर्णन करते हैं :-

इनमें से ज्ञानावरण के उदय से प्रज्ञा, अज्ञान दो और दर्शन मोह के उदय से अदर्शन होती हैं। नग्न, निवद्या, स्त्री, सत्कार, पुरुस्कार, दुर्वचन याचना, अरति-धारिण, मोह के उदय से होती है। अलाभ अन्तराय के उदय से होती है और क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, बध्वधन, रोग, तृण स्पर्श, भल वेदनीय के उदय से होती है। तबमें गुण स्थान तक बाईस परीषह होती है। एक जीव के साथ उन्नीस परीषह तक हो सकती है, क्योंकि शीत उष्ण में से एक काल में एक ही होगी और चर्या शय्या, निषद्या इन तीनों में से एक काल में एक ही होगी। इस प्रकार उन्नीस परीषह ही एक साथ उदय हो सकते हैं दशवें, ग्यारहवें और बारहवें गुण स्थानों में ज्ञानावरण, अन्तराय, वेदनीय के उदय से जनित चौदह परीषह होती है यथा प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, बंध, रोग, तृण स्पर्श और भल होती है। बारहवें गुणस्थान के अन्त में शेष तीन घातिया कर्मों का नाश करके सयोग केवली नामक तेरहवें गुण स्थान को प्राप्त होकर संसार के समस्त त्रिकालवर्ती चराचर पदार्थों को युगपत हस्तकमलवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। इस गुण स्थान में चारों घातियाकर्मों के अभाव से केवल वेदनीय कर्म जनित ग्यारह परीषह होती है। परन्तु मोहनीय कर्म के अभाव होने से वेदनीय कर्म का उदय; अग्नि से जली हुई रस्सी के बल के समान नाम मात्र रहता है परन्तु जोर नहीं कर सकता है अर्थात् यह ग्यारह परीषह केवली भगवान् को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकती हैं इसीलिए यह न होने जैसी है।

पाँच प्रकार का चारित्र धर्म—

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, और यथाख्यात— इस प्रकार पाँच प्रकार का चरित्र है। व्रत धारण करना, पंच समिति पालन, कषायों का निग्रह, मन, वच, काय, की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियों की विजय जिस जीव के हो उसे संयम गुण प्रगट होता है।

सामायिक चारित्र—

सम्पूर्ण सावध योगों का भेद रहित त्याग करना सामायिक चारित्र है।

छेदोपस्थापना चारित्र—

प्रमादवश सावध कर्म हो जाने से तज्जनित दोष की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त लेकर छेद देना और पुनः आत्मा को व्रत धारणादि संयम रूप क्रिया में प्रवर्तविने को छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं।

परिहार विशुद्धि चारित्र—

जीवों की पीड़ा का परिहार करने से प्रादुर्भूत आत्मा की शुद्धि विशेष को परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं।

सूक्ष्मसांपराय चारित्र—

उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी वाले जीव के अति सूक्ष्म कषाय के उदय से सूक्ष्म सांपराय नामक दसवें गुणस्थान में जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्म सांपराय चारित्र कहते हैं।

यथाख्यात चारित्र—

कषायों के सर्वथा अभाव होने से उत्पन्न हुई शुद्धि विशेष को यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र प्रमत्त विरत संज्ञक छठे गुणस्थान से अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान तक होते हैं। परिहार विशुद्धि चारित्र प्रमत्त और अप्रमत्त संज्ञक छठे, सातवें गुणस्थान में होते हैं। सूक्ष्म सांपराय चारित्र सूक्ष्म सांपराय संज्ञक दसवें गुण स्थान में होता है और यथाख्यात चारित्र उपशांत कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान में से आयोग केवली नामक चौदहवें गुण-स्थान तक होता है। इसमें विशेषता ये है कि ग्यारहवें चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से और ऊपर के तीन गुणस्थानों में क्षय से यह संयम होता है। इस प्रकार संवर के होने के मुख्य छः कारणों का वर्णन किया गया है।

निर्जरा तत्व का वर्णन—

आत्मा के प्रदेशों से कर्मों का एकोदेश क्षय हो जाना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है।

निर्जरा के दो भेद—

सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा—

सत्ता स्थित कर्मों का उदय में आकर एकोदेश क्षय हो जाना सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवों के अपने आप सदाकाल होती रहती है। यह मोक्ष में कार्यकारी नहीं होती क्योंकि जैसे-जैसे क्रम पूर्वक पूर्व संचित कर्म वर्गणा उदय काल आने पर अपना फल देकर निर्जरती है, उसी प्रकार नवीन-नवीन कर्म वर्गणाओं का आगमन होकर फिर नूतन कर्म बंध होता है। अतः संसार का ही कारण है। जैसे वृक्ष के पके हुए फल भोगने पर वीर्य उपजन शक्ति से नवीन वृक्ष उगाए जाने पर फल देते हैं। यह परिपाटी क्रमशः चलती रहती है।

अविपाक निर्जरा—

कर्मों का उदय काल के आए बिना ही, बिना फल दिये ही, आत्मा के प्रदेशों से एकोदेश क्षय हो जाना अविपाक निर्जरा है। यह मोक्ष के लिए कारण है क्योंकि इसमें नवीन कर्मों का बंध नहीं होता जैसे वृक्ष के ऐसे कच्चे फल जिनमें बीज उगने योग्य न हुए हों और पकने योग्य न हुए हों और कच्चे ही तोड़कर भोगे जाएं तो आगे के लिए बीज नष्ट हो जाता है जिससे पुनः वृक्षोत्पत्ति नष्ट हो जाती है और वृक्ष को मूल से खोद कर भस्मीभूत करे तो वृक्ष और बीज दोनों का अभाव हो जाए; उसी प्रकार घोर परीषद्, जीव, तप करके कर्मों को वलात्कार उदय में लाएं तो वीर्य नष्ट हो जाता है। वे फिर शुक्ल ध्यान रूपी पावक से मोहनीय आदि कर्म वृक्षों को समूल नष्ट करे तो मोक्ष प्राप्त होता है।

अब अविपाक निर्जरा के कारण बारह प्रकार के तप का वर्णन किया जाता है। यद्यपि तप दस प्रकार के धर्मों के अन्तर्गत हैं परन्तु संवर पूर्वक निर्जरा का प्रधान कारण होने से इनको भिन्न कहा गया

है। सांसारिक विषयों की इच्छा रहित होकर आत्मा को तपाना अर्थात् कर्म मल रहित निर्मल करना तप है। अन्तरंग और बाह्य के भेद से तप दो प्रकार का है।

बाह्य तप के भेद—

अनशन, अवमौदर्य, व्रत परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, और काय क्लेश छः प्रकार के बाह्य तप है।

अनशन तप—

ख्याति लाभ की इच्छारहित अंगव सिद्धि रस के अभाव, कर्षों के बाह्य तथा ज्ञान स्वाध्याय की सिद्धि के अर्थ प्रमाद अभाव के लिए एक दिन की मर्यादा रूप चार प्रकार के भोजन का त्याग करना अनशन तप है।

अवमौदर्य तप—

मिष्ट भोजन के लोभ रहित निद्रा के अभाव तथा संयम की सिद्धि के अर्थ व ध्यान की निश्चलतादि के लिए अल्प भोजन करना अवमौदर्य तप है।

व्रत परिसंख्यान तप—

आहार लेने को अटपटी प्रतिज्ञा करके चित्त के संकल्प को रोकना-जैसे आज वन में मिलेगा तो लेवेंगे या दो तीन घर से अधिक में न जावेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा करके आहार के लिए गमन करना और संकल्प के अनुसार भोजन प्राप्त न होने पर वापिस वन में आकर उपवास धारण कर लेना व्रत परिसंख्यान तप है।

रस परित्याग तप—

संयम की सिद्धि और लोलुपता के त्याग के निमित्त घृत, तैल आदि षट् रसों में से एक दो आदि का त्याग करना रस परित्याग तप है।

विविक्तशय्यासन तप—

जीवों की रक्षार्थ प्रासुक क्षेत्र में पर्वत, गुफा, मठ, वन खंड आदि एकान्त स्थान में ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान की निश्चलता के लिए शयन व आसन करना विविक्तशय्यासन तप है।

कायक्लेश तप—

शरीर के सुखिया स्वभाव को मिटाने के लिए, कष्ट सहन करने के अभ्यास के लिए साम्यभाव-पूर्वक, शक्ति के अनुसार ग्रीष्म में पर्वत पर, वर्षा में वृक्ष के नीचे, शीतकाल में जलाशय के तट पर ध्यान धरना व कठिन-कठिन आसन लगाना कायक्लेश तप है।

यह छः प्रकार का बाह्य तप है, जो प्रगट रूप में देखने में आता है। अब अभ्यन्तर तपों का वर्णन किया जाता है।

अभ्यन्तर तप के भेद—

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान अभ्यन्तर तप के छः भेद हैं।

प्रायश्चित्त तप—

अपने तप, व्रत में लगे हुए दोषों को उनके शुद्ध होने के निमित्त गुरु से स्पष्ट प्रगट कर देना कि

मुझको यह दोष लगा है, आलोचना है। दोष दूर होने के लिए प्रार्थना करना अथवा मैंने जो अपराध किए हैं सो निष्कल हों—इस प्रकार कहना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण दोनों का एक साथ करना तदुभय प्रायश्चित्त तप है।

जिस वस्तु के ग्रहण करने से व जिस कार्य के करने से दोष लगा हो उसका त्याग करा देना विवेक प्रायश्चित्त तप है।

नियमित समय तक कायोत्सर्ग बंद लेना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त तप है।

अनशन आदि तप करना तप प्रायश्चित्त है।

दिवस, पक्ष, मासादिक की दीक्षा का घटाना छेदप्रायश्चित्त है।

नियत समय के लिए संघ से बाहर कर देना परिहार प्रायश्चित्त तप है।

पिछली समस्त दीक्षा को छेदकर फिर से नवीन दीक्षा देना छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त है।

इस प्रकार प्रायश्चित्त तप नौ प्रकार का है।

विनय तप—

शंकादि दोष रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान करना दर्शन विनय है।

संशय, विपर्यय, अनध्वसायरहित अष्टांग रूप ज्ञानाभ्यास करना ज्ञान विनय है।

विवेक सहित निरतिचार क्रिया धारण करना चारित्र्य विनय है।

देव, शास्त्र, गुरु तथा तीर्थ आदि का हृदय में वंदना रूप आचरण करना उपचार विनय है।

वैयावृत्य तप—

यह चार प्रकार का विनय तप है। जो शिक्षा, दीक्षा दें वह आचार्य हैं। जिनागम अध्ययन, अध्यापन कराये वह उपध्याय हैं। उपवासादिक विशेष तप करें वह तपस्वी हैं। जो श्रुतज्ञान के अध्ययन करने के अधिकारी हों वह शिष्य हैं। जिनका शरीर रोगादि से पीड़ित हो वह म्लान है। बृद्ध मुनियों का समूह गण है। दीक्षा लेने वाले एक आचार्य के शिष्य कुल हैं। ऋषि (ऋद्धिधारी), मुनि (अवधि, मन पर्ययज्ञानी), यति (तेरह प्रकार चरित्र पालने में यत्न करने वाले तथा श्रेणी मांडने वाले), अनागार (शेष सर्व निर्ग्रन्थ साधु) इन चार प्रकार के मुनियों का समूह संघ है। जो बहुत काल के दीक्षित हों उन्हें साधु कहते हैं। जो लोकमान्य प्रशंसनीय हों वह मनोज्ञ हैं।

इन सबका शरीर सम्बन्धी व्याधि तथा दुष्टजनों द्वारा कृत उपसर्गादिक में सेवा टहल करना वैयावृत्य तप है।

स्वाध्याय तप—

विनयवान धर्म के इच्छुक पात्रों को धर्म श्रवण कराना वांचना स्वाध्याय है।

जाने हुए अर्थ को बारम्बार विचारना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

शुद्ध आचरण से घोषना आमनाय स्वाध्याय है।

संशय की निवृत्ति के लिए बहुज्ञानियों से पूछना पृच्छनास्वाध्याय है।

उन्मार्ग को दूर करना और धर्म वृद्धि के लिए उपदेश देना धर्मोपदेश स्वाध्याय है।

इह प्रकार यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय तप है।

व्युत्सर्ग तप—

धनधान्यादि बाह्य परिग्रह और राग द्वेष मोह आदि अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान तप—

चित्त की वृत्ति को अन्य सब क्रियाओं से खींचकर एक जेय की तरफ स्थिर करना एकाग्रचित्ता-निरोध वा ध्यान तप है। यह ध्यान उत्तम संहनन वालों के अर्थात् छह संहननों में से पहले वा वज्र वृषभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन के धारक पुरुषों के अतिरिक्त अधिक से अधिक अन्तर्मुहुर्त पर्यन्त रहता है। फिर दूसरे जेय पर चला जाता है। यही तीन संहनन ध्यान के कारण हैं। यह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल के भेद से चार प्रकार है। इनमें से आर्त, रौद्र ये दो अप्रशस्त-धर्म और शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं। अब आर्तध्यान का लक्षण वर्णन किया जाता है—

जिससे परिणाम दुखरूप हो वह आर्तध्यान है। इसके चार भेद हैं। इष्ट, प्रिय, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, मित्रादि, चेतन, अचेतन पदार्थों के वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिए बारम्बार चिन्तन करना, चिन्तातुर होना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है।

अनिष्ट दुखदाई स्त्री पुत्रादि तथा पशु व छोटे पदार्थ का संयोग होने पर कलुषित परिणाम होना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है।

रोगजनित पीड़ा होने पर अधीर होकर संवत्सेश्वररूप परिणाम होना वेदनाजनित आर्तध्यान है और आगामी काल में भोगोपभोगादि की प्राप्ति के लिए निदान करना और सदैव इसकी वाधा रूप परिणाम रखना निदानबंध आर्तध्यान मुख्यतया तिर्यंच गति का कारण है। परन्तु सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव होने के पश्चात् (थावर विकलत्रय पशुमें नहि उपजत सम्यकधारी) इस वाक्य के अनुसार तिर्यंच गति का कारण नहीं होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान आदि से लेकर पाँचवे देशविरत संशकगुणस्थान तक चारों और छठे प्रमत्तसंयत नामक गुणस्थान में निदान बंधरहित शेष तीन आर्तध्यान होते हैं। ये संसार की परिपाटी से उत्पन्न भावभ्रमण के कारण स्वतःस्वभाव बिना प्रयत्न होते हैं। वह त्यागने योग्य है।

निर्दय भावों का होना रौद्र ध्यान है। यह चार प्रकार का होता है। अपने मन, वचन, काय से जीवों की हिंसा करने, कराने, कराना व करे हुए में हर्षमानना मृगानन्द रौद्र ध्यान है। खोरी कराना व की हुई में आनन्द मानना जीयनिन्द है। संसारिक सामग्री का बहुत संग्रह करना, कराना व की हुई देखकर हर्ष मानना परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है। यह चार प्रकार का ध्यान है। यह चार प्रकार रौद्रध्यान नरक गति का कारण है। परन्तु सम्यक्त्व का सद्भाव होने से (प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिषवान भवन षड् नारी, थावर विकलत्रय पशु में नहि उपजत समकितधारी) इस वाक्य के अनुसार मन्द होने से नरक गति के कारण नहीं होते हैं। (प्रथम नरक विन षड् भू) इस पद का अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहले जिसने नरक आयु का बन्ध कर लिया हो वह रत्नप्रभ भूमि अर्थात् पहले नरक में ही जीव जघन्य व मध्यम स्थिति पर्यन्त ही दुखों को अनुभव करता है उसे वहाँ बहुत दिवस पर्यन्त दुःख सहन नहीं करने पड़ते यह सम्यक्त्व की महिमा है। यह पंचम गुणस्थान तक बिना प्रयत्न स्वतः होता है, इसलिए त्यागने योग्य है।

धर्म ध्यान—

आज्ञा विधय, अपाय विधय, विपाक विधय और संस्थान विधय, यह धर्म ध्यान के चार प्रकार

हैं। विशेष ज्ञानी उपदेशवक्ता के अभाव से और अपनी बुद्धि की मन्दता से पदार्थों के सूक्ष्म स्वरूप को न जान सके तो ऐसे स्थल पर अरहंत शास्त्र रूप भगवान की आज्ञा को प्रमाण मानकर तद्रूप चिन्तन करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

निरन्तर कर्म शत्रुओं के दूर करने और मोक्ष के कारण आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा जप, तप, शील, संयम, नियम, व्रतादिक चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

ज्ञानावरणानि अष्टकर्मों का हव्य क्षेत्र काल, भाव के निमित्त से जो विपाक अर्थात् फल है उससे जो आत्मा की नाना प्रकार की सुखदुखादि रूप अवस्था होती है उसका निजस्वरूप से भिन्न उपाधिक कर्मजनित विचारते रहना विपाक विचय धर्मध्यान है।

अकृत्रिम लोक और उसके अधः, उर्ध्व, मध्य विभागों का तथा उसमें स्थित पदार्थों का और पंचपरमेष्ठी व निजात्मस्वरूप का चिन्तन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है। यह ध्यान शुभ और सुगति का कारण चौथे असंयत गुणस्थान से सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है। इस संस्थान विचय धर्मध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, चार भेद हैं।

लोक का आकार विचारकर दृष्टि संकोच जम्बूद्वीप का विचार करना, फिर क्रम से भरतक्षेत्र, आर्य खण्ड, फिर निज देश, नगर, गृह, कोठा, फिर अपने पिंड का ध्यान कर विचारना पिंडस्थ ध्यान है।

पंचपरमेष्ठी के वाचक पैंतीस अक्षरों का, सोलह अक्षरों का, छः अक्षरों का पाँच अक्षरों का चार अक्षरों का, दो अक्षरों का, एक अक्षर का, णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धं णं, णमो अइरियाणं। णमो उवज्झयाणं। णमो लोए सव्वासाहूणं (३५) अरहंत सिद्ध अइरिया, उवज्झया साहु। (१६)। अरहंत सिद्ध अथवा अरहंतसिद्धा (६) असि आ उ सा (५), अरहंत (४) सिद्ध (२), ऊँ (१) तथा गुरु आज्ञानुसार अन्य पदों का आश्रय लेकर जो ध्यान किया जाए उसको पदस्थ ध्यान कहते हैं।

सम्भवशरण में चार धातियां कर्म रहित, अनन्त चतुष्टय संयुक्त, सप्तधातु रहित, परमौदारिक शरीर में स्थित और अष्टादश दोष रहित, गंधकुटी में स्फटिकमयी सिंहासन के मध्य अत्यन्त कोमल पवित्र, अनुपम, सहस्र दल वाले रक्त कमल की कणिका के मध्य में चार अंगुल अंतरिक्ष शांतस्वरूप श्रीजिनेन्द्र भगवान स्थित हैं। अपने मन में ऐसा अरहंत भगवान का स्वरूप क्रमशः मुक्त होने तक विचारना रूपस्थ ध्यान है।

शुक्लध्यान वर्णन—

यह ध्यान अतीन्द्रिय कर्ता, कर्म, क्रिया तथा ध्यान, ध्याता, ध्येय के विकल्प रहित होता है। इसमें चित्तवृत्ति स्वस्वरूपाभिमुख होती है। इसके चार भेद हैं। पृथक् वितर्क विचार, एकत्व वितर्क सूक्ष्म क्रिया प्रतिपत्ति, और व्युपरत्त क्रिया निवर्ति। इनमें प्रथम पाया पृथक् वितर्क विचार तीनों शुभ सहननों में और शेष तीन पाए वज्र, वृषभ, नाराच सहनन में ही होते हैं। आदि के दो भेद अंग पूर्व के पाठी श्रुत केवली के होते हैं। आगे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपत्ति और व्युपरत्तक्रिया निवर्ति ये दो शुक्ल ध्यान संयोग केवली और अयोग केवली के होते हैं। ये चारों शब्दोपयोग रूप ध्यान हैं।

वितर्क विचार तो सत, मन, वचन, काय तीनों योगों में बदलने वाला प्रथम शुक्ल ध्यान है यह श्रुत केवली के होता है। पृथक्-पृथक् ध्येय भी वितर्क के आश्रय से बदलते रहते हैं। इसके फल से मोहनीय कर्म शांत होकर एकत्व वितर्क ध्यान की योग्यता होती है। यह अपूर्व करण संज्ञक अष्टम

गुणस्थान से उप-शांत नामक एकादश गुणस्थान तक होता है। इसे प्रथम वितर्क विचार को शुक्ल ध्यान कहते हैं।

धातिया कर्मों के अभाव से श्रुत केवली के अर्थात् विचार रहित मणि दापकवत् अडोल जो ध्यान होता है उसे एकत्व वितर्क विचार कहते हैं। तीनों योगों में से किसी योग द्वारा यह क्षीण मोहसंज्ञक बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है।

जो केवली मन, वचन योग और वादरकाय योग का निरोध होने पर एक सूक्ष्म काय योग में तेरहवें गुणस्थान के अन्त में होता है। उसे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति कहते हैं।

जो केवली मन, वचन, काय तीनों योगों के निरोध हुए योगों के अभाव की अपेक्षा अयोग गुणस्थान में कहा गया है। उसे व्युपरत क्रिया निवर्ति कहते हैं। ऐसे बारह प्रकार संवर पूर्वक निर्जरा के कारण बाह्याभ्यन्तर तपों का वर्णन समाप्त होता है।

मोक्ष तत्व का वर्णन—

सब कर्मों का अत्यन्त अभाव होने से आत्मा के निजस्वभाव का प्रगट हो जाना मोक्ष है। जिस में से चार धातिया कर्म तो बारहवें गुणस्थान के अन्त में दूसरे शुक्ल ध्यान द्वारा नाश करके अनन्त ज्ञान अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख,; क्षाधिक चरित्र ये आत्मा के छहों गुणों को निर्विकार प्रगट कर सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होकर भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग दिखलाते हैं। तब यह समस्त प्राणियों से पूज्य होने की अपेक्षा अर्हंत तथा शरीर सहित होने की अपेक्षा सकल परमात्मा और अरूपकाल के पीछे नियम से मोक्ष जायेंगे तथा आयु कर्म के उदय से वर्तमान काल में जीवित हैं, इसलिए जीवन्मुख कहलाते हैं। इसके पश्चात् अपने गुणस्थान के अन्त में योग निरोध कर अयोग केवली नामक चोदहवें गुणस्थान को प्राप्त होकर चतुर्थ शुक्ल ध्यान की पूर्णता से आत्मा चारों अधातिया कर्मों का अभाव कर अपने उर्ध्वगमन स्वभाव से जिस स्थान से कर्मों से मुक्त होता है, उस स्थान से सीधा पवन भ्रकोरों से रहित अग्निशिखावत् उर्ध्वगमन को एक ही समय में लोक के अग्रभाग में स्थित होकर (पहुंच कर निकल परमात्मा हो जाता है। यह मुक्त आत्मा आगे अलोकाकाश में घर्म द्रव्य का अभाव होने से आगे नहीं जा सकता इस कारण समस्त मुक्त जीव लोक के शिखर पर विराजमान रहते हैं। आकार इस शुद्धात्मा का जिस शरीर से भुक्ति को प्राप्त हो जाता है; उस शरीर से कुछ कम, पुरुषाकार रहता है। इस निष्कर्म आत्मा के ज्ञानावरण कर्म के अभाव से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण कर्म के अभाव से अनन्तदर्शन, अन्तराय के अभाव से अनन्त वीर्य, दर्शन मोहनीय के अभाव से शुद्ध सम्यक्त्व, चरित्र मोहनीय के अभाव से शुद्ध चरित्र और समस्त धातिया कर्मों के अभाव से अनन्त सुख; इस प्रकार धातिया कर्म के अभाव से आत्मा के छह गुण प्रकट होते हैं। तथा वेदनीय कर्म के अभाव से अव्याबाध; गोत्रकर्म के अभाव से ऊंचनीच अर्थात् अगुरुलघुत्व, नामकर्म के अभाव से अमूर्तित्व अर्थात् सूक्ष्मत्व, आयु कर्म के अभाव से अवगाहनत्व गुण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मुक्त जीव अष्ट कर्म के अभाव से आत्मीक सम्यक्त्वादिक अष्टगुण मंडित है। परन्तु निश्चय नय से एक शुद्ध चैतन्य रस का पिंड है। यह संसारी जीव पुरुषार्थ करके इस प्रकार परमात्मा परमेश्वर्य पद को प्राप्त कर मोक्ष धाम में अविनाशी अनन्त सुख को भोगता हुआ नित्यानन्द सागर में मग्न रहता है और संसार के आवागमन से छूट जाता है। इस आनन्दमय सिद्ध अवस्था को पाने का कारण निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेदरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चरित्र की एकता है। ऐसा ज्ञान अनादि काल काय से सेवन किए हुए

विषय कषायों को छोड़कर आलस्य दूर कर, साहस करके अपने (सिद्ध) पद की प्राप्ति के लिए भव्य जीवों को इन सात तत्वों का स्वरूप जानकर उन पर दृढ़ विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या श्रद्धान कहलाता है। यह श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व का कारण है। इसीलिए व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है। इस सम्यक्त्व को आठ अंगसहित और पञ्चोक्त दोष शंकाकांक्षा आदि आठ दोष, आठ मद, पद्मनायकन और तीन मूढ़ता) रहित निर्मल धारण करना चाहिए।

सम्यक्त्व के आठ अंग नाम—

सम्यक्त्व के निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विश्विकित्ता, अप्रमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये आठ अंग हैं।

सम्यक्त्व के आठ अंगों का स्वरूप—

निःशंकित अंग—

शंका नाम संशय तथा भय का है। श्री अरहंत भगवान कथित परमागम में जो लोकालोक का वितरण तथा पदार्थों का जो स्वरूप वर्णन किया है वह सत्य है या नहीं अथवा राम रावणादि पूर्वज मनुष्यों का वृत्तान्त तथा दूरवर्ती मेरु पर्वतादि का कथा है वह सत्य है या असत्य है ऐसा शंकारहित, जिनशासन में खड्ग की धार के समान अचल श्रद्धान करना निःशंकित अंग है।

अब उदाहरणार्थ सम्यग्दर्शन के प्रथम निःशंकित अंग में प्रसिद्ध होने वाले अंजन चोर की कथा, लिखते हैं। इस भरत क्षेत्र में मगध देश के मध्य नाना प्रकार की शोभा सहित राजग्रह संज्ञक नगर में उत्कृष्ट धर्माचरण करने वाला, जिनेन्द्र भगवान के चरण सरोज का भंडारक लोलुपी, श्रावकाचार मंडित, साधु, मुनि आदि गुणीजनों को चारित्र्य की वृद्धि के अर्थ निर्दोष, निर्मल, शुद्ध यथायोग्य समधानुसार चार प्रकार के दान को भक्तिपूर्वक सहर्ष देने वाला तथा दीन-दुखी दरिद्रियों को करुणा पूर्वक दान देने वाला दानी, विचारवान दान, पूजा, व्रत उपवासादिक तथा ध्यान स्वाध्यायादि धर्मध्यान में मग्न रहने वाला एक जिनदत्त नामक सेठ रहता था। सांसारिक विषय भोगों से परान्मुख विरक्त रहने वाले जिनदत्त सेठ एक दिन चतुर्दशी की अर्द्धरात्रि के समय श्मशानभूमि में कायोत्सर्ग स्थित ध्यान कर रहे थे। उसी समय अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नामक दो देव वहां आये। इनमें से अमितप्रभ जैन-धर्म विश्वासी और विद्युत्प्रभ अन्य मत विश्वासी था। वे दोनों अपने २ स्थान से एक दूसरे के धर्म की परीक्षा निमित्त निकले। वही पर उन्होंने प्रथम ही एक पंचाग्नि तप करने वाले तापस की परीक्षा की। वह उपसर्ग को न सहनकर अपने ध्यान से तत्काल ही विचलित हो गया। इसके पश्चात् श्मशानभूमि में जिनदत्त-सेठ को कायोत्सर्ग स्थित ध्यान करते हुये देखकर अमितप्रभ जैनधर्म का श्रद्धानी देव विद्युत्प्रभ से कहने लगा कि हे मित्र ! उत्कृष्ट चारित्र्य के पालन करने वाले मोक्ष साधन में तत्पर निग्रन्थ मुद्राधारी जिनधर्म के सच्चे साधुओं की परीक्षा की बात तो अब जाने दो। परन्तु देखो वह गृहस्थ जिसे तुम कायोत्सर्ग ध्यान करते हुये प्रत्यक्ष अवलोकन करते हो। यदि तुम अपने में कुछ पराक्रम रखते हो तो तुम उसी को ध्यान करते हुये ध्यान से खलायमान कर दो। यदि तुम इसे ध्यान से खलायमान कर दोगे तो हम तुम्हारे कथन को ही निष्पक्ष होकर सत्य स्वीकार कर लेंगे। अमितप्रभ के उत्तेजना युक्त वचन को सुनकर विद्युत्प्रभ ने जिनदत्त पर अत्यन्त दुस्सह और भयंकर उपद्रव किया। परन्तु जिनदत्त उसकी की हुई बाधा से रंचमात्र भी विचलित न होकर—प्रलयकाल के पवन से अविचलित मेरु पर्वत के समान ज्यों के त्यों स्थित रहे। जब प्रातःकाल हुआ तब दोनों अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ देवों ने विक्रिया कृत वेप को छोड़कर अपना असली वेप धारण कर महान् भक्तिपूर्वक विनय सहित भली प्रकार आदर-सत्कार

किया और उनकी बहुत प्रशंसा कर संतुष्ट चित हो जिनदत्त को आकाशगामिनी विद्या प्रदान कर कहा कि हे श्रावकोत्तम ! तुमको आज से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई। तुम पंच नमस्कार मंत्र की साधना विधि के साथ मन की इच्छानुसार जिसको प्रदान करोगे तो उसको भी यह सिद्ध होगी। ऐसा जिनदत्त से कहकर अपने स्थान पर चले गये। बिना उद्यम अनायास आकाशगामिनी विद्या को प्राप्त हो जाने से जिनदत्त सेठ अति हर्षित हुआ। एक दिन उसे अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन करने की इच्छा हुई। वह उसी समय आकाशगामिनी विद्या के प्रभाव से भगवान् के अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन करने को गया। और पूर्ण भक्तिभाव से स्वर्ग मोक्ष मुख को देने वाली शक्तियों से भगवान् की पूजा की। इसी प्रकार अब जिनदत्त नित्य प्रति भगवान् के अकृत्रिम जिनमंदिरों के दर्शन करने के लिये जाने लगा। एक दिन वह चैत्यालयों के दर्शन करने को जाने के लिये तैयार खड़ा हुआ था कि उसी समय एक सोमदत्त नामक माली हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा। कि हे स्वामिन् ! आप नित्य प्रति प्रातःकाल उठकर कहाँ जाया करते हैं ? तब उन जैनधर्म परायण जिनदत्त सेठ ने उसके वचनों को सुनकर उत्तर दिया कि मुझे दो देवों की कृपादृष्टि से आकाशगामिनी विद्या की प्राप्ति हुई है। सो उसके प्रभाव से सुवर्णमय अकृत्रिम जिनालयों की पूजा करने के लिये नित्य जाया करता हूँ। भगवान् की पूजा महासुख को देनेवाली होती है। सेठ के वचन को सुनकर सोमदत्त पुनः जिनदत्त से निवेदन करने लगा कि हे प्रभो ! कृपा करके यह विद्या मुझको भी प्रदान कीजिये जिससे मैं भी अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम सुगंधित पुष्पों को लेकर प्रतिदिन अकृत्रिम जिनालयों की पूजा करने को जाया करूँ। और उसके द्वारा अशुभ कर्मों का निराकरण कर शुभ कर्म उपार्जन करूँ, यदि आप विद्या प्रदान करेंगे तो परम अनुग्रह होगा। तब जिनदत्त ने सोमदत्त की जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों की भक्ति और पवित्रता को देखकर उसे संपूर्ण विद्या साधन करने का उपाय बतला दिया। सोमदत्त उससे समस्त विधि सम्यक् प्रकार समझकर विद्यासाधन करने के निमित्त कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की अर्द्धरात्रि के समय वनशानभूमि में गया। वह भूमि बड़ी भयंकर थी। वहाँ उसने एक बटवृक्ष की छाया में एकसी आठ लक्ष्मी का एकदर्भ अर्थात् द्वार का सींका बाँधकर उसके नीचे अनेक भयंकर सींखे-सींखे शस्त्र सींखे मुख गाड़कर उनकी पुष्पादिक से पूजा की। इसके पश्चात् वह सींके पर बैठकर पंच नमस्कार मंत्र जपने लगा। मंत्र का जाप प्रमाण समाप्त होने पर जब छींके को काटने का समय हुआ और उसकी दृष्टि नीचे चमचमानी हुई शस्त्र समूह पर पड़ी तब उसको अवलोकन करते ही वह सिंह से भयभीत मृगी के समान कांप उठा तत्पश्चात् अपने मन में विचार करने लगा कि यदि जिनदत्त ने मुझे असत्य कह दिया हो तब तो मेरे प्राण ही चले जायेंगे। यह विचार कर वह नीचे उतर आया।

कुछ समय पश्चात् उसको फिर वह कल्पना हुई कि भला जिनदत्त सेठ को मुझसे क्या सेना-देना है, जो यह असत्य भाषण कर मुझे साक्षात् मृत्यु के मुख में डालेगा। और फिर वह तो जैनधर्म का विश्वासी परम अहिंसा धर्म का पालन करने वाला है। उसके रोम-रोम में दया भरी हुई है। उसे मेरे प्राणान्त करने से क्या ? इत्यादि विचारों द्वारा मन संतुष्ट कर फिर वह सींके पर चढ़ा, परन्तु जैसे ही उसकी दृष्टि नीचे गड़े हुए शस्त्रसमूह पर पड़ी वैसे ही पुनः भयातुर होकर नीचे उतर आया। इसी प्रकार वह संकल्प कर बारम्बार सींके पर चढ़ने-उतरने लगा, लेकिन उसकी हिम्मत सींका काट देने की न हो सकी। सच कहा है कि जिसको स्वर्ग मोक्ष का सुख प्रदान करने वाले श्री जिनेन्द्र देव के वचनों पर विश्वास नहीं, मन में उन पर निश्चय नहीं; उनको संसार में किसी प्रकार के साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उसी रात को एक ओर तो यह घटना हुई और दूसरी ओर इसी समय भाणिक कांचम सुन्दरी

नामक एक वेश्या ने अपने में अत्याशक्त और अत्यन्त प्रेम रखने वाले अञ्जन नामक चोर से कहा कि हे प्राणवल्लभ ! आज मैंने इसी नगराधीश प्रजापाल महाराज की कनकवती नाम की पटरानी के कंठ में अत्यन्त मनोहर रत्नों का हार देखा है। वह बहुत सुन्दर है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि उस हार की तुलना करने वाला शायद ही कोई दूसरा हार ही। इसलिये आप उस मनोह्र हार को किसी न किसी प्रकार से मुझे लाकर दीजिये तभी आप मेरे भरतार हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। अञ्जन चोर माणिक काञ्चन सुन्दरी की ऐसी कठिन प्रतिज्ञा को सुनकर प्रथम तो वह संकुचित हुआ, परन्तु साथ ही उसके प्रेम ने उसको अपने जाल में फँसाकर हार हरण करने के लिये प्रेरित किया। तब वह अपने जीवन की भी कुछ परवाह न कर हार के निमित्त राजमहल में प्रवेश कर रानी के शयनागार में जा पहुँचा और धीरे-धीरे अपनी वक्षता से रानी के कंठ में से हार को निकालकर चल दिया। वह सहस्रों कोटपालों (पहरेदारों) की आँखों में धूल डालकर निकल जाता, परन्तु अपने दिव्य प्रकाश से घोर अन्धकार के समूह को दूर करने वाले निर्दयी हार ने उसके प्रयत्न को सफल नहीं होने दिया। पहरेदार उसके प्रकाश में अञ्जन को हार लेकर जाते हुये जानकर उसे पकड़ने को दौड़ पड़े। अञ्जन चोर भी जी छोड़कर बड़ी तेजी से भागा पर आखिर कहां तक भाग सकता था ? पहरेदार उसे पकड़ लेना ही चाहते थे। तब उसने एक नवीन युक्ति की। वह हार को पीछे की तरफ फेंकर भागा। सिपाही लोग तो उसको उठाने के लिए ठहरे और उधर अञ्जन चोर बहुत दूर निकल गया। तब सिपाही बहुत अन्तर हो जाने से तथा उसका पीछा करना साध्य की सिद्धि हो जाने से निष्प्रयोजन जानकर छोड़ दिये और अपना मार्ग लिया। उधर अञ्जन चोर भागता-र हमशान की ओर जा निकला, जहां जिनदत्त के उपदेश से सोमदत्त विद्या साधन करने के लिये व्यग्रचित्त हो क्षण भर में वृक्ष पर चढ़ता और क्षण भर में उतरता था। उसका यह भयंकर उपक्रम देखकर अञ्जन ने सोमदत्त से पूछा कि तुम यह क्या कर रहे हो ? क्यों अपने प्राण दे रहे हो ; ऐसा कहने पर उसने अञ्जन चोर से समस्त वृत्तान्त वर्णन कर दिया। सोमदत्त की वार्ताश्रवण कर अञ्जन चोर बहुत हर्षित हुआ। उसने सोचा कि सिपाही लोग तो मुझे मारने के लिए पीछे आ ही रहे हैं और मिलते ही मुझे मार भी डालें, क्योंकि मेरा अपराध कोई साधारण अपराध नहीं है। फिर यदि मरना है तो धर्म के आश्रित ही मरना अच्छा है। ऐसा विचार कर सोमदत्त से कहा, बस ! इतनी सी बात के लिये क्या आप इतने डरते हैं ? अच्छा आप जरा मुझको अपनी तलवार दे दीजिये जिससे मैं भी अपनी परीक्षा करूँ। ऐसा कहकर सोमदत्त से खड्ग लेकर वटवृक्ष की शाखा में बन्धे हुए सींके पर जा बैठा और सींका काटने के लिये जैसे ही वह तैयार हुआ कि इतने में बतलाये हुये मंत्र को वह भूल गया। पर उसकी परवाह न करके केवल इस बात पर कि ताणं ताणं ताणं सेठ वचन परमाणं। अर्थात् जिनदत्त सेठ ने जो कहा है वही प्रमाण है। ऐसा मन में निश्चय करके निश्चक भाव से दृढ़ विश्वास करके एक ही झटके में सारे सींके को काट दिया। काटने के साथ ही जब तक नीचे गड़े हुये शस्त्रों तक आता है उसके पूर्व ही आकाशगामिनी विद्या प्रकट होकर कहने लगी कि हे देव ! आज्ञा कीजिये। मैं उपस्थित हूँ। विद्या को अपने सन्मुख अञ्जन चोर अवलोकन करके अत्यन्त हर्षित हुआ मानों उसे तीन लोक की संपदा प्राप्त हो गई है। वह विद्या से कहने लगा कि जहाँ मेरा पर्वत पर जैनधर्म परायण रत्नत्रयभूषित विचारशील विवेकी धर्मात्मा जिनदत्त सेठ जिनेन्द्र भगवान के युगल चरण कमलों की पूजा कर रहे हैं वहीं पर मुझको पहुँचा दो। उसके कहने के साथ ही आकाशगामिनी विद्या ने क्षण मात्र में ही उसे जिनदत्त के पास पहुँचा दिया। सच है कि जिनधर्म के प्रसाद से तीन लोक में ऐसा कौन सा असम्भ्य पदार्थ है जो न प्राप्त हो सके ? अर्थात् सभी पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं सेठ के पास पहुँच कर अञ्जन ने

अत्यन्त भक्ति और विनय पूर्वक उनको प्रणाम किया और बोला कि हे दया के सागर ! मैंने आपकी कृपा से आकाशगामिनी विद्या तो प्राप्त की, परन्तु अब आप कृपा करके कोई ऐसा मंत्र बतलाइये जिससे कि मैं इस दुस्तर संसार सागर से पार होकर अष्ट कर्मों के अभाव से अनन्त, अविनाशी, आत्मिक सुख को प्राप्त हो जाऊँ, अर्थात् सिद्धपद को प्राप्त हो जाऊँ । अन्जन चोर की इस प्रकार वैराग्य सूचक वार्ता श्रवण कर परोपकारी जिनदत्त ने उसे एक चारण ऋद्धिधारक मुनिराज के पास ले जाकर मोक्षपद को प्रदान करने वाली जिनदीक्षा दिलवा दी । अन्जन चोर राधु पद का धारी होकर ईर्ष्या समिति पूर्वक धीरे-२ गमन करता हुआ कुछ काल में कैलाश पर्वत पर जा पहुँचा । वहाँ पर घोराघोर तपश्चरण कर द्वितीय शुक्ल ध्यान के प्रभाव से बारहवें गुणस्थान के अंत में ज्ञानावरणादि चारों घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया । जिससे त्रैलोक्य द्वारा पूज्य होता हुआ अन्त में चार अधातिया कर्मों का भी नाश कर अन्जन मुनिराज ने सदा के लिये अजर, अमर, अनंत, अविनाशी आत्मिक लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया ।

भावार्थ—अन्जन मुनि ने चारों अधातिया कर्मों का अभाव करके ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक ही समय में लोक के अग्रभाग (अन्त) में जाकर अजर, अमर, शान्तिरसपूर्ण स्वाधीन आनन्दमय सिद्धपद को प्राप्त किया । सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का पालन कर जब अन्जन चोर निरंजन होकर कर्मों के नाश करने में समर्थ हुआ इससे भव्य पुरुषों को तो अवश्य निःशंकित अंग का पालन करना चाहिये ।

इति निःशंकितगोऽन्जनचोरस्य कथा समाप्तः ॥१॥

अथ द्वितीय निःकाक्षित अंगस्वरूपः—

विषय भोगों की इच्छा करना आकांक्षा तथा बांछा है । ज्ञानी पुरुषों को जब तक सांसारिक पदार्थ की चाह है तब तक वे मोक्ष से विमुख हैं । गले में शिला बाँधकर विस्तृत नदी के पार जाना चाहे तो अवश्य ही डूबेगा । ऐसे ही कांक्षावान् व्रती संसार में ही भ्रमण करेंगे । सम्यग्दृष्टि यद्यपि चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से परवश इन्द्रियों से उत्पन्न हुए सुखों का अनुभव करता है और चक्षु, रसना आदि इन्द्रियों के रूप रस आदि इष्ट पदार्थों का सेवन करता है, परन्तु वह अपने चित्त में यही समझता है कि अपने को अच्छा लगने वाले स्त्री आदिक विषय सुख त्याग करने योग्य हैं । कभी सेवन करने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि इनके सेवन करने से दुःख देने वाले अशुभ कर्मों का बंध होता है तथा रत्नत्रय रूप उपयोग के द्वारा अपने आत्मा से उत्पन्न हुआ नित्य अविनाशी मोक्ष सुख सदा ग्रहण करने योग्य है । ज्ञानी जीव इस प्रकार का श्रद्धान करता है कि मेरा आत्मा हाथ में दीपक लेकर अधकूप में गिर रहा है, अतः मुझे बारम्बार धिक्कार है । इस प्रकार अपने आप ही आत्मनिन्दा करता है और व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदय जनित शुभफलों की बांछा नहीं करता, किन्तु उनको शान्त और दुःख से मिले हुए विषमिश्रित मिष्टान्नवत् हेय जानता हुआ आत्मस्वरूप के साधक जान सांसारिक सुख की इच्छा रहित आचरण करता है सो निःकाक्षित अंग युक्त है ॥२॥ इस दूसरे निःकाक्षित गुण को प्रकाश करने वाली अनन्तमती की कथा लिखते हैं ।

अथ अनन्तमत्याः कथा—संसार में विख्यात अंगदेश की राजधानी चम्पा नगरी थी । उसके राजा बसुवर्द्धन थे और उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था । वह सतीत्वगुण भूषित और बड़ी सरल-हृदया थी । उनके एक प्रियदत्त नामक पुत्र जिनधर्म पर पूर्ण विश्वास रखने वाला था । उसकी स्त्री का

नाम अंगवती था। वह सच्ची पतिभक्तिपरायणा, धर्मात्मा और सुशीला थी। अंगवती के एक अनन्तमती नामक पुत्री बहुत सुन्दर, रूपवान् और गुणों की खान थी। एक समय अष्टान्हिका पर्व पर प्रियदत्त ने धर्मकीर्ति मुनिराज के निकट आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और साथ ही अपनी प्रियपुत्री अनन्तमती को भी विनोद के वश होकर ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करा दिया। कभी-कभी सत्पुरुषों का विनोद भी सन्मार्ग का सूचक बन जाया करता है। अनन्तमती के अन्तःकरण पर भी प्रियदत्त के दिलाये हुए ब्रह्मचर्य व्रत का ऐसा ही प्रभाव पड़ा। जब अनन्तमती के विवाह का अवसर आया और उसके लिये आयोजन होने लगा तब अनन्तमती ने अपने पिताजी से सविनय पूछा कि हे पिताजी ! जब आप मुझको ब्रह्मचर्य व्रत दिला चुके हैं तब फिर यह विवाह का आयोजन आप किस लिए कर रहे हैं ? इसके उत्तर में प्रियदत्त ने कहा कि पुत्री ! मैंने तो तुम्हें ब्रह्मचर्य व्रत दिलवाया था वह केवल मेरा विनोद था। क्या तू उसे सत्य समझ बैठी है ? प्रियदत्त के ऐसे वाक्य श्रवण कर अनन्तमती बोली कि हे पिताजी ! धर्म और व्रत में विनोद कैसा, मैं नहीं समझी। पुनः प्रियदत्त ने कहा कि मेरे कुल की प्रकाशक प्यारी पुत्री मैंने तो तुम्हें ब्रह्मचर्य व्रत केवल विनोद से दिया था। तू उसे यथार्थ मान बैठी है तो भी वह आठ दिन के लिए ही था। फिर तू अब विवाह के लिए क्यों इन्कार करती है ? अनन्तमती ने कहा कि पिताजी ! मैं मानती हूँ कि आपने अपने भावों से मुझको केवल आठ ही दिन का ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया होगा, परन्तु उस समय आठ दिन के ब्रह्मचर्य व्रत के लिए न तो आपने ही प्रगट किया और न मुनिराज ने ही। तब मैं कैसे समझू कि वह केवल आठ ही दिन के लिए था। इसलिए अब जैसा भी कुछ हो मैं तो अब जीवन पर्यन्त उसे पालूंगी। अब मैं किसी तरह भी व्याह न कराऊँगी। अनन्तमती की वार्ता श्रवण कर प्रियदत्त को निराश होकर इसमें अपने को अशक्त जानकर, अपने सभी विवाह के आयोजन को समेट लेना पड़ा। इसके बाद उन्होंने अनन्तमती के जीवन को धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिये उसके पठन-पाठन का अच्छा प्रबन्ध कर दिया। अनन्तमती भी पूर्ण रूप से निराकुलित चित्त हो शास्त्रों के अभ्यास में परिश्रमपूर्वक समय व्यतीत करने लगी। इस समय अनन्तमती पूर्ण यौवन सम्पन्न है। उसने स्वर्गीय देवांगनाओं की सुन्दरता धारण की है। उसके अंग-अंग से लावण्य रूप सुधा का भरना बह रहा है। उसके अप्रतिम मुख की शोभा को देखकर चन्द्रमा का प्रकाश मन्द पड़ गया। और नखों के प्रतिबिम्ब के बहाने उसके पाँवों पड़कर अपनी इज्जत बचा लेने के लिए उससे प्रार्थना करता है। उसको बड़ी-बड़ी प्रफुल्लित आंखों को देखकर कमल बेचारे संकुचित हो ऊपर को भी नहीं देख सकते। उसके सुन्दर मधुर स्वर को सुनकर कोकिला सारे चिन्ता के काली पड़ने लगी और सिंहनी उसकी अनुपमता को देखकर निरभिमानी बन पर्वतों की गुफा में शरम के सारे गुप्त रूप से रहने लगी। वह अपनी दंतपंक्ति की श्वेतता से कुसुमावली की शोभा को जीतने लगी। इस प्रकार स्वर्गीय सुन्दरियों को भी अलभ्य रूपधारिणी धैत्र के महीने में विनोदवश अपने बगीचे में अकेली भूले पर भूल रही थी। उस समय विद्याधरों की दक्षिण श्रेणी के अन्तर्गत किन्नरपुर नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर नगर का अधिपति विद्याधरों का राजा कुण्डल-मण्डित अपनी प्रिया के साथ विमान में बैठा हुआ इसी मार्ग से जा रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि बाग में अकेली भूला भूलती हुई अनन्तमती पर पड़ी। उसकी इस अनुपम स्वर्गीय सुन्दरता को देखकर कुण्डल-मण्डित का हृदय काम के बाणों से घायल हो गया। वह अनन्तमती की प्राप्ति के बिना अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगा। यद्यपि वह उस बेचारी बालिका को उसी समय उड़ाकर ले जा सकता था, परन्तु साथ में अपनी प्रिया के होने से ऐसा अनर्थ करने के लिए उसका साहस न हो सका।

परन्तु उसे अनन्तमती के बिना कब चैन पड़ सकता था ? इसलिये वह अपने विमान को बहुत शीघ्रता से अपने कुण्डलपुर नगर को लौटा ले गया और वहाँ राजमहल में अपनी प्रिया को छोड़ कर उसी समय तीव्रगति से गमन कर अनन्तमती के बगीचे में आ उपस्थित हुआ और बड़ी फुर्ती से उस भोली बालिका को बलात् विमान में बिठलाकर चल दिया । इधर इसकी प्रिया को भी इसके दुष्कर्म का कुछ-कुछ अनुमान लग गया था । इसलिये कुण्डलमण्डित तो उसे घर पर छोड़कर आया था, पर वह घर पर न ठहरकर गुप्त रूप से उसके पीछे पोछे चल पड़ी थी । जिस समय कुण्डलमण्डित अनन्तमती को लेकर आकाश मार्ग में जा रहा था कि उसकी दृष्टि अपनी प्रिया पर पड़ी । पत्नी को क्रोधावेश से लाल मुख किये हुए देखकर कुण्डलमण्डित के शरीर में अचानक एक साथ शीतलता पड़ गई । उसके शरीर को काटो तो खून नहीं । ऐसी स्थिति में उसने अधिक गोलमाल के होने के भय से बड़ी शीघ्रता के साथ अनन्तमती को एक पर्णलघ्वी नाम की विद्या के आधीन कर उसे एक भयंकर वन में छोड़ देने की आज्ञा दे दी और स्वयं अपनी प्रियपत्नी को साथ लेकर अपने राजभवन का मार्ग लिया और अपनी निर्दोषता का उसके सम्मुख यह प्रमाण दे दिया कि अनन्तमती को न तो विमान में और न पर्णलघ्वी विद्या को सुपुर्द करते समय ही उसने (पत्नी) देखा । उस भयंकर वन में अनन्तमती अति उच्च स्वर से रुदन करने लगी, लेकिन उस भयानक निर्जन अटवी में उसके रुदन के शब्द को सुनता भी कौन था । वह कोसों तक मनुष्य के संचार से रहित थी । ईवयोग से कुछ समय के पश्चात् एक भीलों का राजा शिकार खेलता हुआ उधर आ निकला । रुदन का शब्द सुनकर वह उसके निकट गया और अनन्तमती की स्वर्गीय सुन्दरता को देखकर वह भी कामबाण के वशीभूत हो गया । अनन्तमती ने अपने मन में विचार किया कि आज मुझको देव ने इसके सुपुर्द करके मेरी रक्षा की है और अब मैं अपने पिता के घर पहुँचा दी जाऊँगी । परन्तु उसकी यह समझ ठीक नहीं थी, क्योंकि उसको तो छुटकारे की जगह दूसरी आपत्ति ने आकर घेर लिया । वह भीलपति अपने महल में ले जाकर बोला कि हे बाले ! आज तुमको अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि एक राजा तुम पर मुग्ध होकर तुम्हें अपनी पटरानी बनाना चाहता है । प्रसन्न होकर तुम उसकी प्रार्थना को स्वीकार करो और अपने स्वर्गीय समागम से उसके हृदय में जसती हुई इच्छारूप कामाग्नि को शमन कर सुखी करो । वह तुमको वनदेवी समझ कर तुम्हारे सम्मुख हाथ जोड़े खड़ा है अपनी मनोकामना पूर्ण करने के लिये तुमसे वर मांगता है । उसकी नम्रता पर ध्यान देकर उसकी आज्ञा पूरी करो । वह बेचारी भोली-भाली अनन्तमती उसकी बातों का क्या उत्तर दे सकती थी ? वह अधीर होकर फूट-फूट कर उच्च स्वर में रुदन से आकाश-पाताल को एक करने लगी । पर उसके रुदन को सुनता भी कौन था ? वह तो राज्य ही मनुष्य जाति के राक्षसों का था । निर्दयी दुरात्मा भीलपति के हृदय में कामवासना बसी हुई थी । उसने और भी बहुत प्रार्थना की । विनय अनुनय किया, पर अनन्तमती के चित्त को अपने पर किंचित् मात्र भी ध्यान दिया हुआ न देखकर उसने दिल में समझा कि यह नम्रता तथा विनयपूर्वक कहने से वश में नहीं आती । अतः अब इसको भय दिखलाना चाहिये । इस विचार से अपने साध्य की सिद्धि के लिए उसने अनेक प्रकार का भय दिखलाया । पर अनन्तमती ने फिर भी उस पर ध्यान नहीं दिया । किन्तु यह सोचकर कि इन नारकियों के सम्मुख रुदन करने से कुछ काम नहीं चलेगा, अतः उसने उसे फटकारना शुरू किया । उसके नेत्रों से क्रोधरूप अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं । उसका मुख क्रोध के मारे संध्या के बादलों के समान रक्तवर्ण हो गया । पर इतना होने पर भी उस भीलपति के हृदय में कुछ भी प्रभाव न पड़ा । उसने अनन्तमती पर बलात्कार करना चाहा । इतने में उसके पुण्य प्रभाव से नहीं किन्तु अखंड शील के प्रभाव से उसी समय

वनदेवी ने प्रगट होकर अनन्तमती के व्रत की रक्षा की। उस पापी दुरात्मा भीलपति को उसके दुष्कृत का खूब फल दिया और कहा कि अरे नीच ! तू नहीं जानता कि यह कौन है ? याद रख यह एक संसार पूज्य महादेवी है। जो इसे तूने सताया तो देख-समझ तेरे जीवन का कुगल नहीं। यह कहकर वनदेवी अपने स्थान पर चली गई। उसके कहने का भीलपति के हृदय पर बहुत प्रभाव हुआ और पड़ना भी चाहिए था। प्रातःकाल होते ही वनदेवी के भय से अनन्तमती को पुष्पक नामक सेठ के अधीन कर दिया और उससे कहा कि आप कृपा करके अनन्तमती को इसके घर पहुँचा दीजियेगा। पुष्पक सेठ ने उस समय तो अनन्तमती को उसके घर पहुँचा देने का प्रतिज्ञा करके भीलराज से ले लिया, लेकिन यह किसको मालूम था कि इसका हृदय भीतर से पापपूर्ण होगा। अनन्तमती को पाकर पुष्पक सेठ अपने मन में विचार करने लगा कि मेरे हाथ बिना प्रयास किये हुये अनायास ही यह स्वर्ग सुन्दरी लग गई यदि यह मेरी बात को प्रसन्नता से मान ले तब तो अच्छा है, नहीं तो यह मेरे पंजे से छूटकर कहीं जा सकती है ? यह विचार कर उस दुष्टात्मा कपटी ने अनन्तमती से कहा कि हे स्वर्ग सुन्दरी ! तुमको आज अपना बड़ा भाग्योदय समझना चाहिए जो एक नरपिशाच के हाथ से छूटकर पुण्य पुरुष के अधीन हुई हो। कहां तो यह तुम्हारी अनुपम स्वर्गीय सुन्दरता और कहां वह भीलाधिपति भीमराक्षस कि जिसके महाभयानक कुरूप को देखते ही हृदय काँप उठता है। मैं तो आज अपने को राजा, महाराजा, तथा चक्रवर्तीदि देवों से भी अधिक बढ़कर भाग्यशाली समझता हूँ जो मुझे प्रमूल्य स्त्रीरत्न बड़ी सुलभता के साथ प्राप्त हुआ। भला बिना महाभाग्य के कहीं ऐसा रत्न मिल सकता है ? कभी नहीं। सुन्दरी ! देखती हो हमारे पास जो अक्षय धन और अनन्त वैभव है वह सब तुम पर न्यौछावर करने को तैयार हूँ और तुम्हारे चरणों का कीतदास बनता हूँ। मेरी विनयपूर्वक की हुई प्रार्थना को स्वीकार करके मुझे आशा है कि तुम प्रसन्न होकर वचन दोषी और अपने हृदय में मुझे जगह दोगी। इसी प्रकार अपने स्वर्गीय समागम से मेरे जीवन तथा धन वैभव को सफल कर मुझे सुखी करोगी। अनन्तमती ने तो यह समझा था कि देव ने मेरी रक्षा करने के लिये निर्दयी भीलराज के पंजे से छुड़ाकर इसके अधीन किया है और अब मैं इस सेठ की कृपा से सुखपूर्वक अपने पिताजी के पास पहुँच जाऊँगी। पर वह बेचारी पापियों के हृदय की बात क्या जाने ? उसे जो भी मिलता था उसे वह भला ही समझती थी। यह स्वाभाविक बात है जो मनुष्य जैसा होता है वह दूसरे को भी वैसा ही समझता है। उसे यह नहीं मालूम कि छुटकारा पाने की जगह एक विपत्ति से निकलकर दूसरी विपत्ति के मुख में फँसना पड़ा है। वह बेचारी भोली-भाली अनन्तमती उस दुरात्मा सेठ की पाप पूर्ण बातें सुनकर बड़े कोमल शब्दों में कहने लगी कि महाशय जी, आपको देखकर तो मुझे विश्वास हुआ था कि अब मेरे लिये किसी प्रकार का भय नहीं रहा। मैं निर्विघ्न अपने घर पहुँचा दी जाऊँगी, क्योंकि मेरी रक्षा करने के लिये एक दूसरे धर्म के पिता आकर उपस्थित हो चुके हैं, परन्तु मुझको अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आप जैसे उत्तम पुरुषों के मुख से क्या ऐसे निष्ठ वाक्य प्रकट हों ? जिसे मैंने रस्ती समझकर हाथ में लिया था, मैं नहीं समझती थी कि वह ऐसा विकराल भयंकर सर्प होगा। क्या यह बाहरी, चमक-दमक और सीधापन केवल संसार को ठगने के लिए और दिखाऊ धर्मात्मापन का वेष धारण कर लोगों को धोखा देकर अपने मायाजाल में फँसाने के लिए है ? काक के समान ढोठ स्वभाव और कपटी होकर क्या यह वेष हँसों में गणना कराने के लिए है ? यदि ऐसा है तो तुम्हें तुम्हारे कुल को, तुम्हारे धन-वैभव और जीवन को धिक्कार है। जो मनुष्य ऐसा मायाचार करता है वह मनुष्य नहीं अपितु पशु, पिशाच और राक्षस है। वह पापी मुख देखने योग्य नहीं है। उसे जितना भी धिक्कारा जाय थोड़ा ही है। मैं नहीं जानती थी कि आप भी

उन्हीं पुरुषों में से एक होंगे। अनंतमती ऐसे कुलकलकी पुरुषों के सम्मुख होना उन्नि न समझ क्रोध को शांत करके चुप होकर बैठ गई। इसकी जली-भुनी बातों को सुनकर पुष्पक सेठ क्रोध के मारे भीतर दबी हुई अग्नि की तरह दग्ध होने लगा। उसका चेहरा लाल सुखं पड़ गया, आंखों से क्रोध के मारे चिनगारियाँ निकलने लगीं और समस्त शरीर कांपने लगा। परन्तु तब भी तेजोमयी मूर्ति अनंतमती के दिव्य तेज के सम्मुख उससे कुछ न बन पड़ा। उसने अपने क्रोध का बदला अनंतमती से इस प्रकार चुकाया कि उसे अपने नगर में ले जाकर एक कामसेना नाम की कुट्टनी के हाथ सौंप दिया। सच बात तो यह है कि यह सब दोष किसे दिया जा सकता है? अर्थात् किसी को नहीं। क्योंकि कर्मों की ही ऐसी विचित्र गति है। जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही भोगना पड़ता है।

यथोक्तं—अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्। अर्थात् जो जैसा शुभाशुभ कर्म करता है उसको तज्जनित शुभाशुभ फल अवश्य भोगना पड़ता है। फिर इसके लिए कर्मों का भोगना कोई नई बात नहीं है। कामसेना ने भी अनंतमती को जितना उससे बना उसने भय और लोभ से पवित्र मार्ग से पतित कर सतीत्व धर्म से भ्रष्ट करना चाहा, पर अनंतमती रंचमात्र भी नहीं डिगी। वह सुमेरु पर्वत के समान निश्चल रही। अन्त में कामसेना ने अपना अस्त्र उस पर चला हुआ न देखकर उसे सिंहराज नामक राजा को सौंप दिया। वह दुरात्मा भी अनंतमती के मनोहर रूप को देखकर मुग्ध हो गया। उसने भी जितना उससे हो सका उतना प्रयत्न अनंतमती के चित्ताकर्षण करने को किया, पर अनंतमती ने उसकी ओर ध्यान न देकर उसको भी फटकार दिया। अन्त में पापी सिंहराज ने अनंतमती पर बलात्कार करने के लिए ज्योंही अपना पैर आगे बढ़ाया त्यों ही वनदेवी उपस्थित होकर कहने लगी कि खबरदार इस सतीदेवी का स्पर्श भूलकर भी भन करना नहीं तो समझ लेना तेरे जीवन का कुशल नहीं। यह कह कर वनदेवी अंतर्हित हो गई। वह देवी को देखते ही भय के मारे चित्रलेखवत् निश्चेष्ट रह गया। कुछ समय के बाद सावधान होकर उसी समय सेवक के द्वारा आज्ञा दी कि इसे भयंकर वन में छोड़ आओ। उस निर्जन वन में वह पंचपरमेष्ठी का स्मरण करती और फल फूलादि से निर्वाह करती हुई अयोध्या जा पहुंची। वहाँ पर उसे पद्मश्री आर्यिका के दर्शन हुए। आर्यिका ने अनंतमती से उसका परिचय पूछा—उसने अपना सब वृत्तान्त सुना दिया। आर्यिका ने उसकी कथा से दुःखित होकर उसे एक सत शिरोमणि समझकर अपने पास रख लिया। उधर प्रियदत्त अपनी पुत्री के वियोग से दुःखी होकर तीर्थयात्रा के निमित्त से पुत्री को ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ा। बहुत-सी यात्रा करते-करते वह अयोध्या जा पहुंचा और वहीं पर स्थित अपने साले जिनदत्त के घर पर ठहरा। उसने अपने बहनोई की सादर सेवा की। पश्चात् स्वस्थता के समाचार पूछने पर प्रियदत्त ने सभस्त घटना कह सुनाई। यह सुनकर जिनदत्त बहुत दुःखी हुआ। दुःख सभी को हुआ पर कर्म की विचित्रता को देखकर सभी को संतोष करना पड़ा। दूसरे दिन प्रातःकाल जिनदत्त तो स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहन कर श्री जिनमंदिर में चला गया। इधर इसकी स्त्री भोजन तैयार कर पद्मश्री आर्यिका के निकट स्थित बालिका को भोजन करने और चौक पूरने के लिए बुला लाई। यह कन्या चौक पूर कर भोजन करके अपने स्थान पर वापिस चली आई। जब दोनों जिन भगवान् की पूजा कर घर पर आये तब प्रियदत्त चौक को देखते ही अनंतमती का स्मरण कर रो पड़ा और कहा कि जिसने यह चौक पूरा है क्या मुझ अभाग को उसके दर्शन होंगे? जिनदत्त अपनी स्त्री से पता पूछ कर उसी समय उस बालिका को अपने घर पर बुला लाया। उसे देखते ही प्रियदत्त के नेत्रों से आँसू बह निकले। उसका हृदय भर आया और बड़े प्रेम के साथ अपनी प्यारी पुत्री को छाती से लगाकर सब बातें पूछनी प्रारम्भ की। उस पर बीती हुई घटनाओं को सुनकर प्रियदत्त बड़ा दुःखी हुआ। जिन-

दत्त ने पिता-पुत्री के मिलाप हो जाने की खुशी में जिन भगवान् का रथ निकलवाया और बहुत दान दिया। प्रियदत्त जब घर चलने को तैयार हुआ तब पुत्री से भी चलने को कहा। वह बोली पिताजी मैंने संसार को लोला बहुत देखी है। अब उसे देखकर मुझे बहुत भय लगता है। इससे मैं अब घर नहीं चलूंगी। अब तो आप मुझे जैन दीक्षा दिला दीजिए। पुत्री को बात सुनकर जिनदत्त ने कहा कि हे पुत्री! जिनदीक्षा पालन करना अत्यन्त कठिन है और तेरा यह शरीर अत्यन्त कोमल है। अतः कुछ दिन घर ही में रहकर अभ्यास कर और धर्मध्यान में समय बिता। पीछे दीक्षा ले लेना। इत्यादि वचनों से रोका किन्तु उसके रोम-रोम में वैराग्य प्रवेश कर चुका था। इससे वह कब रुकती? उसी समय मोहजाल तोड़कर पद्मश्री आर्यिका के निकट जाकर जिनदीक्षा ले ली। दीक्षित होकर पक्षमासोपवासादि दारुण तप करने तथा घोर परीषद् सहन करने लगी। अन्त में पंचपरमेष्ठी का स्मरण करती हुई संन्यास विधि से मरण कर सहस्रार स्वर्ग में जाकर देव हुई व वहाँ पर नित्य नये रत्नों के स्वर्गीय आभूषण पहनती है। हजारों देव-देवांगनायें जिनकी सेवा में रहते हैं उसके ऐश्वर्य का पार नहीं और न उसके सुख की ही सीमा है। वह सदा श्री जिनेन्द्र भगवान् को भक्तिपूर्वक पूजा करती है और उनके चरणों में लीन रहकर बड़ी शांति के साथ अपना समय व्यतीत करती है। सच तो यह है कि पुण्य के उदय से क्या-क्या नहीं होता? इससे आत्महितेच्छु भव्य पुरुषों को चाहिए कि वे सांसारिक सुख की व्रतादि शुभाचरण करते हुए भी उनके उदयजनित शुभाकर्मों की बांछा नहीं करनी चाहिए। जिस पुरुष के भोग की अभिलाषा न हो सो निःकांक्षित अंगयुक्त है। देखो अनंतमती को उसके पिता ने केवल विनोदवश शीलव्रत दे दिया था। पर उसने उसको बड़ी दुकना के साथ पालन किया। कर्मों के पराधीन सांसारिक सुख की उसने स्वप्न में की अभिलाषा नहीं की। उसके प्रभाव से वह स्वर्ग में जाकर देव हुई। स्वर्ग के सुख का पार नहीं है। इसलिए भव्य पुरुषोंको सम्यग्दर्शन के निःकांक्षित गुण का अवश्यमेव पालन करना चाहिए ॥२॥

इति श्री निःकांक्षितांगे अनंतमती कथा समाप्तः ॥

अथ तृतीय निर्विचिकित्सा अंगस्वरूप वर्णन ॥३॥

अपने में उत्तम गुणों से युक्त समझकर व अपने को श्रेष्ठ मानकर दूसरे के प्रति अवज्ञा, निरस्कार व ग्लानिरूप भाव होना विचिकित्सा या ग्लानि है। यह दोष मिथ्यात्व के उदय से होता है। इसके बाह्य चिह्न इस प्रकार हैं—किसी दीन, दरिद्री, विकलांग रोगी को देखकर निंदा, ग्लानि, निरस्कार, निरादर व उपहास आदि करना। सम्यग्दृष्टि जीव विचारता है कि कर्मों के उदय की विचित्र गति है। कदाचित् पाप का उदय आ जाय तो क्षणमात्र में धनी से निर्धन, कुरूप, विद्वान् से पागल, कुलवान् से पतित और स्वस्थता से रोगी हो जाते हैं। इससे वह दूसरों को हीनबुद्धि से नहीं देखता और ऊपर से अपवित्र शरीर पर ध्यान नहीं देकर अंतरंग गुणों को देख ज्ञान, चरित्रादि ग्लानियुक्त होते हुए भी जुगुप्सा रहित सेवा सहायता करता है। यही निर्विचिकित्सा गुण है। अब उदाहरणार्थ सम्यग्दर्शन के तीसरे निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध होने वाले उदायन राजा की कथा लिखते हैं। इसी भरत क्षेत्र में कच्छ देश के अन्तर्गत रौरवक नामक बहुत सुन्दर नगर था। उस नगर के राजा उदायन सम्यग्दृष्टि थे। वे बड़े धर्मात्मा, विचारशील, जिन भगवान् के चरण कमलों के भंडर और सच्चे भक्त थे। आप राजनीति के अच्छे विद्वान्, तेजस्वी और दयालु थे। वे दुराचारियों को उचित दण्ड देते और प्रजा का नीतिपूर्वक पालन करते थे। इससे प्रजा का उन पर बहुत प्रेम था। और वे भी सदा प्रजा हित में उद्यत रहा करते थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। वह भी सती, धर्मात्मा और दयालु थी। उनका मन सदा

पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान परम निर्मल और पवित्र रहता था। वह अपने समय को प्रायः दान, जिन-पूजा, व्रत, उपवास, शास्त्रस्वाध्यायादिधर्मध्यान में व्यतीत करती थी। उद्दायन अपने राज्य का शान्ति व सुखपूर्वक राज्य करने और अपनी शक्ति के अनुसार जितना बन पड़ता उतना धार्मिक कार्य में समय बिताते थे। कहने का प्रयोजन यह है कि वे सर्वथा सुखी थे। उनको किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। अपनी कार्यकुशलता और नीति परायणता से शत्रु रहित हो निष्कण्टक राज्य करते थे। एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपने देवों के मध्य सभामंडप में बैठा हुआ धर्मोपदेश कर रहा था कि संसार में सच्चे देव अरहंत भगवान् हैं, जो कि श्रुधा, तृषा, रोग, शोक, भय, विस्मय, जन्म, जरा, मरण, राग, द्वेषादि अष्टादश दोष रहित भूत, भविष्यत्, वर्तमान का ज्ञाता, सत्यार्थवक्ता और सबके हितोपदेशक, संसार के दुःखों से हटाने वाला है। सच्चा धर्म, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौचादि दशलक्षण रूप तथा रत्नत्रय रूप है। सच्चे गुरुदेव हैं जिनके पास परिग्रह नाम-मात्र भी न हो। अर्थात् दस प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अंतरंग एवं चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित निरारंभी, निरभिलाषी, ज्ञान ध्यान और तप रूपी रत्न के धारक हो वही गुरु प्रशंसनीय है और वही सच्ची श्रद्धा है जिससे जीवादिक पदार्थों में रुचि होती है। यही रुचि स्वर्ग मोक्ष को प्रदान करती है। यह रुचि अर्थात् श्रद्धा धर्म में प्रेम करने से, तीर्थयात्रा करने, जिन भगवान् का रथोत्सव कराने, प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराने, प्रतिष्ठा कराने, प्रतिमा बनवा कर विराजमान करने और अपने आश्रमी भाइयों में गौ नन्दसवत् अमृत प्रीति रखने से उत्पन्न होती है। आप लोग ध्यान रखिए कि सम्यग्दर्शन एक वह श्रेष्ठ तत्व है जिसकी समानता कोई दूसरा नहीं कर सकता। यही सम्यग्दर्शन नरक, तिर्यचादि दुर्गंतियों का नाश करके स्वर्ग मोक्ष सुख को प्रदान करने वाला है। इससे सर्वोत्तम रत्न को तुम धारण करो। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का और उसके आठ अंगों का वर्णन करते हुए जब इन्द्र ने निर्विकिकित्सा अंग के पालन करने वाले रौरवक नगराधिपति उद्दायन राजा की बहुत प्रशंसा की तब इन्द्र के मुख से एक मध्य लोक के मनुष्य की प्रशंसा सुनकर वासवका नामक देव उसी समय स्वर्ग से भरत क्षेत्र में आया और उद्दायन राजा की परीक्षा करने के लिए एक कोढ़ी मुनि का मायावी देव धारणकर भिक्षा के लिए मध्याह्नकाल में उद्दायन के महल गया। उसके शरीर से कोढ़ गल रहा था। उसकी तीव्र वेदना से उसके पैर इधर-उधर पड़ रहे थे। रुधिरस्राव से समस्त शरीर पर मक्खियां भिन-भिना रही थीं। शरीर की ऐसी विकृत अवस्था होने पर भी जब वह राजद्वार पर पहुंचा और महाराज उद्दायन की उस पर नजर पड़ी तब वे उसी समय सिंहासन से उठकर सम्मुख आए और भक्तिपूर्वक मायावी मुनि का आव्हान किया। इसके पश्चात् सप्तगुण सहित नवधाभक्ति पूर्वक हर्ष सहित राजा ने मुनि को प्रामुख आहार कराया। राजा आहार कर निवृत्त हुए कि इतने में उस कपटी मुनि ने अपने मायाजाल से महा दुर्गन्धित वमन कर दिया। उसकी असह्य दुर्गन्धि के मारे जितने और लोग पास में खड़े थे वे सभी वहां से चलते बने। केवल उद्दायन और उसकी रानी मुनि के शरीर की सम्हाल करने के लिए वहीं स्थित रहे। रानी मुनि का शरीर साफ करने के लिए उनके पास गई। कपटी मुनि ने उस बेचारी पर भी महा दुर्गन्ध उवात्त कर दी। राजा और रानी ने इसकी कुछ भी परवाह न करके उल्टा इस बात पर पश्चात्ताप किया कि हमसे मुनि को प्रकृति विरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया? जिससे मुनि महाराज को हमारे निमित्त इतना कष्ट हुआ। हम लोग बड़े पापी व भाग्यहीन हैं जो ऐसे उत्तम पात्र का हमारे यहाँ निरन्तराय आहार न हो सका। सच है कि हम जैसे पापी अभागे लोगों को मनोवांछित फल प्रदान करने वाला चित्तमणि रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता।

उसी तरह सुपात्र के दान का योग भी पापियों को नहीं मिलता । इस प्रकार अपनी आत्मनिंदा कर अपने प्रमाद पर बहुत-बहुत खेद और पश्चात्ताप करते राजा-रानी ने मुनि का सब शरीर प्रासुक जल से धोकर साफ किया । उनकी इस प्रकार अचल भक्ति को देखकर देव अपनी माया समेटकर बड़ी प्रसन्नता के साथ बोला कि हे राज राजेश्वर ! आपके विचित्र और निर्दोष सम्यक्त्व की तथा निर्विचिकित्सा अंग के पालन करने को अपने सभामंडप के मध्य धर्मोपदेश देते हुये सौधमैन्द्र ने धर्मधेमवश होकर प्रशंसा की थी वैसी अक्षरशः ठीक निकली । संसार में आप का ही मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल और सुख देने वाला है । तुम यथार्थ सम्यग्दृष्टि और महादानी हो । वास्तव में तुम्हीं ने जैन शासन का रहस्य समझा । यदि ऐसा न होता तो तुम्हारे बिना और कौन मुनि की दुर्गन्धित उद्यान्त को अपने हाथों से साफ करता ? राजन् ! तुम धन्य हो । शायद ही इस भूमंडल पर इस समय आप जैसा सम्यग्दृष्टियों में शिरोमणि कोई होगा । इस प्रकार वासव नामक देव उद्दायन की प्रशंसा करता हुआ अपने स्थान पर चला गया । अथानन्तर राजा फिर अपने राज्य का शांति और सुखपूर्वक पालन करते हुये दान, पूजा, व्रत स्वाध्यायदि धार्मिक कार्य में अपना समय व्यतीत करने लगे । इसी तरह आनन्द पूर्वक निर्विघ्न राज्य करते-करते उद्दायन का कुछ और समय व्यतीत हो गया । एक दिन वह अपने महल पर बैठे हुये प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि इतने में एक बड़ा भारी बादल का टुकड़ा उनके नेत्रों के सामने से निकला । वह थोड़ी सी दूर पहुंचा होगा कि एक प्रबल वायु के वेग ने उसे देखते-देखते नाम शेष कर दिया । क्षण भर में एक विशाल मेघखंड की यह दशा देखकर उद्दायन की आंखें खुल गई । और अब उन्हें सारा संसार ही क्षणिक भासने लगा । प्रयोजन यह है कि उनके हृदय पर वैराग्य ने अपना अधिकार कर लिया । चित्त में विचारने लगे कि स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु, धन, धान्य, दासी, दास, सोना, चांदी आदि जितने चेतन अचेतन पदार्थ हैं वह सब विद्युत् प्रकाशवत् क्षण भर में देखते-देखते नष्ट होने वाले हैं और संसार दुःख का समुद्र है । यह शरीर भी जिसे रात-दिन प्यार किया जाता है वह भी मज्जा, अस्थि, मांस तथा रक्तादि अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है । ऐसे अपावन क्षण भंगुर शरीर से कौन बुद्धिमान् प्रेम करेगा ? ये पांच इन्द्रियों के विषय ठगों से भी बढ़कर ठग हैं । इनके द्वारा ठगा हुआ प्राणी एक पिशाचिनी की तरह उनके दश होकर अपनी सब सुधि भूल जाता है । ये जैसा नाच नचाते हैं वैसा ही नाचने लगता है । इस प्रकार संसार शरीर भोगादिक की अनित्यता विचारता हुआ उसी समय महल से उतरकर अपने पुत्र को बुलाया और उसके मस्तक पर राजतिलक करके आप अन्तिम तीर्थकर महावीर भगवान् के समवधारण में पहुंचे और भक्ति पूर्वक भगवान् के चरणारविंद की पूजा कर उनके चरणों के निकट ही उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली । जिसका इन्द्र नरेन्द्र चक्रवर्ती आदि सभी आदर करते हैं । दीक्षित होकर उद्दायन राजा कठिन से कठिन तपश्चरण करते हुये वैराग्य के साथ क्रमशः रत्नत्रय की पूर्णता कर बारहवें गुणस्थान के अंत घातिया कर्मों के अभाव से प्रादुर्भूत लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त कर इंद्र धरणेन्द्र चक्रवर्त्यादि द्वारा पूज्य हुये । उसके द्वारा उन्होंने मुक्ति का मार्ग बतलाकर अंत में अघातिया कर्मों का नाश कर अविनाशी, अनंत मोक्षपद को प्राप्त किया । उन स्वर्ग मोक्ष सुख को देने वाले श्री उद्दायन केवली को हम भक्ति पूर्वक बारम्बार नमस्कार और पूजन करते हैं । वे हमें भी मोक्षपथ में लगाकर केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी प्रदान करें और उनकी रानी सती प्रभावती भी उस समय ही दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करती और अनेक प्रकार की परीषह सहन करती हुई आयु के अंत में समाधिमरण कर ब्रह्म स्वर्ग में जाकर देव हुई । जिस प्रकार उद्दायन मुनिराज ने सम्यग्दर्शन के तीसरे निर्विचिकित्सा अंग को पालन कर प्रकाशित किया उसी तरह सभी भव्य पुरुषों को भी करना उचित है । वह अनुपम सुख प्रदान करने वाला है ।

इति निर्विचिकित्सांगे श्रीमदुद्दायनस्य कथा समाप्ता ।

अन्य सम्यग्दृष्टि अंग वर्णन प्रारम्भ

अतत्त्वों में तत्त्व श्रद्धान करना मूढदृष्टि है। यह मिथ्यात्व कर्म के उदयवश जिन्होंने गुणदोषों के विचार रहित अनेक पदार्थों को धर्मरूप वर्णन किया है और जिनके पूजन तथा नमस्कार करने से जो उभय लौकिक कार्यों की सिद्धि बताई है और उनके निमित्त हिंसा करने में धर्म माना आदि मूढदृष्टि अंग का धारक इन सबको मिथ्या जानता और निस्सार तथा अशुभ फल का उत्पादक जान दूर ही से तजता है और इनके धारकों में मन से सम्मत न होना, काया से नहीं सराहना, वचन से प्रशंसा नहीं करना यही सम्यक्त्वी का असूढदृष्टि अंग के पालन करने में प्रसिद्ध होने वाली रेवती रानी की कथा लिखते हैं।

विजयाद्वै पर्वत की दक्षिण श्रेणी में मेघकूट नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर नगर था। उसका स्वामी चन्द्रप्रभ नाम का राजा बड़ा विचारशील और राजनीति का अच्छा विद्वान था। उन्होंने बहुत समय तक शत्रुरहित, निष्कण्टक, शान्ति और नीतिपूर्वक अपने राज्य की प्रजा का पालन किया। एक दिन वे बैठे हुए थे कि एकाएक उन्हें तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई। राजकार्य अपने प्रियपुत्र चन्द्रशेखर के अधीन करके वे तीर्थयात्रा के लिए चल दिए। बहुत से सिद्ध क्षेत्रों और अतिशयक्षेत्रों की यात्रा करते-करते वे दक्षिण मथुरा में आये, वहाँ उनको श्री गुप्ताचार्य के दर्शन हुए। चन्द्रप्रभ ने आचार्य से उपदेश सुना। धर्मोपदेश का उनके चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे आचार्य महाराज के द्वारा प्रोक्त 'परोप-कारोऽय महापुण्याय भूतले' अर्थात् परोपकार करना महान् पुण्य का कारण है, यह सुनकर तीर्थयात्रा करने के लिए एक विद्या को अपने अधिकार में रखकर क्षुल्लक बन गये। एक दिन उनकी इच्छा उत्तर मथुरा की यात्रा करने की हुई। जब वे जाने को तत्पर हुए तब उन्होंने अपने गुरु महाराज से पूछा हे दया के समुद्र ! मैं यात्रा करने लिए जा रहा हूँ। क्या आपको किसी के लिए कुछ समाचार कहना है ? तब गुप्ताचार्य बोले मथुरा में सूरत नाम के बड़े ज्ञानी और गुणी मुनि महाराज हैं उन्हें मेरा बार-बार नमस्कार कहना और सम्यग्दृष्टि की धर्मात्मा रेवती के लिए मेरी धर्मवृद्धि कहना। क्षुल्लक ने फिर पूछा कि महाराज ! इन दो के अतिरिक्त क्या किसी और को कुछ कहना है ? आचार्य महाराज ने कहा नहीं।

तब क्षुल्लक मन में सोचने लगा कि आचार्य महाराज ने एकादशांग ज्ञाता भव्यसेन आदि अन्य मुनि तथा सम्यक्तियों के होते हुए उन सबको छोड़कर केवल सूरत मुनि और रेवती के लिए ही नमस्कार किया तथा धर्मवृद्धि की। इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अस्तु ! जो इसका कारण होगा, वह स्वयं मालूम हो जायेगा, व्यर्थ चिन्ता में मग्न होने से क्या लाभ यह सोचकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक वहाँ से चल दिये। उत्तर मथुरा पहुँच कर उन्होंने सूरत मुनि को गुप्ताचार्य की वन्दना कह सुनाई। उससे सूरत मुनि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने चन्द्रप्रभ के साथ खूब वात्सल्य किया जिससे चन्द्रप्रभ को बहुत खुशी हुई। बहुत ठीक कहा है कि—

ये कुर्वन्ति वात्सल्यं भव्याः धर्मानुरागतः।

साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूलते।'

अर्थात् इस पृथ्वी मण्डल पर उन्हीं का मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल और सुख देने वाला है जो धर्मानुराग से साधर्मियों के प्रति समीचीन भावों से वात्सल्य प्रेम करते हैं। इसके अनन्तर क्षुल्लक चन्द्रप्रभ एकादशांग के ज्ञाता, नारायण के भव्यसेन मुनि के पास गये। उन्होंने भव्यसेन को सादर

नमस्कार किया। पर भव्यसेन मुनि ने अभिमानवश चन्द्रप्रभ को धर्म-वृद्धि तक नहीं दी। ऐसे अभिमान को धिक्कार है कि जिन अविचारियों के वचनों में भी दरिद्रता है। बहुत ठीक कहा है—

‘यत्र वाक्येऽपि वारिद्र्यमविवेक विकलात्मनि।

प्राघूर्णकं कियत् तत्र स्थप्ने स्यादपि दुर्लभा।’

जिन अविवेकी पुरुषों के आए हुए अतिथि का वाचनिक सत्कार करने में भी दरिद्रता है तो उनसे और सत्कार आदर होना तो स्वप्न में भी दुर्लभ है। जैन शास्त्रों का ज्ञान सब दोषों से निर्दोष है, उसे प्राप्त कर हृदय पवित्र होता ही चाहिए परन्तु अत्यन्त जेद के साथ कहता नइया है कि उसके प्राप्त होने पर भी मान प्रकट होता है। पर यह शास्त्र का दोष नहीं, किन्तु यों कहना चाहिए कि—

‘सत्यं पुण्यविहीनानाममृतं च विजायते’ अर्थात् पापियों के लिए अमृत भी विष हो जाता है जैसे उत्तम गौदुग्ध सर्प के मुख में गया हुआ विषरूप ही हो जाता है। जो भी हो, फिर भी यह देखना चाहिए कि इनमें कितना भव्यपना है या केवल नाम मात्र के ही भव्यसेन हैं, ऐसा विचारकर जब दूसरे दिन प्राप्त काल भव्यसेन मुनि कण्डलु को लेकर शौच से निवृत्त होने के लिए वहिर्भूमि जाने लगे तब चन्द्रप्रभ क्षुल्लक भी उनके पीछे-पीछे हो लिए। आगे चलकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ने अपने विद्याबल से भव्यसेन के अग्रभाग की भूमि को कोमल और हरे-हरे तृणों से युक्त कर दिया तब भव्यसेन आगे की भूमि को कोमल तृणांकुरों से अच्छादित देखकर यह विचारने लगे कि जिनागम में तो इनको एकेन्द्रिय जीव कहा है, इनकी हिंसा का विशेष पाप नहीं होता है, यह सोचकर उनकी कुछ परवाह न करते हुए उन पर से निकल गए। आगे चलकर जब वे शौच से निवृत्त हो चुके तो तब शुद्धि के लिए कमण्डलु की ओर देखा तो उसमें जल का एक बूंदु भी नहीं मिला, वह आँधा पड़ा हुआ था। तब तो इनको बहुत चिंता हुई। इतने में ही एकाएक क्षुल्लक जी भी वहीं आ पहुँचे। कमण्डलु का जल यद्यपि क्षुल्लक महाराज ने ही अपनी विद्या के बल से सुखाकर उसे आँधा गिरा दिया था। तथापि वे बड़े आश्चर्य के साथ बोले— मुनिराज आगे चलकर कुछ दूरी पर एक निर्मल जल का सरोवर भरा हुआ है। वहीं पर जाकर शौच शुद्धि कर लीजिए। भव्यसेन अपने पद के कर्तव्य का कुछ भी ध्यान न रखते हुए जैसा क्षुल्लक ने कहा वैसा ही कर लिया। सच बात तो यह है कि—

किं करोति न मूढात्मा कार्यं मिथ्यात्वदूषितः।

न स्थान्मुक्तिप्रदं ज्ञानं चारित्रं बुद्धेशामपि।

उद्गतो भास्करश्चापि किं घूकस्य सुखायते।

मिथ्यावृष्टेः श्रुतं शास्त्रं कुमार्गाय प्रवर्तते।

यथा मृष्टं भवेत्कष्टं सुदुग्धं सुम्बिकागतम्।

अर्थात् मूर्ख पुरुष मिथ्यात्व के वश होकर क्या निषिद्ध कार्य नहीं करते हैं। इन मिथ्यात्वदूषित पुरुषों के ज्ञान और चारित्र मोक्ष का कारण नहीं होते। जैसे सूर्य का उदय उल्लू को सुख का कारण नहीं होता। मिथ्या श्रद्धानियों का शास्त्र श्रवण करना, शास्त्राभ्यास करना कुमार्ग में ही प्रवर्तने का कारण है जैसे मीठा दूध भी तूँबड़ी के सम्बन्ध से कड़वा हो जाता है। इस प्रकार विचारकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ने भव्यसेन मुनि का आचरण समझ लिया कि वे नानमात्र के जैनी हैं। वास्तव में इनका जैन-धर्म पर श्रद्धान नहीं। ये मिथ्यात्मी हैं। उस दिन से चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ने भव्यसेन का नाम अभव्यसेन रखा। सत्य बात है कि दुराचार से क्या-क्या नहीं होता। इस प्रकार क्षुल्लक चन्द्रप्रभ ने भव्यसेन की

परीक्षा कर अब रेवती रानी की परीक्षा करने का विचार किया। दूसरे दिन अपनी विद्या के बल से कमल पर बैठे हुए और वेदों के मन्त्रों का महाध्वनि के साथ उपदेश करते हुए चार मुख वाले ब्रह्मा का वेष बनाया। और नगर से पूर्व दिशा की ओर कुछ दूरी पर ठहर गये। ये हाल सुनकर राजा वरुण तथा भव्यसेन आदि अनेक जन उनके दर्शन के लिए वहाँ गये और ब्रह्माजी को उन्होंने नमस्कार किया। उनके चरण स्पर्श कर बहुत प्रसन्न हुए और अपना अहोभाग्य समझने लगे। राजा वरुण ने जाते समय अपनी प्रिया रेवती से भी चतुर्मुख ब्रह्माजी की वन्दना के लिए चलने को कहा था। पर रेवती सम्यक्त्व रत्न से भूषित और जिन भगवान की अनन्य भक्त थी, इसलिए वह नहीं गयी। उसने राजा से उत्तर में कहा—‘महाराज ! मोक्ष और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य प्राप्त कराने वाला सच्चा ब्रह्मा जिनशासन में आदि जिनेन्द्र कहा गया है। उनके सिवा कोई अन्य ब्रह्मा नहीं हो सकता और जिस ब्रह्मा की वन्दना के लिए आप जा रहे हैं वह ब्रह्मा नहीं किन्तु कोई धूर्त मनुष्यों के चित्तरंजन करने के लिए ठगने के निमित्त ब्रह्मा का वेष बनाकर आया है। मैं तो कदाचित् नहीं चलूंगी।’

दूसरे दिन क्षुल्लक ने गरुड़ पर बैठे हुए चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा आदि से युक्त और दंत्यों को कंपायमान करने वाले खड्ग सहित विष्णु भगवान का वेष बनाकर दक्षिण दिशा में अपना डेरा जमाया और फिर तीसरे दिन बुद्धिमान क्षुल्लक ने बैल पर बैठे हुए पार्वती के मुख कमल को देखते हुए, शिर पर जटा और अंग में भस्म लगाए हुए, गणपति युक्त और जिन्हें हजारों देव आकर नमस्कार कर रहे हैं, ऐसे शिव का वेष धारण कर पश्चिम दिशा की तरफ शोभा बढ़ाई।

चौथे दिन उस बुद्धिमान क्षुल्लक ने अपनी विद्या के बल से समवशरण में सिंहासन पर विराजे हुए आठ प्रतिहार्यों से विभूषित मिथ्यादृष्टियों के अभिमान को नष्ट करने वाले मानस्तंभादि से युक्त निर्ग्रन्थमुवतधारी और हजारों देव विद्याधर, चक्रवर्ती, राजा, मनुष्यादि आकर जिसके चरणारविंदों को नमस्कार करते हैं, ऐसा संसार श्रेष्ठ तीर्थंकर का वेष बनाकर उत्तर दिशा को अलंकृत किया। तीर्थंकर भगवान का आगमन सुनकर सब मनुष्यों को आनन्द हुआ। सब प्रसन्न होते हुए भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करने को गये। राजा वरुण तथा भव्यसेन आदि भी वन्दना करने को गये। तीर्थंकर भगवान के दर्शन करने के लिए भी रेवती रानी को न जाती हुई देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुतों ने उससे वन्दना करने को चलने के लिए आग्रह भी किया पर वह नहीं गई। कारण कि वह सम्यक्त्व रूपी रत्न ने भूषित थी। उसे सर्वत्र देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान के भाषण किये हुए वचनों पर पूर्ण तथा दृढ़ विश्वास था कि तीर्थंकर परमदेव चौबीस ही होते हैं और वासुदेव नौ तथा रुद्र ग्यारह होते हैं, फिर उनकी संख्या का उल्लंघन करने वाले ये दसवें वासुदेव, बारहवें रुद्र तथा पच्चीसवें तीर्थंकर कहाँ से आ सकते हैं ? वे तो अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार जहाँ उन्हें जाना था, चले गये, फिर ये नवीन रचना कैसी ? इनमें न तो कोई सच्चा रुद्र है, न वासुदेव है और तीर्थंकर है, किन्तु कोई मायावी इन्द्रजालिक अपनी धूर्तता से लोगों को ठगने के लिए अनेक रूप धारण कर लेता है। यह विचार कर रेवती रानी तीर्थंकर वन्दना के लिए भी नहीं गई। सच है कहीं सुमेरु पर्वत भी वायु से चलायमान हुआ है ? कदापि नहीं। उसी प्रकार रेवती भी सुमेरुवत् निश्चल रही।

इसके बाद क्षुल्लक चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ही के वेष में परन्तु अनेक प्रकार की व्याधि से ग्रसित हो मलिन शरीर होकर रेवती रानी की परीक्षा के लिए मध्याह्नकाल में भोजन के निमित्त रेवती के महल में पहुँचे। प्रागिन में पहुँचते ही मूर्छा खाकर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़े। उसको देखते ही धर्मवत्सला

रेवती रानी 'हाय-हाय' शब्द उच्चारण करती हुई उनके पास दीड़ी आई और बहुत भक्ति तथा विनय-पूर्वक उनको सचेत किया। इसके पश्चात् अपने महल में ले जाकर बहुत कोमल और पवित्र भावों से हर्षपूर्वक रानी रेवती ने प्राशुक आहार कराया। सच है जो दयावान होते हैं, उनकी बुद्धि दान देने में स्वभाव से ही तत्पर रहती है।

चन्द्रप्रभ क्षुल्लक को अब भी सन्तोष न हुआ अतः उन्होंने भोजन से निवृत्त होने के पश्चात् ही अपनी माया से असह्य दुर्गन्धयुक्त वमन कर दिया। क्षुल्लक की यह दशा देखकर रानी रेवती को बहुत दुःख हुआ। उसने बहुत पश्चात्ताप किया कि भुक्त पापित के द्वारा प्रकृतिविरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया जिससे इनको इतना कष्ट हुआ। मैं बड़ी अभागिनी हूँ जो ऐसे उत्तम पात्र का हमारे यहां निरंतराय आहार नहीं हुआ। इस प्रकार बहुत-कुछ पश्चात्ताप और आत्मनिन्दा कर अपनी असावधानता को धिक्कारते हुए उसने क्षुल्लक का शरीर पोछा और किंचित उष्ण जल से धोकर निर्मल किया। क्षुल्लक रेवती की इस प्रकार अचल भक्ति देखकर बहुत प्रसन्नता के साथ बोले—देवी ! संसार में श्रेष्ठ मेरे परम् गुरु महाराज गुप्ताचार्य की धर्म वृद्धि तेरे मन को पवित्र करे जो कि सब सिद्धियों को देने वाली है और तुम्हारे नाम से मैंने यात्रा में जहाँ-तहाँ जिन भगवान की पूजा की है वह भी तुम्हें कल्याण को देने वाली हो। हे देवी ! यथार्थ मैं तुम ही सम्यक्स्वी हो वास्तव में तुम जैन शासन के रहस्य की ज्ञाता हो। तुमने जिन संसार श्रेष्ठ और संसार समुद्र से पार करने वाले अमूर्त दृष्टि अंग को ग्रहण किया है उसकी मैंने अनेक तरह से परीक्षा की, पर उसमें तुमको मेरे के समान अचल पाया। तुम्हारे इस त्रिलोकपूज्य सम्यग्त्व की कौन प्रशंसा करने में समर्थ हैं। अर्थात् कोई नहीं। आप ही का मनुष्य जन्म पाना सफल है। इस प्रकार उत्तमोत्तम गुणभूषित रानी रेवती की प्रशंसा कर उससे सर्ववृत्तान्त वर्णन कर क्षुल्लक अपने स्थान पर चला गया। इसके अनन्तर वरुण नृपति और रेवती रानी अपने राज्य का सुखपूर्वक पालन करते हुए दान-पूजादि शुभ कार्य में अपना समय बिताने लगे। इसी प्रकार राज्य करते-करते बहुत समय व्यतीत हो गया।

एक दिन राजा को किसी कारण से वैराग्य हो गया और संसार, शरीर भोगादिकों से उसे बड़ी घृणा हुई। मैं आज ही मोहमाया का नाश कर अपने हित के लिए तत्पर हो जाऊँ। यह विचार कर उसी समय अपने शिवकीर्ति नामक पुत्र को राज्य भार सौंपकर आप वन की ओर रवाना हुए और उसी समय मुनिराज से दीक्षा ग्रहण कर ली जोकि संसार का हित करने वाली है। दीक्षित होकर उन्होंने पंचाचार आदि मुनिव्रतों का निरतिचार पालन करते हुए कठिन-से-कठिन तपश्चर्या करने लगे और अंत में मृत्यु प्राप्त कर समाधिमरण के प्रभाव से वे माहेन्द्र स्वर्ग में जाकर देव हुए। जिन भगवान के चरण-कमलों की परमभक्त महारानी रेवती भी संसार के सुख को सुखाभास और अनित्य समझकर सब माया जाल तोड़ जिन-दीक्षा ग्रहण कर अपनी शक्ति अनुसार तपश्चर्या कर आयु के अन्त में ब्रह्म स्वर्ग में जाकर महर्द्धिक देव हुईं। हे भव्य पुरुषो ! यदि तुम भी स्वर्ग या मोक्ष सुख को चाहते हो तो जिस तरह श्रीमती रेवती रानी ने मिथ्यात्व छोड़ अमूर्त दृष्टि अंग का प्रकाश किया उसी तरह तुम भी मिथ्यात्व छोड़कर स्वर्ग मोक्ष सुख के देने वाले अत्यन्त पवित्र और बड़े-बड़े देव विद्याधर राजा-महाराजाओं से भक्तिपूर्वक ग्रहण किये हुए सम्यग्दर्शन का अंग सहित निरतिचार पालन करो।

इति श्री अमूर्तदृष्ट्यंगे रेवती कथा समाप्ता ॥

॥ गमोकार ग्रंथ में स्वर्णयज्ञ की कथा प्रारम्भ ॥

पवित्र जैन मार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थ जनों के द्वारा की गई निन्दा को यथायोग्य रीति से दूर करना तथा अपने गुण और पराये दोषों को ठकना उपगूहन अंग है। इस सम्यग्दर्शन के पांचवें उपगूहन अंग के पालन करने में प्रसिद्ध होने वाले जिनेन्द्र भक्त की कथा इस प्रकार है—

नेमिनाथ भगवान् के जन्म से पवित्र और दयालु पुरुषों से परिपूर्ण इस भारतवर्ष में सौराष्ट्र नाम का एक देश है। उसके अन्तर्गत पाटलिपुत्र नाम का मनोहर नगर है। जिस समय की यह कथा है उस समय वहाँ के राजा यशोध्वज थे। उनकी रानी का नाम सुसीमा था। वह बड़ी सुन्दरी थी। उसके एक पुत्र था। उसका नाम सुवीर था। बेचारी सुसीमा के पूर्वोपाजित कर्म के उदय से वह महाव्यसनी और चोर हो गया है। सच तो यह है कि जिन्हें आगे कुयोनियों के दुःख भोगने होते हैं उनके न तो उत्तम कुल में जन्म लेना काम आता है और न ऐसे पुत्रों से बेचारे माता-पिता को कभी सुख होता है। गौड़देश के अन्तर्गत एक तामलिप्ता नाम की सुन्दर नगरी है इसमें जिन भक्त नाम के एक सेठ रहते थे। उनका जैसा नाम था वैसे ही वे जिनेन्द्र के भक्त भी थे। वे जिनेन्द्र भगवान् के भक्त थे। वे जिनेन्द्र भक्त सच्चे सम्यग्दृष्टि, उदारात्मा और विचारशील थे। वे अपने श्रावक-धर्म का बराबर पालन करते रहते थे। उन्होंने बड़े-बड़े विशाल नवीन जिन मन्दिर बनवाए, बहुत से जीर्ण मन्दिरों का उद्धार किया। जिन प्रतिमाएँ बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करवाई। वह चतुर्विध संघ को भक्तिपूर्वक दान देता और वैयावृत्य करता था। सम्यग्दृष्टि शिरोमणि जिनेन्द्रभक्त सेठ का महल सात मंजिल था उसकी अन्तिम मंजिल अर्थात् सातवीं मंजिल पर एक बहुत ही सुन्दर जिन चैत्यालय में श्री पार्श्वनाथ भगवान् की बहुत मनोहर और रत्नमयी प्रतिमा थी। उसपर रत्नों के बने हुए तीन छत्र बड़ी शोभा दे रहे थे। उन छत्रों में एक पर वैडूर्यमणि नाम का अत्यन्त कांतिमान बहुमूल्य रत्न लगा हुआ था। इस रत्न का वृत्तांत राजा यशोध्वज के पुत्र सुवीर ने सुना। उसने अपने साथियों को बुलाकर कहा—सुनिये ! जिनेन्द्रभक्त सेठ के चैत्यालय में प्रतिमा पर लगे हुए छत्रत्रयों में एक वैडूर्यमणि नाम का बहुमूल्य रत्न लगा हुआ है। क्या तुम लोगों में से कोई उस रत्न को लाने का साहस रखता है ? उनमें से सूर्यक नाम का एक चोर बोला महाराज ! यह तो एक अत्यन्त साधारण बात है। पर यदि वह रत्न इन्द्र के मस्तक पर भी होता तो मैं उसे क्षणभर में ला सकता था। सच है जो जितने दुराचारी होते हैं वे उतना ही पाप कर्म भी कर सकते हैं। सूर्यक के लिए सुवीर की ओर से रत्न लाने की आज्ञा हुई। वहाँ से आकर उसने एक भायावी क्षुल्लक का वेष धारण किया। क्षुल्लक बनकर लोगों को ठगने के लिए वह ब्रत उपवासादि करने लगा। उससे उसका शरीर कुछ ही दिनों में बहुत कृश हो गया।

तत्पश्चात् वह अनेक नगरों और ग्रामों में घूमता हुआ और लोगों को अपने कपटी वेष से ठगता हुआ कुछ दिनों में तामलिप्तापुरी आ पहुँचा। जिनेन्द्रभक्त सेठ बड़े धर्मात्मा थे इसलिए धर्मात्माओं को देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। उन्होंने जब इस धूर्त क्षुल्लक के आगमन का समाचार सुना तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। वे उसी समय सब गृह कार्य छोड़कर क्षुल्लक महाराज की बंदना के लिए गये। तत्पश्चात् से उनके क्षीण शरीर को देखकर उनकी उस पर और अधिक श्रद्धा हो गयी। उन्होंने भक्ति के साथ क्षुल्लक को प्रणाम किया और फिर वे इस क्षुल्लक को अपने घर पर ले आए। सच बात तो यह है कि—

‘ग्रहो धूर्तस्य धूर्तत्वं लक्ष्यते के न भूतसे ।
यस्य प्रपञ्चतो गार्धं विद्यामसद्व्यापि वञ्चितः ॥

अर्थात् जिनकी धूर्तता से अच्छे-अच्छे विद्वान् भी जब उगे जाते हैं तो बेचारे साधारण पुरुषों की क्या मजाल जो वे उनकी धूर्तता का पता पा सकें ।

क्षुल्लक जी ने चैत्यालय में पहुंचकर जब उस वैदूर्यमणि को देखा तो उनका हृदय आनन्द के मारे बाँसों उछलने लगा । वे उसी प्रकार संतुष्ट हुए जिस प्रकार कोई मृन्मय मूर्ति अपने पास कोई वस्तु चनवाने के लिए लाए हुए सोने को देखकर संतुष्ट होता है क्योंकि उसकी अभिरुचि सदैव चोरी की ओर ही लगी रहती है । जिनेन्द्र भक्त को उसके मायाचार का कुछ पता नहीं लगा । इसीलिए उस मायाचारी क्षुल्लक के मना करने पर भी उसे बड़ा धर्मात्मा समझकर उन्होंने आग्रहपूर्वक अपने जिनालय की रक्षा करने के लिए उसे नियुक्त कर दिया और आप उससे पूछकर समुद्र-यात्रा करने के लिए चल पड़े । जिनेन्द्रभक्त के घर से बाहर होते ही क्षुल्लक महाराज की मनोकामना सिद्ध हो गयी । उसी दिन अर्द्ध रात्रि के समय वह उस तेजस्वी रत्न को कपड़ों में छिपाकर घर से बाहर हो गया, पर पापियों का पाप कभी नहीं छिपता । कहा भी है—

‘चोरी रूपं कपोतजम् शृङ्खलमिह पापतः ।

तत्प्रसिद्धं भवत्येव भवभ्रमणवायकः ॥’

अर्थात् पापी लोग बहुत छिपकर भी पाप करते हैं, पर वह छिपता नहीं और प्रकट हो ही जाता है और परिणाम में अनन्तकाल तक दुःख भोगना पड़ता है । यही कारण था कि रत्न लेकर भागते हुए उसे सिपाहियों ने देख लिया । वे उसे पकड़ने को दौड़े । क्षुल्लक जी दुबले-पतले पहले से ही हो रहे थे, इसीलिए भागने में अपने को असमर्थ समझ विवश होकर सेठ जिनेन्द्र भक्त ही की शरण में गये और प्रभो ! बचाइये, बचाइये ! वह कहते हुए उनके चरणों में गिर पड़े ।

“चोर भागा जाता है, उसे पकड़ना” ऐसे शब्दों को श्रवण कर जिनेन्द्र भक्त ने समझ लिया कि यह चोर है, और क्षुल्लक का वेष धारण कर लोगों को ठगता फिरता है । यह जानकर भी दर्शन की निन्दा होने के भय से जिनेन्द्र भक्त ने क्षुल्लक को पकड़ने को आये हुए अपने सिपाहियों से कहा—‘आप लोग बड़े नासमझ हैं । आपने बहुत बुरा किया जो एक तपस्वी को चोर बताया । रत्न तो ये मेरे कहने से लाए थे । आप नहीं जानते कि ये बड़े सच्चरित्र साधु हैं । अस्तु, आगे से ध्यान रखिए ।’

जिनेन्द्र भक्त के वचनों को सुनते ही सब सिपाही ठंडे पड़ गये और उन्हें नमस्कार कर अपने स्थान पर चले गये । जब सब सिपाही लोग चले गये तब जिनेन्द्र भक्त ने क्षुल्लक जी से रत्न लेकर एकांत में कहा—‘मुझको अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ता है कि तुम ऐसे पवित्र वेष को धारण कर ऐसे नीच कर्मों से कलंकित कर रहे हो । क्या तुम्हें यह उचित है ? स्मरण रखो, जो मनुष्य केवल संसार को ठगने के लिए ऐसा मायाचार करता है, बाहर धर्मात्मा बनने का ढोंग रचता है, लोगों को धोखा देकर अपने मायाजाल में फंसाता है, वह मनुष्य तिर्यचादि दुर्गति का पात्र होता है । क्या यह बाहरी दमक और सीधापन केवल दिखावा है । केवल बगुलों की हंसी में गणना कराने के लिए है ? ऐसे अनर्थों से तुम्हें कुर्गतियों में अनन्तकाल पर्यंत दुःख भोगने पड़ेंगे । शास्त्रकारों ने पापी पुरुषों के लिए लिखा है—

‘ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयन्ति स्वकं भुवि ।

त्यक्त्वा न्यायक्रमं तेषां महादुःखभवाण्येव ॥’

अर्थात् जो पापी लोग न्याय-मार्ग छोड़कर पाप के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे संसार समुद्र में अनन्तकाल तक दुःख भोगते हैं । ध्यान रखो कि अनीति से चलने वाले और अत्यन्त तृष्णावान् तुम

जैसे पापी लोग बहुत ही शीघ्रता से नाश को प्राप्त हो जाते हैं। तुम्हें उचित है कि तुम बड़ी कठिनाता से प्राप्त हुए इस मनुष्य जन्म को इस प्रकार अनर्थों में न लगाकर कुछ आत्महित करो।' इस प्रकार और भी भव्य पुरुषों को दुर्जनों के मलिन कर्मों से निदा को प्राप्त होने वाले सम्यग्दर्शन की रक्षा करना योग्य है। जिन भगवान् का शासन पवित्र है निर्दोष है, उसे जो सदोष बनाने का प्रयत्न करता है, वह मूर्ख है, उन्मत्त है। ऐसा ठीक भी है क्योंकि उनको वह निर्दोष, पवित्र जैन धर्म अच्छा जान भी नहीं पड़ता जैसे पित्तज्वर वाले को अमृत के समान भीठा गोदुग्ध भी कड़वा ही लगता है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के उपगूहन अंग का जिनेन्द्र भक्त ने पालन किया, उसी प्रकार अन्य भव्य पुरुषों को भी अवश्य उपगूहन अंग का पालन करना चाहिए।

इति उपगूहनाङ्गे जिनेन्द्रभक्तस्य कथा समाप्ता ।

॥ अथ स्थितिकरण अंग वर्णन प्रारम्भः ॥

कर्म के उदयवश किसी कारण से स्वयं को या पर को धर्म से शिथिल होते हुए देखे तो उस समय जिस तरह बने उस तरह धर्म में दृढ़ तथा स्थिर करना स्थितिकरण है। सम्यग्दृष्टि को उचित है कि चित्त चलायमान होने वाले को धर्मोपदेश देकर दृढ़ करे। निर्धन को धन, आजीविका देकर, रोगी को औषध देकर भगवान् को निर्भय कर धर्म में लगाए। सम्यग्दर्शन के इस स्थितिकरण गुण पालन करने में प्रसिद्ध होने वाले वारिषेण मुनि की कथा इस प्रकार है—

भगवान् के पचकल्याणकों से पवित्र और संसार श्रेष्ठ वैभव के स्थान भारतवर्ष में मगध नाम का एक देश है। उसके अन्तर्गत राजगृह नाम का एक सुन्दर और प्रसिद्ध नगर है। उसकी सुन्दरता संसार को चकित करने वाली है। नगर निवासियों के पुण्योदय से वहाँ के राजा श्रेणिक बड़े गुणी थे। वह सम्यग्दृष्टि उदार, धर्म प्रेमी और राजनीति के अच्छे विद्वान् थे। उनकी महारानी का नाम चेलना था। वह भी सम्यक्त्व रूपी अमूल्य रत्न से भूषित थी। वह बहुत सुन्दर, बुद्धिमती, सती, सरल स्वभाव वाली और विदुषी थी। वह सदा दान देती और जिन भगवान् की पूजा करती थी, बड़ी श्रद्धा के साथ उपवास, स्वाध्याय करती थी और पवित्रचित्त थी। उसके वारिषेण नाम का एक पुत्र था। वारिषेण बहुत गुणी श्रावकधर्म प्रतिपालक और धर्मप्रेमी था। एक दिन मगधसुन्दरी नाम की एक वैश्या राजगृह के उपवन में क्रीड़ा करने को आई हुई थी। उसने वहाँ श्रीकीर्ति नामक सेठ के गले में एक बहुत ही सुन्दर रत्नों का हार पड़ा हुआ देखा, उसे देखते ही मगधसुन्दरी उस हार पर मुग्ध हो गई, उस हार के प्राप्त किये बिना उसको अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होने लगा। समस्त संसार उसे हार-मय दिखाई देने लगा। वह उदास मुख होकर अपने घर पर लौट आयी। जब रात्रि के समय उसका प्रेमी विद्युत् चोर उसके घर पर आया, तब वह मगधसुन्दरी का उदास मुख देखकर बड़े प्रेम के साथ पूछने लगा हे प्रिय ! मैं आज तुमको उदासमुख देख रहा हूँ। इसका क्या कारण है, मुझे सत्य-सत्य बताइये क्योंकि तुम्हारी यह उदासी मुझे अत्यन्त दुःखी कर रही है। तब मगधसुन्दरी ने विद्युत् चोर पर कटाक्ष बाण चलाते हुए कहा प्राणवल्लभ ! तुम मुझ पर इतना प्रेम करते हो, पर मुझको तो जान पड़ता है कि यह सब तुम्हारा दिखाऊ प्रेम है और यदि तुम्हारा मुझ पर सच्चा प्रेम है तो श्रीकीर्ति के गले का हार जिसे कि आज मैंने बगीचे में देखा है, लाकर मुझे दीजिये, जिससे मेरी मनोकामना पूर्ण हो। वह हार बहुत ही सुन्दर है। मेरा तो विश्वास है कि वह, अद्वितीय हार एक ही है। आप यदि उसे लाकर दें तभी मैं समझूंगी कि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं और तब ही मेरे प्राणवल्लभ होने के अधिकारी हो सकेंगे, अन्यथा नहीं।

विद्युत् चोर मगधसुन्दरी की ऐसी कठिन प्रतिज्ञा सुनकर पहले तो कुछ हिचका, पर साथ ही उसके प्रेम ने उसे हार चुराकर लाने को बाध्य किया। उसे अपने जीवन की भी कुछ परवाह न करके इस कठिन कार्य के लिए भी तत्पर होना पड़ा। वह उसे संतोष देकर उसी समय वहाँ से हार चुराने के लिए श्रीकीर्ति सेठ के महल पहुँचा। उसने उनके शपनागार में पहुँचकर उनके गले में से अपनी कार्यकुशलता के साथ हार निकाल लिया। फिर बड़ी शीघ्रता से वहाँ से चलता बना। वह पहरेदारों के मध्य में से साफ निकल जाता पर अपने दिव्य तेज से घोर अन्धकार का नाश करने वाले हार ने उसके परिश्रम पर कुछ भी दृष्टि न देकर उसके प्रयत्न को सफल न होने देने के लिये अपने दिव्य प्रकाश को न रोका। इससे उसे भागते हुए सिपाहियों ने देख लिया और फिर उसे पकड़ने को दीड़े विद्युत् चोर भी खूब तीव्रता से भागा और भागता-भागता रमशान की ओर जा निकला। उस समय वारिषेण वहाँ कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। विद्युत् चोर ने वहाँ ही उचित मौका देकर अपने पीछे आने वाले सिपाहियों के पंजे से छूटने के लिये उस द्वार की वारिषेण के आगे डाल दिया और वहाँ से भाग गया। इतने में सिपाही भी वहाँ आ पहुँचे। वे सिपाही ध्यान में स्थित वारिषेण को द्वार के पास खड़े देखकर भौंचके से रह गये। वे उसे उस अवस्था में देखकर हँसे और बोले—वाह! चाल तो खूब खेली। मानों हम तो कुछ जानते ही नहीं मुझे धर्मात्मा और ध्यानी जानकर सिपाही छोड़ जाँगे ऐसा सोच रहे हो पर याद रखिए। हम लोग अपने स्वामी की सच्ची नौकरी करते हैं। हम तुमको कभी नहीं छोड़ेंगे।

यह कह कर वारिषेण को बाँधकर राजा श्रेणिक के पास ले गये और कहने लगे—महाराज! ये हार चुराकर लिये जा रहे थे। अतः हमने इन्हें पकड़ लिया। यह सुनते ही राजा श्रेणिक के हृदय में क्रोध का आवेश हो गया और उनका चेहरा लाल हो गया। आँखों से क्रोधाग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्होंने सिंह के समान गरज कर कहा—देखो! इस पापी का नीच कर्म, जो रमशान में जाकर ध्यान करता है और लोगों को यह दिखलाकर कि मैं बड़ा धर्मात्मा और ध्यानी हूँ, ठगता है। धोखा देता है। रे पापी! कुल कलंक! देखा मैंने तेरे धर्म का ठोंग। सच कहा है कि दुराचारी मनुष्य लोगों को धोखा देने के लिये क्या अनर्थ नहीं करते? जिसको मैं राज्य सिंहासन पर बैठाकर जगत् का अधीश्वर बनाना चाहता था, अच्छा जो इतना दुराचारी है, प्रजा को धोखा देकर ठगता है उसे यहाँ से ले जाकर इसका मस्तक छेदन कर दो! अपने खास पुत्र के लिये ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सब चित्रलेख से होकर श्रेणिक महाराज की ओर देखने लगे सबकी आँखों में पानी भर आया—पर किसका साहस, जो उनकी आज्ञा का प्रतिवाद कर सके। जल्दा उसी समय वारिषेण को वध्यभूमि में ले गये और उसी समय उनमें से एक ने खड्ग निकालकर उनकी गर्दन पर मारा। पर कैसा आश्चर्य! उनकी गर्दन पर बिल्कुल घाव नहीं हुआ, अपितु वारिषेण को उल्टा यह जान पड़ा मानों किसी ने उस पर फूलों की माला फेंकी हो। जल्दा लोग देखकर दाँतों तले उंगली दबा गये। वारिषेण के पुण्य ने उस समय इसकी रक्षा की। सच कहा है—

बने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा।

सुप्तं प्रसन्नं विषमस्थित वा रक्षंति पुण्यानि पुरास्कृतानि ॥

अर्थात् निर्जन वन, रण, (संग्राम) शत्रु, जल; अग्नि इनके मध्य में, तथा महार्णव के मध्य में, पर्वत के शिखर पर, सुषुप्तावस्था में, विकराल विषम स्थान में स्थित होने पर पूर्वोपाजित पुण्य कर्म रक्षा करता है। और धर्मात्मा व पुण्यवान् मनुष्यों को कहीं कष्ट नहीं होता। उनके पुण्य के प्रभाव से दुःख रूपी सामग्री भी सुख रूप में परिणित हो जाती है।

यथोक्तं—

अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं भूतले, समुद्र स्थलतामेति बुद्धिं च सुधायते (१)

शत्रु मित्रत्वमाप्नोति विपत्तिः सम्पदायते

तस्मान्सुखं विपत्तिः भव्योः पुण्यं कुर्वतु निर्मलम् । (२)

अर्थात् पुण्य के उदय से हवन से उत्तेजित ऊपर को उड़ रहे हैं स्फुलिंग जिसके, ऐसी तीव्राग्नि भी जल रूप हो जाती है, भयंकर विकराल समुद्र स्थवरूप हो जाता है। प्राणों का घातक हलाहल विष अमृत हो जाता है। अपने नाममात्र के उच्चारण को श्रवण करने में असमर्थ ऐसे शत्रु मित्र हो जाते हैं। दुःख चिंता रूपी ज्वालाओं से मन को संतप्त करने वाली विपत्ति संपत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इसलिए जो मनुष्य सुख की इच्छा करते हैं, उनको पवित्र कार्यों द्वारा पुण्योत्पादन करना चाहिए। जिन भगवान् के चरण कमलों की पूजा करना, चतुर्विध दान देना, व्रत उपवास करना, स्वाध्याय करना, परोपकार करना, सब जीवों को अभयदान देना, सदा मायाचार रहित पवित्र चित्त रहना, पंचपरमेष्ठी की भक्ति करना, हिंसा, भूठ, चोरी आदि पाप कर्मों का न करना, पुण्य उत्पन्न होने के कारण हैं। वारिषेण की यह आश्चर्यजनक अवस्था देखकर सब उसकी जयजयकार करने लगे। देवों ने प्रसन्न होकर जयजयकार उच्चारण करते हुए उन पर सुगंधित फूलों की वर्षा की। नगर निवासियों को इस समाचार के सुनने से बड़ा आनन्द हुआ। सबने एक स्वर में कहा वारिषेण तुम धन्य हो। वास्तव में तुम साधु पुरुष हो। तुम्हारा चरित्र बहुत निर्मल है। तुम जिन भगवान् के सच्चे सेवक हो। तुम पवित्र और पुरुषोत्तम हो। तुम जैन धर्म के सच्चे पालन करने वाले हो। पुण्यपुरुष ! तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाए उतनी थोड़ी है। सच है, पुण्य के प्रभाव से क्या नहीं होता ?

महाराजा श्रेणिक ने जब इस अलौलिक घटना का वृत्तांत सुना तो उनको भी इस अपने बिना विचारे किये हुए कृत्य पर बहुत पश्चाताप हुआ। वे दुःखी होकर बोले—

ये कुर्वन्ति जडात्मानः कार्यं लोकेऽविचार्य च

ते सीदन्ति महतोऽपि भावशा दुःख सागरे ।

अर्थात् जो मूर्ख लोग आवेश में आकर बिना विचारे किसी कार्य को कर बैठते हैं वे फिर बड़े ही क्यों न हों, उनको मेरी तरह से दुःख सागर में पड़ना पड़ता है। अतएव चाहे कैसा भी काम क्यों न हो, उसकोबड़े विचार के साथ करना चाहिये।

श्रेणिक महाराज इस प्रकार बहुत कुछ पश्चाताप करके अपने पुत्र वारिषेण के पास बध्यभूमि में आये। वारिषेण की पुण्यमूर्ति को देखते ही उनका हृदय पुत्र प्रेम से भर आया। उनकी आँखों से अश्रुपात होने लगे। बड़े प्रेम के साथ उसने अपने पुत्र को छाती से लगाया और रोते हुये कहने लगे—प्यारे पुत्र ! मेरी मूर्खता को क्षमा करो। मैं क्रोध के आवेश में आकर अंधा हो गया अर्थात् विचारहीन हो गया था। इसलिए पूर्वापर का कुछ विचार न करके मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। हे पुत्र ! पश्चाताप रूपी अग्नि में मेरा हृदय जल रहा है। उसे अपने क्षमा रूपी जल से शान्त कर दो। मैं दुःख रूपी सागर में डूबा हुआ गोते खा रहा हूँ। मुझे अब कृपा रूपी सहारा देकर निकालो। अपने पूज्य पिता की यह हालत देखकर वारिषेण को बहुत कष्ट हुआ। वह बोला पिता जी ! आप यह क्या कहते हैं ? आप अपराधी कैसे ? आपने तो अपने कर्त्तव्य का पालन किया है अपने कर्त्तव्य का पालन करना कोई अपराध नहीं। न्यायी पुरुषों का यही धर्म है कि चाहे अपना पुत्र हो या भाई तथा कैसा ही स्नेही क्यों न

हो, उसको अपराध करने पर अवश्य ही यथायोग्य दण्ड देते हैं। पक्षपात कदाचित् नहीं करते। जैसे नीतिकार ने कहा है—

दण्डो हि केवलीहलोकमिमं चामुञ्च रक्षति ।

राजा शत्रो च पुत्रे च यथा दोषं शमं धृतः ।

अर्थात् चाहे राजा का शत्रु हो अथवा पुत्र हो, उसके किए हुए दोष के अनुसार दण्ड देना ही राजा को इस लोक और परलोक में रक्षा करता है। मान लीजिए कि यदि आप पुत्र-प्रेम के बश होकर मेरे लिए दण्ड की प्रज्ञा न देते तो उससे ज्ञात क्या समझती? चाहे मैं अपराधी नहीं भी था, तब भी क्या प्रजा इस बात को देखती? कदापि नहीं। वह तो यही समझती कि राजा ने अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया। पिताजी! आपने बहुत बुद्धिमानी का कार्य किया है। आपकी नीति परायणता को देखकर मेरा हृदय आनन्द समुद्र में मग्न हो रहा है। आपने आज पवित्र वंश को लाज रख ली। यदि आप ऐसे समय में जरा भी अपने कर्त्तव्य से शिथिल हो जाते तो सदा के लिये कुल को कलंक का टीका लग जाता। इसलिए आपको तो प्रसन्न होना चाहिए न कि दुःखी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि मेरा इस समय पाप कर्म का उदय था जो मुझे निरपराधी होते हुए भी अपराधी बनना पड़ा, परन्तु मुझे इस बात का किंचित भी खेद नहीं क्योंकि—

‘अवश्य मेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।’

जो जैसा शुभाशुभ कर्म करता है उसको तदनुसार शुभाशुभ फल भी अवश्य भोगना पड़ता है। फिर मेरे लिए कर्मों का फल भोगना कोई नई बात नहीं है।

पुत्र के ऐसे उन्नत और उदार विचार सुनकर श्रेणिक बहुत आनन्दित हुए और सब दुःखों को विस्मरण कर कहने लगे—पुत्र! सत्पुरुषों ने बहुत ठीक लिखा है—

चंदनं धूयमाणं च दह्यमानो यथाऽगुरुः

न याति विक्रियां साधुः पीडितोऽपि तथाऽपरः ॥

अर्थात् चंदन को कितना भी घिसिये, अगरु को खूब जलाइये, उससे उनका कुछ न बिगड़ कर उल्टी उनमें से सुगंध निकलती है। उसी प्रकार सत्पुरुषों को दुष्ट लोग कितना भी सतावें, कितना ही कष्ट दें, पर वे उससे कुछ भी विकृत अवस्था को प्राप्त न होकर सदा शान्त रहते हैं और अपने को कष्ट देने वाले पर प्रत्युपकार ही करते हैं। वारिषेण के पुण्य का प्रभाव देखकर विद्युत् चोर को बहुत भय हुआ। उसने सोचा कि यदि राजा को मेरा इनके चरणग्र भूमि में हार फेंकने का वृत्तांत मालूम हो जाएगा तो मुझे बहुत कठोर दण्ड देंगे। इससे मैं स्वयं ही जाकर उनसे सब सत्य-सत्य वृत्तांत कह दूँ जिससे कदाचित् मुझको वे क्षमा कर दें। ऐसा विचार कर विद्युत् चोर राजा के सम्मुख उपस्थित होकर हाथ जोड़ सविनय निवेदन करने लगा—महाराज! यह सब पाप कर्म मेरा है। पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष है। पापिन वेश्या के मोहजाल में फँसकर यह नीच कृत्य मैंने किया था। पर आज से मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा। मुझे दयाकर क्षमा कीजिए।

राजा श्रेणिक विद्युत् चोर को अपने नीचकर्म के पश्चात्ताप से दुःखित देखकर अभयदान देकर अपने प्रिय पुत्र वारिषेण से बोले—पुत्र! अब राजधानी में चलो। तुम्हारी माता तुम्हारे वियोग से बहुत दुःखी हो रही होगी। अपने दर्शन देकर उनके नेत्रों को तृप्त करो। तब सांसारिक विषय भोगों से पराङ्मुख वारिषेण अपने पूज्य पिता के इन स्नेह युक्त वचनों को सुनकर बोले—‘हे पिता! मुझको क्षमा कीजिए। मैंने संसार की लीला बहुत देख ली। मेरी आत्मा अब उसमें प्रवेश करने के लिए मुझे रोकती

है। अतएव आप मुझसे घर पर चलने का आग्रह न करके अब मुझे शीघ्र ही उस अखंड अविनाशी चिर-स्थायी सच्चा आत्मीक सुख प्राप्त करने की सीढ़ी जिनदीक्षा लेने की आज्ञा दीजिए क्योंकि प्रथम तो इस काल में आयु ही बहुत न्यून है और उसमें से बहुत भाग तो पहले ही व्यतीत हो चुका और शेष भी अब पल, घड़ी, पहर, दिन, पक्ष, मासादि करके व्यतीत होता जाता है तथा गया हुआ समय कोटि प्रयत्न करने पर भी वापिस नहीं आ सकता। इसलिए अब विलंब करना उचित नहीं है। आज्ञा हो जिन भगवान् के चरणों का आश्रय ग्रहण करूँगा। सुनिये, अब से मेरा कर्तव्य होगा कि मैं सदैव वन में रहकर मुनि मार्ग पर चलता हुआ निर्दोष शुद्ध आहार अपने पाणि पात्र में लूँगा। निजात्मध्यान में लवलीन हो आत्म-हित करूँगा। मुझे अब यह संसारदुःखमय और केलि के स्तम्भवत् निस्सार मालूम पड़ता है। इसलिए मैं जानबूझ कर अपने को दुःखों में फँसाना नहीं चाहता क्योंकि हाथ में दीपक लेकर भी यदि कोई कूप में गिरना चाहे तो उस दीपक से क्या लाभ? मुझे अक्षरों का ज्ञान है। और संसार की लीला से भी परिचित हूँ। इतना होते हुए भी यदि मैं इसमें फँसा रहूँ तो मुझ जैसा कौन मूर्ख होगा? मैं आपकी आज्ञा का उत्लंघन कर विरोध कर रहा हूँ अतः मुझे आप क्षमा कीजिए।”

ऐसा कह पिता को नमस्कार कर वारिषेण उसी समय वन की ओर चल दिए और सुखदेव मुनि के पास जाकर उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। तपस्वी बनकर वारिषेण मुनि बड़ी दृढ़ता के साथ मुनियों का चारित्र्य निरतिचार पालन करते हुए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगे। वे अनेक देश विदेशों में घूमकर धर्मोपदेश करते हुए एक बार पलाशकूट नामक नगर में पहुँचे। वहाँ उस नगर में श्रेणिक का.मन्त्री अग्निभूति रहता था। उनके पुत्र का नाम पुष्पडाल था। वह बहुत धर्मात्मा था और दान, पूजा, व्रत आदि शुभ कार्यों में सदैव तत्पर रहता था। वह वारिषेण मुनि को भिक्षार्थ आते हुए देखकर प्रसन्नतापूर्वक उनके सम्मुख आया और भक्तिपूर्वक आह्वान कर उसने नवधाभक्तिपूर्वक हर्ष के साथ मुनि को प्रासुक भोजन कराया। आहार करके जब वारिषेण मुनि वन में जाने लगे तब पुष्पडाल मन्त्री पुत्र भी कुछ तो भक्ति से, कुछ बाल्यावस्था की मित्रता के सम्बन्ध से और कुछ राजपुत्र के लिहाज से थोड़ी दूर उन्हें पहुँचा आने के लिए अपनी स्त्री से पूछ कर उनके पीछे-पीछे चल दिया। दूर तक जाने की इच्छा न होते हुए भी वह मुनि के साथ-साथ चला गया क्योंकि उसे विश्वास था कि थोड़ी दूर जाने के पश्चात् वे मुझे लौट आने के लिए कहेंगे ही, पर मुनि ने उससे कुछ नहीं कहा तो उसकी चिन्ता बढ़ गई। उसने मुनि को यह समझाने के लिए कि मैं नगर से अधिक दूर आ गया हूँ, मुझे घर पर शीघ्र वापिस जाना है, कहने लगा—कुमार! यह वही सरोवर है जहाँ हम और आप खेला करते थे। यह वही छायादार और उन्नत आम्रवृक्ष है जिसके नीचे आप और हम बाललीला का सुख लेते थे।

इस प्रकार के अपने पूर्व परिचित चिन्हों को बार-बार दिखलाकर पुष्पडाल ने मुनि का ध्यान अपने दूर निकल आने की ओर आकर्षित करना चाहा, पर मुनि उसके हृदय की बात जानकर भी उसे लौट आने को न कह सके क्योंकि उनका वैसा मार्ग नहीं था। इसके प्रतिकूल उन्होंने पुष्पडाल के कल्याण की इच्छा से उसे खूब वैराग्य का उपदेश दे देकर जिन-दीक्षा दे दी। पुष्पडाल मुनि हो गया और संयम का पालन करने लगा। वह शास्त्राभ्यास भी करने लगा परन्तु तब भी उसकी विषय वासना मिटती नहीं। उसको बार-बार अपनी स्त्री स्मरण आने लगी। आचार्य कहते हैं कि—

यिक्कामं थिड् महामोहं
थिड् भोगान्येस्सतवंचितः।
सन्मार्गोपि स्थितो जन्तु-
न जानाति निजं हितम्।

अर्थात् उस काम को, उस मोह को और उन भोगों को धिक्कार है जिनके वश होकर उत्तम मार्ग में चलने वाले भी अपना हित नहीं कर पाते। यही हाल पुष्पडाल का हुआ जो मुनि होकर भी अपनी स्त्री को हृदय से न भुला सका। इस प्रकार पुष्पडाल को बारह वर्ष व्यतीत हो गये। उसकी तपश्चर्या सार्थक होने के लिए गुरु ने उसे तीर्थ यात्रा कर आने की आज्ञा दी और उसके साथ स्वयं भी चल दिए।

वे दोनों मुनि तीर्थ यात्रा करते-करते एक दिन भगवान महावीर के समवशरण में पहुँचे। भगवान को उन्होंने भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। उस समय गंधर्व देव भगवान की भक्ति कर रहे थे। उन्होंने काम की निंदा में एक पद्य पढ़ा। वह पद्य यह था—

महल कुचली दुम्मणी णाहेपवसिघण,
कह जोवे सहसणिय धर उभते बिरहेण ॥

अर्थात् स्त्री चाहे मैली हो, कुचली हो, हृदय की मलिन हो पर वह भी अपने पति के प्रवासी होने पर, विदेश में रहने पर नहीं जीकर पति वियोग से वन-वन पर्वतों-पर्वतों में मारी फिरती है अर्थात् काम के वश होकर न करने योग्य काम भी कर डालती है।

उक्त पद्य को सुनते ही पुष्पडाल मुनि भी काम से पीड़ित होकर अपनी स्त्री की प्राप्ति के लिए व्रत से उदासीन होकर अपने नगर की ओर चले गये। वारिषेण मुनि भी उनके हृदय की बात जानकर उनको धर्म में दृढ़ करने के लिए उनके साथ-साथ चल दिए। शिष्य सहित वारिषेण मुनि भी नगर में पहुँचे। उन्हें देखकर चेलना रानी ने सोचा कि मालूम होता है पुत्र चारित्र्य से चलायमान हो गया है नहीं तो इस समय इनके यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? यह विचार कर उनकी परीक्षा के लिए उनके बैठने को एक काष्ठ का और दूसरा रत्न जड़ित ऐसे दो सिंहासन दिए। वारिषेण मुनि रत्न जड़ित सिंहासन पर न बैठकर काष्ठ के सिंहासन पर बैठे। सच है सच्चे मुनि ऐसा कार्य नहीं करते जो आचरण में संदेहजनक हो। इसके पश्चात् वारिषेण मुनि अपनी माता का संदेह दूर करने के लिए कहा—माताजी, कुछ समय के लिए मेरी सब स्त्रियों को तो यहाँ बुलावा लीजिए।

महारानी ने वैसा ही किया। वारिषेण की समस्त स्त्रियाँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर मुनि के सम्मुख उपस्थित होकर उनके चरणारविंदों को नमस्कार कर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगीं। वारिषेण ने अब अपने शिष्य पुष्पडाल मुनि से कहा—देखो! ये मेरी स्त्रियाँ हैं, यह राज्य है यह सम्पत्ति है, यदि तुम्हें ये अच्छी जान पड़ती हैं और तुम्हारा संसार से प्रेम है तो इन सबको तुम स्वीकार करो।

वारिषेण की यह आश्चर्य में डाल देने वाली बात सुनकर पुष्पडाल को बड़ा खेद हुआ वह गुरु के चरणों को नमस्कार कर कहने लगा—प्रभो! आप धन्य हैं। अपने ही लोभरूपी भिषाच को नष्ट कर जिन धर्म का सच्चा सार समझा है। कृपासागर! वास्तव में मैं तो जन्मांध हूँ। इसीलिए तो तप रत्न को प्राप्त करके भी अपनी स्त्री को चित्त से पृथक् नहीं कर सका! प्रभो! मुझ पापी ने बारह वर्ष व्यर्थ व्यतीत कर दिये। आत्मा को कष्ट पहुँचाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। स्वामी! मैं बहुत अपराधी हूँ। अतएव कृपया प्रायश्चित्त देकर पवित्र कीजिए।

पुष्पडाल के भावों का परिवर्तन और कृतकर्म के पश्चात्ताप से उनके परिणामों की कोमलता व पवित्रता देखकर वारिषेण मुनिराज बोले धीर! इतने दुःखी न बनिए। पाप कर्मों के उदय से कभी-

कभी अच्छे-अच्छे बुद्धिमान भी हतबुद्धि हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह अच्छा हुआ जो तुम अपने मार्ग पर आ गये।

इसके पश्चात् उन्होंने पुष्पडाल मुनि को उचित प्रायश्चित्त देकर फिर उनका धर्म में स्थिति करण किया। पुष्पडाल मुनि गुरु महाराज की कृपा से अपने हृदय को शुद्ध कर महःवैराग्य परिणामों से कठिन से कठिन तपस्या करने लगे।

इसी प्रकार अज्ञान व मोह से कोई धर्मात्मा धर्म रूपी पर्वत से पतित होता हो तो उसे आलम्बन देकर न गिरने देना ही स्थितिकरण है। जो धर्मज्ञ पुरुष इस पवित्र अंग का पालन करते हैं वे मानों स्वर्ग और मोक्ष सुख को प्रदान करने वाले धर्मवृक्ष को सींचते हैं। शरीर, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदि विनाशीक पदार्थों की रक्षा भी जब समय परक उपकारी हो जाती है तो अनन्त सुख प्रदान करने वाले धर्म की रक्षा से कितना महत्त्व होगा, यह सहज में ही जाना जा सकता है। अतएव धर्म प्रेमी सज्जनों के लिए उचित है कि दुःखदायी प्रमाद को छोड़कर संसार समुद्र से पार करने वाले धर्म का सेवन करें।

॥ इति स्थितिकरणाङ्गे वारिषेण श्रीमुनेः कथा समाप्ता ॥

॥ अथ सप्तम् वात्सल्यांगस्वरूप व कथा प्रारम्भः ॥

धर्म और धर्मात्माओं में अन्तःकरण से अनुराग करना, भक्ति तथा सेवन करना इन पर किसी प्रकार का उपसर्ग या संकट आने पर अपनी शक्ति भर उसके हटाने का प्रयत्न करना और निष्कपट गोवत्सल प्रीति करना वात्सल्यत्व गुण है। सम्यग्दर्शन के सातवें वात्सल्यांग के पालन करने में प्रसिद्ध होते गये श्री विष्णुकुमार मुनिराज की कथा उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है—

॥ अथ कथारंभः ॥

इस ही भारत क्षेत्र में अवंतिदेश के अन्तर्गत उज्जयिनी नाम की एक प्रसिद्ध मनोहर नगरी है। जिस समय की एक कथा है, उस समय वहाँ के राजा श्रीवर्मा थे। वे बड़े धर्मात्मा विचारशील, बुद्धिमान, शास्त्रवेत्ता और नीतिपरायण थे। उनकी महारानी का नाम श्रीमती था। वह भी विदुषी थी और उस समय की स्त्रियों में प्रधान समझी जाती थीं। वह बड़ी दयालु थी और सदैव दीन दुःखी दरिद्रियों के दुःख दूर करने में तत्पर रहती थीं।

बलि, बृहस्पति प्रह्लाद और नमुचि ये चार श्रीवर्मा के राज्यमंत्री थे। ये चारों ही धर्म के कट्टर शत्रु थे। इन पापी मन्त्रियों से युक्त राजा ऐसे मालुम होते थे मानों सपों से युक्त चन्दन का वृक्ष हो। एक दिन ज्ञानी अकम्पाचार्य देश विदेश में पर्यटन कर भव्य पुरुषों को धर्मोपदेश रूपी अमृतपान कराते हुए उज्जयिनी में आये। उनके साथ सात सौ मुनियों का बड़ा भारी संघ था। वे नगर के बाहर पवित्र भूमि में ठहरे। अकम्पाचार्य को निमित्त ज्ञान से उज्जयिनी की स्थिति अनिष्टकर जान पड़ी। इसलिए उन्होंने अपने संघ से कह दिया—देखो! राजा आदि कोई दर्शनार्थ आवे तो उनसे वाद-विवाद न कीजियेगा, अन्यथा सारा संघ कष्ट में पड़ जायेगा अर्थात् उस पर घोर उपसर्ग होगा। गुरु की आज्ञा मान सभी मुनि मौन पूर्वक ध्यान करने लगे। सच है—

शिष्यास्ते प्रणश्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः।

प्रीतितौ विद्योवेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत् ॥

अर्थात् शिष्य वे ही प्रशंसा के पात्र हैं जो विनय और प्रेम के साथ अपने गुरु की आज्ञा पालन करते हैं। इसके विपरीत चलने वाले कुपुत्र के समान निंदा के पात्र हैं।

नगर निवासी अकम्पनाचार्य के आगमन का समाचार सुनकर अष्टद्वय ले भक्ति पूर्वक आचार्य की बन्दना के निमित्त जाने लगे। आज एकाएक लोगों के आनन्द की धूमधाम देखकर महल पर बैठे हुए श्रीधर्म ने अपने मंत्रियों से पूछा—ये सब लोग आज ऐसे सजधज कर कहीं जा रहे हैं ?

उत्तर में मंत्रियों ने कहा—महाराज ! सुना जाता है कि अपने नगर में जैन साधु आये हुए हैं। ये सब उनको पूजने के लिये जाते हैं।

राजा ने प्रसन्नता के कहा—‘तब तो उनके दर्शन के लिये हमको भी चलना चाहिये वे महा-पुरुष होंगे।’

यह विचार कर राजा भी मंत्रियों को साथ लेकर आचार्य महाराज के दर्शन करने गये। उन्हें आत्मलीन ध्यान में देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने क्रम से एक-एक मुनि को भक्ति पूर्वक नमस्कार किया सब मुनि अपने आचार्य की आज्ञा के अनुसार मौन रहे। किसी ने भी उनकी धर्मवृद्धि न दी। राजा आचार्य की बन्दना कर वापस चल दिए। लौटते समय मंत्रियों ने राजा से कहा—‘महाराज ! देखा, साधुओं को। बेचारे बोलना तक भी नहीं जानते। सब नितांत मूर्ख हैं। यही तो कारण है कि सब मौन बैठे हुये हैं।’

इस प्रकार परमशक्ति मुनिराजों की निन्दा करते हुए ये मलिनहृदयी मन्त्री राजा के साथ वापिस आ रहे थे। कि रास्ते में इन्हें एक मुनि मिल गये जो कि नगर से बाहार करके वन की ओर जा रहे थे। मुनि को देखकर इन पापियों ने उनकी हंसी की। वे बोले—महाराज ! देखिये, वह एक बैल ग्रीर पेट भर कर घला आ रहा है।

मुनि ने मंत्रियों के निन्दा वचनों को मुन लिया। सुनकर भी उनका कर्त्तव्य था कि वे शान्त रह जाते, परन्तु वे शान्त न रह सके। कारण कि वे भोजन के लिए नगर में चले गये थे इसलिए उन्हें अपने आचार्य महाराज की आज्ञा मालूम न थी। मुनि ने यह सोचकर, कि इनको अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है, मैं इसे चूर्ण करूंगा, कहा—‘तुम व्यर्थ क्यों किसी की निन्दा करते हो ? यदि तुम में कुछ विद्याबल है तो मुझसे शास्त्रार्थ करो। फिर तुमको आत हो जायेगा कि बैल कौन है।’

भला वे भी तो राजा के मन्त्री थे और उनके हृदय में कटुता भरी हुई थी, फिर वे कैसे एक अकिंचन्य साधु के वचनों को सह सकते थे। मुनि से उन्होंने शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। अभिमान में आकर उस समय उन्होंने कह तो दिया पर शास्त्रार्थ हुआ तब उनको भली-भाँति आत हो गया कि शास्त्रार्थ करना बच्चों का सा खेल नहीं है। एक ही मुनि ने अपने स्याद्वाद को बल से बात की बात में चारों मंत्रियों को परास्त कर दिया। सच है एक ही सूर्य समस्त संसार के घोर अन्धकार को नाश करने में समर्थ होता है। श्रुतसागर मुनि ने विजय लाभ कर अपने आचार्य के पास जाकर मार्ग की सब घटना ज्यों की त्यों कह सुनाई। आचार्य बोले—‘तुमने बहुत बुरा किया जो उनसे शास्त्रार्थ किया। तुमने अपने हाथों से सारे संघ का घात किया। संघ की अब कुशल नहीं है। अब जो हुआ सो हुआ। अब यदि तुम सारे संघ की जीवन रक्षा चाहते हो तो पीछे जाओ और जहाँ तुम्हारा राजमंत्रियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था, वहीं कायोत्सर्गस्थित होकर ध्यान करो।’

अपने आचार्य की आज्ञा को सुनकर श्रुतसागर मुनिराज परिणामों में किंचित मात्र भी विकलता न लाकर संघ रक्षा के लिए निशंक हो उसी समय वहाँ से चल दिये। शास्त्रार्थ के स्थान पर आकर वे मेरुवत्निवृत्त होकर श्रेयपूर्वक कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे। शास्त्रार्थ में मुनि से पराजित चारों मन्त्री अपने हृदय में बहुत लज्जित हुए। अपने मान-भंग का बदला चुकाने का विचार कर मुनि का प्राणति

करने के लिए वे चारों अर्द्धरात्रि के समय नगर से बाहर निकले। मार्ग में उनको शास्त्रार्थ होने के स्थान पर श्रुतसागर मुनि कायोत्सर्ग ध्यान करते हुए मिले। पहले उन्होंने अपना मानभंग करने वाले को ही परलोक पहुंचा देना चाहा उन्होंने मुनि का मस्तक छेदन करने को अपना-अपना खड्ग ध्यान से निकाला और उनका काम-तमाम करने के लिए उन्होंने एक साथ उन पर वार करना चाहा कि इतने में ही मुनि के पूर्वोपाजित पुण्य कर्म के प्रभाव से पुरदेवी ने उपस्थित होकर उन चारों राजमन्त्रियों को तलवार हाथ में उठाये हुए पापाण के स्तम्भ के समान कर दिया अर्थात् उन्हें खड्ग उठाए हुए ज्यों का त्यों स्थिर कर दिया।

प्रातःकाल होते ही सूर्य की किरणों की तरह सारे नगर में मन्त्रियों के इस दुष्ट कर्म का वृत्तान्त फैल गया। नगर के सब मनुष्य और राजा भी देखने को आये। सबने उन्हें एक स्वर से धिक्कारा राजा ने भी उन्हें धिक्कार कर कहा—'पापियों! जब तुमने मेरे सम्मुख इन निर्दोष और जीव-मात्र का उपकार करने वाले मुनियों की हिंसा की थी, तब मैं तुम्हारे विश्वास पर निर्भर रहकर यह समझा था कि सम्भव है मुनि लोग ऐसे ही हों। पर आज मुझे तुम्हारी नीचता का ज्ञान हुआ। तुम इन्हीं निर्दोष साधुओं की हत्या करने को आये थे पापियो! तुम्हारा मुंह देखना अच्छा नहीं। तुम्हारे इस घोर कर्म का दण्ड तो यही होना चाहिये जिसके लिए तुम यहां आये थे, पर पापियों! तुम ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हो और तुम्हारी कितनी ही पीढ़ियां मेरे यहां मन्त्री पद पर प्रतिष्ठा पा चुकी हैं। इस कारण तुम सबको प्राणांत करने का दण्ड न देकर अपने नौकरों को आज्ञा देता हूं कि वे तुम्हें गंधों पर बँठाकर मेरे देश की सीमा से बाहर कर दें।

राजा की आज्ञा का उसी समय पालन हुआ। चारों मन्त्री उसी समय निकाल दिये गये। सब है पापियों की ऐसी दशा होना उचित ही है। धर्म के ऐसे प्रभाव को देखकर लोगों के आनन्द का ठिकाना न रहा। उन्होंने हर्षित होकर जय-जय ध्वनि के मारे आकाश-पाताल एक कर दिया। मुनि संघ का उपद्रव टला। सब के स्थिर चित्त हुए। अकम्पनाचार्य भी उज्जैनी से विहार कर गये।

हस्तिनापुर नाम का एक शहर है उसके राजा महापद्म और उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उसके पद्म और विष्णु नाम के दो पुत्र हुए। एक दिन राजा संसार की दशा पर विचार कर रहे थे। उसकी अनित्यता और निस्सारता देखकर उन्हें बहुत वैराग्य हुआ। उनको संसार दुःखमय दिखाई देने लगा। वे उसी समय अपने बड़े पुत्र विष्णुकुमार के साथ वन में चले गये और श्रुतसागर मुनिराज के पास दोनों ने दीक्षा ग्रहण कर ली। विष्णुकुमार बालपन से ही संसार से विरक्त थे, इसलिए पिता के रोकने पर भी वे दीक्षित हो गये। विष्णुकुमार मुनि बनकर घोर तपश्चर्या करने लगे। कुछ दिनों पश्चात् तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गयी। पिता के दीक्षित होने पर हस्तिनापुर का राज्य पद्मराज करने लगे। उन्हें सब सुख प्राप्त होने पर भी एक बात का बड़ा दुःख था। वह यह कि कुम्भपुर का राजा सिंहबल के अधिकार में एक बड़ा भारी सुदृढ़ दुर्ग (किला) था इसलिये वह अधानक आकर पद्मराज के राज्य में उपद्रव फैलाकर अपने दुर्ग में जा छिपता था। इसलिए पद्मराज उसका कुछ उपाय नहीं कर सकने के कारण बहुत चिन्तातुर रहता था। इसी समय श्री वर्मा के चारों मन्त्री उज्जयनी से निकलकर कुछ दिनों पश्चात् हस्तिनापुर की ओर आ निकले। उन्हें राजा के इस गुप्त दुःख का भेद लग गया इसलिये वे राजा से मिले और उनको इस दुःख से मुक्त करने का वचन देकर कुछ सेना लेकर सिंहबल पर जा चढ़े और अपनी बुद्धिमानी से किले को तोड़ सिंहबल को बाँध कर पद्मराज के सम्मुख लाकर उपस्थित कर दिया। पद्मराज ने प्रसन्न होकर उनको मन्त्रीपद प्रदान किया और कहा कि

तुमने मेरा बहुत उपकार किया है, इसलिये मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ। यद्यपि उसका प्रतिकूल दिया नहीं जा सकता तथापि तुम को जो रुचिकर हो सो मैं देने को तैयार हूँ।

उत्तर में बलि नाम के मन्त्री ने कहा—

महाराज ! जब आपको हम पर कृपा है तो हमको सब कुछ मिल चुका। इस पर भी आप्रह है तो हम उसे अस्वीकार भी नहीं कर सकते। अभी हमें कुछ आवश्यकता नहीं है। जब समय होगा तब आप से प्रार्थना करेंगे।

इसी समय अकम्पनाचार्य अनेक देशों में विहार करते-करते हस्तिनापुरके उपवन में आकर ठहरे। सब लोग उनके आगमन का समाचार सुन कर हर्षपूर्वक वंदना करने को गये। जब उनके आने का समाचार राज-मंत्रियों ने सुना तो उनको उसी समय अपने अपमान का स्मरण हो आया और परस्पर विचारने लगे कि देखो ! हमें इन्हीं दुष्टों के द्वारा कितना दुख उठाना पड़ा था अतएव इनसे बदला चुकाने के लिए कोई यत्न करना आवश्यक है पर राजा इनका परम भक्त है वह अपने होते हुए इन का अनिष्ट कैसे होने देगा। इतने में बलि मन्त्री बोल उठा—इसकी आप चिन्ता न करे। सिंहबल को पकड़कर लाने का अपना पुरस्कार राजा से पाना बाकी है। अब हमें उस पुरस्कार के रूप में सात दिन का राज्य ले लेना चाहिये फिर जैसा हम करेंगे वैसा ही होगा।

यह युक्ति सबको सर्वोत्तम जान पड़ी। बलि मन्त्री उसी समय राजा के पास पहुँचा और बहुत विनय के साथ बोला—महाराज ! आप पर हमारा एक पुरस्कार शेष है कृपया अब उसे देकर हमारा उपकार क्षीजिए।

राजा इनके अन्तरंग कपट को न जानकर उनके ऋण से उद्धार होने के लिए बोला—अच्छा !

बलि बोला—महाराज ! यदि आप वास्तव में ही हमारी इच्छा पूर्ति चाहते हैं तो आप हमें सात दिवस के लिए अपना राज्य प्रदान कीजिये।

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। उसे किसी बड़े भारी अनर्थ की आशंका हुई। पर उसे वचनबद्ध होने के कारण स्वराज्य देना ही पड़ा। राज्य के प्राप्त होते ही उन्होंने परमानन्दित होकर मुनियों के मध्य में उनके प्राणों के भाग के लिए यज्ञ-मंडप की रचना आरम्भ की। उसके चारों ओर काष्ठ रखा गया। सहस्रों पशु एकत्र किये गये और यज्ञ आरम्भ हुआ। वेदविद् वेदध्वनि से यज्ञ मंडप को गुँजाने लगे। बेचारे निरपराध पशुओं की आहुतियाँ दी जाने लगीं। थोड़ी ही देर में महादुर्गन्धित धूँझ से आकाश परिपूर्ण हो गया उससे सारे मुनिसंघ पर भयंकर उपसर्ग हुआ। पर जैन साधु का यही मार्ग है कि आये हुये कष्टों को धीरतापूर्वक सहन करें। उन परमज्ञांत मुनियों ने मेखवत अचल होकर एकाग्रचित्त से परमात्मा का ध्यान करना प्रारम्भ किया। अपने कर्मों का फल जान रागद्वेषरहित साम्य-भावपूर्वक सहन करने लगे।

मिथिला नगरी में स्थित श्रुतसागर मुनि को निमित्त ज्ञान से यह वृत्तांत विदित हुआ। उनके मुख से बहुत खेद के साथ ये वचन निकले—हाय-हाय ! इस समय मुनियों पर बहुत उपसर्ग हो रहा है। उस समय वहाँ पर स्थित पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक पूछने लगे प्रभो ! यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है ?

उत्तर में श्रुतसागर मुनि बोले—हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों का संघ ठहरा हुआ है। उनके संरक्षक अकम्पनाचार्य हैं। उस सारे संघ पर बलि नाम के मन्त्री द्वारा यह उपसर्ग हो रहा है।

क्षुल्लक ने फिर पूछा 'प्रभो ! कोई ऐसा उपाय भी है जिससे यह उपसर्ग दूर हो।'

मुनि ने कहा—'हाँ, एक उपाय है। श्री विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गयी है वे अपनी ऋद्धि के बल से उपसर्ग दूर कर सकते हैं।'

क्षुल्लक पुष्पदन्त जो महाराज क्षत्र धात्र भी विलम्ब न कर उसी समय विष्णुकुमार मुनिराज के पास पहुँचे और उनको सब वृत्तांत कह सुनाया। विष्णुकुमार मुनि को अपने विक्रिया ऋद्धि प्राप्त होने की खबर न थी। जब उनको पुष्पदन्त के द्वारा मालूम हुआ तब उन्होंने परीक्षार्थ अपना हाथ फैलाया हाथ फैलाते ही उनका हाथ बहुत दूर तक चला गया। तब उन्हें विश्वास हुआ। वे उसी समय हस्तिनापुर आये और अपने भाई से बोले—भाई! आप किस घोर निद्रा में अचेत हो रहे हैं। अपने राज्य में तुमने ऐसा घोर अनर्थ क्यों होने दिया? परमशांत भूति, किसी से राग द्वेष न रखने वाले मुनियों पर ऐसा अत्याचार! और वह भी तुम जैसे धर्मात्माओं के राज्य में! भाई, साधुओं का सताना ठीक नहीं। कहीं उनको किंचित भी क्रोध आ जाए तो तेरे समस्त राज्य को भस्म कर दें। अतएव जब तक तुम पर आपत्ति आए, उससे पहले ही तुम उसका उपाय करो। अर्थात् इस घोर उपसर्ग की शांति करवा दो।

उत्तर में पद्मराज विनीत होकर बोले—“मुनिराज! मैं क्या करूँ? मैं वचनबद्ध होकर इनको सात दिवस के लिए राज्य प्रदान करने के कारण बिल्कुल विवश हूँ। मुझे क्या भालूम था कि ये ऐसा घोर उपद्रव करेंगे। अब मेरा उसमें तर्क करना सूर्य को दीपक दिखाना है अब तो आप ही विलम्ब न करके शीघ्र ही किसी उपाय से मुनियों का उपसर्ग दूर कीजिए, आप सब प्रकार से समर्थ हैं।”

तब विष्णुकुमार मुनि ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन ब्राह्मण का वेष बनाया और बड़ी मधुर ध्वनि से वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए बलि के यज्ञ भंडप में पहुँचे। उनके सुन्दर स्वरूप और मधुर वेदोच्चारण को सुनकर बलि बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—“महाराज! आपने पधार कर मेरे यज्ञ की अपूर्व शोभा बढ़ा दी। मैं बहुत प्रसन्न हुआ। आपको जो इच्छा हो, सो माँगिए, इस समय मैं सब कुछ देने को तैयार हूँ।

विष्णुकुमार बोले—“मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ। जैसी भी स्थिति हो, मुझे तो उसी में संतोष है। मुझे किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं, पर जब आपका इतना आग्रह है तो मैं आपको अप्रसन्न भी नहीं करना चाहता। मुझे केवल तीन पग पृथ्वी की आवश्यकता है। यदि आप मुझे प्रदान करेंगे तो उसमें भोपड़ी बनाकर स्थान की निराकुलता से वेदाध्यानादि में अपना समय सुख से व्यतीत कर सकूँगा। इस समय मुझको किसी और पदार्थ की इच्छा नहीं।

विष्णुकुमार की यह तुच्छ याचना सुनकर बलि ने कहा कि “आपने तो कुछ भी नहीं माँगा। यदि मेरे वैभव और शक्ति के अनुसार माँगते तो मुझको संतोष होता। अब भी आप अपनी इच्छानुसार माँग सकते हैं। मैं वही देने को तत्पर हूँ।”

विष्णुकुमार बोले—“मुझे अधिक की इच्छा नहीं है। जो कुछ मैंने माँगा, मेरे लिए बहुत है। यदि आपको देना ही है तो और बहुत—से ब्राह्मण मौजूद हैं उनको वे दीजिए।”

बलि ने कहा—“अस्तु! जैसी आपकी इच्छा। आप तीन पग पृथ्वी नाप लीजिए।” ऐसा कह कर जल से विष्णुकुमार के प्रति संकल्प छोड़ दिया। संकल्प छोड़ते ही उन्होंने पहला पांव मेरु पर्वत पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, अब तीसरा पांव रखने की जगह नहीं रही, उसे वे कहाँ रखें? उनके इस कार्य से समस्त पृथ्वी कांपने लगी। पर्वत चलायमान हो गये। समुद्रों ने मर्यादा तोड़ दी। देवों व ग्रहों के समूह मारे आश्चर्य के भोंवके से रह गए। वे सब विष्णुकुमार के पास आये और बलि को बांधकर बोले—“प्रभो! क्षमा कीजिए। यह सब दुष्कर्म इसी पापी का है। यह आपके सम्मुख उपस्थित है।”

बलि ने मुनिराज के चरणों में पड़कर अपने अपराध की क्षमा माँगी और अपने कृतकर्म पर बहुत पश्चाताप किया। विष्णुकुमार मुनि द्वारा उपद्रव दूर करने से सबको शान्ति हुई और चारों मन्त्री

तथा प्रजा के सब लोग भक्तिपूर्वक अकम्पनाचार्य को बंधना को गये । राजा और मन्त्रियों ने उनके चरणों में अपना भस्त्रक रखकर अपने अपराध की क्षमा-प्राप्ति की और उन्हीं दिन से मिथ्यात्व मत का त्याग कर अहिंसामय जिन धर्म के उपासक बने । जिस प्रकार जिन भगवान के परम भक्त विष्णुकुमार ने धर्मप्रेम के दश हो मुनियों का उपसर्ग दूर कर वात्सल्य अंग का पालन किया और पश्चात् ध्यानाग्नि द्वारा कर्मकाण्ठ को भस्म कर शिवपुर पधारे । उसी प्रकार भव्य पुरुषों को भी अपने और पर के हित के लिए समय-समय पर दूसरों का कष्ट निवारण कर वात्सल्य अंग का पालन करना चाहिए ।

॥ इति वात्सल्याङ्गे विष्णुकुमारमुनेः कथा समाप्ता ॥

॥ अथ प्रभावनाऽङ्गे वज्रकुमारमुनेः कथा प्रारम्भः ॥

परभव के अज्ञानरूपी अंधकार को जिस प्रकार बने उस प्रकार दूर करके जिन-शासन का सर्व साधारण में महत्त्व प्रकट करना और अपनी आत्मा को रत्नत्रय के तेज से उद्योत रूप करना अर्थात् तप, विद्या, श्रद्धा, सिद्धि आदि का अतिशय प्रकट करके जैन धर्म का प्रभाव बढ़ाना प्रभावना नाम का आठवां अंग है । सम्यग्दर्शन के आठवें प्रभावना अंग का पालन करने में प्रसिद्ध होने वाले वज्रकुमार मुनि की कथा इस प्रकार है—

इस भरत क्षेत्र में एक हस्तिनापुर नगर है । जिस समय का यह उपाख्यान है, उस समय हस्तिनापुर के राजा बल थे । वे धर्मार्ति और राजनीति के अच्छे वेत्ता थे । उनके मन्त्री का नाम गरुड था । उसके एक पुत्र था जिसका नाम सोमदत्त था । वह भी शास्त्रविद् और बहुत सुन्दर था ।

एक दिन सोमदत्त अपने मामा के यहां गया जो कि अहिच्छत्रपुर में रहता था उसने अपने मामा से विनयपूर्वक कहा—मामा जी ! यहां राजा से मिलने की मेरी तीव्र उत्कंठा है । कृपा कर आप मेरी उनसे मुलाकात करवा दीजिये ।

सुभूति ने अभिमान में आकर सोमदत्त की मुलाकात राजा से नहीं करवाई । सोमदत्त को मामा की यह बात बहुत खटकी । अन्त में वह स्वयं ही दुर्मुख महाराज के पास गया और मामा का अभिमान नष्ट करने के लिए राजा को अपने पांडित्य और प्रतिभाशालिनी बुद्धि का परिचय करवा कर स्वयं भी उनका राज्यमंत्री बन गया ठीक सी है, सबको अपनी ही शक्ति सुख देने वाली होती है । सुभूति ने अपने भानजे का पांडित्य देखकर अति प्रसन्न हो उससे अपनी यशदत्ता नाम की पुत्री का विवाह कर दिया । दोनों सुख से रहने लगे ।

कुछ समय पश्चात् यशदत्ता गर्भवती हो गई । समय चातुर्मास का था । यशदत्ता को दोहद उत्पन्न हुआ और उसे ग्राम खाने की प्रबल इच्छा हुई । ग्रामों का समय न होने पर भी सोमदत्त ग्राम वृद्धने को घन में पहुंचा । वहां एक उपवन में एक आन्नवृक्ष के नीचे एक परम योगीराज महात्मा बैठे हुए थे । उस वृक्ष में फल लगे हुए थे । फलों को देखकर उसने विचारा कि यह मुनिराज का प्रभाव है नहीं तो असमय में आन्न कहां ? वह बहुत प्रसन्न हुआ और बहुत से फल तोड़कर अपनी प्रिया के पास पहुंचा दिये और स्वयं मुनिराज को नमस्कार कर उनके निकट बैठ निवेदन करने लगा—महाराज ! संसार में सार क्या है ? इस बात को आपके मुख से सुनने की अति उत्कंठा है । कृपा कर कहिए ।

मुनि बोले—हे भव्य ! संसार में सार आत्मा को कुगतिओं से बचाकर सुख देने वाला एक धर्म है । उसके दो भेद हैं—एक मुनिधर्म और दूसरा श्रावकधर्म । मुनियों का धर्म पंच महाव्रत, पंच समिति तीन गुप्ति, दशधर्म, रत्नत्रय, द्वादशतप तथा पञ्चेन्द्रियदमन और शेष सप्तगुणों आदि का पालन है और श्रेष्ठ है । श्रावकधर्म अष्ट मूलगुण तथा उत्तर गुणों का पालन करना आदि है । मुनिधर्म का पालन सर्व

देश किया जाता है और श्रावक धर्म का एकदेश। श्रावक धर्म परम्परा से मोक्ष का साधन है और मुनि धर्म साक्षात् मोक्ष का साधन। मुनिधर्म से तद्भव मोक्षगामी होते हैं, ऐसा नियम नहीं। इसमें सब बात परिमाणों पर निर्भर है। ज्यों-ज्यों परिणामों की विशुद्धता होती जाती है त्यों-त्यों अन्तिम साध्य मोक्ष के निकट मनुष्य पहुँचता जाता है परन्तु मोक्ष होता है मुनिधर्म धारण करने से ही। इस प्रकार श्रावक-धर्म, मुनिधर्म तथा उनकी विशेषताएँ जानकर वैराग्यवश हो सोमदत्त ने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली और अपने गुरु से शास्त्राध्ययन कर सर्व शास्त्रों में अच्छी योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् विहार करते हुए सोमदत्त मुनिराज नाभिगिरी पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उग्र तपश्चरण और परीषह सहन द्वारा अपनी आत्म शक्ति को बढ़ाने लगे। इधर समय आने पर यज्ञदत्ता के पुत्र उत्पन्न हुआ। वह उसके सौन्दर्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुई।

एक दिन उसे किसी के द्वारा अपने स्वामी के समाचार मालूम हुए। उसने वह समस्त वृत्तान्त अपने कुटुम्बियों से कहा और उनसे उनके पास चलने का आग्रह कर अपने साथ ले नाभिगिरी पर पहुँची। उस समय सोमदत्त मुनिराज तापस योगध्यान कर रहे थे। यज्ञदत्ता उन्हें मुनिवेष में देखकर क्रोधित होकर बोली—रे पापी! दुष्ट! यदि तुझे ऐसा ही करना था तो पहले से ही मुझे न ब्याहता। जरा बता तो सही, अब मैं किसके पास जाकर रहूँ? और इस बच्चे का पालन-पोषण कौन करे? मुझसे इसका पालन नहीं होता। तू ही इसे लेकर पाल।

ऐसा कहकर वह निर्दयी यज्ञदत्ता हिम शीतों से लगे पर्वत पर मुनि चरणों में उस बेचारे बालक को पटक कर अपने स्थान पर चली गई। इतने में ही दिवाकर देव नाम का एक विद्याधर जो कि अपने लघु भ्राता पुरसुन्दर से पराजित होकर उसके देश से निकाल देने के कारण अपनी स्त्री को साथ लेकर तीर्थ यात्रा के लिए चल दिया था, वह इधर आ निकला। पर्वत पर मुनिराज को देखकर व्योममार्ग से नीचे उतरा।

मुनिराज की वन्दना करते उसकी दृष्टि उस प्रसन्नमुख तेजस्वी बालक पर पड़ी। बालक को भाग्यशाली समझकर उसने गोद में उठा लिया और उसे अपनी प्रिया को देकर कहने लगा—प्रिये! यह कोई बड़ा पुण्य जीव है। आज अपना जीवन ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति से अनायास ही कृतार्थ हो गया। उसकी स्त्री भी बच्चे को पाकर बहुत प्रसन्न हुई। बालक के हाथों में वज्र का चिह्न होने से उसका वज्रकुमार नाम रखा। इसके पश्चान् वे दोनों मुनि को प्रणाम कर बच्चे को साथ लेकर अपने घर पर लौट गये।

वह वज्रकुमार विद्याधर के घर पर शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ते हुए अपनी बाल लीलाओं से सबको आनन्द देने लगा। दिवाकर देव के सम्बन्ध से वज्रकुमार का मामा कनकपुरी का राजा विमलबाहन हुआ। अपने मामा के यहाँ रहकर वज्रकुमार थोड़े ही दिनों में शास्त्राभ्यास कर एक अच्छा विद्वान बन गया। उसकी प्रतिभाशालिनी बुद्धि को देखकर सब आश्चर्य करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार ह्रीमन्त पर्वत पर प्रकृति की शोभा देखने को गया हुआ था। वहीं पर एक विद्याधर की पुत्री पवनवेगा विद्या साध रही थी। विद्या साधते हुए ही एक तृण उसकी आँख में पड़ने से उसके चित्त की ध्वंसता के कारण विद्या सिद्ध होने में बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ। इतने में ही वज्रकुमार इधर आ निकला। उसे ध्यान से विचलित देखकर उसने उसकी आँख में से तिनका निकाल दिया। पवन वेगा स्वस्थ होकर फिर विद्या साधने में तत्पर हो गई। मंत्रयोग पूरा होने पर जब विद्या सिद्ध हो गई, तब वह समस्त उपकार वज्रकुमार का समझकर उसके पास आकर कहने लगी—आपने मेरा जो उपकार

किया है उसका बदला मैं एक क्षुद्र बालिका कैसे चुका सकती हूँ ? पर यह जीवन आपके लिए समर्पण कर आपके चरणों की दासी बनना चाहती हूँ, मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए । वज्रकुमार ने उसके प्रेमोपहार को सादर ग्रहण किया । दोनों वहाँ से विदा होकर अपने-अपने स्थान पर चले गये । शुभ दिन में गरुडवेग ने विधिपूर्वक अपनी पुत्री का वज्रकुमार के साथ पाणिग्रहण कर दिया फिर दोनों दम्पति सानन्द रहने लगे । एक दिन वज्रकुमार को मालूम हुआ कि मेरे पिता थे तो एक राजा पर हमारे चाचा ने इनको युद्ध में पराजय कर देश से निकाल दिया है । इस बात पर उसको अपने चाचा पर बहुत क्रोध आया । वह पिता के रोकने पर कुछ सेना और अपनी पत्नी की विद्या को लेकर उसी समय अमरावती पर जा चढ़ा । पुरसुन्दर को इस चढ़ाई का आभास न होने से बात की बात में वह पराजित कर बांध लिया गया । पीछे राज्य पिहासन दिवाकर देव के अधिकार में आया । इस वीरता के कारण वज्रकुमार बहुत प्रसिद्ध हो गया । अच्छे-अच्छे शूरवीर उसका नाम सुनकर भय मानने लगे ।

इसी समय दिवाकर देव की प्रिया जयश्री के भी पुत्र उत्पन्न हुआ । वह तब से ही इस चिंता से दुःखी होने लगी कि वज्रकुमार के उपस्थित होते हुए मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिलेगा ? मेरे पुत्र को राज्य के मिलने में यह एक कंठक है । इसे किसी तरह उखाड़ फेंकना चाहिये ।

यह विचार कर वह मौका देखने लगी । एक दिन वज्रकुमार ने अपनी माता के मुख से किसी को यह कहते सुना कि वज्रकुमार बड़ा दुष्ट है । देखो ! कहां तो यह उत्पन्न हुआ और कहीं आकर दुःख दे रहा है ।

ऐसा सुनते ही उसका हृदय जलने लगा । फिर एक क्षण भी न रुककर वह उसी समय अपने पिता के पास पहुंचा और कब्जे लगा—पिताजी ! सत्य बताइये कि मैं किसका पुत्र हूँ, कहां उत्पन्न हुआ हूँ और यहां क्योंकर आया ? मैं जानता हूँ कि मेरे सच्चे पिता तो आप ही हैं क्योंकि आपने मेरा अपने पुत्र से भी अधिक पालन-पोषण किया है । पर तब भी यथार्थ वृत्तांत जानने की मेरी बड़ी उत्कंठा है, इसलिए कृपया ज्यों का त्यों वृत्तांत कहकर मेरे अशांत हृदय को शान्त कीजिये । अगर यथार्थ नहीं कहेंगे तो मैं आज से भोजन नहीं करूँगा ।

दिवाकर देव बोले—पुत्र ! आज तुम्हें कुछ हो तो नहीं गया है, जो तुम ऐसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हो । समझदार होकर भी मुझको कष्ट देने वाली ऐसी बातें करना तुम्हें शोभा नहीं देता । वज्रकुमार बोला—पिताजी ! मैं यह नहीं कहता कि मैं आपका पुत्र नहीं । सच्चे पिता तो आप ही हैं, परन्तु मुझको तो यथार्थ जानने की जिज्ञासा है । अतएव मुझे आप कृपा करके बतला दीजिए ।

वज्रकुमार के अत्यधिक आग्रह से दिवाकर देव को उसका पूर्व वृत्तांत बताना पड़ा । वज्रकुमार अपना हाल सुनकर बड़ा विरक्त हुआ । वह उसी समय अपने पिता की बन्दना करने को चल पड़ा, तब उसके माता पिता व कुटुम्बी जन भी साथ गये । सोमदत्त मुनिराज मथुरा के निकट एक गुफा में ध्यान कर रहे थे । उन्हें देखकर सबको आनन्द हुआ सब बड़ी भक्ति के साथ मुनि को नमस्कार कर बैठ गये । तब वज्रकुमार ने मुनिराज से कहा—'पूज्यपाद ! आज्ञा दीजिए, जिससे मैं साधु बनकर निजात्म कल्याण करूँ ।' वज्रकुमार को एकाएक संसार से विरक्त हुआ जानकर दिवाकर देव कहने लगे—'पुत्र ! तुम ये क्या करते हो ? तप करने का मेरा समय है या तुम्हारा ? तुम अब सब तरह योग्य हो । तुम राजधानी में जाकर अपना राज-काज सम्भालो ।

तब वज्रकुमार बोले—हे पिता ! ये भोग भुजंग के समान हैं और संसार क्षणभंगुर है । मैं घर पर न जाकर अब यहीं दीक्षा लेकर स्वामानुभव करूँगा । यह कहकर दिवाकर देव के रोकने पर भी

उसने वस्त्राभूषण त्याग कर उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली। वज्रकुमार मुनि साधु बनकर खूब तपश्चर्या करने लगे। वज्रकुमार के दीक्षित होने के बाद की कथा इस प्रकार है—

उस समय मथुरा के राजा पूतगंध थे। उनकी रानी का नाम था उर्मिला। वह बड़ी धर्मात्मा, सम्यक्त्व रूपी रत्न से भूषित जिन भगवान की परम भक्त थी। वह प्रत्येक अष्टान्हिका में भगवान की पूजा और रथोत्सव बहुत धूमधाम के साथ करती थी। इसी मथुरा नगरी में एक सागरदत्त नाम का सेठ था। उसकी स्त्री का नाम समुद्रदत्ता था। उसके पूर्वोपाजित पाप के उदय से दरिद्रा नाम की पुत्री हुई। उसके पाप के उदय से माता-पिता दरिद्र होकर अन्त में परलोक पधार गये। अब वह बेचारी दरिद्रा दूसरों के उच्छिष्ट भोजन खाकर दिन व्यतीत करने लगी। एक दिन नन्दन और अभिनन्दन नाम के दो मुनि भिक्षा के लिए मथुरा आये। दरिद्रा को अन्न का एक-एक कण खाती हुई देखकर लघु मुनि अभिनन्दन ने नन्दन से कहा मुनिराज ! देखिये, यह बेचारी बालिका कितने कष्ट से जीवन व्यतीत करती है। तब नन्दन मुनि ने अवधिराज से दिव्यार का लहा — 'हां परमि इस समय इसकी दशा अच्छी नहीं, तथापि इसका पुण्य कर्म बड़ा प्रबल है, उसी से यह पूतगंध राजा की पटरानी बनेगी।' मुनि ने जब दरिद्रा का भविष्य सुनाया, तब एक भिक्षार्थ आए हुए बौद्ध साधु ने यह भविष्य सुन लिया। जैन ऋषियों के वचनों पर उसका बहुत विश्वास था इसलिए दरिद्रा को अपने स्थान पर ले जाकर उसका पालन करने लगा। दरिद्रा जैसे-जैसे बड़ी होती गई वैसे यौवन ने भी अपनी कान्ति से उसका सम्मान करना आरम्भ किया अर्थात् वह यौवन सम्पन्न होकर अपने शरीर से सुन्दरता की सुधा धारा बहाने लगी।

एक दिन वह युवती नगर के समीप एक उपवन में भूले पर भूल रही थी कि इतने में कर्मयोग से राजा भी वहाँ आ निकले। एकाएक उनकी दृष्टि भूले पर भूलती हुई दरिद्रा पर पड़ी। उस स्वर्गीय सुन्दरता को देखकर वह काम के बाणों से विध्वंसित हो गया। उसे दरिद्रा की प्राप्ति के बिना अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होने लगा। वह मोहवश होकर दरिद्रा के निकट जाकर उससे उसका परिचय पूछने लगा। उसने किसी प्रकार का संकोच न करके अपना स्थानादि सब पता बतला दिया। उस बेचारी भोली-भाली बालिका को क्या मालूम था कि मुझसे स्वयं मथुराधीश ही वार्तालाप कर रहे हैं। राजा काम के वेग से व्याकुलचित्त होकर किसी प्रकार से अपने महल पर आए। आते ही उन्होंने अपने मंत्री को श्रीबंदक के पास भेजा। मंत्री ने पहुँचते ही श्रीबंदक से कहा आज तुम्हारा और तुम्हारी पुत्री का बड़ा भाग्य है जो उसको मथुराधीश अपनी पटरानी बनाना चाहते हैं। कहो, तुमको स्वीकार है या नहीं।

श्रीबंदक बोला यदि महाराजा बौद्ध धर्म अंगीकार कर लें तो मैं महाराजा से दरिद्रा का विवाह करने को प्रस्तुत हूँ।

मंत्री ने यह बात राजा से जाकर निवेदन की। महाराजा ने इस बात को स्वीकार कर लिया और दरिद्रा का उनके साथ विवाह हो गया। दरिद्रा मुनिराज के कथनानुसार बड़ी पटरानी हुई। दरिद्रा इस समय बुद्धदासी के नाम से प्रसिद्ध हो गई। बुद्धदासी पटरानी बनकर बुद्ध धर्म का प्रचार करने में सदा तत्पर रहने लगी।

इसके अन्तर अष्टान्हिका पर्व आया। उर्मिला महारानी ने सदा के लिए नियमानुसार अबकी बार भी उत्सव करना आरम्भ किया। जब रथ निकलने का समय आया तब बुद्धदासी ने राजा से कहा कि 'मेरा रथ पहले निकलना चाहिए, उर्मिला का पीछे।' राजा ने बुद्धदासी के प्रेम में अन्धा होकर उर्मिला का रथ रूकवा दिया। उर्मिला रानी ने अपने में दुःखित चित्त होकर प्रतिज्ञा की कि जब तक

मेरा रथ नहीं निकलेगा, तब तक मुझे भोजन का त्याग है। यह प्रतिज्ञा कर जिस क्षत्रिया नाम की गुफा में सोमदत्त और वज्रकुमार मुनिराज रहा करते थे, वहाँ पहुँचकर उन दोनों को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके कहने लगी 'हे अज्ञानरूपी ग्रन्धकार के नाश करने वाले सूर्यो ! आप की मैं शरणागत हूँ और आप मेरे दुःखहर्ता हैं। इस समय जैन धर्म पर उपसर्ग आ रहा है। उसे नष्ट कर उसकी रक्षा कीजिए।'।

इस प्रकार उनसे निवेदन कर अपने रथ के निकलने में अवरोध का कारण वह मुनिराज से कह रही थी कि इतने में ही वज्रकुमार तथा सोमदत्त मुनि की वन्दना करने को दिवाकर देव आदि बहुत से विद्याधर आए। वज्रकुमार मुनि ने उनसे कहा—आप लोग समर्थ हैं और इस समय जैन धर्म पर संकट उपस्थित है। बुद्धदाशी ने महारानी उर्मिला का रथ रुकवा दिया है। अब आप जाकर यथायोग्य उपाय से इसका रथ निकलवा दीजिए।

वज्रकुमार मुनि की आज्ञा को शिरोधार्य कर सब विद्याधर अपने-अपने विमान पर आरोहण होकर मथुरा आए। प्रथम तो जो धर्मिमा होते हैं, वे स्वयं ही धर्म प्रभावना करने में तत्पर रहते हैं, तब इनको तो मुनिराज ने प्रेरणा दी है। इसलिए सब विद्याधरों ने उर्मिला रानी के साध्य की सिद्धि के लिए बुद्धदाशी को बहुत समझाया और कहा—'जो पुरानी रीति है, वैसे ही कार्य करना अच्छा है।' पर बुद्धदाशी तो अभिमान के बशीभूत हो रही थी, इसलिए वह क्यों मानने लगी ? विद्याधरों ने अपना कार्य सीधे तरीके से न होता हुआ देखकर बुद्धिदाशी के नियुक्त किए हुए सिपाहियों से युद्ध कर उनको बात की बात में भगा दिया। तत्पश्चात् बड़े समारोह और उत्सव के साथ उर्मिला का रथ निकलवा दिया। रथ के निकलने से सबको बड़ा आनन्द हुआ, इससे जैन धर्म की बहुत प्रभावना हुई और सर्व-साधारण पर इस रथोत्सव से जैन धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा। बहुतों ने मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व को ग्रहण किया। बुद्धदाशी और राजा पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी शुद्धान्तकरण से जैन धर्म स्वीकार किया। जिस प्रकार श्री वज्रकुमार मुनिराज ने धर्म प्रेम के वश होकर जैन धर्म की प्रभावना कराई, उसी प्रकार और भव्य पुरुषों को भी संसार का उपकार करने वाली और स्वर्ग मोक्ष सुख को प्रदान करने वाली प्रतिष्ठा, रथोत्सव, जिनयात्रा, चतुर्विधान, जीर्णोद्धार तथा स्याद्वाद विद्यालय आदि द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

धर्म प्रेमी श्री वज्रकुमार मुनि बुद्धि को नित्य जैन धर्म में दृढ़ करें जिसके द्वारा मैं भी मोक्ष मार्ग पर चलकर अपना अन्तिम साध्य अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त कर सकूँ।

इस प्रकार यह सम्यक्त्व के आठ अंगों का प्रत्येक अंग में प्रसिद्ध होने वाली कथा के सहित स्पष्ट वर्णन किया गया।

अब सम्यक्त्व के २५ मल दोषों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

अष्ट दोष नाम—उपर्युक्त सम्यक्त्व के अष्ट अंगों से प्रतिकूल शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ दोष हैं, जो पच्चीस दोषों में गभित हैं। अतएव निदोष सम्यक्त्व पालन करने के इच्छुक भव्य जीवों को मन, बचन, काय से इनका त्याग करना चाहिए, क्योंकि—

यथोक्त श्री समंतभद्राचार्यकृततरत्नकरण्डश्रावकाचारे—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम् ।

नहि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति निषवेदनाम् ॥

अर्थात् जैसे अक्षर न्यून मंत्र (अशुद्ध मंत्र) विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता, उसी

प्रकार अंगरहित सम्यग्दर्शन भी संसारसंतति को अर्थात् संसार भ्रमण को नहीं मिटा सकता अतएव ये अष्ट दोष त्यागने योग्य हैं ।

तीन मूढ़ता—

देव मूढ़ता—किसी प्रकार के संसारिक भोगों को प्राप्ति की इच्छा करके राग-द्वेष रूपी मैल से मलिन, अस्त्र-शस्त्र अलंकारधारी देवों की भक्ति पूजा करना देव मूढ़ता है ।

गुरु मूढ़ता—कुदेवों के सदृश आडम्बर रखने वाले, परिग्रह आरम्भ और हिंसादि दोषयुक्त, कामी, क्रोधी, अभिमानी, पाखण्डी, साधु तपस्वियों का आदर, सम्मान, पूजा, भक्ति, आराधना, प्रशंसा करना गुरु मूढ़ता है ।

लोक मूढ़ता—जिस क्रिया में धर्म नहीं उसमें अन्त्य भताबलम्बियों के उपदेश से तथा देखा-देखी उनमें धर्म समझकर प्रवृत्त होना लोक मूढ़ता है । यथा—गंगा यमुना आदि नदियों में स्नान करना, देहली पूजना सूर्य तथा चन्द्र को अर्घ्य देना, सती होना आदि ।

षड् अनायतन—कुधर्म, कुगुरु, कुदेव तथा इनके सेवकों को धर्म का आयतन समझ कर उनकी स्तुति करना षड् अनायतन है । ये षड् अनायतन भी सम्यग्दृष्टि को हेय हैं ।

अष्ट मद—विद्या, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल, सम्पत्ति, तप तथा अपने शरीर की सुन्दरता का मद करके अपने आत्महित को भूल जाना, ये आठ मद दोष हैं ।

सम्यक्त्व की को ये भी अपनी आत्मा से पृथक् और क्षणभंगुर जानकर इनको छोड़ देना चाहिए क्योंकि ये सब ही कारण पाकर क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं । इसीलिए सम्यग्दृष्टि को कदापि क्षणभंगुर अवस्था का मद नहीं करना चाहिए । इस प्रकार सम्यक्त्व की निर्मलता के लिए आठ मल दोष, आठ मद दोष, षड् अनायतन, तीन मूढ़ता इस प्रकार २५ दोषों का सर्वथा त्याग करना चाहिए । इन उपर्युक्त २५ दोषों से रहित सम्यक्त्व का अष्टांग सहित जो पालन करता है, वह सम्यग्दृष्टि है । यह सम्यग्दर्शन जब किसी जीव के पूर्वजन्म के तत्त्व विचार के संस्कारों से, वर्तमान में पर के उपदेश के बिना अपने आप ही उत्पन्न होता है तो निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा जब किसी जीव के वर्तमान पर्याय में अन्य के उपदेश के द्वारा तत्त्व विचार करने से उत्पन्न हो तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

इस प्रकार निर्मल सम्यक्त्व के धारण करने से शुद्ध अन्तःकरण वाले यदि चारित्र्य मोहनीय कर्म के अधीन होने से किंचित् अत उपवासादि न कर सकें तो भी सम्यक्त्व के प्रभाव से नरक, तिर्यच तपुंसक और स्त्रीलिंग को तथा नीच कुल, विकलांग, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते हैं । सारांश यह है कि इस जीव का सम्यक्त्व के समान तीन लोक में सच्चा कल्याण करने वाला कौन मित्र नहीं और मिथ्यात्वसम शत्रु नहीं अतएव शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव इन पांच अतिचारों को त्याग सम्यक्त्व को निर्दोष धारण करना चाहिए क्योंकि सम्यक्त्व रूपी बीज के बिना बीज और वृक्षवत् ज्ञान और चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और फल का लगना असम्भव है ।

भावार्थ—सम्यक्त्व रूपी बीज को अपने हृदय रूपी भूमि में निर्मल धारण किये बिना ज्ञान की उत्पत्ति, स्थिति तथा चारित्र्य की वृद्धि द्वारा मोक्षफल नहीं लगता । इसके बिना जो हमारा ज्ञान है, वह मिथ्याज्ञान कहलाता है और ब्रतादिक धारण करना कुचारित्र्य कहा जाता है । सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर हेयोपादेय का ज्ञान होकर आत्महित के मार्ग में यथार्थ प्रवृत्ति हो सकती है अतएव सबसे पहले सम्यक्त्व को ही धारण करना चाहिए ऐसा प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है ।

॥ इति श्री सम्यक्त्वविवरण समाप्तम् ॥

॥ अथ सम्यग्ज्ञान विवरण प्रारम्भ ॥

सम्यक्त्व रूपी रत्न से अपनी आत्मा को पवित्र करने के पश्चात् स्व तथा पर के गुण अर्थात् धर्मों के प्रकाश करने में सूर्य के समान सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए। यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही जो ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है तथापि लक्षण भेद होने से उसकी भिन्न आराधना करनी चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है जैसे दीपक प्रकाश होने का कारण है वैसे ही सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थ श्रद्धान सम्यग्ज्ञान होने का कारण है।

गाथा—

संसय विमोह विवर्धन विवर्जित्य अप्य परस्वरूपस्य ।

गह्वर्णं सम्मणार्णं साधारण्येयमेयं च ॥

अर्थात् संशय, विपर्यय और अनव्यवसाय रहित, आकार सहित अर्थात् विशेष स्वरूप सहित अपने और पर के स्वरूप का जानना सम्यग्ज्ञान है। यद्यपि वास्तव में वह सम्यग्ज्ञान आत्मा का प्रसिद्ध गुण है जिसके द्वारा ही आत्मा का बोध होता है, वह अखंड अतन्मय रूप एक ही प्रकार है, तथापि अनादि काल से ज्ञानावरण कर्म की प्रकृतियों से आवृत होने के कारण अनेक भेद रूप है। परन्तु मुख्यतया मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान ऐसे पांच प्रकार हैं।

इनमें से प्रथम के चार ज्ञान तो अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम के अनुसार हीनाधिक होते रहते हैं, इसलिए इनको क्षयोपशमिक ज्ञान कहते हैं, परन्तु केवलज्ञान केवल ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा अभाव होने से प्रकट होता है अतएव इसको क्षायिक ज्ञान कहते हैं। उपरोक्त पाँचों ज्ञानों में से मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यादर्शन के उदय से विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान भी होते हैं जब सम्यक्त्व के प्रादुर्भूत होने पर सत्यासत्य के निर्णय रूप यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब मति, श्रुत और अवधि ही समीचीन ज्ञान कहलाते हैं और ये ही पाँचों ज्ञान प्रत्यक्ष परोक्ष के भेद से दो प्रकार भी होते हैं। उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं क्योंकि ये पांच इन्द्रियों और मन की सहायता से होते हैं, पर मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष होने से व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। अवधि और मनःपर्ययज्ञान किंचित् प्रत्यक्ष हैं क्योंकि रूपी द्रव्य और मर्यादित क्षेत्र की वार्ता की जानते हैं। केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है क्योंकि अन्य इन्द्रियादिक की सहायता के बिना अपने अच्छे स्वच्छ स्वाभाविक ज्ञान से युगपत् समस्त द्रव्यों को उसकी अनन्त पर्यायों सहित जानता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक प्रत्येक जीव के मति और श्रुत ये दो ज्ञान प्रत्येक अवस्था में रहते हैं यदि तीन हों तो मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मनः पर्यय ये तीन होते हैं। यदि चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ज्ञान ये चार होते हैं। यदि एक ज्ञान हो तो ज्ञान को खंड-खंड करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने से एक अखंड, स्वच्छ, स्वाभाविक केवलज्ञान होता है। इन पाँचों ज्ञानों का स्वरूप इस प्रकार है।

मतिज्ञान—मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। बाह्य कारणों की अपेक्षा इसके छह भेद हैं—

१ स्पर्शन, २ रासन, ३ घ्राणज, ४ चाक्षुष, ५ श्रावण और ६ मानस।

स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श का जानना स्पर्शन, रसना इन्द्रिय से रस का जानना रासन, घ्राणेन्द्रिय से सुगन्ध दुर्गन्ध का जानना घ्राणज, चक्षुर्द्रिय से रूप का जानना चाक्षुष, कर्णेन्द्रिय से शब्द का जानना श्रावण और मन से किसी विषय का मनन करना मानस मतिज्ञान है। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये भी मतिज्ञान के ही नामांतर हैं अर्थात् ये सब मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही होते हैं।

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार भूतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ से सम्बन्ध लिए हुए अन्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान के भी दो भेद हैं—

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—जैसे स्पर्शान्द्रिय से अन्य पदार्थ का सम्बन्ध होने पर अधिक शीतल या उष्ण होने से ये मुझे अहितकारी हैं, ऐसा जो ज्ञान है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। यह समस्त जीवों के मन के आहार से स्पष्ट और अज्ञानरूप जीवों के आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, इन संज्ञाओं के द्वारा यत्किंचित् प्रतिभास रूप होता है।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—‘घट’ इस शब्द के दो अक्षरों के पठन तथा श्रवण करने से घट पदार्थ का जानना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का विषय केवलज्ञानवत् असीम है अन्तर इतना है कि केवलज्ञान तो विशद प्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान अविशद परोक्ष है।

अवधिज्ञान—अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार पंचेन्द्रिय और मन की सहायता बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थ का स्पष्ट जानना अवधिज्ञान है। यह अवधि दो प्रकार का है—

(१) भवप्रत्यय अवधिज्ञान—जो देव, नारकी तथा छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान के मुख्यतया भव के कारण उत्पन्न हो, उसे भवप्रत्ययावधिक कहते हैं।

(२) क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान—पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच के सम्यग्दर्शन तथा तपगुणकरि नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश आदि जो शुभ चिह्न होते हैं, उस जगह के आत्म-प्रदेशों में अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान होता है, उसे क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं यह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान अनुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्द्धमान और हीयमान—इस तरह छह प्रकार का होता है।

जो अवधिज्ञान जीव के साथ एक भव में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में साथ चला जाए, तथा भव से भवांतर व क्षेत्र से क्षेत्रांतर में चला जाए, उसे क्रमशः भवानुगामी, क्षेत्रानुगामी कहते हैं। भव में भवांतर में, क्षेत्र से क्षेत्रांतर में साथ न जाए, उसे क्रमशः भवानुगामी और उभयानुगामी कहते हैं। जैसा उपजे वैसा ही बना रहे उसे अवस्थित, हीनाधिक होता रहे उसे अनवस्थित, जो क्रमशः घटकर नष्ट हो जाए उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं तथा अवधिज्ञान सामान्यतः १ देशावधि, २ परमावधि और सर्वावधि भेद से तीन प्रकार का है। इसमें देशावधि तो भवप्रत्यय, और क्षयोपशमनिमित्तक दोनों रूप होता है और परमावधि व सर्वावधि ये दोनों क्षयोपशमनिमित्तक रूप ही होते हैं।

मनःपर्ययज्ञान—मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से पंचेन्द्रिय और मन की सहायता बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए जो अन्य के मन में तिष्ठते हुए सर्वावधि ज्ञान के विषय (अवधिज्ञान के देशावधि आदि तीन भेदों में से सर्वावधि का सबसे सूक्ष्म विषय होता है) के अनन्तवे भाग सूक्ष्मरूपी पदार्थ को स्पष्ट जाने, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—

(१) ऋजुमति मनःपर्यय—मन, वचन, काय की सरलता रूप अन्य के मन में आए हुए पदार्थ को किसी के पूछे या बिना पूछे ही जानने को ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

(२) विपुलमति मनःपर्यय—सरलता तथा वक्ररूप मन, वचन, काय द्वारा चिंतित, अर्द्धचिंतित तथा अचिंतित और ऐसे ही कहे हुए, किए हुए, पर के मन में रहते पदार्थ को किसी के पूछे बिना पूछे ही जानना विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान है।

केवलज्ञान —

केवलज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा अभाव होने से अलोककाश सहित सम्पूर्ण रूपी, अरूपी पदार्थों का अपनी भूत, भविष्यत, वर्तमानकालिक अनन्तानन्त पर्याय सहित समस्त तीन लोक को स्वतः इन्द्रिय उद्योतादिक की सहायता बिना ही प्रत्यक्ष जानना केवलज्ञान है। यह ज्ञान परमात्म अवस्था में होता है।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के पांच भेदों का यह संक्षिप्त स्वरूप कहा गया। सम्यग्ज्ञान के उत्पन्न होने का कारण जो श्रुतज्ञान है, उसका वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है —

श्रुतज्ञान विषय भेद से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस प्रकार से भगवान् की दिव्य ध्वनि के अनुसार श्री गणधर देव ने चार विभाग रूप वर्णन किया है। इनमें आत्म-ज्ञानोत्पत्ति की कारणता होने से इनको वेद कहते हैं। इन चारों का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रथमानुयोग—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।

बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥

अर्थात् जिस सम्यग्ज्ञान में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का कथन है, जिसमें एक प्रधान पुरुष की आश्रय कथा है तथा उसमें मुख्यतया त्रैलोक्य शालाका पुरुषों का अर्थात् चौबीस तीर्थंकर बारह चक्रवर्ति, नव बलभद्र, नव नारायण, नव प्रतिनारायण इन त्रैलोक्य शालाका पुरुषों का चरित्र है और जो पुण्य का आश्रय करने वाला, बोधि अर्थात् रत्नत्रय समाधि अर्थात् ध्यान का निधान (खजाना) है—ऐसे उस प्रथमानुयोगरूपी शास्त्रों के विषय को सम्यग्ज्ञान ही सम्यक् प्रकार जानता है। मनुष्य इस प्रथमानुयोग के अध्ययन, अध्यापन करने से चरित्र के आश्रय पुण्य पाप रूप कार्य और उसके फल को अशुभ कार्यों से निवृत्त होकर शुभ कार्य में प्रवृत्त होने का प्रयत्न करता है और धर्म का सामान्य स्वरूप समझकर विशेष सूक्ष्म स्वरूप के जानने की अभिलाषा से अन्यान्य का भी अवलोकन करता है। आरम्भ में धर्माभिमुख करने में उपयोगी होने से इसका प्रथमानुयोग सार्थक नाम है।

करणानुयोग—

लोकालोक विभक्त्युगपरिवृत्ते चतुर्गतीनां च ।

आवर्तमिव तथा मतिरिवति करणानुयोग च ॥

अर्थात् उक्त प्रकार का सम्यग्ज्ञान ही लोकालोक विभाग को, युगों के अर्थात् काल के परिवर्तन को, चार गतियों को और लेश्या, कषाय योगादि में कर्मों की ब्यूनाधिकता से उसके परिवर्तन को तथा कर्मों के बंध, उदय, सत्ता, अय, उपशम, क्षयोपशमादि ऐसे करणानुयोग को दर्पण सदृश जानता है। इसका प्रत्येक विषय गणित से सम्बन्ध रखता है, इसलिए इसका करणानुयोग सार्थक नाम है।

चरणानुयोग—

गृहमेध्यनधारणां चारित्र्योत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम् ।

चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।

अर्थात् उक्त प्रकार का सम्यग्ज्ञान ही गृहस्थ और मुनियों के राग द्वेष की निवृत्ति पूर्वक चारित्र्य की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणभूत अंगों का वर्णन है जिसमें ऐसे चरणानुयोग शास्त्र को भली प्रकार जानता है। पाप कार्यों के त्यागने से क्रमशः आत्म-परिणाम उज्ज्वल होकर आत्मा शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो सकता है। ऐसी आचरण विधि का प्ररूपक होने से इसको चरणानुयोग कहते हैं।

द्रव्यानुयोग —

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च ।

द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥

अर्थ—द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव अजीव रूप सुतत्त्वों को तथा संयोग वियोग की विशेषता से उत्पन्न दोष पांच तत्त्वों को, पुण्य पाप को और जीव के स्वभाव विभावों को प्रकाशित करता है। इसमें द्रव्यों का विस्तृत वर्णन होने के कारण यह द्रव्यानुयोग कहलाता है।

उक्त प्रकार के चार अनुयोग शास्त्र को सम्यग्ज्ञान ही सम्यक् प्रकार जानता है, अन्य नहीं, अतएव आत्म कल्याण के लिए आत्मिक विषय के जानने की उत्कंठा रखने वाले भव्य जीवों को यह सम्यग्ज्ञान इसके अष्टांग सहित पालन करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान के अष्ट अंगों के नाम—

ग्रन्थार्थोभयपूर्ण काले विनयेन सोपधानं च ।

बहुमानेन समन्वितमनिङ्गवंज्ञानमाराध्यम् ।

अर्थात् (१) ज्ञान के शब्दाचार (२) अर्थाचार (३) उभयाचार (४) कालाचार (५) विनयाचार (६) उपधानाचार (७) बहुमानाचार और (८) अनिहन्वाचार ये आठ अंग हैं। पठन-पाठन करने वालों को इनका सदैव पालन करना चाहिए। व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, वाक्यों का उच्चारण कर मूल-मात्र के आगम के पठन-पाठन करने के शब्दाचार या व्यंजनाचार कहते हैं।

शब्द और पूर्ण अर्थ को अवधारण कर आगम का पठन-पाठन करना अर्थाचार कहलाता है।

शुद्ध शब्द और शुद्ध अर्थ सहित सिद्धांत के पठन-पाठन करने को उभयाचार व शब्दार्थोभयपूर्ण कहते हैं।

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, संध्याकाल, अर्द्धरात्रि, ग्रहण, भूकम्प, उल्कापातादि सदोष समय में पठन-पाठन न करके योग्य काल में श्रुत अध्ययन करना कालाचार व कालाध्ययन है।

गोसर्ग काल अर्थात् दोपहर के दो घड़ी पहले और प्रातःकाल के दो घड़ी पीछे, दोपहर के दो घड़ी पीछे और प्रातः काल के घड़ी पहले इन कालों के सिवाय दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्रधनुष, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण तथा भूकम्पादि उत्पादों के समय सिद्धांत (जो शास्त्र गणधर देवों के रचे हुए हैं) अथवा ग्यारह अंग दश पूर्वधारियों के रचे हुए हैं तथा श्रुतकेवलियों के रचे हुए हैं अथवा प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि के धारण करने वाले योगियों के रचे हुए हैं। उन ग्रंथों का ऐसे समय में अध्ययन वजित है। तीर्थंकरों के पुराण स्तोत्र, अराधना तथा चरित्र और धर्म को निरूपण करने वाले ग्रंथों का पठन-पाठन वजित नहीं है। वे सदा पढ़ने योग्य हैं। शुद्ध जल से हस्त-पादादि प्रक्षालन कर पवित्र स्थान में पर्यंकासन बैठकर आगम की स्तुति और नमस्कारादि कर श्रुतभक्ति पूर्वक आगम का अध्ययन अध्यापन करना, ज्ञान का उत्तम विनयाचार कहलाता है।

धारणा सहित अराधना करना अर्थात् स्मरण सहित स्वाध्याय करना, भूलना नहीं, उपधानाचार है।

ज्ञान का, पुस्तक का और पढ़ाने वाले का तथा ज्ञानी का बहुत प्रादर करना, ग्रन्थ को लाते से जाते समय उठ खड़ा होना, पीठ न बेना, आगम को उच्चासन पर विराजमान करना, अध्ययन करते समय लौकिक वार्ता न करना और अशुचि अंग तथा अपवित्र वस्त्रादि का स्पर्श न करना बहुमान-आचार कहलाता है।

जिस शास्त्र, जिस पाठक व गुरु से आगम ज्ञान हुआ हो, उसके नाम व गुण को नहीं छिपाना तथा लघु शास्त्र या अल्पज्ञानी पाठक का नाम लेने से मेरा महत्त्व घट जायगा, इस भय से बड़े ग्रन्थ या

बहुशानी अध्यापक का नाम न लेना क्योंकि ऐसा करने से मायाचार का दोष आता है, सो भनिहन्वाचार हैं ।

इस प्रकार जो भव्य जीव इन अष्टविध आचारों के रक्षापूर्वक आगम का पठन-पाठन करते हैं, उन्हें ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष होकर सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है, सम्पूर्ण विद्याओं की सिद्धि हो जाती है, वे शीघ्र ही परिशीलन (अभ्यास) रूप नौका के द्वारा ज्ञान सागर में पारंगत हो जाते हैं, उनकी बुद्धि अतिशय विशाल हो जाती है, हेयाहेय का ज्ञान होकर सन्मार्ग रूप प्रवर्तन करने से अनेक कर्मों का संवर और क्षय हो जाता है और साथ-साथ कीर्ति विवेक आदि उत्तम गुण भी सदा बढ़ते रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को आलस्य रहित होकर सदैव सम्यग्ज्ञान (जिनागम) का अभ्यास करते रहना चाहिए । ज्ञान की उपासना करने से भव्य जीव भुक्ति और मुक्ति दोनों को प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि शास्त्राभ्यास करते रहने से यह मेरा स्वरूप है यह पर का है, ये पदार्थ हेय हैं, ये उपादेय हैं ? इत्यादि पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान होता है । जब तक ये पदार्थ भेद अवगत नहीं होता है, तब तक जीव आत्म स्वरूप को नहीं जान सकता । जिस समय से आत्मा की स्वपर विवेक होकर हेयोपादेय रूप प्रवृत्ति होने लगती है । तब ही से अशुभ कर्मों की निर्जरा तथा संवर होने से प्रतिक्षण में शुभ (पुण्य) कर्मों का आश्रय होने लगता है जिसके फल से कल्पवासी व महद्भिक देवों में उच्चपद का धारी देव होता है और वहाँ अनेक भोगोपभोगों को भोगकर आयु के अन्त में मनुष्य भव धारण कर परिग्रह त्यागी होकर अपनी ध्यानगति के द्वारा वासोधनुष्य का अभाव करके भूत, भविष्यत् वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी समस्त ज्ञेय पदार्थों को प्रतिभासित करता हुआ अपने धर्मोपदेशामृत रूपी वर्षा से भव्य जीवों के संसार परिभ्रमण से संतप्त चित्त को शांत कर वह जीवन्मुक्तात्मा अन्तिम शरीर को छोड़कर सदैव के लिए परम अतीन्द्रिय, अविनाशी, तृष्णा रहित अनंत सुख का भोक्ता हो जाता है । इस प्रकार से सम्यग्ज्ञानपूर्वक किया हुआ शास्त्राभ्यास परम्परा से मोक्ष का कारण जानकर प्रत्येक व्यक्ति को निरन्तर आगम का और उसके अनुसार हितोपदेष्टा गुरुओं का भक्ति व श्रद्धा पूर्वक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में भक्ति, पूजा, उपासना तथा गुणानुवाद करते रहना चाहिए जिससे साहस, धैर्य, दृढ़ता तथा गम्भीरता बढ़ती है, बुद्धि निर्मल होती है, ज्ञानानुभव बढ़ता है और दया, क्षमा, संतोष, विनय, वात्सल्य, श्रद्धा, शील, निराकुलता, निष्कपटता आदि अनेकानेक उत्तमोत्तम गुण सदा बढ़ते रहते हैं, इसलिए भव्यों को सदैव शास्त्राभ्यास करते रहना चाहिए ।

॥ इति श्री सम्यग्ज्ञान विवरण समाप्त ॥

॥ अथ सम्यक् चारित्र्य वर्णन प्रारम्भ ॥

जिस जीव के सम्यक्त्व के नाश करने वाले मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन सम्यक्त्व धातक दर्शन मोह की तीनों प्रकृतियों के नाश होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से दुरभिनिवेश रहित सम्यग्ज्ञान विद्यमान है तथा जिसके चारित्र्य मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हुआ है और जो विषय भोगादिकों से परान्मुख दृढ़ संहनन का धारक और आसन्न भव्य है ऐसा पुण्य तो एकाएक हिसादि पाँच पापों का पूर्ण रीति से त्याग कर परम दिगम्बर नग्न रूप धारण करके मोक्ष के मार्ग स्वरूप सम्यग्ज्ञान सहित तेरह प्रकार के चारित्र्य को भली प्रकार धारण कर आत्मस्वरूप में लीन होता है और जिनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, विद्यमान हैं, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारित्र्य मोहनीय

कर्म का अभाव हो गया ऐसा पुरुष स्वयं को प्रिय लगने वाले वक्षु, रसना आदि इन्द्रिय जनित सुखों को निन्द्य और अनुपसेव्य जानता है और अपनी आत्मा से उत्पन्न नित्य अविनाशी मोक्षमुख के प्राप्त होने की उत्कट इच्छा रखता है तथापि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से जनित सुख दुःखों का अनुभव करता है क्योंकि अपने समय के अनुसार आए हुए कर्मों के उदय फल को अवश्य भोगना पड़ता है ऐसा जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह चारित्र्य मोहनीय कर्म की अल्पमंदता होने से अप्रत्याख्यानावरण का उपशम हुआ होने से तथा शक्ति रहित अथवा हीन संहनन होने के कारण हिंसादि पापों का पूर्ण रूप से त्याग करने की उत्कट लालसा रखता हुआ देशव्रती का अभ्यास करते हुए क्रमपूर्वक राग द्वेष मोहादि को घटाकर पीछे हिंसादि पंच पापों का पूर्ण त्याग कर मुनिव्रत धारण करता है और मोक्ष का पात्र बनता है यही राज मार्ग है क्योंकि विषय, कषाय आदि के घटे बिना मुनिव्रत धारण कर लेना किसी कार्य के न करने वाला व्यर्थ स्वांग मात्र है। इसीलिए सम्यक्त्व प्राप्त होने पर रागद्वेष की निवृत्ति के लिए सम्यक्चारित्र्य को अवश्य धारण करना चाहिए। जैसा कि रत्नकरण्ड आवकाचार में कहा गया है—

आर्या छन्द

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।

रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रक्षिप्यते साधुः ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय रूप अन्धकार के नाश होने पर जिसको सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से संशय विपर्यय और अन्धवसाय रहित सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है जिसको ऐसे सम्यग्दृष्टि भव्य पुरुष की राग द्वेष दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र्य धारण करना चाहिये वह चारित्र्य सकल और विकल रूप से दो प्रकार का है। समस्त प्रकार के परिग्रहों से विरक्त अनागार (साधुओं) का तो मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनों से पंच पापों का सर्वथा त्याग रूप सकल चारित्र्य है और गृह आदि परिग्रह सहित गृहस्थियों का इन पापों के एक देश त्याग रूप विकल चारित्र्य है।

अब प्रथम ही मुनि के चारित्र्य को कथन न करके एकोदेश त्याग रूप गृहस्थ के विकल चारित्र्य का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया जाता है क्योंकि मुनि धर्म तो उन लोगों के लिये है जिनके चारित्र्य मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो चुका है तथा दृढ़ संहनन के धारण और विषय भोगों से निस्पृही प्राप्त हुए कष्टों के सहन करने को पूर्ण शक्तिवान है। गृहस्थ धर्म उस मुनि धर्म के प्राप्त करने का मार्ग है। जिस प्रकार बहुत काल से आने वाले ज्वर से अशक्त मनुष्य को पहले पीने योग्य पेय पदार्थ और तत्पश्चात् खाद्य पदार्थ सेवन कराये जाते हैं उसी प्रकार विषय रूपी विषय अन्न के सेवन करने से जो मोह ज्वर उत्पन्न हुआ है और उस मोह ज्वर के सम्बन्ध से जिसको विषय सेवन करने की लालसा रूप तीव्र तृष्णा प्रगट हुई है ऐसे पुरुष को प्रथम ही योग्य विषयों का सेवन करना और क्रम से छोड़ना कल्याणकारी होता है। इसका दूसरा दृष्टान्त ये हैं कि जैसे बहुत समय से किसी तपे का सेवन करने वाले मनुष्य का एकाएक उस व्यसन से छूटना अशक्त जान क्रम क्रम से उसे ध्यून सेवन करने का उपदेश दिया जाता है जिसे वह क्रमशः कम करते-करते अन्त में उसको सर्वथा त्याग करना ही कल्याणकारी जान, छोड़ देता है उसी प्रकार अनादि काल से सेवन किये हुये पंचेन्द्रिय जनित विषय सुख से छुड़ाने और स्वस्त्व में प्राप्त होने के लिए एकदम सर्व परिग्रह को छोड़ मुनि धर्म धारण करने की शक्ति सर्व साधारण जीवों में न जान ऐसे हीन पराक्रमी मनुष्यों के लिए जिनेन्द्र भगवान ने गृहास्थाश्रम में रहकर आवक व्रतों के धारण करने का उपदेश दिया है क्योंकि जिससे उनको यथाक्रम आवक व्रतों

के पालन करने से मुनि धर्म धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि प्रथमानुयाग सम्बन्धी पुराण तथा चारित्रादि ग्रंथों में सामान्य रूप से साधारण सी प्रतिज्ञा लेने वाले गृहस्थ को भी श्रावक शब्द से स्मरण किया है तथापि चरणानुयोग सम्बन्धी उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) ग्रंथों में बहुधा पाक्षिक-नैष्ठिक और साधक ऐसे तीन प्रकार के ही श्रावक कहे हैं। क्योंकि श्रावक के अष्टमूलगुण और सप्त व्यसनों का त्याग इन तीनों में हीनाधिक्यता से पाया जाता है। सागारधर्माभूत आदि ग्रंथों में स्पष्ट कहा है कि मद्य त्यागआदि श्रावकों के आठ मूलगुण और अहिंसा आदि बारह अणुव्रत उत्तर गुण हैं। इन्हीं बारह व्रतों के विशेष भेद श्रावक की तरेपन क्रिया हैं। इन तरेपन क्रियाओं की पूर्णता भी बारह व्रतों के साथ-साथ पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारवीं प्रतिमा में हो जाती है।

॥ श्रावक की तरेपन क्रियाओं के नाम ॥

गुण वय तव सम पडिमा, वाणं जलगालणं च अणस्थमियं ।

वसंजणणं अरितं, किरिया तेवण सवया भणिया ॥

अर्थ—अष्टमूलगुण, द्वादश व्रत, द्वादशतप, समता, एकादश प्रतिमा, चतुर्विधदान, जलगालन, अथक (व्यालू), दर्शन, ज्ञान और चारित्र इस प्रकार श्रावक की तरेपन क्रियाएँ हैं। अब पक्षचर्या, साधन के द्वारा जो श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक व साधक श्रावक ऐसे तीन भेद कहे हैं उनका पृथक-पृथक वर्णन किया जाता है।

॥ अथ पाक्षिक श्रावक वर्णन प्रारम्भ ॥

सम्यग्दृष्टिः सातिचार, मूलाणुव्रतपालकः ।

अर्चाविरतस्त्वगु, पदं काक्षीहपाक्षिकः ॥

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि अतीचार सहित मूलगुण और अणुव्रत का पालन करने वाला जिन भगवान की पूजा आदि में अनुरागी तथा आगे-आगे अधिक व्रतों के धारण करने की इच्छा रखने वाला पाक्षिक श्रावक कहा जाता है। आशय यह है कि जिसे वीतराग सर्वज्ञ देव के अनुलंघ्य शासन द्वारा आत्म कल्याण का मार्ग तथा यथार्थ धर्म का स्वरूप ज्ञात हो जाने से एक देश हिंसा के त्याग करने रूप श्रावक धर्म के ग्रहण करने का पक्ष है। अथवा जिसने उस पर आचरण करना प्रारम्भ कर दिया है पर उस धर्म का निर्वाह जिससे यथेष्ट नहीं होता ऐसे चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि प्रारब्ध देश संयमी को पाक्षिक श्रावक कहते हैं। प्रारब्ध देश संयमी कहने का अभिप्राय यह कि जिसने देश संयम को पालन करने का प्रारम्भ स्वीकार किया है उसको नैगम नय की अपेक्षा से देश संयमी कहते हैं। इनके सप्त व्यसन का त्याग तथा अष्ट मूलगुण धारण सातिचार होते हैं। यद्यपि ये निरतिचार पालन का प्रयत्न करते हैं तथापि अप्रत्याख्यानावरण कथाय की चौकड़ो के उदय से विवश अतीचार लगते हैं। अब यहां शुद्ध सम्यग्दृष्टि पाक्षिक श्रावक के अहिंसा धर्म की रक्षा के निमित्त मध्य विरति आदि आठ मूलगुण और सप्त व्यसन के त्याग का वर्णन किया जाता है।

॥ आठ मूल गुण ॥

जो जीव गृहास्थाश्रम में रहकर जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन करता हुआ देश संयम के धारण करने की उत्कंठा रखता है ऐसे गृहस्थ को भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा को त्याग करने के लिए मद्य, मांस, मधु इन तीन मकार तथा बड़, पीपल, ऊमर (गूलर) कठूमर और पाकर इन पाँच प्रकार के क्षीर वृक्ष के फलों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये। इन ही के त्याग करने को आठ मूलगुण कहते हैं। इन आठ मूलगुणों को अन्य आचार्यों ने दूसरे प्रकार से भी लिखा है।

जैसा कि श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

मद्यमांस मधुत्यागः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।

अष्टौमूलगुणानाहु गुं हिणं भ्रमणोत्तमः ॥

अर्थ—मद्य, मांस और मधु के त्याग सहित पाँचों अहिंसा अणुव्रतों का पालन करना गृहस्थियों के आठ मूलगुण कहे गये हैं। ऐसा मुनियों में उत्तम गणधर आदि ने कहा है। इस प्रकार श्री समन्तभद्राचार्य ने पंच उदम्बरों की जगह हिंसादि पंच पापों का एक देश त्याग करना कहा है। तथा भगवज्जिनसेनाचार्य ने श्री समन्तभद्राचार्य के कहे हुए अष्ट मूलगुणों में से मधु के बदले जुए का त्याग कहा है।

श्री आदिपुराण में कहा गया है—

आर्या छन्द

हिंसा सत्यसस्तेयाद, अन्नह्यपरिग्रहाण्ववावर भेदात् ।

छूतामासाभ्रमद्याद्विरति, गुं हिणोऽष्टसंयमीमूलगुणाः ॥

हिंसा, झूठ, चोरी, अन्नह्य और परिग्रह इन पाँच पापों का स्थूल रीति से अर्थात् एक देश त्याग करना तथा जुआ, मद्य, मांस का त्याग करना ये श्रावकों के अष्ट मूलगुण होते हैं।

सागरधर्मावृत तथा अन्य ग्रंथों में श्रावक के अष्ट मूलगुण दूसरे प्रकार से भी कहे हैं। जैसे कहा गया है—

मद्य फल मधुनिशासन, पंच फलीविरति पंचकाप्तनुत्ती ।

जीवदया जलगालनमिति, च वृषद्विदष्टमूलगुणाः ॥

अर्थ—मद्य, मांस, मधु इन तीन मकार का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, पांच उदम्बर फलों का त्याग, नित्य त्रिकाल देव प्रार्थना करना, दया करने योग्य प्राणियों पर दया करना और जल छान कर पीना अर्थात् काम में लाना इस प्रकार आठ मूलगुण कहे हैं। तथा और भी कहा है—

आप्तपंचनुतिर्जीव, दया सलिलगालनम् ।

त्रिमद्यादि निशाहारो, उदम्बराणांच वर्जनम् ॥

अष्टौमूलगुणानेतान्, केचिदाहुर्मुनीश्वराः ।

तत्पासेनभवत्थेष, मूलगुणव्रतान्वितः ॥

अर्थ—देव बंदन, जीवों की दया पालना, जल छानना, मद्य, मांस, मदिरा का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग तथा पांच उदम्बर फल का त्याग ये भी आठ मूलगुण हैं। इन सब पूर्वोक्त कई प्रकार से आचार्यों के द्वारा भिन्न कथित मूल गुणों पर जब सामान्यतः विचार किया जाता है तो प्रायः सभी आचार्यों का अभिप्राय, अभक्ष्य, अन्याय और परिणामों की निर्दयता को छोड़ाकर अहिंसा व्रत पालन करने के लिये धर्म में लगाने का सबका, एकसा विदित होता है अतएव पाक्षिक को अहिंसा पालन करने के लिए अष्ट मूलगुणों को यावज्जीवन धारण करना चाहिए और इनके साथ ही मद्य, मांस, मधु आदि जैसे अनुपसेव्य और हिंसामय होने से नवनीत अर्थात् मक्खन के सेवन करने से, रात्रि भोजन करने और बिना छने पानी पीने में भी बड़ा पाप बंध होता है और जीवहिंसा का पाप बंध लगता है, मांस खाने का दोष लगता है इसलिये इनका भी पाक्षिक को अवश्य त्याग करना चाहिये। इन सब अभिप्रायों को पीछे कहे हुए रात्रि भोजन त्याग, त्रिकाल बंदना आदि अष्ट गुणों में मूल अन्तर्भूत हो जाने के कारण उन्हीं के अनुसार अब यहां पर वर्णन किया जाता है। जैसे—

मद्योदम्बर पञ्चकामिष मधुस्यागाः कृषाप्राणिनां
नक्तंभुवित विमुक्तिराप्तविनुति स्तोयं सुबस्त्रस्त्रुत ॥
अष्टौ ते प्रगुणागुणागणधरेरगारिणा कीर्तितां ।
एकेनाप्यनुनामिसागति भवेद् नृणो नगेहाश्वभी ॥

अर्थ—मद्य का त्याग, पांच उदम्बर फलों का त्याग, मांस का त्याग, मधु का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग तथा प्राणियों पर दया करना, देव वन्दना करना और छना हुआ पानी प्रयोग में लाना— ऐसे ये अष्ट मूलगुण श्रावकों के लिए गणधर देव ने कहे हैं। यदि इनमें से एक भी गुण कम हो तो उसे गृहस्थ अर्थात् श्रावक नहीं कह सकते।

मद्यदोष—मद्य के बनाने के लिए महुआ, दाख आदि अनेक पदार्थों को बहुत दिन तक सड़ाकर पीछे यन्त्र के द्वारा उनकी शराब उतारी जाती है। यह महा दुर्गन्धित होती है और इसके बनने में असंख्यात और अनन्त अस व स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसके अतिरिक्त इसके पीने से मोहित हुए जीव धर्म कर्म को भूलकर निशंक पंच पापों में प्रवृत्ति करते हुए इस भव और परभव दोनों लोकों का सुख नष्ट करते हैं। मद्य के पान करने से मोहित चित्त वाला पुरुष माता, स्त्री, पुत्र, बहिन आदि की सुध-बुध भूलकर निर्लज्ज होकर यद्वा तद्वा बर्ताव करता हुआ, दुर्वचन बोलता हुआ, सेव्य, अनुपसेव्य से विवेक रहित मांस आदि भक्षण करता हुआ और न पीने योग्य पदार्थों का पान करता हुआ वह अन्त में नरकगति को प्राप्त होकर अति तीव्र, घोर दुःख अनन्तकाल पर्यन्त भोगता है। इस प्रकार विचार कर संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया आदि उत्तम गुणों को अग्नि के कणवत् भस्म करने वाले उभय लोक दुःखदायी नरक आदि दुर्गति के कारण मद्य को पीने का आत्महितेच्छुक पुरुषों को अवश्य त्याग कर देना चाहिए। चरस, चंडू, अफीम, गांजा, भांग, माजून आदि समस्त मदकारक पदार्थों को मदिरापान के सदृश धर्म, कर्म दोनों से अष्ट करा देने वाला जानकर मद्यपान त्यागी को इनका भी त्याग करना चाहिए।

मांसदोष—यह अस जीवों की द्रव्य हिंसा करने से उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति, नाम और दुर्गन्ध से ही चित्त में महाघृणा उत्पन्न होती है। यह जीवों के रक्त, वीर्य, मज्जा आदि सप्त धातु और उपधातु रूप स्वभाव से ही अपवित्र पदार्थों का समूह है। मांस पिंड चाहे कच्चा हो चाहे अग्नि में पकाया हुआ हो अथवा पक रहा हो उसमें प्रत्येक अवस्था में उसी जाति के साधारण जीव, प्रत्येक जीव असंख्याते अनन्त पैदा होते रहते हैं। ऐसा मांस सेवी पुरुष उभय लोक में दुःख पाता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पंच परावर्तन रूप दुःखमय संसार में अनन्त काल पर्यन्त नरकादि दुर्गतियों में परिभ्रमण करता हुआ महान दुःसह दुःख भोगता है। अतएव मांस भक्षण को उभयलोक दुःखदायी जानकर अहिंसा धर्म पालन करने वालों को मांस भक्षण नहीं करना चाहिए।

मधुदोष—जिसको मधुमक्खी, केतकी, नीम आदि के एक-एक पुष्प के मध्य भाग से रस को चूस-चूसकर लाती है और फिर उसे यमन कर अपने छत्ते में एकत्र कर उसकी रक्षार्थ वहीं रहती है और जिसमें प्रत्येक समय समूहोंन जाति के छोटे-छोटे अंडे उत्पन्न होते रहते हैं भील आदि शहद निकालने वाले निर्दय क्रूर परिणामी नीच जाति के मनुष्य बूम आदि के प्रयोग से मधुमक्षिकाओं को उड़ाकर उन मधुमक्षिकों के छत्ते को तोड़कर घेष बची मक्खियों और अंडों सहित दाब निचोड़कर निकालते हैं ऐसे असंख्य प्राणियों के समुदाय को विनाश करने से उत्पन्न हुए, लार के समान घृणित और मांस के समान

दोष युक्त महान अपवित्र मधु का जो मनुष्य एक बिन्दु भी ग्रहण करता है उसे सात ग्राम के भस्म करने से भी अधिक पाप का भागी होना पड़ता है। जैसा कि कहा गया—

ग्राम सप्तक विदाहि रेफसा, तुल्यतान मधुभक्षि रेफसः ।

तुल्यभजलिजलेन कुत्र चि, निम्नगापति जलं न जायते ॥

अर्थ—सात ग्राम के भस्म करने से जो पाप होता है वह कुछ मधु के सेवन करने से उत्पन्न हुए पाप की समानता नहीं कर सकता क्योंकि हाथ की हथेली पर रखा हुआ पानी क्या समुद्र के जल की समानता कर सकता है अर्थात् कभी नहीं। अतएव मधु को नाना प्रकार के दुर्गतिजनित दुःखों का दाता जानकर अहिंसा धर्म पालन करने वालों को इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। जिस प्रकार मधु में समय-प्रतिसमय असंख्यात अस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है उसी प्रकार नवनीत अर्थात् मक्खन में भी दो मुहूर्त के पश्चात् अनेक अस जीवों का उत्पन्न होना शास्त्र में कहा है

यन्मुहूर्तयुगतः परं सदा मूर्च्छतिप्रचुर जीव राशिभिः ।

तद्गिर्यन्ति नवनीत मात्रये, ते ब्रजन्ति खलुः कागति मृताः ॥

अर्थ—दो मुहूर्त अर्थात् चार घड़ी के पश्चात् जिसमें अनेक सम्मूर्च्छन जीव निरन्तर पैदा होते रहते हैं ऐसे नवनीत अर्थात् मक्खन का जो पुरुष सेवन करते हैं वे अन्त में दुर्गति के पात्र होते हैं।

इस विषय में अन्य आचार्यों का ऐसा भी मत है—

अन्तर्मुहूर्तस्परतः सूक्ष्माजंतुराशयः ।

यत्र मूर्च्छन्तिनाश्रितं नवनीतं विवेकिभिः ॥

अर्थ—तैयार होने के अन्तर्मुहूर्त के पीछे नवनीत अर्थात् मक्खन में अनेक सूक्ष्म सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए विवेकी पुरुषों को वह ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि धर्मात्मा पुरुषों को मधु आदि तीन मकारवत् नवनीत को सम्मूर्च्छन जीवों का हिंसात्मक उत्पत्ति स्थान होने से अभक्ष्य जानकर इसका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

पांच उदम्बर फल नाम :—

जो वृक्ष के काष्ठ को फोड़कर निकलते हैं वे उदम्बर फल कहलाते हैं। जैसे—

उदुम्बरवटप्लक्ष, फल्गुपिप्पल जानि च ।

फलानि पञ्च बोध्याग्यु, उदुम्बराख्यानिधीमताम् ॥

अर्थ—बड़, पीपल, ऊमर अर्थात् मूलर, कठूबर या अंजीर और प्लक्ष अर्थात् पाकर इन पांचों वृक्षों के हरे फलों को भक्षण करने वाला पुरुष सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा करता है। इन पांच प्रकार के फलों में स्थूल जीव कितने भरे हुए होते हैं वे तो प्रत्यक्ष ही हिलते, चलते, उड़ते हुए अनेकों दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु उनमें सूक्ष्म जाति के भी अनेक जीव होते हैं जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते वे केवल शास्त्र रूपी ज्ञान नेत्र से ही जाने जाते हैं। यथोक्तम्—

अदृश्यो उदुम्बरप्लक्ष, ग्यग्रोधादि फलेऽपि ।

प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलः, सूक्ष्माश्चागम गोचरः ॥

जो पुरुष इन फलों को सुखाकर तथा बहुत दिन पड़े रहने से जिनके सब अस जीव नष्ट हो गए हैं ऐसे फलों को भक्षण करता है वह पुरुष उनमें अधिक राग रखने से मुख्यतया भाव हिंसा और गौण-तया द्रव्य हिंसा के दोष का भागी होता है। अभिप्राय यह है कि जो इन पांचों वृक्षों के हरित फलों के खाने से द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा दोनों होती थी तो उनके सूखने पर जब अस जीव मर गए हैं तो

उनके मृतक कलेवर के उसी में रहने से उनके भक्षण करने से मांस दोष और भक्षण करने रूप अति उत्कट इच्छा होने से राग रूपी भाव हिंसा अवश्य होती है। इसीलिए हरे और सूखे दोनों प्रकार के पंच उदम्बर फल त्याज्य हैं। जिस प्रकार पंच उदम्बर फल हरे और सूखे दोनों प्रकार से त्याज्य हैं उसी प्रकार मद्य, मांस, मधु को भी रस सहित और रसरहित दोनों को अभक्ष्य एवं हिंसामय होने से धार्मिक सज्जन पुरुषों को सर्वथा त्यागने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त जिनमें वस जीवों की उत्पत्ति होती हो ऐसे सभी फलों का गीली, सूखी दोनों अवस्थाओं में भक्षण करना सर्वथा छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार सड़े, घुने हुए अनाज को भी वस जीवों की हिंसामय होने से छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसके भक्षण करने से मांस भक्षण के समान दोष आता है इसलिए धार्मिक पुरुषों को ये त्याज्य हैं।

रात्रि भोजन दोष—

जिस प्रकार अहिंसा धर्म पालन करने के लिए धर्मात्मा पुरुष मद्य आदि अष्ट पदार्थों का त्याग करते हैं उसी प्रकार उन्हें निषिद्ध और हिंसा का कारण होने से रात्रि भोजन का भी अवश्य त्याग कर देना चाहिए क्योंकि रात्रि में भोजन करने से दिन में भोजन करने की अपेक्षा अधिक जीवों का घात होता है। कारण कि रात्रि को भोजन बनाने में सामान्यतः दिखने वाले बहुत सूक्ष्म जाति के जीव, घृत, जल, साग, चून आदि में पड़ जाते हैं तथा तैयार किए हुए भोजन में मिल जाते हैं और वह सब खाने में आते हैं उससे बड़ा पाप बंध होता है। जीव हिंसा का पाप लगता है। मांस भक्षण का दोष आता है। इसके अतिरिक्त रात्रि में भोजन बनाने से, आग जलाने से, वर्तनों के घोने से अन्धकार व थोड़े प्रकाश में न दिखने वाले जल में स्थित जीवों का विध्वंस होता है तथा धोवन का जल जहां तहां रात्रि में जीव जन्तु न दिख पड़ने के कारण डाल देने से वहां की चीटी, मच्छर आदि बहुत से जीवों की हिंसा होती है। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु के खाने का त्याग कर रखा है वह भी यदि भोजन में मिल जाए तो रात्रि में उसकी परीक्षा करना असंभव हो जायगा और बिना पहचाने खाली जाएगी तो प्रतिज्ञा भंग का दोष होगा। रात्रि में अच्छी तरह न दिखने के कारण इस अनिवारित हिंसा (पाप) के अतिरिक्त रात्रि भोजन करने वालों की शारीरिक नीरोगता में भी बहुत हानि होती है। जूं खाने से जलोदर रोग हो जाता है, मकड़ी खा जाने से कुष्ठ रोग हो जाता है, मक्खी खा जाने से वमन हो जाती है, केश (बाल) खा जाने से स्वर भंग हो जाता है, कीड़ी खा जाने से पित्त निकल आता है तथा विषमरी (छिपकली) के विष से आदमी तक मर जाता है। इस प्रकार के अनेक दोषों से कलंकित रात्रि भोजन करने वाला पुरुष इस लोक में अनेक जीवों को हिंसा के पाप से अनेक दुर्गति में भ्रमण करता हुआ अनन्त दुःख भोगता है। अनेक दोषों से भरी हुई इस रात्रि में जब देव कर्म, स्नान, अर्चन आदि सत्कर्म नहीं किए जाते हैं तो फिर भोजन करना कैसे सम्भव हो सकता है अर्थात् कभी नहीं। बसुन्दि श्रावकाचार में स्पष्ट कहा है कि रात्रि में भोजन करने वाला पुरुष किसी भी प्रतिमा का धारी नहीं हो सकता अतएव धार्मिक पुरुषों को सूर्योदय से एक मुहूर्त दिन चढ़ने के पश्चात् सवेरे और एक मुहूर्त सूर्य अस्त से पहले शाम को भोजन कर लेना चाहिए। शेष काल में भोजन करना तथा दिन में अंधेरे क्षेत्र (जहाँ पर अंधकार रहता हो) व काल (यथा आंधी आने के समय) में भोजन न करना चाहिए, ये रात्रि में भोजन करने के समान हैं। यथा—

विवसस्यमुलेधान्ते, सुप्त्वा द्वे-द्वे सुषामिकैः ।

घटिके भोजनं कार्यं, आककाचारं चंचुभिः ॥

धर्मात्मा आधकों को सवेरे और शाम को आरम्भ और अस्त की दो-दो घड़ी छोड़कर भोजन

करना चाहिए। इस प्रकार रात्रि भोजन करना उत्तम जाति और धर्म कर्म को दूषित करने वाला तथा दुर्गति एवं नाना प्रकार के दुःखों का दाता जानकर इसे सर्वथा त्यागने योग्य है। अब रात्रि भोजन के त्याग करने से उत्तम फल को प्राप्त करने वाले प्रीतिकर कुमार की कथा लिखी जाती है :-

इस ही भरत क्षेत्र के आर्य खंड में एक भगध नाम का देश है। उसमें सुप्रतिष्ठपुर नाम का एक बहुत प्रसिद्ध और सुन्दर नगर था। वह सम्पत्ति और अनुपम सुन्दरता से स्वर्गपुरी की शोभा को जीतता था। जिस समय का यह उपाख्यान है उस समय इसके राजा जयसेन थे। वे धर्मज्ञ, राजनीति निपुण, न्यायी, यशस्वी, महाबली और प्रजाहितैषी थे और वहाँ अनेक श्रीमान् श्रेष्ठ (सेठ) निवास करते थे। वहाँ एक धनमित्र नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनमित्रा था। दोनों ही की जैन धर्म पर अखंड प्रीति थी। एक दिन सागर सेन नाम के अवधिशानी मुनि को निर्दोष, शुद्ध यथा विधि नवधा भक्ति सहित प्रासुक आहार देकर इन्होंने उनसे पूछा हे नाथ ! हमें पुत्र सुख होगा या नहीं। यदि न हो तो हम व्यर्थ आशा करके अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन का संसार की मोह माया में फँस कर दुरुपयोग क्यों करें ? फिर क्यों न पापों का नाश करने वाली जिन दीक्षा को ग्रहण कर आत्म कल्याण करें ? मुनि ने इनके प्रश्न के उत्तर में कहा—तुम्हारा अभी दीक्षा ग्रहण करने का समय नहीं आया है तुमको अभी कुछ दिन और गृहवास में रहना पड़ेगा क्योंकि तुम्हारे एक महाभाग, कूलभूषण, धर्मधुरंधर, महातेजस्वी पुत्ररत्न उत्पन्न होगा जो इस मोहजाल को तोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करके अनेक प्राणियों का उद्धार करता हुआ शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्मकाष्ठ को भस्म कर स्वात्मानुभूतिरूपि सच्चे सुख निर्वाण को प्राप्त करेगा। अवधिशानी मुनि की यह भविष्यवाणी सुनकर उस दम्पति को असीम आनन्द हुआ। उस दिन से ये दोनों सेठ-सेठानी अपना समय जिन पूजन, स्तवन, अभिषेक, सत्पात्रदान करुणादान आदि धार्मिक कार्यों में विशेषता से व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार आनन्द और उत्सव सहित कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् धनमित्रा ने एक प्रतापी पुत्ररत्न को उत्पन्न किया। मुनि की भविष्यवाणी यथार्थ हुई। पुत्ररत्न के उपलक्ष्य में सेठ ने बहुत उत्सव किया याचकों को दान दिया। भगवान की नाना प्रकार की पूजा और धर्म प्रभावना कराई। सज्जन, सुहृदय इत्यादि पुरुषों का भी यथायोग्य सम्मान किया गया। इसके जन्म से बन्धु बान्धवों को बड़ा आनन्द हुआ। अनेक प्रकार मंगलगान होने लगे। इस नवजात शिशु को देखकर सबको अत्यन्त प्रीति हुई। इसीलिए इसका नाम प्रीतिकर रख दिया गया। अब ये बालक दिन-प्रतिदिन शुक्ल द्वितीय चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। इसकी सुन्दरता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि इसके रूप को देखकर बेचारे कामदेव को भी नीचा मुँह कर लेना पड़ता था और स्वभाव सिद्ध कांति को देखकर लज्जा के मारे बेचारे चन्द्रमा का हृदय काला पड़ गया। तेज से सूर्य की समानता करने वाला, ऐश्वर्य-वान भाग्यशाली, यशस्वी और महाबली था क्योंकि वह चरम शरीर का धारी अर्थात् इसी भव से भोक्ष आने वाला था। जब प्रीतिकर पाँच वर्ष का हो गया तब इनके पिता धनमित्र श्रेष्ठ ने इसको अध्ययन कराने के लिए एक सुयोग्य गुरु के आधीन कर दिया। एक तो पहले ही उसकी बुद्धि डाभ की अपनी के समान बड़ी तीक्ष्ण थी और फिर इस पर गुरु की कृपा हो गई इससे ये थोड़े ही समय में पढ़ लिखकर अच्छा विद्वान बन गया। कितने ही शास्त्रों में इसकी प्रवाह प्रवृत्ति हो गई। गुरु सेवा रूपी नाव द्वारा इसने शास्त्ररूपी समुद्र का प्रायः भाग पार कर लिया। नीतिकार ने बहुत ठीक कहा है—

जले तैलं जले गुह्यं, पात्रं वानमनागपि।

प्राप्ते शास्त्रं स्वयं याति, विस्तारं वस्तु शक्तितः ॥

अर्थ—जिस प्रकार जल में तेल, मुखों में गुप्त वार्त्ता, सत्पात्र के प्रति दिया हुआ दान मुख्यतया वस्तु की शक्ति की अपेक्षा अल्प भी बहुत्वता को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार विशुद्ध बुद्धि पवित्रात्मा शिष्य के प्रति दिया हुआ शास्त्र ज्ञान बुद्धि की निर्मलता से विस्तृतता को प्राप्त हो जाता है। पूर्ण विद्वान और धनी होकर भी उसे अभिमान का स्पर्श तक भी न हुआ था। वह निरन्तर लोगों को धार्मिक बनाने के प्रयोजन से धर्मोपदेश का श्रवण कराता और लिखाता पढ़ाता था। इसमें गुणों की सत्ता देख कर आलस्य, ईर्ष्या, मत्सरता आदि दुर्गुणों ने इसके निकट अपने सजातियों का अभाव देखकर इसके समीप से भी निकलना बन्द कर दिया था यह सब से प्रेम करता और सबके सुख दुःख में सहानुभूति रखता था। इसी कारण इसको सब छोटे बड़े एकचित्त होकर चाहते थे। महाराजा जयसेन भी इसकी सज्जनता, परोपकारिता और उदारशीलता को देखकर बहुत प्रसन्न होते थे और स्वयं इसका वस्त्राभूषणों से आदरसत्कार कर इसकी प्रतिष्ठा बढ़ाते थे। यद्यपि प्रीतिकर को धन सम्पदा आदि किसी प्रकार कमी न थी परन्तु तब भी अपने मन में विचार किया कि कर्तव्यशीलों का यह काम नहीं कि वे बैठे-बैठे अपने पिता व पितामह आदि की संचय की हुई सम्पत्ति पर आनन्द उड़ाकर आलसी और कर्तव्यहीन बने अतएव मुझको वित्तोपार्जन करना चाहिए, कोई यत्न करना चाहिए।

यह विचार कर उसने प्रतिज्ञा की जब तक मैं अपने बाहुबल से कुछ द्रव्य संग्रह न कर लूंगा तब तक मैं अपना विवाह न कराऊंगा। ऐसी प्रतिज्ञाकर अपने माता पिता तथा गुरुजनों को नमस्कार कर उनसे आज्ञा ले विदेश गमन को चल पड़ा। कितने ही वर्षों तक उसने विदेश में रहकर नीति तथा म्याय पूर्वक बहुत धन सम्पत्ति का उपार्जन किया और साथ में यश भी संपादन किया। अपने घर से आये बहुत दिन हो जाने के कारण अपने माता-पिता उसे स्मरण आने लगे। तब यह वहाँ बहुत दिन ठहरकर अपना सब सामान लेकर अपने घर को वापिस लौट आया। प्रीतिकर अपने माता-पिता से मिला। इसके विदेश से आने का समाचार सुनकर समस्त बन्धु वर्ग तथा नगर निवासियों को बहुत आनन्द हुआ। महाराजा जयसेन ने प्रीतिकर की पुण्यवाणी और प्रसिद्धि सुनकर इस पर अत्यन्त अनुराग कर अपनी कन्या पृथ्वीसुन्दर और एक अन्य देश से आई हुई वसुन्धरा तथा और अनेक सुन्दर रूपवती राजकुमारियों का इस महा भाग्यशाली श्रेष्ठ पुत्र के साथ विवाह कर दिया और इनके साथ अपना आधा राज्य भी इसे दे दिया। अगन्तर प्रीतिकर को पुण्योदय से जो राज्य विभूति प्राप्त हुई उसे वह सुखपूर्वक भोगने लगा।

उसके दिन आनन्द और उत्सव के साथ बीतने लगे। अनेक प्रकार के भोगोपभोगों को यथा-चित्त सेवन करता हुआ विषय भोगों में अत्यासक्त न होकर निरन्तर जिन भगवान का अभिषेक पूजन करता था और शास्त्र स्वाध्याय में समय बिताता था जो स्वर्ग या मोक्ष सुख का देने वाला और अशुभ कर्मों का नाश करने वाला है। वह अद्भुत भक्ति आदि सप्त गुणों से युक्त नवधा भक्ति पूर्वक सत्पात्रों को दान देता तथा दीन दरिद्रों, अंगहीन पुरुषों को कृष्णपूर्वक दान देता था जो दान इस लोक परलोक दोनों भवों में महान सुख का कारण है। वह जिन मन्दिरों, जिन प्रतिमाओं, तीर्थ क्षेत्रों आदि सप्त क्षेत्रों को जो शांति रूपी धान के उपजाने में कारण है उनकी आवश्यकताओं को अपने धन रूपी जल वर्षा से पूरी करता था और परोपकार करता तो उसके जीवन का एक मात्र उद्देश्य था। स्वभाव में बड़ा कोमल था। विद्वानों से उसे प्रेम था इस कारण लौकिक, पारलौकिक दोनों लोक सम्बन्धी कार्यों में सदा तत्पर रहता और प्रजा का प्राणों के समान रक्षण करता था। प्रीतिकर इस प्रकार आनन्द और उत्सव के साथ समय बिताने लगा।

एक समय मुप्रतिष्ठपुर के सुन्दर उपवन में चारण ऋषिधारी ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान के धारक मुनि आए। प्रीतिकर तब बड़े वैभव के साथ पुरजन तथा परिजन सहित अत्यानंद को प्राप्त होकर मुनि के दर्शनार्थ गया। मुनिराज के चरणों में साष्टांग नमस्कार कर पदचातु अष्ट द्रव्य से पूजा की और बड़ी विनती के साथ विनय की 'हे नाथ ! मुझे संसार से पार करने वाले धर्म का उपदेश दीजिये। तब ऋजुमति मुनि ने उसे इस प्रकार संक्षेप में धर्म का स्वरूप कहा—हे प्रीतिकर धर्म उसे कहते हैं जो संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख को प्राप्त करने में कारण हो। वह धर्म दो प्रकार का है एक मुनि धर्म दूसरा गृहस्थ धर्म। मुनियों का धर्म सर्व त्याग रूप होता है और गृहस्थ का धर्म एक देश त्याग रूप होता है।

मुनि धर्म तो उन लोगों के लिए है जिनकी आत्मा पूर्ण बलवान है, जिनमें प्राप्त हुए कष्टों को सहन करने की पूर्ण शक्ति है और गृहस्थ धर्म मुनि धर्म को प्राप्त करने की सीढ़ी है। जिस प्रकार एक साथ सौ पचास सीढ़ी नहीं चढ़ी जा सकती उसी प्रकार साधारण लोगों में एकदम मुनि धर्म धारण करने की शक्ति नहीं होती अतएव मुनि धर्म प्राप्त करने के लिए उन्हें क्रम-क्रम से अभ्यास रूप ग्यारह प्रतिमाओं का साधन करना चाहिए जिनका मुनियों ने निरूपण किया है। उनके यथाक्रम ठीक-ठीक अभ्यास करने से वे ही श्रावक के व्रत धारकी प्रतिमा में महाव्रत रूप को प्राप्त हो जाते हैं इसीलिए अल्प शक्ति वाले पुरुषों को पहले गृहस्थ धर्म धारण करना पड़ता है। मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म में सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि मुनि धर्म तो साक्षात् मोक्ष सुख का कारण है और दूसरा परम्परा मोक्ष सुख का कारण है श्रावक धर्म मूल कारण है सम्यग्दर्शन का पालन। यही मोक्षबीज है। इसके प्राप्त किए बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना जो ज्ञान है वह मिथ्या ज्ञान कहलाता है और व्रत आदि का धारण करना कुचारित्र्य है अतएव ज्ञान और चारित्र्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की मुख्यतया उपासना की जाती है इसी अभिप्राय से यद्यपि द्रव्यलिंगी मुनि चारित्र्य धारण करता है तथापि सम्यक्त्व रहित होने से मोक्षमार्गी नहीं कहा है क्योंकि उसे जीव के स्वभाव विभाव का दृढ़ निश्चय हुए बिना कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की यथार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसके जाने बिना और उद्देश्यों के समझे बूझे बिना व्रत आदि धारण करने में अन्धे की दौड़ के समान अपनी असली स्वाभाविक सुख अवस्था को वह नहीं पा सकता इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को सबसे पहले सम्यग्दर्शन को इसके आठों अंगों सहित पालना चाहिए सम्यक्त्व धारण करने के पहले मिथ्यात्व को छोड़ना चाहिए क्योंकि मिथ्यात्व ही आत्मा का एक ऐसा प्रबल शत्रु है जो इस जीवात्मा को अनन्तकाल पर्यन्त इस संसार चक्र में घुमाया करता है। मिथ्यात्व का संक्षिप्त लक्षण है जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट तत्व या धर्म से उल्टा चलना और धर्म से यही उल्टापन दुःख का कारण है इसीलिए आत्म हितेच्छु भव्य पुरुषों को मिथ्यात्व के परित्याग पूर्वक शास्त्र अभ्यास द्वारा अपनी बुद्धि को दर्पणवत् निर्मल बनाकर मद्य आदि अष्ट पदार्थों का त्याग कर श्रावक के अहिंसा आदि बारह उत्तर गुणों को धारण करना चाहिए।

ये मद्य त्याग आदि आठ मूल गुण धारण करने के पीछे धारण किए जाते हैं और मूल गुणों से उत्कृष्ट हैं इसीलिए उन्हें उत्तर गुण कहते हैं। मद्य, मांस आदि के त्यागी को रात्रि भोजन का, चर्म पात्र में रखे हुए हींग, धी, जल, तेल आदि का तथा कन्दमूल, अचार, मुरब्बे तथा मक्खन का भी त्याग कर देना चाहिए क्योंकि इनके खाने से मांस त्याग व्रत में दोष आता है। जुआ खेलना, मांस भक्षण, मदिरा पान, वेश्या सेवन, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीगमन ये सप्त व्यसन दुर्गति के दुस्सह दुःखों को प्राप्त करने वाले जान सर्वथा त्यागने योग्य हैं। इनका सेवन कुल, जाति, धन, जन, शरीर, सुख, कीर्ति

मान मर्यादा आदि सबका नाश करने वाला है। इनमें लवलीन (आसकन) पुरुषों को इस लोक और परलोक दोनों भवों में कण्ट उठाना पड़ता है। इन दुर्व्यसनों के सेवन में जिन-जिन व्यक्तियों ने महान दुःख उठाया वे पुराण प्रसिद्ध हैं। इनके नाम ये हैं—जुआ खेलने से महाराजा युधिष्ठिर ने, मांस भक्षण से राजा बक ने, मद्यपान करने से यदुवंशियों ने, वेश्या सेवन करने से चारुदत्त सेठ ने, चोरी करने से शिवभूति ब्राह्मण ने, शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त अन्तिम चक्रवर्ती ने, और पर स्त्री की अभिलाषा करने से रावण ने बड़ी विपत्ति उठाई थी। अतएव इनको दुर्गति एवं दुःखों का कारण जानकर दूर ही से मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनापूर्वक त्याग कर देना चाहिए। इनके अनिरिक्त जन का छानना पात्रों को भक्तिपूर्वक दान देना श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। ऋणियों ने पात्रों के तीन प्रकार बतलाए हैं—उत्तम पात्र-मुनि, मध्यम पात्र क्षत्री श्रावक और जघन्य पात्र-अविरत सम्यग्दृष्टि। इनके अनिरिक्त जा दीन, दुःखी, रोगी अंगहीन आदि हैं इनको करुणा बुद्धिपूर्वक दान देना चाहिए। सत्पात्रों को जो थोड़ा भी दान देने हैं उनको उस दान का फल बटव्रीजवत् अनन्त गुणा मिलता है। जिन भगवान का अभिषेक करना, जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करना, रथोत्सव करना, तीर्थयात्रा करना आदि भी श्रावकों के मुख्य कर्तव्य हैं। ये सब दुर्गति एवं दुःखों का नाश कर स्वर्ग या मोक्ष सुख के प्रदान करने वाले हैं अतएव आत्महितेच्छुक धर्मात्माओं को इस प्रकार अपना धार्मिक जीवन बना कर अन्त में भगवान का स्मरण चितवनपूर्वक संन्यास मरण करना चाहिए। यही जीवन की सफलता का सच्चा और सीधा मार्ग है।

इस प्रकार मुनिराज द्वारा यथार्थ धर्म का उपदेश सुनकर बहुत सज्जनों ने मिथ्यात्व का त्याग कर व्रत, नियम आदि ग्रहण किये। जैनधर्म पर उनकी खड्ग से भेदे जल के समान निश्चल श्रद्धा हो गई। प्रीतिकर ने मुनि महाराज को नमस्कार कर पुनः प्रार्थना की, हे भगवन् करुणानिधान योगिराज ! कृपा कर मुझे मेरे पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाइये। तब मुनिराज बोले—हे राजा ! सुनो। इसी जन्म में कुछ समय पहले सागरसेन नाम के मुनि आकर ठहरे थे। उनके आगमन का समाचार सुनकर अत्यानन्द को प्राप्त हुए उनके दर्शनार्थ प्रायः राजा आदि पुरजन बड़े गाजे-बाजे और आनन्द उत्सव के साथ आये थे। वे मुनिराज की पूजा स्तुति कर नगर में वापिस चले गये। तब एक वहां निकटस्थ सियार ने अपने चित्त में विचार किया कि ये नगर निवासी मनुष्य बड़े गाजे-बाजे के साथ किसी मुर्द को डालकर गये हैं। अतः वह उस मुर्द को खाने के साहस से आया। उसे आता देखकर मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा भव्य जानकर और यह सोचकर कि चाहे अभी इसके मन में दुर्ध्यान है परन्तु यह दूसरे भव में व्रतों को धारण कर मोक्ष जायेगा अतएव इसको संबोधित करना आवश्यक है।

मुनिराज ने उसे समझाया—हे अज्ञानी पशु ! तुझे मालूम नहीं कि पाप का परिणाम बहुत ही बुरा होता है। देख पाप ही के फल से तुझे इस पशु पर्याय में आना पड़ा और फिर तू पाप करने से मुंह न मोड़कर मृतक कलेवर का मांस भक्षण करने के लिए इतना व्यग्र हो रहा है। यह कितने आश्चर्य की बात है। तेरी इस इच्छा को धिक्कार है। प्रिय तुझको उचित है कि तेरा जब तक नरकों में पतन न हो उससे पहले अपने उद्धार का यत्न कर ले। तूने अब तक जिनधर्म को ग्रहण न कर बहुत दुःख उठाया पर अब तेरे लिए बहुत अच्छा समय है। इसको व्यर्थ न खोकर कुछ आत्महित की इच्छा यदि रखता है तो तू इस पुण्य पथ पर चलना सीख। सियार की होनहार अच्छी थी या उसकी काललब्धि आ गई थी यही कारण था कि वह मुनि के उपदेश को सुनकर बहुत शांत हो गया। उसने जान लिया कि मुनिराज मेरी अंतरंग इच्छा को जान गये। मुनिराज उसको शांत चित्त देखकर पुनः कहने लगे—हे प्रिय ! तू और व्रतों को तो धारण नहीं कर सकता इसलिए तू केवल रात्रि का ही खाना पीना

छोड़ दे ! यह व्रत सब व्रतों का मूल और सब प्रकार के सुखों का देने वाला है' सियार ने उपकारी मुनिराज के वचनों को सुनकर रात्रि भोजन त्याग व्रत ग्रहण कर लिया । कुछ दिनों तक तो उसने इसी व्रत को पाला पश्चात् मांस भक्षण का भी त्याग कर दिया । उसे जो कुछ न्यून अधिक पवित्र भोजन मिल जाता तो कर लेता नहीं तो निराहार ही गुरु का स्मरण चितवन करता हुआ संतोष और साम्य-भाव पूर्वक समय व्यतीत करने लगा । इस वृत्ति से उसका शरीर बहुत कुश हो गया । ऐसी दशा में एक दिन उसे केवल शुष्क आहार ही खाने को मिला । शीघ्र ऋतु का समय था । सियार तब बहुत तृषानुर हुआ वह एक कुएं पर पानी पीने को गया । भाग्य से कुएं में पानी भी बहुत नीचे मिला । जब वह पानी पीने की इच्छा से कुएं में उतरा तो वहां उसे अंधकार ही अंधकार मालूम होने लगा क्योंकि वहां सूर्य के प्रकाश का संचार न था इसलिए सियार ने समझा कि रात हो गई अतः वह बिना पानी पिये कुये के बाहर आ गया । बाहर आकर जब उसने सूर्य को देखा तो फिर पानी पीने के लिए नीचे उतरा और फिर पूर्ववत् अंधकार के भ्रम से रात्रि समझकर वापिस लौट आया ।

इस प्रकार वह कितनी ही बार उतरा वहां पर पानी न पी सका । अन्त में बार-बार उतरने-चढ़ने से वह इतना अशक्त हो गया कि फिर उससे बाहर नहीं आया गया । तब वह और भी घोर अंध-कार के होने से सूर्य को अस्त हुआ जानकर संसार समुद्र से पार करने वाले अपने गुरु महाराज का चित-वन करने लगा । तृषा रूपी अग्नि उसके तन को भस्म किये डालती थी । परन्तु तब भी वह अपने व्रत में बहुत दृढ़ रहा । उसके परिणाम वलेश रूप आकुल व्याकुल न होकर बड़े शांत रहे अन्त में उसी दशा में मर कर कुबेरदत्त और उसकी स्त्री धनमित्रा के तू प्रीतिकर हुआ है, तेरा यही अन्तिम शरीर है । अब तू कर्मों का नाश कर मोक्ष जायेगा इसीलिए सत्पुरुषों का कर्तव्य है कि कष्ट के उपस्थित होने पर व्रतों की धैर्यपूर्वक दृढ़ता से रक्षा करे । इस प्रकार मुनिराज के मुख से प्रीतिकर के पूर्वभव का वृत्तांत सुनकर उपस्थित मंडली के जनों की जिनधर्म पर अवल व पूर्ण श्रद्धा हो गई और बहुत से मनुष्यों ने यथा-शक्ति व्रत धारण किये । प्रीतिकर ने अपने इस पूर्व जन्म के वृत्तान्त को सुनकर जिनधर्म की बहुत प्रशंसा की और अन्त में उन परोपकार के करने वाले मुनिराज के चरण कमलों को भक्ति से नमस्कार कर व्रतों के प्रभाव को हृदय में विचारता हुआ वह अपने घर पर आया । मुनिराज के उपदेश का उस पर बहुत गहरा असर पड़ा । उसे अब संसार अस्थिर विषय भोग दुःखों के देने वाले शरीर अपवित्र वस्तुओं से भरा महा घिनावना और जल के बुदबुदेवत् महाविनाशी, धन सम्पदा उत्कापातवत् चंचल और केवल बाहर से देखने में सुन्दर प्रतीत होने वाली तथा स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु आदि ये सब अपनी आत्मा से पृथक् जान पड़ने लगे । उसने सोचा कि ये अपने-अपने स्वार्थ के सगे हैं । किसी रोग अथवा आपत्ति के आने पर सब दूर चले जाते हैं । यदि कोई अपना हितकारी है तो वही श्री गुरु हैं जो निष्प्रयोजन हम लोगों को भवसागर में डूबते हुए हस्तावलम्बन देकर पार लगाते हैं । सब वस्तुएं क्षण भंगुर हैं ।

जब हमारा रात दिन पालन पोषण किया हुआ शरीर नाश होने वाला है तो इससे सम्बन्धित पदार्थ भी अवश्य ही नाशवान हैं इसलिए अवसर पाकर हाथ से नहीं देने देना चाहिये और फिर यह समय हाथ नहीं आयेगा । काल अज्ञानक आकर अपना ग्रास बना लेगा और ये सब विचार यहां के यहीं रह जायेंगे । अतएव अब संसार में भटकने वाले इस मोह जाल को तोड़कर आत्महित करना उचित है । इस शुभ संकल्प के दृढ़ होसों ही प्रीतिकर ने पहले अभिषेक पूर्वक भगवान की सब सुखों को देने वाली पूजा की, खूब दान किया । और दुःखी अनाथ अपाहिजों की सहायता की । अन्त में अपने प्रियकर पुत्र को राज्य देकर अपने बन्धु-बान्धवों की सम्मति से योग लेने के लिए विपुलाचल पर भगवान

वर्द्धमान के समवसरण में आया और उन त्रिलोक पूज्य भगवान के पवित्र दर्शन कर उसने भगवान के द्वारा जिनदीक्षा धारण कर ली । इसके पश्चात् अनेक प्रकार की परिपत्तियों को साम्यभाव पूर्वक सहन करते हुये नाना उग्र तपश्चरण करने लगे और अंत में शुक्लध्यान के प्रभाव से धातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया । उनके केवल ज्ञान को प्रगट हुआ जान कर विद्याधर, चक्रवर्ती, स्वर्ग के देव आदि बड़े बड़े महापुरुष उनके दर्शन, पूजन को आने लगे । प्रीतिकर भगवान ने तब संसार तम को नाश करने वाले पवित्र उपदेशामृत से अनेक जीवों को दुःखों से छुटाकर सुखी बनाया । अन्त में अधानिया कर्मों का भी नाशकर परम पद मोक्ष स्थान को प्राप्त करते हुए । अब वे संसार में आकर नहीं रहेंगे । ऐसे श्री प्रीतिकर स्वामी मुझे शान्ति प्रदान करें । जो एक अत्यन्त अज्ञानी पशु योनि में जन्मे सियार ने भगवान के पवित्र धर्म का अंशतः व्रत अर्थात् केवल रात्रि भोजन त्याग व्रत स्वीकार कर मनुष्य जन्म प्राप्त किया और उसमें आनन्द पूर्वक सुख भोगकर अन्त में अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति की तब उसे यदि गृहस्थजन धारण करें तो फिर उन्हें क्यों न उत्तम गति प्राप्त हो अर्थात् अवश्य होगी ।

अथ जीव दया प्रकरण :-

सब जीवों को अपने प्राणों के समान जानकर उनको किंचित दुःख या कष्ट देने के परिणाम न रखता किन्तु दुःखी जीवों के दुःख दूर करने की इच्छा रखना दया है । ऐसा जानकर आत्महितेच्छुक धर्मात्मा पुरुषों को चाहिये कि जिनपूजा, पात्र दान और कुटुम्ब के पालन पोषण आदि के लिए सेती व्यापार आदि आजीविका के कार्यों में जीवमात्र पर दया रखते हुए यत्न पूर्वक प्रवृत्ति करे क्योंकि सदा सब प्राणी अपने-अपने प्राणों की रक्षा चाहते हैं जिस प्रकार अपने प्राण अपने को प्रिय हैं उसी प्रकार ऐकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त सब प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं । जैसा कि कहा गया है-

प्राणायथ्यात्मनो भोष्टा, भूतानामपितेतथा ।

आत्मोपम्येन भूतानां दयां कुर्वीतमानवः ॥

अर्थ—जिस प्रकार तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार सब जीवों को अपने-अपने प्राणप्रिय हैं । इसीलिए मनुष्यों को अपनी आत्मा की तरह सब जीवों पर दया करनी चाहिये । जिस प्रकार अपने पैर में जरा सा कांटा लगने पर भी वे तज्जनित वेदना को सहन नहीं कर सकते उसी प्रकार कीड़े धोटी आदि विकलत्रय तथा पशु, मनुष्य आदि कोई भी प्राणधारी दुःख भोगने की इच्छा नहीं करते और न उसके कष्ट को सह सकते हैं अतएव जीवों को अपने आत्मा के समान दुःखों का अनुभव कर रंचमात्र कष्ट न पहुंचाना चाहिये । धर्म का मुख्य सार यही है कि अपने को अनिष्ट लगने वाले, आत्मा के प्रतिकूल जो दुःख आदि हैं उन्हें किसी दूसरे जीव को मत दो । सदा सब पर दया करो । यह दया ही धर्म का मूल है । अहिंसा परमो धर्मः यह शास्त्र वाक्य भी है । इसके विषय में अन्य ग्रन्थों में भी लिखा ही है—

अहिंसा लक्षणो धर्मो, ह्यधर्मः प्राणिनां वधः ।

तस्माद्धर्माभिर्लोकैः कर्त्तव्या प्राणिनां दया ॥

अर्थ—जिसमें अहिंसा है वह धर्म और जिसमें जीवों का वध है वह अधर्म है । इस कारण धर्माभिलाषी पुरुषों को सदा सब जीवों पर दया करनी चाहिये । जिसके हृदय में दया नहीं है वह जैन धर्म धारण करने का पात्र नहीं क्योंकि निर्दयी मनुष्य के हृदय में बीज के बिना वृक्ष की तरह अहिंसा लक्षण धर्म की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि कदापि नहीं हो सकती ऐसा जानकर निरन्तर जीवमात्र पर दया करना योग्य है दया पालक में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील का स्वतः त्याग होकर सब गुण आकर निवास करते हैं ।

देव वंदना—

सर्वज्ञ, हितोपदेशी परम वीतरागी शान्तस्वरूप श्री अरिहन्त देवाधिदेव की जीवनमुक्त साक्षात् अवस्था में अथवा उसी सकल परमात्मा के स्मरणार्थ और परमात्मा के प्रति आदर सत्कार रूप प्रवर्तन के आलम्बन स्वरूप स्थापना, निक्षेप से मित्रों द्वारा प्रतिष्ठित तदाकार प्रतिबिम्ब रूप में विशुद्ध अन्तःकरण से अपना भाग्योदय समझ अत्यन्त हर्षित होते हुए दर्शन करने, परमात्मा के गुणों में अनुराग बढ़ाने परमात्मा का भजन और स्वरूप का चिंतन करने रूप देव वंदना करने से इस जीवात्मा को आगामी दुःखों और पापों की निवृत्तिपूर्वक महत् पुण्योपाजन होता है पुनः वीतराग और परम शान्त मूर्ति के निरन्तर सप्रेम दर्शन आदि करने से सम्यक्त्व की निर्मलता, धर्म में श्रद्धा और अन्तःकरण शुद्ध होता है। इस देव वंदना का अन्तिम फल मोक्ष कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जो जीवात्मा गृहस्थ के प्रपंच व संसार के मोह जाल में फंसे हुए हैं उनका आत्मा इतना बलिष्ठ नहीं होता है कि जो केवल शास्त्रों में परमात्मा का स्वरूप वर्णन सुनकर अर्थात् आगम द्वारा परमात्मा का स्वरूप जानकर एका-एक बिना किसी चित्र के आलम्बन के परमात्मा के स्वरूप का चित्र अपने हृदय में अंकित कर सकें वे ही इस मूर्ति के द्वारा परमात्मा स्वरूप का कुछ ध्यान और चिंतन करने में समर्थ हो अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति में अग्रसर हो जाते हैं। जिस प्रकार जब कोई चित्रकार चित्र खींचने का अभ्यास करता है तब वह सबसे पहले सुगम और सरल चित्रों को देखकर चित्र खींचने का अभ्यास करता है एकदम किसी कठिन और गहन चित्र को नहीं खींच सकता जब उसको दिन प्रतिदिन का अभ्यास पड़ जाता है तब वह कठिन और गहन चित्र बनाने के साथ-साथ छोटे को बड़ा और बड़े को छोटा भी बनाने लगता है। जब वह उत्तरोत्तर अभ्यास करते-करते चित्रकारी में पूर्णतया दक्ष हो जाता है तब चित्र नायक के बिना देखे ही केवल उसकी व्यवस्था जानकर उसका साक्षात् चित्र अंकित करने लग जाता है। उसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम निरालम्बन परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकता इसीलिए वह परमात्मा की ध्यान मुद्रा पर से ही अपना अभ्यास बढ़ाता है। मूर्ति के निरन्तर दर्शन आदि अभ्यास में जब वह ध्यान मुद्रा से परिचित हो जाता है तब शनैः शनैः एकान्त में स्थित होकर उस मूर्ति का चित्र अपने हृदय पर अंकित करने लगता है ऐसा करने से उसका आत्मबल, मनोबल दिनोंदिन वृद्धि को प्राप्त होकर उस मूर्ति के नायक श्री अरिहन्त देवाधिदेव की समवशरण आदि विभूति सहित साक्षात् चित्र को अपने हृदय में प्रतिकृति करने लगता है इस प्रकार के ध्यान को रूपस्थ ध्यान कहते हैं और वह ध्यान प्रायः मुनि अवस्था में ही होता है। आत्मीय बल के इतने उन्नत हो जाने की अवस्था में फिर उसको धातु पाषाण की मूर्ति पूजन आदि अर्थात् परमात्मा के ध्यान आदि के लिए मूर्ति का आलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु वह रूपस्थ ध्यान के अभ्यास में परिपक्व होकर विशेष उन्नति कर साक्षात् सिद्धों के चित्र को खींचने लगता है। इस प्रकार ध्यान के बल से वह अपनी आत्मा के कर्ममल को पृथक् करता रहता है और फिर उन्नति के सोपान पर चढ़ता हुआ प्रशस्त शुक्लध्यानान्ति के बल से समस्त कर्मों का क्षय कर देता है और इसी प्रकार अपने आत्मत्व को प्राप्त कर लेता है और उस अवस्था को प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बनना सब आत्माओं को अभीष्ट है। अब आत्म स्वरूप की दूसरे शब्दों में शेष कहिये कि परमात्मा स्वरूप की प्राप्ति के लिए परमात्मा की भक्ति, पूजा और उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है परमात्मा का ध्यान, परमात्मा के गुणों का चिंतन ही हमें अपनी आत्मा का स्मरण कराता है। अपनी भूली हुई निधि की स्मृति कराता है। इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा का दर्शन, स्तवन और पूजन करना हमारी आत्मा के लिए आत्मदर्शन का प्रथम सोपान है और

इसकी आवश्यकता प्रथमावस्था अर्थात् गृहावस्था ही में होती है यही कारण है कि हमारे आचार्यों ने परमात्मा की पूजा, भक्ति, उपासना करना गृहस्थों का मुख्य धर्म बताया है। यथा श्री पद्मनाभ आचार्य गृहस्थों के लिए दर्शन, स्तवन और पूजन की अत्यन्त आवश्यकता को प्रकट करते हुए लिखते हैं :—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।

निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां च गृहाश्रमम् ॥

अर्थ—जो जिनेन्द्र भगवान को पूजन, दर्शन और स्तवन नहीं करते उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहाश्रम को धिक्कार है। तथा सुभाषितावली से श्री सकलकीर्ति आचार्य ने यहां तक लिखा है—

‘पूजा विना न कुर्येत् भोग सोख्यादिकं कदा ।’ अर्थात् गृहस्थों को भगवान का पूजन किए बिना कदापि भोग, उपासना आदि न करना चाहिए। सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करने चाहिए तथा इसी आवश्यकता को प्रकट करते हुए श्री स्वामी कुंकुंदाचार्य रथणसार में यहां तक लिखते हैं :—

वाणं पूजा भूषणं, साधयधम्मो णेसाधया तेणविणा ।

भाणउभयणं भूषणं, जइ धम्मो तं विणा सोवि ॥

अर्थ—दान देना और पूजन करना धावक का मुख्य धर्म है। इसके बिना कोई धावक नहीं कहला सकता और ध्यानाध्ययन करना मुनि का मुख्य धर्म है। जो इससे रहित है वह मुनि नहीं है।

भावार्थ—यह है कि मुनियों के ध्यानाध्ययन की तरह दान देना और पूजन करना ये धावक के मुख्य कर्तव्य कर्म हैं। इत्यादि उपरोक्त वाक्यों से स्पष्ट विदित होता है कि पूजन करना गृहस्थ का धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है। बिना पूजन के मनुष्य जन्म निष्फल और गृहाश्रम धिक्कार का पात्र है। बिना पूजन के कोई गृहस्थ धावक का नाम ही नहीं पा सकता। यथा :

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषू च विनति धार्मिकः प्रीतिरुच्चं,

पात्रेभ्यो दानमापन्निहत जनकृते तच्च कारुण्य बुद्धया ।

तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रततिरमलं वर्शनं यत्र पूज्यं,

तद् गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखो मोहपाशः ॥

अर्थ—जिनेन्द्र देव की आराधना, गुरु के समीप विनय, धर्मस्था लोगों पर प्रेम, सत्पात्रों को दान, विपत्ति में फंसे हुए लोगों का कष्टना बुद्धि से दुःख दूर करना, सत्त्वों का अभ्यास, अपने व्रतों में लीन होना और निर्मल सम्पददर्शन का होना—ये सब क्रियाएं जहां मन, वचन, काय से होती हैं वही गृहस्थपना को मान्य है और जहां ये क्रियाएं नहीं हैं वहां गृहस्थपना इस लोक और परलोक दोनों में दुःख देने वाला केवल मोह का जाल है अतएव आत्महितेच्छुक सभी प्राणियों को मोक्ष रूपी महानिधी को प्राप्त कराने वाली यह देव वन्दना अर्थात् जिन दर्शन, पूजन आदि पूर्ण शक्ति एवं योग्यता के अनुसार अपना कर्तव्य समझकर नित्य अवश्य ही करना चाहिए। पूजन कई प्रकार की होती है यथा भगवज्जिनसेन आचार्य ने आदिपुराण में लिखा है—

प्रोक्ता पूज्याहंतामिज्या, साचतुर्धासिदाचनम् ।

चतुर्मुखमहः कल्प, द्रुमश्चाष्टान्हिकोऽपि च ॥

अर्थ—अरहंतों की पूजा का नाम इज्या है और वह चार प्रकार की है—नित्यमह, अष्टान्हिक-मह, चतुर्मुख और कल्पवृक्ष। इनके अतिरिक्त एक पांचवां ऐन्द्रध्वज यज्ञ है जिसको इन्द्र ही करता है।

चतुर्मुख आदि पूजा सदा काल नहीं बन सकती और न ही वर्तमान समय में सब गृहस्थ जैनियों से इसका अनुष्ठान हो सकता है। अतएव सब साधारण जैनियों के लिए नित्य पूजा की ही मुख्यता है अर्थात् सभी नित्य पूजा कर सकते हैं। नित्य पूजा का मुख्य स्वरूप भगवज्जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में इस प्रकार लिखा है—

तत्र नित्यमहोनाम, शिवजिजनगृहं प्रति ।

स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा, गंधपुष्पाक्षतादिका ॥

अर्थ—प्रत्येक दिन जिन मन्दिर में अपने घर से गन्ध, अक्षत, पुष्प आदि पूजन की सामग्री ले जाकर प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की पूजा करने को नित्यमह कहते हैं। ऐसा ही धर्मसंग्रहथावकाचार में कहा है—

जलाद्यं धौतपूतानी, गृहान्नीतैर्जिनालयम् ।

यद्यर्च्यते जिनायुक्तया, नित्य पूजाऽभ्यधायिसा ॥

अर्थ—पवित्र शरीर होकर गृहस्थ लोग जो अपने गृह से लाए हुए जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प आदि द्रव्यों से जिन भगवान की पूजन करते हैं वह नित्य पूजा कही जाती है।

पुनः—

देवार्चनं गृहेस्वस्य, त्रिसंध्यं देव वन्दनम् ।

मुनि पादार्चनं दाने, सोऽपि नित्यार्चतामता ॥

अर्थ—अपने घर में जिन भगवान की पूजन करना, तीनों काल देव वन्दना करना तथा दान देने के समय मुनियों के चरणों की पूजन आदि करना ये सब नित्य पूजन के भेद हैं अतएव प्रत्येक गृहस्थ को पूजन या दर्शन करने के लिए अपनी शक्ति एवं योग्यता के अनुसार अष्ट द्रव्य अवश्यमेव निरन्तर अपने घर से ले जाकर इन्द्र आदि देवों के द्वारा पूज्य परमात्मा बीतराग सर्वज्ञ देव की प्रतिदिन पूजा करनी चाहिए। प्रकट रहे कि दर्शन के समय जो जिनेन्द्र देव आदि की स्तुति पूर्वक नाम आदि का उच्चारण करके जिन प्रतिमा के सम्मुख एक दो आदि द्रव्य चढ़ाए जाते हैं सामान्यतः वह भी नित्य पूजन कहलाता है। उपरोक्त कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि द्रव्य के बिना मन्दिर जी में जाना ही निषिद्ध है। जाना निषिद्ध नहीं है क्योंकि यदि किसी समय द्रव्य उपलब्ध न हो तो केवल भाव पूजन भी हो सकता है। तथापि गृहस्थों के लिए द्रव्य से पूजन करने की अधिक मुख्यता है। इस कारण नित्य पूजन का ऐसा स्वरूप वर्णन किया है। पूजन फल प्राप्ति के विषय में पूजन के संकल्प और उद्यममात्र से देवगति को प्राप्त करने वाले मेंढक की कथा सर्वत्र जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। यथा—पुण्यास्त्रवकोश, महावीरपुराण, धर्मसंग्रहथावकाचार आदि। अब यहां उस कथा का सार लिखा जाता है।

यह भारत क्षेत्र जिसमें हम सब प्राणी निवास कर रहे हैं जम्बूद्वीप के सुदर्शन मेरु की दक्षिण दिशा में है। इसमें अनेक तीर्थंकरों का जन्म हुआ है अतएव यह महान् व पवित्र है। भगव भारतवर्ष में एक प्रसिद्ध और धनशाली देश है मानों सारे संसार की लक्ष्मी जैसे यहीं आकर एकत्रित हो गई हो। यहां के निवासी प्रायः सभी धन सम्पत्ति युक्त, धर्मात्मा, उदार और परोपकारी हैं। जिस समय का यह व्याख्यान है उस समय भगव देश की राजधानी राजगृह नामक एक बहुत मनोहर नगर था। सब प्रकार के उत्तमोत्तम भोगोपभोग योग्य पदार्थ वहां बड़ी सुलभलता से प्राप्त होते थे। विद्वानों के समूह वहां निवास करते थे। वहां के पुरुष देवों से और स्त्रियां देव बालाओं से कहीं बढ़कर सुन्दर थीं। स्त्री-पुरुष प्रायः सब ही सम्यक्त्व रूपी भूषण से अपने को विभूषित किए हुए थे और इसीलिए राजगृह उस समय

मध्य लोक का स्वर्ग कहा जाता था। वहाँ समस्त देश में बहुधा विशेषतया जैनधर्म का प्रचार था। उसे प्राप्त कर सर्वसाधारण सुख शान्ति का लाभ करते थे। उस समय उसके राजा श्रेणिक थे। श्रेणिक धर्मज्ञ उदार मन, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी और बड़े विचारशील थे। जैनधर्म और जैनतत्व पर उनको पूर्ण विश्वास था।

भगवान के चरण कमलों की भक्ति उसे इतनी प्रिय थी जितनी भ्रमर को कमलिनी। इनका प्रतिबन्दी या कोई शत्रु नहीं था। वे निर्विघ्न राज्य किया करते थे। सदाचार में उस समय उनका नाम सबसे ऊँचा था। सत्पुरुषों के लिए वे शीतल चन्द्रमा थे। प्रजा को अपनी सन्तान के समान पालते थे। श्रेणिक के कई रानियाँ थीं। चेलना उन सबमें उन्हें सबसे अधिक प्रिय थी। सुन्दरता, गुण और चतुरता में चेलना का आसन सबसे ऊँचा था। उसे जैनधर्म से, भगवान की पूजा प्रभावना से बहुत प्रेम था। कृत्रिम भूषणों द्वारा सिंगार करने को महत्व न देकर उसने अपनी आत्मा को अनमोल सम्यग्दर्शन रूप भूषण से विभूषित किया था। जिनवाणी सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण है और इसीकारण वह सुन्दर है। चेलना में किसी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की कमी न थी इसलिए उसकी रूप सुन्दरता ने और अधिक सौन्दर्य प्रकाश कर लिया था।

राजगृही में एक नागदत्त नाम का सेठ रहता था। वह जैनी न था। उसकी स्त्री का नाम भवदत्ता था। नागदत्त बड़ा मायाचारी था। सदा माया के जाल में वह फँसा हुआ रहता था। इस मायाचार के पाप से मरकर वह अपने घर के आंगन की बावड़ी में मेंढक हुआ। नागदत्त यदि चाहता तो कर्मों का नाश कर मोक्ष चला जाता पर पाप कर वह मनुष्य पर्याय से पशु जन्म में आया और मेंढक हुआ। अतएव भव्य जनों को उचित है कि वे संकट-समय में पाप न करें। एक दिन भवदत्ता इस बावड़ी पर जल भरने को आई। उसे देखकर मेंढक को जाति स्मरण हो गया। वह उछल-उछल कर भवदत्ता के कपड़ों पर चढ़ने लगा। भवदत्ता ने भय के मारे उसे कपड़ों पर से भिड़क दिया। मेंढक फिर भी उछल-उछल कर उसके वस्त्रों पर चढ़ने लगा। उसे बार-बार अपने पास आता देखकर भवदत्ता बड़ी चकित हुई और डर भी लगा पर इतना उसे विश्वास हो गया कि इस मेंढक का और मेरा पूर्वभूव का सम्बन्ध कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिए क्योंकि ये मेरे बार-बार भिड़कने पर भी फिर-फिर आता है। अस्तु किसी मुनिराज का समागम होने पर मैं इसका वृत्तान्त अवश्य पूछूंगी। भाग्य से एक दिन अवधिज्ञानी सुव्रत मुनिराज राजगृही में आकर ठहरे। भवदत्ता को मेंढक का वृत्तान्त जानने की अति उत्कंठा थी अतएव मुनि आगमन का समाचार सुनते ही वह उनके पास गई। मुनि के युगल चरणों में सविनय नमस्कार कर प्रार्थना करने लगी—हे प्रभो! मुझे मेंढक का पूर्व भव का वृत्तान्त जानने की अति उत्कंठा है अतः आप कृपा करके कहिए।

सुव्रत मुनि ने तब उससे कहा जिसका तू हाल पूछने को आई है वह दूसरा कोई न होकर तेरा इसी भव का पति नागदत्त है। वह बहुत मायाचारी होने के कारण इस तिर्यच (मेंढक) योनि को प्राप्न हुआ है। उन मुनिराज के संतोषजनक वचनों का श्रवण कर भवदत्ता अपने घर पर आ गई। उसने फिर मोहवश हो उस मेंढक को भी अपने यहां ला रखा। मेंढक वहां आकर बहुत प्रसन्न हुआ। अथानंतर इसी अवसर में वैभार पर्वत पर अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान का समवशरण आया। वनमाली ने आकर छहों ऋतु के फल-फूल लाकर राजा को समर्पित किए और विनय पूर्वक निवेदन किया कि स्वामिन्! जिनके चरण कमलों की इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि सभी महापुरुष स्तुति पूजा करते हैं वे महावीर भगवान समवशरण विभूति सहित वैभार पर्वत पर पधारे हैं जिसके

प्रभाव से षट् ऋतुओं के फल-फूल आ गए हैं। बापी, कूप, सरोवर आदि मिष्ट जल से भरपूर हो गये हैं। और सब वन, उपवन हरे-भरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं। भगवान् के आगमन का आनन्दमय समाचार सुनकर राजा श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए और तत्क्षण ही सिंहासन से उतर कर सात पग खलकर भक्ति भाव से उन्होंने भगवान् को परोक्ष नमस्कार किया। पश्चात् वनमाली की वस्त्राभूषण रूप पारितोषिक देकर उन्होंने नगर निवासी मनुष्यों को इस शुभ समाचार से परिचित करवाने के लिए सारे नगर में आनन्द घोषणा करवा दी। श्रेणिक बड़े वैभव के साथ आनन्द भेरी बजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्री वीर जिनेन्द्र की पूजा और बन्दना को चले। दूर से ही संसार का हित करने वाले भगवान् के समवशरण को देखकर वे उतने ही प्रसन्न हुए जितने मेघ को देखकर भीर प्रसन्न होते हैं।

जब समवशरण के निकट पहुंचे तब राजा पैदल चलने लगे। भगवान् के समवशरण में प्रवेश कर अत्यानन्द को प्राप्त होकर तीन प्रदक्षिणा देकर वीर जिनेन्द्र को साष्टांग नमस्कार किया। पश्चात् उत्तमोत्तम द्रव्यों द्वारा भगवान् की पूजा करके अंत में उनके गुणों का गान किया—हे भगवान् दया के सागर। श्रुति महात्मा आपको 'अग्नि' कहते हैं। क्योंकि आप शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म काष्ठ को भस्म कर देने वाले हैं। आप को मेघ भी कहते हैं वह इसलिए आप प्राणियों को संतप्त करने वाली दुःख, शोक, चिन्ता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि दावानलाग्नि को, अपने धर्मोपदेशा-मृत रूपी वर्षा से शांत कर देते हैं। आपको सूरज भी कहते हैं वह इसलिए कि आप अपनी उपदेश रूपी किरणों के द्वारा भव्यजन रूपी कमलों को प्रफुल्लित कर अज्ञान रूपी अन्धकार के नाशक और लोक अलोक के प्रकाशक हैं और आपको सर्वोत्तम वैद्य भी कहते हैं वह इसलिए कि धन्वन्तरि जैसे वैद्य से भी नाश न होने वाली जन्म, जरा, मरण रूप व्याधि आपके उपदेशामृतरूप औषधि के सेवन करने से जड़ मूल से नष्ट हो जाती है। आपको परम हितोपदेष्टा तथा परम हितैषी भी कहते हैं वह इसलिए कि आप अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा अनादि काल से अविद्या ग्रसित संसारी जीवों को उनकी आत्मा का स्वरूप और मोक्ष के कारणों वा संसार और संसार के कारणों का स्वरूप भली भांति दर्शाते हैं जिससे अपना हित साधन करने में उनकी प्रवृत्ति होती है।

हे जगदीश ! जो सुख आपके पवित्र चरण कमलों की सेवा करने से प्राप्त हो सकता है वह अनेक प्रकार से कठिन परिश्रम के द्वारा भी प्राप्त नहीं हो सकता इसीलिए हे दया के सागर मुझ गरीब अनाथ को अपने चरणों की पवित्र और मुक्ति का सुख देने वाली भक्ति प्रदान कीजिए। जब तक मैं संसार से पार न हो जाऊँ।' इस प्रकार बड़ी देर तक श्रेणिक ने भगवान् का पवित्र भावों से गुणानुवाद किया। तत्पश्चात् वे गीतम गणधर आदि महर्षियों की नाना प्रकार से स्तुति कर भक्ति पूर्वक प्रणाम कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गए। भगवान् के दर्शनों के लिए जिस समय राजा श्रेणिक जा रहे थे उस समय मेंढक भी जो नागदत्त श्रेष्ठी की बावड़ी में रहता था और जिसको अपने पूर्ण जन्म की स्त्री भवदत्ता को देखकर जाति स्मरण हो गया था वह भी तब बावड़ी में से श्री जिनेन्द्र की पूजा के लिए एक कमल की कली को अपने मुख में दबाए हुए बड़े आनन्द और उल्लास के साथ उछलता और कूदता हुआ नगर के लोगों के साथ समवशरण की ओर चल दिया। मार्ग में जाता हुआ वह मेंढक राजा श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे आकर मर गया पर उसके परिणाम त्रिलोक पूज्य महावीर भगवान् की पूजा में लगे हुए थे इसीलिए वह पूजा के प्रेम से उत्पन्न होने वाले पुण्य से सौधर्म स्वर्ग में महद्विक देव हुआ। देखिए कहां तो मेंढक और कहां अब वह स्वर्ग का देव। सच है कि जिन भगवान् की पूजा के फल से क्या नहीं प्राप्त होता अर्थात् जिन भगवान् की पूजा से सब कुछ प्राप्त हो सकता है। एकदम

मन्तमूर्त में वह मेंढक का जीव प्राणों को चकाचौंध लाने वाला तेजस्वी और सुन्दर योवनावस्था का धारक देव बन गया। अनेक प्रकार के दिव्य रत्नमयी अलंकारों की दीप्ति से उसका शरीर आच्छादित हो रहा था। अतिसुन्दर शोभा संयुक्त होने से वह ऐसा मालूम होता था, मानों रत्नराशि या रत्नशैल बनाया गया हो। उसके सुन्दर बहुमूल्य वस्त्रों की शोभा मनुष्यों के चित्त को चकित करने वाली थी।

उसके कंठ में अपनी सुगन्ध से दसों दिशाओं को सुगन्धित करने वाले स्वर्गीय कल्प-वृक्ष जनित पुष्पों की माला अद्भुत शोभा दे रही थी। उसे अवधिज्ञान से जान पड़ा कि मुझे जो यह सम्पत्ति मिली है और मैं ऐव हुआ हूँ यह सब भगवान की पूजा की रचित भावना का फल है अतएव सबसे पहले मुझे जाकर पतित पावन भगवान की पूजा करनी चाहिए। इस विचार के साथ ही अब वह अपने मुकुट पर मेंढक का चिन्ह बनाकर महावीर भगवान के समवशरण में आया। भगवान की पूजन करते हुए इस जीव के मुकुट पर मेंढक का चिन्ह देखकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब राजा श्रेणिक ने हाथ जोड़कर गौतम भगवान से वित्तपूर्वक पूछा-हे प्रभो! संशयरूपी हृदयगत अन्धकार को नाश करने वाले सूरज! मैं इस मेंढक के चिन्ह से अंकित शेषर नामक देव का विशेष वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ अतः कृपा करके कहिए। तब ज्ञान की प्रकाशमान ज्योति रूप गौतम भगवान ने श्रेणिक को नागदत्त के भव से लेकर अद्यावधि पर्यन्त सब कथा कह सुनाई। उसे सुनकर श्रेणिक को तथा अन्य भव्यजनों को बड़ा आनन्द हुआ। भगवान की पूजा करने में उनकी बड़ी श्रद्धा हो गई। जिन पूजन का इस प्रकार उत्कृष्ट फल जानकर अन्य भव्यजनों को भी उचित है कि वे सदाचार, सविद्या, धन, सम्पत्ति, राज्य वैभव, स्वर्ग तथा मोक्ष आदि के सुख का कारण जिन भगवान की पूजा आलस्य तथा प्रमाद रहित किया करें क्योंकि अब मुझको भी समवशरण में चलकर श्री जितेन्द्र की पूजा करना चाहिए।

जब ऐसे संकल्प और उद्यम करने मात्र से जिनपूजन करने वाला राजगृह नगर के सेठ नागदत्त का जीव स्वर्ग में भी पूज्य हुआ तो फिर जो अपने शरीर से अष्ट-द्रव्य लेकर तथा वचनों से अनेक प्रकार के शब्द और अर्थों के दोषों से रहित माधुर्य आदि गुण तथा उपमा आदि अलंकार संयुक्त गद्य पद्यमय रमणीय काव्यों के द्वारा जल चन्दन आदि सामग्री की स्वाभाविक निर्मलता और सुगन्ध आदि गुणों का वर्णन करते हुए तथा भगवान के गुणानुवाद पूर्वक पवित्र भावों में भगवान की पूजा करते हैं उसके सुख का तो पूछना ही क्या। थोड़े में ऐसा समझना चाहिए कि जो भव्यजन भक्तिपूर्वक भगवान की प्रतिदिन पूजन किया करते हैं वे सर्वोत्तम सुख या मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं तब सांसारिक सुखों की तो बात ही क्या है, वह तो उनको विशेष रूप से मिलता है और मिलना भी चाहिए। अतएव भव्यजनों को उचित है कि वे जिन भगवान का अभिषेक, पूजन, स्तवन, ध्यान आदि सत्कर्मों को सदा प्रयत्नशील होकर किया करें।

जलशालन :—

धर्मात्मा पुरुष जिस प्रकार रात्रि भोजन त्याग करते हैं उसी प्रकार उन्हें बिना छने पानी का त्याग भी करना चाहिए। क्योंकि अनछने पानी में सूक्ष्म त्रसजीव होते हैं अतएव जीव दया के पालन करने के निमित्त भव्यजनों को उचित है कि स्वच्छ, निर्मल और गाढ़े दुपरता छाने से जल को छानकर उपयोग में लाया करें। छोटे छेद वाले, अधिक बारीक, मैले और पुराने कपड़े से जल छानना योग्य नहीं, जल छानने योग्य वस्त्र का परिमाण सामान्यतया शास्त्रों में छत्तीस अंगुल लम्बा और चौबीस अंगुल चौड़ा वर्णन किया है। जैसा कि पौष्यवर्ष आदि काव्यादि में कहा है—

षट् त्रिंशदंगुलं वस्त्रं, चतुर्विंशति विस्तृतं ।

तद्वस्त्रं द्विगुणी कृत्य, तोयं तेन तु गालयेत् ॥

अर्थ - छत्तीस अंगुल लम्बे और चौबीस अंगुल चौड़े वस्त्र को दोहरा करके पानी छानना चाहिए । उसको दुपरता करने से चौबीस अंगुल लम्बा और अठारह अंगुल चौड़ा होता है । यदि बर्तन का मुख अधिक बड़ा हो तो बर्तन के मुख से तिगुना कपड़ा लेना चाहिए । जल छानने के पश्चात् बची हुई जवाणी को रक्षापूर्वक उसी जलाशय में पहुँचाना चाहिए जिस जलस्थान से जल लाया गया हो । अन्य स्थान में जल डालने से स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की असमानता होने के कारण जीव मर जाते हैं जिससे जवाणी डालने का प्रयोजन अहिंसाधर्म नहीं पालता है । अतएव उसी जलाशय में जल पहुँचाना चाहिए । यद्यपि जैनधर्म में जल को छान कर पीने में अहिंसा मुख्य हेतु बताया गया है परन्तु आरोग्य की रक्षा भी एक प्रबल हेतु है क्योंकि अनछुना पानी पीने से बहुधा मलेरिया, ज्वर आदि दुष्टरोग उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसी सावधानी के लिये आयुर्वेदिक शास्त्र भी उपदेश करते हैं । अतएव धर्म हितेच्छक प्रत्येक पुरुष को उचित है कि शास्त्रोक्त रीति से जल छान कर पिएँ । जल छानने से एक मूहूर्त पश्चात् उसी जल को पुनः छान कर उपयोग में लाना चाहिए क्योंकि एक मूहूर्त के पश्चात् उस जीव उत्पन्न हो जाने से अनछुने जल के समान वह जल हो जाता है । ऐसा सागार धर्माभूत आदि शास्त्रों में कहा है ।

अथानंतर जिस आत्महितेच्छु धर्मात्मा भव्य पुरुष ने मद्य, मांस, मध्वादि को त्याग दिया अर्थात् आठ मूल गुण धारण कर लिए हैं, ऐसे पाक्षिकश्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार पाप होने के डर से स्थूल हिंसा, अनृत, स्तेय, कुशील, परिग्रह-इन पाँच पापों का त्याग करने की भावना तथा अभ्यास करना चाहिए, राजा आदि के डर से नहीं, क्योंकि यदि राजा आदि के भय से अभ्यास करेगा तो उससे कर्म नष्ट नहीं होंगे । जिन धर्मात्मा भव्य पुरुषों ने पाँचों पापों के एकदेश हिंसा के त्याग करने रूप आचरण करना प्रारम्भ कर दिया है, उन्होंने वेद्या आदि के समान महाअध की खान जुआ, खेटक, वेद्या और परस्त्री सेवन का भी त्याग करना चाहिए क्योंकि इन सब में हिंसादि पाप होते हैं । अभिप्राय यह है कि पाक्षिकश्रावक को दुर्गति व दुःखों के कारण और पापों को उत्पन्न करने वाले ऐसे घृत, मांस, मद्य, वेद्या, चोरी, खेटक और परस्त्री-इन सातों व्यसनों को त्याग देना चाहिए क्योंकि इनके सेवन करने से वह इस लोक में समाज एवं धर्मपद्धति में निन्दनीय होता है और मरने पर दुर्गति में दुस्सह दुःख भोगने पड़ते हैं । इनमें लवलीन पुरुषों को पाँच पापों से वचना असंभव है अतएव भागे धुञ्ज सम्यग्दृष्टि पाक्षिक श्रावक से अहिंसा एकदेशव्रत का पालन करने के लिए इनके त्याग को कहते हुए इनसे विपत्ति उठाने वालों की कथा उदाहरणरूप लिखी जाती है ।

सत्य व्ययसन वर्णन :

जहाँ अति अन्याय रूप कार्य को बार-बार सेवन किये बिना राजदंड, जातिदंड, लोकनिन्दा होने पर भी चुनना पड़े, वह व्यसन कहलाता है और जहाँ किसी कारण विशेष से कदाचित् लोक निन्धा व गृहस्थ धर्म विरुद्ध कार्य बन जाए, वह पाप है इसी भेद के कारण चोरी और परस्त्री व्यसन को पाँच पापों में गणना कराकर पुनः इनकी सप्त व्यसनों में भी गणना की है । अब इनका स्वरूप, इनके सेवन से दुःख उठाने वाले पुरुषों की कथा संक्षेप से लिखते हैं—

जिसमें हार-जीत हो, वह जुआ है । जिन पुरुषों को बिना परिश्रम किए हुए द्रव्य के प्राप्त होने की अधिक तृष्णा होती है, ऐसे ही पुरुष विशेषतया जुआ खेलते हैं । यह जुआ सप्त व्यसनों का मूल और सब पापों की खान है । जुआरी मनुष्य नीच जाति के मनुष्यों के साथ भी स्पर्शनीय, अस्पर्शनीय का

विचार न करके राज्य के भय से छिपकर मलिन और धूम्यागारों में जुआ खेलते हैं। अपने विश्वासपात्र कुटुम्ब जनों से सदा द्वेष रखते हैं। इस व्यसन के निराकरण सम्बन्धी शिक्षा देने वाले पूज्य और बड़े तथा कुटुम्बवर्गियों को अपना शत्रु समझते हैं। चोर तथा जुआरी इनके मित्र होते हैं। लुच्चे, लफंगे इनके सहायक होते हैं। जुआरी सब भूठों का सरदार होता है। इसके समान कोई भूठा नहीं होता। जीतने पर तो मांस भक्षण, मद्यपान, वेश्यासेवन तथा अत्यन्त मांसाशक्त होने पर खेडकादिक निन्द्यकर्म करते हैं और हार ही जाने पर जब द्रव्य नहीं रहता, तब चोरी करने को उद्यत होते हैं। तुच्छ धन के लिए पर के बाल-बच्चों के प्राण ग्रहण करने में तत्पर हो जाते हैं। इस प्रभाव से अनेक राक्षसों को करते हैं। सारांश यह है कि जुआ खेलने वालों से कोई दुष्कर्म नहीं बचा रहता। इसी कारण द्यूत व्यसन को सब व्यसनों का उत्पादन मूल (जड़) के समान कहा है। इस व्यसनसेवी मनुष्य से न्यायपूर्वक कोई आजीविका संबंधी रोजगार-बंधन नहीं हो सकता। इस व्यसन में फँसकर दूसरों को ठगना ही इनका व्यापार होता है। जुआरी की बात का कोई विश्वास नहीं करता और न कोई आदर-सत्कार करता है। जुआरी, पुत्र, पुत्री, स्त्री, गृह, क्षेत्राधिक पदार्थों को जुए में हराकर दरिद्री हो उनके वियोग जनित आतं-ध्यान के प्रभाव से मरने पर दुर्गति में अनेक प्रकार के दुःस्वप्न दुःख भोगते हैं। द्यूत व्यसन के विषय में भूधरदास जी ने कहा है कि—

सकल पाप संकेत आप बाहेत कुलशठन,
कलह खेत बारिद्र बेत बीसत निज अशठन।
गुणसमे तजससेत केतर विरोकत जैसे,
ओगुण निकर समेत केत लखि बुधजन ऐसे।
जुआ समान इहलोक में धान अनीति न देखिये,
इस विसनराय के खेल को कौतुक कूँ नहीं देखिए॥

अतएव धर्म, अर्थ, काम-इन पुरुषार्थों से भ्रष्ट करने वाले हिंसा, भूठ, चोरी, लोभ, कपट आदि अनर्थों के कारण इस लोभ में सामाजिक एवं धर्म पद्धति में निध बना देने वाले, मरने पर दुर्गति एवं महान् दुःस्वप्न दुःखों के दाता इस द्यूतव्यसन को सर्वथा त्यागना योग्य है। देखो, पुण्यशाली पाण्डवों ने इस व्यसन के सेवन से अपने राज्य को हार कर कैसे-कैसे दारुण दुःख भोगे और उन्होंने अनेक देशों में भ्रमण करते हुए कैसी-कैसी कठिन आपदाएं भोगीं। इस व्यसन के सेवन से जो अनेक भीषण-भीषण दुःख भोगने पड़ते हैं, उन सब दुःखों का वर्णन कैसे हो सकता है? तात्पर्य यही है कि यह संसार का बर्तक एक प्रधान कारण है। अतएव बुद्धिमानों को इस धीर दुःखकारी क्रिया का दूर ही से त्याग कर देना चाहिए। इस व्यसन के सेवन से दुःख उठाने वालों में प्रसिद्ध युधिष्ठिर महाराज का उपाख्यान है जिसके वसचित्त होकर अध्ययन, अध्यापन तथा श्रवण करने से लोग धीरे दुःख जनक धन्याय रूप क्रिया से रुचि हटाकर सुमार्ग के अन्वेषण करने में प्रवृत्त होंगे।

द्यूतव्यसन कथा :

भगवान् के जन्म से पवित्र इस ही भरत क्षेत्र आर्यखंड में कुरुजंगल देश के अंतर्गत महामनोहर हस्तनागपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था। उसके राजा थे—धृत। इनका जन्म कुरुवंश में हुआ था। वे धर्मज्ञ, नीतिज्ञ, दानी, प्रजाहितैषी और शीलस्वभावी थे। इनके तीन रानियां थीं। उनके नाम क्रम से अम्बा, कालिका तथा अम्बिका थे। तीनों ही रानियां अपनी-अपनी सुन्दरता में अद्वितीय थीं। इन तीनों

रानियों के नाम क्रम से धृतराष्ट्र, पांडु, और विदुर नाम के तीन पुत्र हुए। इनमें धृतराष्ट्र की स्त्री का नाम गांधारी था और पांडु के दो स्त्रियां थीं। उन के नाम थे—कुन्ती तथा माद्री। इनमें से धृतराष्ट्र के तो दुर्योधनादिक पुत्र हुए और पांडु की कुन्ती नाम की स्त्री के युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा माद्री के सहदेव और नकुल पुत्र हुए। कुन्ती का कन्या अवस्था में ही किसी कारण विशेष से, परस्पर संसर्ग हो जाने से कर्ण का प्रसव पहले ही हो चुका था। इस प्रकार महाराज धृत धन, संपत्ति, राज्य, वैभव, कुटुम्ब, परिवार तथा पुत्र-पौत्रादि से पूर्ण सुखी रहते हुए अपनी प्रजा का नीति-पूर्वक पालन करते थे।

एक बार उन्होंने शरद ऋतु में गगन मंडल में नाना प्रकार के वर्णों से शोभित बादल को क्षण-मात्र में ही वायु के वेग से नाम शेष होते देखा अर्थात् देखते-देखते ही बादलों को नष्ट होते देखा तब उन्हें संसार से वैराग्य हुआ। वे विचारने लगे कि ये बादल जिस प्रकार दृष्टिगोचर होते हुए ही नष्ट हो गए उसी प्रकार यह संसार क्षणभंगुर है। इन स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु आदि तथा धन, संपत्ति और इन्द्रिय भोगों की ओर आसक्त होकर अपने हित की ओर मैंने कभी ध्यान नहीं दिया। मोह रूपी गहन अंधकार ने मेरी दोनों आंखों को ऐसा अन्धा बना डाला जिससे मुझे अपने कल्याण का मार्ग नहीं दिखाई दिया। इसी से मैं अब अपने आत्म-हित के लिए अनादि काल से पीछा करते हुए इन कर्म-शत्रुओं का नाश कर मोक्ष सुख को देने वाली जिन-दीक्षा ग्रहण करूं जिसके प्रभाव से मैं सच्चा आत्मीक सुख प्राप्त कर सकूं।

इस प्रकार की स्थिति विचार कर महाराज धृत ने बड़े पुत्र धृतराष्ट्र को तो राज्य-भार सौंपा और पांडु को धृतराज यह देकर विदुर के साधनागार लौट-सुख की साधक जिन दीक्षा धारण कर ली। जिन-दीक्षा का लाभ कुगति में जाने वालों के लिए बहुत कठिन है। इसके बाद धृत मुनि ने तो अनेक दिनों तक कठिन से कठिन तपश्चरण कर शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त कर अन्त में शाश्वत अक्षयानंत मोक्ष-लाभ प्राप्त किया।

इधर विदुर मुनिराज देश विदेश में धर्मोपदेश के लिए विहार करने लगे, उधर धृतराष्ट्र पांडु के साथ राज्य का पालन करते सुखपूर्वक अपना समय बिताते थे। एक दिन दोनों भाइयों ने एक भ्रमर को कमल के भीतर भरा हुआ देखा। उसके अदलोकन मात्र से उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने उसी समय अपने राज्य के दो विभाग कर एक भाग दुर्योधनादिक के लिए और एक भाग युधिष्ठिरादि के लिए सौंप दिया और स्वयं दोनों भाइयों ने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। इसके अनंतर कौरव और पांडव परस्पर अनुराग पूर्वक प्रजा का पालन करते हुए सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे वे काल की गति को नहीं समझते थे। कौरवों के मामा शकुनि ने अपने भानजे दुर्योधनादिक के लिए और पांडु के पुत्र युधिष्ठिरादिक के लिए समान राज्य-भाग की व्यवस्था देखकर अपने मन में विचारा कि आधा राज्य तो केवल पांच पांडवों के लिये दिया गया है और आधा राज्य सौ कौरवों के लिए इससे पांडव तो बड़े प्रतापी मालूम होते हैं और कौरवों का प्रताप इनके सम्मुख कुछ भी मालूम नहीं होता ऐसा विचार कर उसने प्रेमवश होकर कौरवों के कान भरे कि तुम्हें कुछ ध्यान भी है? कहां तो तुम सौ भाइयों के लिए आधा राज्य, जिससे तुम लोगों का वस्त्र-शस्त्रादि का प्रबन्ध भी ठीक-ठीक नहीं हो सकता और कहाँ इन पांच पांडवों के लिए आधा राज्य जिससे ये लोग कैसे तेजस्वी और धनपूरित दिखाई देते हैं। ठीक तो यह है कि सब वेषों में धन का ही वेष उत्तम गिना जाता है। तुम स्वयं ही यह बात सोचो कि जितना राज्य पांच व्यक्तियों को दिया गया उतना ही सौ व्यक्तियों के लिए देना उचित या क्या? इस प्रकार शकुनि के प्रतिदिन उत्तेजित करते रहने से कौरवों की प्रकृति में दुष्टता आ ही गई। पीछे कुछ समय के पश्चात् दुर्योधन ने अपनी बुद्धि से कल्पना कर एक लाख से युक्त सुन्दर महल बनवाया। उसके पूर्ण होने

पर उसने एक दिन नदीन मन्दिर में भोजन करने के लिए पांडवों को निमंत्रित किया। निमंत्रण के अनुसार पांडव अपनी माता कुन्ती सहित आये। आते ही मंदिर के अपूर्व शोभा का अलोकन कर बहुत प्रसन्न हुए। दुर्योधन ने इनको बड़े आदर-सत्कार के साथ भोजन कराकर इनके सोने का भी वहीं प्रबन्ध कर दिया जिसके राजा को ये सब प्रहरी शयन करें निम्न आने पर पांडवों ने वहीं पर शयन किया। उनके शयन करने के कुछ समय पश्चात् ही कौरवों ने अपनी दुष्टता से लाख के सदन में अग्नि लगा दी। लाख के कारण अग्नि ने अपनी भयंकरता बहुत शीघ्र ही धारण कर ली। जब लाख तप-तप कर पांडवों के ऊपर गिरने लगी तब वे सब के सब सचेत होकर कौरवों की दुष्टता जानकर बाहर निकलने का मार्ग न देख बहुत चिंतित हुए तब ज्योतिष-शास्त्रज्ञ सहदेव कहने लगे कि हे आतामो, यहाँ पर एक सुरंग है। उसके मार्ग से हम सब निकल सकेंगे यह सुनते ही भीम ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो उसको एक शिला दिखाई दी। भीम उसे उठाकर अपने मार्ग को निष्कण्टक कर कुन्ती सहित पांडवों भाई उस मार्ग से निर्विघ्न बाहर निकल गये और इच्छानुसार पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए हस्तनापुर पहुँचे। उधर सब लोग कौरवों की दुष्टता जानकर उनकी निन्दा करने लगे। पांडव लोग वहाँ कुछ दिन रहकर देश यात्रा करते हुए पीछे लौटकर भाकंदी नगरी में आ पहुँचे। उसके स्वामी द्रुपद थे उसकी स्त्री का जयावती था। उसके द्रौपदी नाम की पुत्री थी। रूप की सुन्दरता में वह प्रसिद्ध थी।

जब महाराज द्रुपद ने देखा कि पुत्री युवती हो गयी है। तब उन्हें उसके विवाह की चिन्ता ने चिंतित किया। फिर उन्होंने अपने मंत्रियों से परामर्श कर एक शुभ मुहूर्त में पुत्री का स्वयंवर आरंभ करवाया। देश-देश के राजाओं और महाराजाओं के लिए निमंत्रण-पत्र भेजा गया। दुर्योधन आदि सभी राजा-महाराजा स्वयंवर मण्डप में उपस्थित हुए।

उस समय यह नियम निश्चित किया गया कि जो इस राधावेश को वेधेगा, वही कन्या का स्वामी होगा। दैवयोग से पांडव कुमार भी वहाँ आ गये। इन्हें वे लोग पहचान न सके क्योंकि वे अपने वेध को पलट कर कृत्रिम वेध में रहते थे।

स्वयंवर में आये हुए राजा-महाराजा आदि में से किसी का साहस नहीं हुआ कि राधावेध को वेधे। सबके मुख निष्प्रभ हो गये। तब अर्जुन ने उठकर कहा 'जो मनुष्य इस राधावेध को वेधेगा, उसे कुलहीन या जातिहीन होने से कन्या के मिलने में तो कोई संदेह नहीं होगा। ऐसा यदि संभव न हो तो मैं भी अपने पुरुषार्थ की परीक्षा करूँ। तब राजाओं ने कहा कि 'हमें जाति तथा कुल से कुछ प्रयोजन नहीं, तुम अपने पुरुषार्थ से इस कर्तव्य को पूरा करो।'

तब उनके कहते ही महाबाहु, पराक्रमी अर्जुन ने कटिबद्ध होकर सब राजाओं की उपस्थिति में ऊपर मुट्ठी और नीचे दृष्टि करके बात की बात में उस राधावेध को वेध दिया। वेध होते ही द्रौपदी ने आकर पाँचों पाण्डवों के मध्य में बुद्धिमान अर्जुन के कंठ में माला डाल दी।

इतने में वायु के अधिक वेग से माला टूट जाने से पाँचों पर पुष्प गिर गये। माला के टूटते ही लोगों में हल्ला मच गया कि द्रौपदी अपने धर्म से भ्रष्ट है। इसने पाँचों को अपना पति बनाया है। पश्चात् राजा लोग भी बिगड़ पड़े और कहने लगे—'हम राजकुमारों के होते हुए क्या ये कंगाल भिखारी इस राजपुत्री को पर्येंगे। इतने को मारकर सुन्दरी को इनसे जुड़ा लेना चाहिए।'

ऐसा कहकर सब युद्ध की तैयारियाँ करने लगे। इतने में किसी विचारवान् पुरुष ने उनसे कहा—'पहले उनके पास दूत भेजकर कन्या को वापिस लौटाने के लिए कहलाना चाहिए। यदि वे इसे स्वीकार न करें तो युद्ध का समारम्भ है ही।'

तब सबने सहमत होकर अर्जुन के निकट दूत भेजा। दूत ने जाकर कहा—‘राजकुमारी ने बड़ी मूर्खता की जो राजाओं को छोड़कर तुम्हें अपना स्वामी बनाया। अब तुम्हें चाहिए कि इस राज-कन्या को राजाओं के प्रति दान करके उनके प्रेमभाजन होकर सुखपूर्वक भली प्रकार जीवन-यात्रा करो।’ क्रोध के आवेश में हो उत्तर में अर्जुन ने दूत से कहा—‘तुम अभी जाकर अपने स्वामी से कह दो कि हम राजकुमारी को नहीं देंगे। क्या तुमने इस प्रकार कभी किसी को अपनी वस्त्रभा बेते देखा अथवा सुना है। यदि वे लेने का साहस रखते हैं तो रणक्षेत्र में सम्मुख आकर अपने पराक्रम से हमें पराजित कर लें लेवें। न जाने तुम्हारे स्वामियों में ऐसी दुर्बुद्धि क्यों उत्पन्न हुई है?’

ऐसा कहकर अर्जुन ने दूत को उसी समय वहां से निकलवा दिया। दूत ने जाकर सब समा-चार राजा लोगों को ज्यों का त्यों सुना दिया। सुनते ही राजा लोग बहुत बिगड़े और युद्ध के लिए तैयार हो गये। तब महाबली अर्जुन युद्ध भूमि में वीर लोगों को एकत्रित हुए देख कर उसी समय स्वसुर के साथ अपने भ्राता और द्रौपदी सहित युद्ध के लिए निकल पड़े। दोनों तरफ के योद्धाओं की मुठभेड़ हो गयी। घोर युद्ध होना आरम्भ हुआ। अर्जुन के द्वारा अपने योद्धाओं को विध्वंस होते देखकर दुर्योधन उसी समय अपने भीष्म आदि वीरों को साथ लेकर रण-भूमि में आ उपस्थित हुए। तब अर्जुन ने भी देखकर विचार किया ‘ये तो मेरे पूज्य हैं। इनका वध मेरे हाथ से कैसे हो सकेगा?’

निदान उसने अपने एक बाण पर नाम लिखकर भीष्म के ऊपर फेंका। बाण उनकी गोद में जाकर गिरा। तब उन्होंने उसे पढ़कर दुर्योधन से कहा—‘देखो जानते हो ये लोग पांडव हैं और ठीक भी है इनके अतिरिक्त इतना पुरुषार्थ और किस का हो सकता है?’

दुर्योधन ने पूछा—‘आपने यह कैसे जाना? तब गांगेय (भीष्म) ने पार्थिव (अर्जुन) के नाम का बाण दिखा दिया उसे पढ़ते ही दुर्योधन रही-सही हिम्मत भी हारकर बड़े दुःख के साथ रथ से नीचे उतर कर माया से अभ्युपास करता हुआ पांडवों के सम्मुख जाकर बाहु पसार कर मिला और गद्गद् स्वर से कहने लगा—‘नाथ। मैं बड़ा अभागा हूँ। लोकनिंदा से मेरा हृदय जला जा रहा है। परन्तु अच्छा हुआ जो आप सब मेरे पुण्योदय से आ गये। न तो मैंने यह जाना था कि यह लाख का घर बना हुआ है और न ही मुझे यह मालूम है कि किस दुष्ट ने उसे जला दिया।’

परन्तु फिर भी सुभ निरपराधी को लोगों ने अपराधी ठहराया। मेरा बहुत अपयश हुआ। पर ये नियम है कि शुद्धचित्त के मनुष्यों पर कलंक नहीं लगता। इसी कारण मेरे पुण्योदय से मेरा अपयश मिटाने के लिए आप आ पहुँचे। आपके वियोग रूपी अग्नि से जलता हुआ मेरा हृदय अब शांत हुआ है—ऐसा कहकर दोनों पक्ष परस्पर आनंदपूर्वक मिले। सब लोगों के चित्त में बड़ा आनंद हुआ। फिर शुभ मुहूर्त में अर्जुन का विवाह द्रौपदी के साथ हो गया।

सब लोग विवाह-कार्य पूर्ण करवा कर अपनी-अपनी राजधानी में गये और पूर्ववत् प्रीति पूर्वक रहने लगे। कुछ समय पश्चात् फिर उसी शकुनि ने उनके दिन-प्रतिदिन वैभव को बढ़ते हुए देखकर कौरवों पांडवों की परस्पर मैत्री में बाधा डालना आरंभ किया। सच है—दुष्टों का यही स्वभाव होता है कि उन्हें दूसरों को लड़ाये बिना चैन नहीं पड़ता।

निदान शकुनि ने अपनी बुद्धि की क्षुब्धता से उनके स्नेह को तोड़ ही डाला। अब कौरव लोग शकुनि की उत्तेजना से पांडवों में दोष दूढ़ने लगे जैसे उसम पुरुषों के पीछे शाकिनी लग जाती है। एक दिन युधिष्ठिर के जी में आया कि जूझा खेलना चाहिए। उन्हें यह विचार क्या उपजा, इसे दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि आज से ही उनके माग्य का चमकता हुआ सितारा (सूर्य) अस्त हो गया। सच

कहा है कि —

बुद्धि उत्पद्यते तावक्, व्यवसायश्च तावृशः ।
सहायास्तावृशश्चैव यावृशी भवितव्यता ॥

अर्थात् जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है वैसी ही बुद्धि उत्पन्न हो जाती है वैसा ही व्यवसाय (काम) सूर्यता है । जैसे ही सहायक मिल जाते हैं ।' ठीक यही हाल युधिष्ठिर का हुआ । अतः एक दिन सभा में कौरवों की उपस्थिति में युधिष्ठिर दुर्योधन के साथ वृषा लेलने लगे । दुर्योधन का पासा पड़ता तो बहुत उत्तम था परंतु भीम के हुंकार से वह उल्टा हो जाता था । तब दुर्योधन चिंतातुर होकर विचारने लगा कि भीम मुझे जीतने नहीं देगा अतः इसको किसी आलम्बन से कहीं भेज देना चाहिए । इतने में ही उसकी बुद्धि ने उसका साथ दिया । दुर्योधन भीम से कहने लगा—'महाभाग ! इस समय मैं तृषा से बहुत व्याकुल हो रहा हूँ । उसका उपाय तुम्हें ही करना चाहिए ।'

तब भीम बोला—'आप चबरावें नहीं । मैं अभी शीतल और सुगंधित जल लाता हूँ ।

दुर्योधन बोला—'नहीं नहीं, मुझे ऐसे जल की आवश्यकता नहीं । ऐसे जल के लाने वाले तो मेरे यहां भी बहुत हैं ।'

दुर्योधन बोला—'गंगा के निकलने वाले हृद में कटिपर्यंत प्रवेश कर तुम अपनी गदा से पानी घात करना और उससे जो पानी के छींटे उड़ें, उस पानी को मेरे पीने की इच्छा है ।'

इस बात को सुनकर यद्यपि भीम की इच्छा जाने की नहीं थी तथापि उसको लज्जावश जल लाने के लिए जाना पड़ा । इधर दुर्योधन के मन की चिंता मिटी और जीत का पासा पड़ने लगा । युधिष्ठिर महाराज ने सर्वप्रथम अपना भंडार, दूसरी बार देश, तीसरी बार हाथी, चौथी बार घोड़े, पांचवी बार वाहन तथा गौ आदि पशु हारे और अंत में वे द्रौपदी सहित अंतःपुर भी हार गये । निदान शेष बचे कुछ वस्त्राभूषणादिक भी सब वे हार गये । इतने में भीम जल लेकर आ गये और दुर्योधन से कहने लगे—'लीजिए, आपकी इच्छानुसार मैं जल आया हूँ । इसे पीकर आप अपनी तृषा शांत कीजिए ।'

दुर्योधन ने कहा—'अब तो मेरी तृषा शांत हो गयी ।'

यह सुनकर भीम को बड़ा आश्चर्य हुआ परन्तु जब युधिष्ठिर को निष्प्रभ देखा तब पूछने लगे—'भाई आप विकलचित्त मालूम होते हैं । इसका क्या कारण है ?' तब उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा—

“हे भ्राता ! सुनबात ठगो गयो या बुष्ट करि ।
जीत लियो हम आप, राज पाट घर बिभी सब ॥”

युधिष्ठिर के ऐसे वचन सुनते ही—

“भीम भयो तब विकल अति, मन में बहु पछताय ।
कहे ठगो मैं हूँ सही, दियो जु अन्यत्र पठाय ॥”

निदान भीम को इसका बड़ा दुःख हुआ ।

इसी समय दुर्योधन इनको यहां से बाहर निकालने के अभिप्राय से कहने लगा—'युधिष्ठिर ! तुम जानते हो कि जो लोग अपना गौरव चाहते हैं उन्हें दूसरे के देश और दूसरे के घर में रहना अच्छा नहीं लगता क्योंकि दूसरों की वसुंधरा उनके लिए लघुता का कारण होती है, जैसे सूर्यमण्डल को प्राप्त

होकर चंद्र प्रभाहीन हो जाता है, अतएव तुमको अपने आताओं सहित वापस ही मेरे देश से चले जाना चाहिए।'

दुर्योधन के वचन खी स्वरों से वेधे हुए युधिष्ठिर अपने आताओं सहित चलने को उठ खड़े हुए। तब द्रौपदी भी उनके पीछे-पीछे चलने को तत्पर हुई। तब दुर्योधन बोला—'द्रौपदी! युधिष्ठिर तुम्हें हार चुके हैं, इसलिए अब तुम्हें हमारे अंतःपुर में रहना होगा। परन्तु उसके वचनों पर ध्यान न देकर जब द्रौपदी चलने लगी, तब पापी दुर्योधन ने उसका आंचल पकड़ कर खींच लिया। तब साध्वी द्रौपदी अपने पर संकट आया जान जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों का स्मरण करने लगी। उसके अप्रतिम शील ने उसको वस्त्रहीन नहीं होने दिया अर्थात् दुर्योधन के आंचल पकड़कर खींचने पर भी अपने सतीत्व के प्रभाव से द्रौपदी वैसे ही ढकी रही। धर्मशील महाराज युधिष्ठिर इस दुष्कृत्य को देखते हुए भी, अपने चित्त में किञ्चित् भी विकार को प्राप्त न होकर शांत रहे, परन्तु जब मंत्रियों से दुर्योधन की ऐसी दुष्टता न सही गयी तब वे धिक्कार कर कहने लगे—'पापी! क्यों इस सती को कोधित कर यम के घर का अतिथि बना चाहता है।'

तब उसने लज्जित होकर द्रौपदी का आंचल छोड़ा। तब वह फिर स्वामी के पीछे चलने लगी। दृढ़प्रतिज्ञ पांडव द्रौपदी को साथ लेकर धीरे-धीरे नगर से बाहर निकले। तब सब लोग यही कहने लगे देखो—

“राजपुत्र रथि वृत्त बियाल, हारि बिभी सब गये बिहाल।

तात्तैं लज्जा खूना भरवान, अपयथा गेह भूषा कुलवान ॥”

अथानंतर ये सब द्रौपदी के कारण धीरे-धीरे गमन करते हुए अनेक वन, देश, पुर तथा ग्राम आदि में घूमते हुए फलादिक से क्षुधा निवारण करते हुए साम्यभावपूर्वक सुख दुःख भोगते हुए कितने ही वर्षों तक घूमते-घूमते विराटपुर में आ पहुंचे। वहाँ के राजा का नाम भी विराट ही था। ये सब नाना प्रकार के वेष धारण कर राजा के पास पहुंचे।

धरो कलावत रूप युधिष्ठिर ने वहाँ।

भीम रसोईदार बनो सोतो जहाँ।

नट नाटक अर्जुन ज्योतिषि सहदेव है।

नकुल चराचर पशु द्रौपदी मालिन कहै ॥

राजा ने इनको सज्जन जानकर प्रसन्न हो इनके वेष के अनुसार ही अपने-अपने काम पर सब को नियुक्त कर दिया। सब लोग राजा के सेवक होकर रहने लगे।

एक दिन महाराजा विराट का साला अपनी भगनी से मिलने आया। अंतःपुर में मालिन के वेष में द्रौपदी को देखकर कामबाण पीड़ित हुआ वह द्रौपदी से प्रतिदिन अपनी बुरी भावना प्रकट करने लगा। सती द्रौपदी लज्जा के भारे नीचा मुँह कर लेती थी, परन्तु जब उसकी बुरी वासना को नष्ट न होते देखा, तब उसने एक दिन समस्त वृत्तांत भीम को कह सुनाया। तब—

भीम कही सुन द्रौपदी, कहियो तू अब जाय।

पुर बाहिर मठ है जहाँ, तहाँ तुम चालो राय ॥

दूसरे दिन भीम के कथनानुसार ही द्रौपदी ने कीचक से कह दिया। द्रौपदी की ऐसी इच्छा प्रकट करने पर वह बहुत संतुष्ट हो रात्रि के समय मठ में पहुंचा। वहाँ भीम गुप्त रूप से द्रौपदी के रूप में बैठा हुआ था। कीचक ने पीड़ित होकर ज्योंही द्रौपदी रूपी भीम का अपनी भुजाओं से आलिंगन किया, त्योंही उसने भी आलिंगन के छल से दोनों भुजाओं के बीच में उसे पकड़ कर इतनी जोर से

बनाया कि वह अचेत हो गया। जब वह सचेत हुआ, तब उसने उस दुःख से वैराग्य पाकर भीम को नमस्कार कर निर्जन वन में जाकर जिन-दीक्षा ले ली।

जब प्रातःकाल होने पर कीचक के नीकर ने उसे नहीं देखा, तब उन्होंने महाराज विराट से जाकर कहा। उस समय राजा ने यह सोचकर कि कहीं वह अपने देश में न चला गया हो, एक सेवक को उसके भाइयों के पास समाचार लाने को भेज दिया उसने जाकर उनके भाइयों से पूछा—‘क्या कीचक यहाँ आया है?’ यह सुनकर उसके भाइयों को बड़ा संदेह हुआ। वे सौ के सौ भाई उसकी खोज लगाने के लिए अपनी नगरी से चल पड़े। ग्राम, नगर, वन, उपवन आदि में देखते लोगों से पूछते हुए विराट नगर में आए। वहाँ पूछने पर इनसे किसी मनुष्य ने कहा—‘मैंने महाराज कीचक और एक मालिन को नगर के बाहर संध्या के समय अग्निक मठ में प्रवेश करते हुए देखा था, परन्तु निकलते समय एक मालिन ही दिखाई दी। कीचक को नहीं देखा’—

यह सुनकर उसके भाइयों को बड़ा क्रोध आया और कहने लगे कि—‘हमारे भाई कीचक को उस दुष्ट मालिन ने मार दिया है, यह हमको पूर्ण निश्चय हो गया है इसलिए अभी उस दुष्टा को अग्नि में भस्म कर परलोक वासी बना देना चाहिए।’

इसी विचार से वे लोग मालिन रूप द्रौपदी को पकड़ कर ले आये और चिता बनाकर द्रौपदी को जलाने लगे। इसने में ही उस मालिन के जलाने का समाचार किसी मनुष्य ने भीम को कह सुनाया। यह सुनते ही भीम क्रोधित होकर वहाँ आया जहाँ चिता तैयार की जा रही थी। उसने देखा कि कीचक के भाई द्रौपदी को जलाने के लिए चिता तैयार कर उसको जलाने का यत्न कर रहे हैं। उसने सती द्रौपदी को चिता पर से उठा लिया और कीचक के भाइयों को उठा कर अग्नि में होम दिया। उनमें से एक को उसकी जिह्वा काट कर छोड़ दिया। वह जिह्वारहित हुआ नगर में जाकर राजा से अपना अभिप्राय समझाने के लिए कुछ संकेत करने लगा। तब राजा ने कर्मचारियों से कहा—‘देखो तो, ये मूक मनुष्य क्या कहता है?’

उत्तर में भीम बोला—‘महाराज ! यह कहता है कि कीचक के दुःख से उसके सब भाई अग्नि में जलकर भस्म हो गये। इसको मैंने बचा लिया अतः संकेत द्वारा कहता है कि इसने मेरे प्राण बचा लिए।’

विराट ने कहा—‘ये ठीक कहता है।’

निदान उस मूक को इसी दुःख में अपने स्थान पर चले जाना पड़ा। उसकी कुछ सुनाई नहीं हुई। अथानंतर पांडव बारह वर्ष सुखपूर्वक विराट नगरी में व्यतीत कर राजा से विदा लेकर द्वारका पहुँचे और वहाँ जाकर वासुदेव से मिले। इनका दुःख दूर हुआ वहाँ श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का पाणिग्रहण अर्जुन से हो गया। श्रीकृष्ण चाहते थे कि कौरव और पांडव फिर किसी तरह मिल जाएं इस आशय से उन्होंने उनका दूत तक बनना स्वीकार कर बहुत कुछ उद्योग किया परन्तु सब निष्फल हुआ। निदान कौरवों और पांडवों की शत्रुता की बात संसार भर में हो गयी। कुरुक्षेत्र में दोनों की सेनाओं की मुठभेड़ होकर बड़ा भारी भीषण संग्राम हुआ। अन्त में कौरवों का सर्वनाश हुआ और जय लक्ष्मी ने पांडवों की दासता स्वीकार कर भूमंडल पर उनकी पताका फहरा दी।

श्रीकृष्ण पांडवों के सहायक थे। इन्होंने पांडवों को बड़ी भारी सहायता दी थी। कौरवों और पांडवों का युद्ध भारत वर्ष में प्रसिद्ध है, जो प्रायः महाभारत के नाम से स्मरण किया जाता है। उस समय श्रीकृष्ण ने प्रीतिपूर्वक पांडवों को हस्तिनापुर का राज्य दिया और उत्पश्चात् पांडव इच्छानुसार स्वतन्त्रता से राज्य करने लगे।

देखो । पांडवों ने जुआ खेलने से कैसी-कैसी भयंकर आपदाएं और दारुण दुःख सहें उनके प्रतिरिक्त भी नल प्रवृत्ति कितने ही राजाओं ने इसके खेलने से दुःख भोगे तो सामान्य जनों का क्या कहना ? और सब व्यसनों के लिए तो द्रव्य की अवधि हो सकती है और वे सब धीरे-धीरे उजाड़ते हैं, परन्तु जुए के लिए धन की कोई सीमा नहीं क्योंकि समस्त राज्य को एक दौंव पर लगाया जा सकता है । यही नहीं वस्त्राभूषण तथा स्त्री को भी दांव पर लगाकर एक क्षण भर में कंगाल बन बैठते हैं । यदि वह दैवयोग से जीत भी जाए तो जीतने पर मद्य पान, मांसभक्षण, वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन आदि निन्द्य कर्म कर इस जुए की कृपा से इनकी सहायता पाकर और भी शीघ्र ही अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं ।

(कविता)

सात घिसन को राजा यह यातें अहित वनें सब काम,
हारत घोरी परचित धारत करे पापधन कारत ताम ।
अथवा हनत जीव नहीं डरपे जीते सेवत छोटे धाम,
या सम पाप और नहीं जग में जाते परत नीच अति नाम ॥

(पदैया)

आरति अपार करे सांच सों विचार धरे,
यश सुख धन पुनि प्रभुता विनाश है ।
जीति के तृप्त नाहि हारे ना गांठ मांहि,
लेत है उधार देत महादुखराश है ।
और कौन बात तात कौन इतवार आत,
नारि को नहीं सुहात मातबून वास है ।
जाय गति पति भाय परे अति विपति,
आय तातें खेल चोपड़ हू महादुख पास है ॥

अतएव बुद्धिमानों को इस पाप व्यसन जुए तथा इसके परिवार रूप चोपड़, शतरंज, तास व मूठ आदि की शर्त लगाकर खेलने का सर्वथा परित्याग करना चाहिए ।

॥ इति द्यूतव्यसन वर्णनम् ॥

॥ अथ मांसव्यसन वर्णन प्रारम्भः ॥

इसका वर्णन तीन मकार में हो चुका है तथापि सप्त व्यसनों में गणना होने के कारण यहां भी संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है । यह जंगम जीवों की द्रव्य हिंसा करने से उत्पन्न होता है । इसके स्पर्श, आकृति, नाम और गंध से ही चित्त में घृणा उत्पन्न होती है । इसकी दुर्गन्ध से जब उल्टी हो जाती है, तब उत्तम लोग इसे कैसे ग्रहण करेंगे इसका स्पर्श तक ही महा बुरा है । जब स्त्री रक्त के बहने मात्र से निन्द्य और अपवित्र गिनी जाती है, तब रक्त, वीर्य एवं मूत्र, पुरीषादि सप्त धातु, सप्त उपधातु रूप स्वभाव से ही महा अपवित्र पदार्थों के समूह से उत्पन्न हुआ मांस भला कैसे पवित्र हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं और फिर मांस पिंड चाहे कच्चा हो या पक्का, उसमें प्रत्येक समय अनन्त साधारण निगोद जीवों का समूह सदा उत्पन्न रहता है । उसकी कोई अवस्था ऐसी नहीं कि जब इसमें जीव उत्पन्न न होते हों । कहा भी है—

आमां वा पक्वा वा खादति यः स्पृशति वापिशिनपेशी ।

न निहन्ति सतत, निक्षिप्तं पिडं बहुजीव कोटीनां ।

अर्थात् जो जीव ककची या पकी हुई मांस पेशी को अपना मांस पुष्ट करने लिए खाता है अथवा मांस खाने के संकल्प से स्पर्श करता है वह पुरुष निरंतर इकट्ठे हुए अनंत साधारण जीवों के समूह को नष्ट करता है। जब अपने प्रयत्न के बिना अन्य के मारे हुए अथवा स्वयं मरे हुए जीव का मांस स्पर्श करने अथवा भक्षण करने से हिंसक होता है तो प्रयत्न पूर्वक प्राणियों का घात कर उसे जो खाता है उस क्रूर कर्म करने वाले हिंसक का क्या कहना है? वह तो महाहिंसक है ही। मांस भक्षियों के परिणाम सदा नियम करके घातक रहते हैं। उनके परिणामों में दया तो गन्ध मात्र भी नहीं होती। जैसा कि कहा गया है कि—

प्राज्ञस्तस्य नो विद्या, नो दया मांसभोजिनः ।

द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं, स्त्रीणस्य न पवित्रता ॥

अर्थ—जिसकी घर में आसक्ति है, उससे विद्या अध्ययन नहीं होता, मांसभक्षी के हृदय में दया नहीं होती, जो द्रव्य का संचय करने में तीव्र लोभी है, वह सत्य वक्ता नहीं होता और जो स्त्रियों के सुखभोग में आसक्त होता है, वह पवित्र नहीं माना जाता। दया के अतिरिक्त और भी उत्तम गुण प्रायः मांसभक्षी पुरुषों में से गमनकर जाते हैं। जैसा कहा भी है—

यतो मांसाशिवः पुंसो, दस्रो दानं दयाव्रता ।

सत्यशीघ्रताचारा, न स्युर्विद्यावयोऽपि च ॥१॥

अर्थ—मांसभक्षण करनेवाले लोगों के इन्द्रिय दमन, दान, दया, सत्य, पवित्रता, व्रत, आचार, विद्या हिताहित का विचार आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। इसका खाना भी सामाजिक एवं धर्म पद्धति में निन्द्य मना जाता है। सब लोग उससे वार्तालाप तक करने में घृणा करते हैं। यह दोष परलोक में भी नरक में ले जाने का कारण है अतएव बुद्धिमानों को मांस भक्षण के परिहार पूर्वक अहिंसा धर्म का धारण करना श्रेय है। देखो! इसी मांस भक्षण के करने से बकु नाम के राजकुमार ने राज्य के अधः पतन को प्राप्त कर भीषण कष्ट उठाये और अंत में नरक निवास किया। उसके उपख्यानों से मनुष्य को इस विषय में बहुत शिक्षा मिलेगी, अतएव पूर्वोक्त आचार्यों के कथनानुसार यहां संक्षिप्त विवरण लिखा जाता है—

इस जंबूद्वीप में भरत क्षेत्र के मध्य मनोहर नाम के देश के अन्तर्गत कुशाग्रह नाम का एक प्रसिद्ध और मनोहर नगर था। उसमें भूपाल नाम का राजा विदुषी महारानी लक्ष्मी सहित राज्य करता था। सर्वगुण विभूषित महारानी लक्ष्मी और राजा जिन भगवान के परम भक्त थे, परन्तु उनका पुत्र बकु अशुभोदय से मांस भक्षण करने में बड़ा लोलुपी था। जब प्रतिवर्ष अष्टाह्निका पर्व आता तब महाराज अपने सारे नगर में बड़ा महोत्सव करवाते और यह घोषणा करा देते कि मेरे नगर में कोई मनुष्य जीवघात न करे। यदि कोई करेगा तो उसे राजद्रोही समझ कर दण्ड दिया जायगा।

यह सुनकर नगर निवासी मनुष्यों ने राजाज्ञा के अनुसार सर्वथा हिंसा करना छोड़ दिया, मांसलोलुपी बकु को बड़ी चिन्ता हुई। वह विचारने लगा कि मुझे मांस भक्षण करने की आदत पड़ गई है। मैं बिना मांस के कैसे रह सकूंगा? अब क्या करूँ? ऐसी चिन्ता करता हुआ अपने रसोइये के पास जाकर कहने लगा—हे मित्र! मेरे भोजन के निमित्त मांस तैयार करो।'

रसोइया यह सुनकर बड़ी चिंता में पड़ गया। वह सोचने लगा कि मैं जीवघात करता हूँ तो राजाज्ञा के प्रतिकूल होने से राजा नियम करके मुझे प्राण-दण्ड देगा और यदि राजकुमार को मांस लाकर देने से इन्कार करता हूँ तो मेरा उधम जाता है राजकुमार मुझ पर असंतुष्ट हो जाएंगे। ऐसा विचार कर रसोइया नगर के बाहर गया और वहाँ किसी मरे हुए बालक को गड़ा देख उसे निकाल कर वस्त्र में लपेट कर गुप्त रीति से ले आया और मांस लोलुपी राजकुमार के लिए उसे ही बनाकर रख दिया। जब राजकुमार भोजन के लिए आया तो उस रसोइये ने प्रथम षड्रस व्यंजन परोसकर पीछे वह मांस भी परोस दिया। आज के मांस को नवीन स्वाद वाला देखकर राजकुमार ने रसोइये से पूछा 'ये किसका मांस है? मैंने अद्य पर्यन्त कभी ऐसा मांस नहीं खाया था।'

रसोइये ने कहा—कुमार! यह मांस मयूर का है।' राजकुमार ने फिर कहा—क्या मैंने कभी मयूर का मांस नहीं खाया है? वह तो ऐसा स्वादिष्ट नहीं होता इसमें और मयूर के मांस में तो बहुत भेद है। मैं तेरे लिए क्षमा प्रदान करता हूँ। ठीक-ठीक से कह ये स्वादिष्ट मांस किसका है?'

तब रसोइये ने कहा—कुमार! मैंने पहले आपके भय से यथार्थ नहीं कहा था, परन्तु आप क्षमा प्रदान कर चुके हैं अतः मैं सत्य कहता हूँ। यह मांस मनुष्य का है।' सुनकर राजकुमार बोला—'देख! आज से मेरे संतोषार्थ प्रतिदिन ऐसा ही स्वादिष्ट मांस लाकर खिलाया कर। इसके लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता हो, उतना मैं दे दिया करूँगा।'

रसोइये ने सुनकर विचारा कि मैं प्रतिदिन मनुष्य का मांस कैसे ला सकूँगा? इसकी उसे बड़ी ही चिन्ता हुई। वह मनुष्य का मांस प्राप्त करने का उपाय सोचने लगा। उसने में कुदृष्टि ने उसका साथ दिया। मांस के उपलब्ध होने का कोई और उपाय न देखकर संध्या के समय कुछ अन्धेरा हो जाने पर जहाँ बहुत से बालक खेला करते थे, वहाँ लड्डू आदि मिष्ठान्न बाँटने लगा बेचारे बालक इस लोभ के वश से उसके पास नित्य प्रति आने लगे। सच कहा है—कि मोहों में स्वाद का मोह सबसे बलवान है। इस प्रकार जब बालक रसोइये से हिल गये, तब वह जो बालक पीछे रहता, उसे ही अवसर पाकर पकड़ कर ले जाता और उसके प्राण हर कर गुप्त रीति से वस्त्र में छिपाकर घर ले आता और राजकुमार को उसके मांस से प्रसन्न करता। उसे ऐसा करते बहुत समय व्यतीत हो गया।

इसी समय राजा भूपाल सांसारिक विषय भोगों से विरक्त होकर संसार का सब माया जाल तोड़कर जैनेंद्रि दीक्षा ले मुनि हो गये और राज्याधिकार बकु को मिल गया। वह स्वच्छन्द होकर राज्य करने लगा। इसी प्रकार बहुत समय व्यतीत होने पर बालकों की नित्य-प्रति कमी होने से प्रजा के मनुष्य बहुत घबराये। सबने मिलकर यह विचारा कि यह बात क्या है? इस विषय का पता लगाना चाहिए कि ये बच्चे जाते कहां हैं? बहुत से मनुष्य इस विषय का गुप्त-रीति से अन्वेषण करने लगे।

एक दिन रसोइया पूर्ववत् बालकों को मिष्ठान देकर ज्योंहि उनमें से एक बालक को पकड़ कर ले जाने लगा, त्योंही गुप्तचरों ने भाग कर उसे पकड़ लिया। पकड़ते ही रसोइये ने अधमरे बच्चे को नीचे डाल दिया। बालक को देखते ही लोगों का क्रोध उमड़ आया। उन्होंने उसे खूब भारा, और जब उससे पूछा गया, तब उसने यथार्थ वृत्तांत कह दिया। राजा की इस अनीति को देखकर सब लोग विस्मित होकर कहने लगे—

अब तो पाके ग्राम में, बसवा नाहि लगार।

धेत महाबुल प्रजा को, भक्षत बालक मार ॥१॥

जब हम बालक ही मरे, प्राणन ध्यारे जाहि ।
तो जननी अरु तातु को, जीव रहैगो काहि ॥२॥
जहां बालक तहें ग्रहस्थई होत सो निहचै जान ।
अरु इनही के कारण जोरत धन अधिकान ॥३॥

फिर जहां बालकों का नाश होता है, वहां हम रहकर क्या करेंगे ? निदान सब लोगों ने विचार कर निश्चय किया कि यह राजा बड़ा दुष्ट और पापी है अतः इसे ही देश से निकाल देना चाहिए अतएव प्रातःकाल होते ही सब लोगों ने मिलकर बकु को राज्य-सिंहासन से उतार कर उसके गोत्रीय पुरुष को राज्य सिंहासन पर बैठा दिया । कहा भी है—

जापर कोपे पंच, परमेश्वर हू तासमे ।
तातें भोभदिरंघ, कुचलन कबहु न जाहिए ॥१॥
सहें न फिर सुखतेह, व्यापे अपशय लोक में ।
बेखो नृपसुत जेह, भूप कियो अन्याय लखि ॥२॥

तदनंतर वह राज्य भ्रष्ट होकर अनेक दुस्तह दुःखों को भोगता हुआ अपनी पाप वासना को न रोकता हुआ नगर के बाहर श्मशान भूमि में धूमता हुआ मुर्दों का मांस खा-खाकर दिन बिताने लगा । अन्त में वसुदेव ने दारा मरण कर सातवें तरक में गया, जहां पर अगणित दारुण दुःख सहने पड़ते हैं । अतएव इस मांस-भक्षण को अति निन्द्य एवं दुःखों का जन्मदाता जानकर सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ।

॥ इति मांस व्यसन वर्णन समाप्तम् ॥

॥ अथ मदिरा व्यसन वर्णन प्रारंभः ॥

यद्यपि इसका वर्णन तीन मकार में हो चुका है, तथापि सप्त व्यसनों में गणना होने के कारण यहां भी संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है ।

बोहा—सड़ उपजै प्राणी अनंत, मद में हिंसा भीत ।
हिंसा से अघ अपजै, अघ तें अति दुख होत ॥१॥
मदिरा पी दुर्बुधि मलिन, सोटें नीच बजार ।
मुख में मूत्र कूकरा, घाटें बिना विचार ॥२॥
मानुष हूँ कं मद पिये, जाने धर्म बलाय ।
आंसू मूँव कूबे परं तासों कहा बसाय ॥३॥

इस मदिरा के बनाने के लिए गुड़, महुआ, दाख तथा बहूल आदि वृक्षों की छाल को बहुत दिनों तक पानी में सड़ाते हैं । वह सड़कर दुर्गन्धित हो जाती है तथा उसमें असंख्यात, अनन्त, त्रस जीव, उत्पन्न हो जाते हैं पीछे उसको मसलकर यन्त्रों द्वारा अर्क निकालते हैं, वही खींचा हुआ अर्क, मदिरा तथा शराब व सुरा कहलाता है । वह मदिरा क्या है, मानों उसमें उत्पन्न होने वाले असंख्यात अनन्त त्रस जीवों के मांस का अर्क ही है और इसको प्रायः नीच जाति के मनुष्य ही बनाते हैं । उस अर्क में कुछ पदार्थों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की तारतम्यता से एक प्रकार का ऐसा मत्था उत्पन्न हो जाता है, जिसको पान करने से मनुष्य अपने आप को भूलकर कर्तव्याकर्तव्य के विचार-रहित हो जाता है । कहा भी है—

चित्ते आतिर्जायते मदपानाद्, आते चित्ते पापधर्म्यमुपैति ।
पापं कृत्वा दुर्गतिं याप्ति, मूढास्तस्मान्मद्यं नैव पेयम् ॥

अर्थात् मद्य के पान करने से चित्त में भ्रांति उत्पन्न हो जाती है और चित्त में भ्रांति होने से फिर मनुष्य पाप कर्मों को करता है। पाप करके फिर दुर्गति को प्राप्त हो जाता है। इस कारण से ही मूढ़ पुरुषों को तथा विवेकी जनों को शराब पीना योग्य नहीं है और भी कहा गया है—

मतो हिनस्ति सर्वं मिथ्या, प्रसृपिति हि विकल या बुद्धया ।

मातरमपि कामयते, सावधं मद्यपानमतः परम् ॥

अर्थात् मद्यपान करने से मदीयमत्त हुआ पुरुष बेसूध होकर माता-पिता और गुरु को भी मार देता है और विकलबुद्धि करके झूठ भी बोलता है और मद्य पीकर माता, पुत्री, बहन आदि की सुध भूलकर निर्लज्ज हुआ अनुचित वर्तन भी करता है। शराबी को जब विशेष नशा हो जाता है, तब व्याकुल होकर चलता-चलता पृथ्वी पर गिर पड़ता है। अयोग्य बकवास करने लगता है। जितने सन्निपात के चिन्ह हैं, वे सब मद्यपान में दिखाई देते हैं। इस पर एक कवि कहते हैं—

सवेया—

कृमि रासि कुचास सराय वहै शुचिता सब छूवत जात सही ।

जिहि पान किये सुधि जाए हिये जननी जन जानत नारि यही ॥

मदिरा सम और निषिद्ध कहा यह जानि भले कुल में न गही,

धिक् है उनको वह जीभ जलो जिन मूढ़न के मतलीन कही ॥

इसके पीने वालों की जो दुर्गति होती है, वह आँख से नहीं देखी जा सकती, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। बहुत लोगों का विचार है कि मदिरा पान करना बल प्रदान करता है और भोजन को पचाने में बहुत लाभदायक होता है, किन्तु यह विचार युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जितने मद्यपायी हैं उनको मदिरापान करने के पश्चात् कुछ समय के लिए अंगों में पुष्टता मालूम होती है और शरीर में कुछ बल भी मालूम होता है परन्तु वह आंतरिक और असली नहीं होता इसलिए उनका बल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार क्रोध के आवेश के समय में मनुष्य में एक प्रकार की शक्ति आ जाती है और वह उस अवस्था में साधारण अवस्था से कुछ विशेष बल का काम कर लेता है, पर नशा या क्रोध हट जाने पर कुछ नहीं रहता वरन् उस समय असली बल भी कम हो जाता है। उसी प्रकार मद्यपान द्वारा प्राप्त बल की यही दशा है। जिस समय मद्य का नशा उतर जाता है उस समय उनकी हालत जब देखी जाती है तब वे अपने मुख से ही अपनी शराब दशा बताते हैं कि मेरा शरीर टूट रहा है, बिना मदिरा पान किये मुझसे कोई काम नहीं हो सकता है और वह उस वक्त बिलकुल निकम्मा हो बैठता है मद्यपान से मूर्छा, कंपन, परिश्रम, भय, भ्रम, क्रोध, काम, अभिमान, नेत्रों के रक्त वर्ण हो जाने आदि के सिवाय शारीरिक शक्ति भी घटती जाती है और अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और यह मानसिक एवं आत्मिक उन्नति में भी बहुत बाधा डालती है, इसको पानकर मनुष्य आत्मिक उन्नति तो कुछ भी नहीं कर सकता है।

क्योंकि आत्म-ध्यान के लिए मन का बश करना तथा इन्द्रियों को उनके विषय से पराङ्मुख करना अत्यावश्यक है, परन्तु यह बात मदिरा के सेवन करने वालों में नहीं हो सकती क्योंकि यह मस्तिष्क को मिलाकर वासना तथा इच्छाओं के तृप्त करने की कांक्षा को बढ़ाती है। हम लोगों की इच्छाएँ तो पहले से ही प्रबल हैं और यह उनको और भी अधिक बढ़ाकर उन्नति के बदले अवनति के मार्ग पर गिरा देती है। मद्यपायी का चित्त अचल रूप से पूज्यदेव पर तथा ध्येय के ध्यान करने पर तथा आत्म-विचार पर लगना सर्वथा असंभव है और कहा भी है—

यावन् मद्यमांसादि जनस्तावत् लोलुपः ।

भुक्ते तस्मिन्तन्मनाः स्यात्क्व जपः क्व च देवताः ॥

अर्थात् जब तक पुरुष मांस और शराब को नहीं ग्रहण करता है तब तक उसका मन चंचल नहीं होता । जब पुरुष मांस और मदिरा को पी लेता है तब मन तो चंचल हो ही जाता है, फिर देवता का ध्यान और जप उससे कहाँ बनता है अर्थात् नहीं बनता है । अतएव जो मनुष्य अपने को धार्मिकोन्नति के पथ पर लगाकर मोक्षसुख के प्राप्त होने की कामना रखना है, उसे मद्य-मांसादि के परिहार-पूर्वक अहिंसा धर्म का प्रतिपादन करने वाले जिन धर्म को स्वीकार कर आत्म-कल्याण करना चाहिए । देखो ! भ्रम से मादक जलमात्र पीने से यादव अति दुःखी और पथ-भ्रष्ट हुए, फिर जो जान-बूझकर पीने वाले हैं, उनकी क्या दशा होगी ? अतएव सबको मद्यपान करना सर्वथा ही छोड़ देना श्रेयस्कर्म है । अब मद्यपान व्यसन के सेवन करने से तीव्र दुःख उठाने वाले यादवों का उपाख्यान कहते हैं, जिससे उनके दुःखानुभव से सर्वसाधारण को शिक्षा प्राप्त हो—

इस जंबूद्वीप के मध्य भरत-क्षेत्र में कौशल देश के अंतर्गत एक सौरपुर नामक सुन्दर नगर था । वहाँ शदुवंशियों में प्रधान महाराजा समुद्रविजय राज्य करते थे । इनके सबसे छोटे भाई थे—वसुदेव । वे पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे । जिस समय मथुरा का राजा कंस वसुदेव के साथ अपनी बहन देवकी का विवाह कर अपनी राजधानी में ले गया था और सुखपूर्वक राज्य कर रहा था, उसी समय किसी कारणवश इसने अपने पिता से रुष्ट होकर उन्हें कारागार में डाल दिया था । इसकी इस अनोखी को देखकर कंस के लघुभ्राता अतिमुक्तक विरक्त होकर मुनि हो गये थे । अतः एक दिन वे मुनि अहार के लिए आए । उन्हें आते हुए देखकर कंस की प्रधान रानी जीव्यशा देवकी का मलिन वस्त्र दिखाकर उनके साथ हास्य करके बोली—‘देखो, जिसे तुमने बाल्यावस्था से ही छोड़ रखा है, उसी का यह वस्त्र है ।’

वस्त्र देखकर मुनि क्रोधित होकर बोले—‘मूर्ख ! तू हंसती क्यों है ? तुझे तो रोना चाहिए । इसी के गर्भ से प्रसूत बालक के द्वारा तेरे पिता और स्वामी दोनों की मृत्यु होगी ।’ यह कहकर मुनि-राज अंतराय हो जाने के कारण वन में वापिस लौट आए ।

इधर मुनिमुख से यह भवितव्यता सुनकर जीव्यशा बहुत दुःखी हुई । इतने में राजा कंस भोजन के लिए महल में आए और अपनी प्रिया को उदास मन देखकर पूछने लगे—‘प्रिये ! आज तुम्हारा मुख-कमल कुम्हलाया हुआ मालूम होता है । क्या तुमको किसी ने दुःख पहुंचाया है ?’ तब दुःखीचित्त हो जीव्यशा बोली—

‘हे नाथ आज मम नेहा, आये अतिमुक्ति मुनेहा ।

मैं हंसि रतिवस्त्र दिखाया, तब इम वच मुनी कहाया ॥—

कि हे मूर्ख ! तुझे तो शोक करना चाहिए । हंसती क्यों है ? क्योंकि इसके गर्भ से उत्पन्न होने वाले पुत्र के द्वारा तेरे स्वामी और पिता की मृत्यु होगी । वस यही मेरे दुःखी होने का कारण है ।’ कंसा की इस दुःखभरी कथा को सुनकर कंस भी बड़ा व्याकुल हुआ । सच है, मृत्यु का भय सबसे बड़ा होता है । तब कुछ विचारकर कंस वसुदेव के घर पर गया । वसुदेव ने कंस का आगमन देख यथायोग्य सादर सत्कार किया । कंस कपट भाव से वसुदेव की बहुत प्रशंसा कर कहने लगा—‘आप सब विद्याओं में मेरे गुरु हैं, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं, परन्तु मुझे आपसे कुछ मांगना है । यदि आप कृपा करें तो बहुत अच्छा हो ।’

वसुदेव बोले—‘ऐसा क्यों कहते हो ? क्या कभी मैंने तुम्हारे कहने का निषेध किया है, फिर किसलिए इतना आग्रह करते हो ?’

कंस बोला—‘यदि ऐसा है तो मुझे वचन दे दीजिए—ताकि मैं प्रार्थना करूँ ।’

जब वसुदेव वचन दे चुके तब कंस बोला—‘आगे से मेरी बहन का प्रसूत मेरे घर पर ही हुआ करे ।’

तब उत्तर में वसुदेव ने कहा—‘अस्तु, यह तुम्हारी भगिनी है । इसकी प्रसूति तुम्हारे घर पर होने में हमारी कोई हानि नहीं है ।’ कंस अपना अभीष्ट सिद्ध हुआ जान प्रसन्न होकर अपने घर पर चला गया । उसके चले जाने के पश्चात् वसुदेव के किसी हितु ने कंस के आग्रह का यथार्थ कारण बता दिया । सुनकर वसुदेव और देवकी बहुत दुःखी हुए । पर बन भी क्या सकता था ? क्योंकि वह पहले ही वचन बद्ध हो चुका था, बस यहीं से कंस और वसुदेव में परस्पर आंतरिक वैमनस्यता रहने लगी, परन्तु बाहर से वैसा ही दिखाऊ प्रेम रखते थे जिससे दूसरे उनके वैमनस्य को न जान सकें ।

अथानंतर कुछ समय व्यतीत होने पर देवकी गर्भवती हुई । जब गर्भ सात मास का हो चुका तो कंस देवकी को अपने घर ले गया और बड़ी सावधानी के साथ उसकी रक्षा करने लगा । नवम् मास संपूर्ण हो जाने पर देवकी ने युगल पुत्रों को जन्म दिया । तब देवी ने उसके पुत्रों को उठाकर उनके स्थान पर मृतक युगल ला रखा ।

जब कंस को देवकी के मृतक युगल पुत्र प्रसूत होने का समाचार मालूम हुआ तभी निर्दय कंस ने उन पुत्र-युगलों को जंघा पर पैर रखकर चीर दिया । कंस की यह निर्दयता देखकर देवकी और वसुदेव बहुत दुःखी हुए । आगे और भी दूसरे और तीसरे युगलों को निर्दयी कंस ने इसी प्रकार मार डाला । कुछ समय बीतने पर जब देवकी के गर्भ में नवें नारायण श्रीकृष्ण ने आकर अवतार लिया तब देवकी को शुभ समाचार के सूचक आठ स्वप्न हुए ।

उनके फल को जानकर दोनों दम्पति सुखपूर्वक रहने लगे । उधर गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने लगा । यह गर्भ पांच ही महीने का हुआ था कि कंस आकर फिर देवकी को अपने घर पर ले गया और प्रतिदिन सावधानी से उनकी रक्षा करने लगा । सातवें महीने में भाद्रपद कृष्णपक्ष की अष्टमी को रात्रि के समय रोहिणी नक्षत्र में शुभ लक्षणों युक्त सुन्दर पुत्र रत्न को देवकी ने उत्पन्न किया । उस समय देवकी ने बड़ी बुद्धिमानों और सावधानी के साथ गुप्तरीति से अपनी अनुचरी को वसुदेव के पास भेजा । अनुचरी ने जाकर कहा—‘महाराज ! आपके पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है । किसी प्रकार उसकी रक्षा करिये ।’ यह सुनते ही वसुदेव प्रसूतिगृह में गये और पुत्ररत्न को लेकर वहां से गुप्त रीति से चल दिये । उनकी रक्षा करने के लिए उनके साथ बलभद्र भी थे ये दोनों बालक को लिए हुए उस प्रतापी पुत्र के प्रभाव से कुशलतापूर्वक यमुना में से लेकर दूसरी पार वृन्दावन पहुँचे । यद्यपि यमुना वर्षा ऋतु होने के कारण किनारों को तोड़ती हुई बड़े वेग के साथ बह रही थी ।

परन्तु श्रीकृष्ण के प्रभाव से घुटना तक का जल रह गया वहां एक नन्द नाम का ग्वाला रहता था । उसकी स्त्री का नाम यशोदा था । नन्द ने इन्हें आते हुए देखकर विचारा कि आज किसलिए पूज्य महात्मा घर पर आये हैं । उनके निकट आने पर वह बोला—‘महाराज ! आप किसलिए पधारे हैं ।’

तब वसुदेव ने नन्द को अपने पर बीती हुई सारी व्यथा कह सुनाई और श्रीकृष्ण को उन्हीं रक्षार्थ सौंप दिया और कहा कि—देखो, कहीं कंस को मालूम न हो जाए नहीं तो किये कराये पर पानी फिर जाएगा ।

नंद ने कहा — 'अस्तु, ऐसा ही होगा । आप किसी प्रकार का संदेह न करें, पर मेरा आपसे यह कहना है कि मेरे यहां आज ही पुत्री उत्पन्न हुई है । आप उसे वहां ले जाकर देवकी को दे दीजिए और इस बालक को मेरे घर पर छोड़कर निःशंक हो जाइये । इससे कंस को किसी तरह मालूम नहीं होगा और पुत्री का प्रसव जानकर वह कोई विघ्न भी उपस्थित नहीं करेगा । यदि उसने कोई अनुचित कार्य किया भी तो आप ये न समझें कि मेरी पुत्री की वृथा जान जायेगी । यह बालक जोवित रहा तो मैं समझूंगा कि मेरे सैकड़ों पुत्रियाँ हैं ।'

नंद की इस सहानुभूति को देखकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और अपने पुत्र को रक्षार्थ सौंपकर उसकी पुत्री को लेकर शीघ्र ही घर पर आकर देवकी को सौंप दिया और आप अपने घर चले गये । उधर प्रातः काल होने पर कंस की स्त्रियाँ जागीं और पुत्री को उत्पन्न हुई जानकर अपने स्वामी से कहने लगीं—नाथ ! अबकी बार जानकी के पुत्री उत्पन्न हुई है ।

ये सुनकर कंस सोचने लगा कि मेरी मृत्यु इसके द्वारा होगी या इसके पति के द्वारा । यदि इसके पति के द्वारा मेरा मृत्यु होगा तो पहले ही ऐसा उपाय न करूँ जिससे कोई इसे चाहे ही नहीं । ऐसा विचार कर वह उसी समय प्रसूति—गृह में पहुँचा और वास्तव में ही लड़की को देखकर उसको कुरूप बनाने के लिए उसकी नाक काटली और फिर देवकी को दे दी । देवकी कुछ समय पर्यन्त वहां रहकर फिर अपने घर चली गयी । इधर बालक तो ग्वाले नंद के घर दिनों-दिन शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा और उधर कंस के सुख की इति श्री होने के कारण तथा भावी कुल के विनाश के सूचक उत्पात दिनोंदिन बढ़ने लगे । तब कंस ने किसी विचक्षण बुद्धि निमित्तज्ञानी को बुलाकर पूछा—मेरे घर में उत्पात क्यों होते हैं ?

नैमित्तिक ने कहा—'राजन् । आपका कोई शत्रु वन में वृद्धि को प्राप्त हो रहा है । उसी के द्वारा आपकी जीवन यात्रा समाप्त होगी । उत्पात होने का यही कारण है ।'

यह सुनकर कंस मानसिक व्यथा से बहुत दुःखित हुआ । उसने अपनी रक्षा का कोई और उपाय न देखकर अपने पूर्व भव के मित्र देवों का आराधन किया । वे प्रत्यक्ष हुए तब उसने कहा—'अरे मित्रों मेरा शत्रु वृद्धि को प्राप्त हो रहा है । जिस प्रकार से भी बने उसे निर्मूल को ।' उसी समय एक देव उसकी आज्ञानुसार पूतना का वेष धारण कर नंद के घर पहुँचा और अपने स्तनों पर हलाहल विष लगाकर बालक को दुग्ध पिलाने लगा । बच्चे ने उसकी बुरी वासना जान ली और दूध पीने के छल से उसके स्तनों को काट लिया तब कष्ट वेणी देव चिल्लाकर भागा । दूसरे दिन अन्य देव भी अनेक रूप धारण कर कृष्ण को कष्ट पहुँचाने के लिए आए परन्तु उस भाग्यशाली बालक का वे कुछ भी न कर सके ।

देवों ने सब घटना उ्यों की त्यों कंस को जा सुनाई । कंस सुनकर बहुत चिंतातुर हुआ । निदान कंस ने अपने शत्रु श्रीकृष्ण को मारने के लिए यमुना से कमल लाने को भेजना, नाम शय्या पर शयन करना, सारंगधर धनुष को चलना, पांचजन्य शंख को बजवाना आदि उपायों द्वारा कृतकार्य होना चाहा, पर बेचारे कंस को देव ने कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं होने दी । इससे कंस को बड़ा दुःख हुआ । फिर उसने एक और उपाय सोचा । उसके यहां चाणूर और मुष्टिक नाम के दो पहलवान थे । कंस ने उन्हें बुलाकर एकांत में उनसे पूछा—'क्या तुम लोग शत्रु का कुछ उपाय कर सकोगे ?'

उन्होंने कहा—'महाराज ! आपकी आज्ञा होनी चाहिए । फिर देखो । शत्रु को यमपुर ही पहुँचा देंगे ।'

यह सुनकर कंस ने बहुत ही संतुष्ट होकर मल्लशाला रचवानी आरंभ कर दी और नंद के पास सेवक को भेजकर कहलवा दिया—‘मेरे यहां अखाड़े में पहलवानों की कुशियां होंगी। तुमको भी अपने ग्वालियों सहित सम्मिलित होना चाहिए।’

यह सुनकर बलभद्र ने सब वृत्तांत श्रीकृष्ण से कह दिया और उधर वसुदेव ने कंस का यह मायाजाल रचा जानकर अपने भाइयों के बुलाने के लिए एक दूत को सौरीपुर भेज दिया। समाचार सुनते ही यादव आ पहुंचे। इधर बलदेव और श्रीकृष्ण मल्लवेष्ट धारण कर अपने ग्वालियों सहित ही वृंदावन से चलकर मथुरा में आ पहुंचे जहां कंस ने मल्लशाला रचवा रखी थी। पहुंचते ही श्रीकृष्ण निःशंक होकर लड़ने के लिए मल्लशाला के मध्य बैठ गये।

कंस ने भयभीत होते हुये अपनी आज्ञा की पूर्ति के लिए चाणूर और मुष्टिक को लड़ने के लिए कहा, भयभीत होने का कारण यह था कि एक तो वह पहले ही श्रीकृष्ण का पराक्रम सुन-सुनकर चिंतातुर हो रहा था, दूसरे यादवगण सेना सहित आ पहुंचे थे। चाणूर और श्रीकृष्ण का तथा मुष्टिक और बलदेव का परस्पर कुछ समय तक मल्लयुद्ध होता रहा। अंत में इन दोनों वीरों ने उन दोनों मल्लों को यम का अतिथि बना दिया। तब कंस को अपने दुर्जेय मल्लों का मरण देखकर बहुत क्रोध आया और लाल-लाल आंखें कर श्रीकृष्ण से बोला—‘क्यों रे दुष्ट! तूने मेरे मल्लों का प्राणान्त कर दिया। वे तो बेचारे केवल लीलामात्र ही लड़ रहे थे यदि उन्हें तेरी यह दुष्टता मालूम हो जाती तो वे पहले ही तुझे यमपुर पहुंचा देते। अस्तु। तेरे इस अत्याचार का बदला तुझे अभी दिखा देता हूं। मालूम होता है तेरा अंत समय आ गया है।’

यह कहकर खड्ग लेकर श्रीकृष्ण को मारने के लिए कंस सम्मुख आया। श्रीकृष्ण ने कंस को आते हुए देखकर और कुछ न पाकर हाथी की बांधने का खूंटा उखाड़ा और उसी के द्वारा उसके प्राण हर लिए। कंस के मरते ही उसकी सारी सेना भाग गई और सब जगह श्रीकृष्ण की आज्ञा का विस्तार हुआ।

कंस का अग्नि-संस्कार कर अपने नाना उग्रसेन को छुड़ाकर सब यादव-गण अपने घर आ गये। उधर जब कंस राजा के स्वसुर जरासिध को अपनी पुत्री द्वारा अपने जामाता के मरण का समाचार मालूम हुआ तब उसने बड़े क्रुद्ध होकर अपने छोटे भाई अपराजित को बहुत सी सेना साथ देकर यादव-गणों का नाश कर देने के लिए भेजा दोनों सेनाओं का भीषण युद्ध हुआ। बहुत-से लोग मारे गये। अंत में श्रीकृष्ण ने अपराजित को यमपुर पहुंचा दिया। अपराजित के मरते ही, उसकी सेना को जिधर रास्ता मिला, उधर भाग गयी। उधर जरासिध ने अपने भाई का जब मरण सुना तब उसे बड़ा क्रोध आया। वह उसी समय विपुल सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ा। इधर जब यदुवंशियों ने सुना कि जरासिध बहुत सेना लेकर चढ़ा आ रहा है। तब वे जरासिध से युद्ध करना अनुचित जान उसे दुर्जेय समझकर वहां से चल दिए और सौराष्ट्र नगरी के समीप जाकर रहने लगे। जरासिध नगरी को खाली देखकर थोड़ी दूर और चलकर उनको वहां न देखकर भागा हुआ जान निःशंक होकर घर पर वापिस आकर राज्य करने लगा।

तदनंतर कुछ समय व्यतीत होने पर राजग्रह के व्यापारी मिलकर व्यापार करने के लिए द्वारकापुरी में आये। जो कि कृष्ण तथा नेमिनाथ भगवान के रहने के लिए इंद्र की आज्ञासे कुवेर के द्वारा निर्माण की गई थी उसको अपनी राजधानी बनाकर श्रीकृष्ण वहां निष्कण्टक राज्य करते थे और वहां से बहुत उत्तम उत्तम वस्तुएं खरीदकर वापिस राजग्रह आए तथा उत्तम वस्तुएं भेंट में देकर अपने राजा से मिले। जरासिध ने उनसे पूछा—‘तुम लोगों ने किन-किन देशों की यात्रा की और अब कहां से

आ रहे हो ?

उत्तर में व्यापारियों ने कहा — 'हम लोग द्वारका गये थे।' जरासिध ने फिर पूछा—'द्वारिका कहां है ? उसका स्वामी कौन है ? उसका किस कुल में जन्म हुआ है ? क्या नाम है ? कितनी सेना और कितना बल है ?

व्यापारियों ने जैसा सुना था वैसा सब वृत्तांत कह सुनाया। सुनते ही जरासिध क्रोधाग्नि से भड़क उठा और कहने लगा — 'पापी यादव पृथ्वी पर अभी तक जीते हैं ! अस्तु मैं उनको अभी यमपुर पहुँचाऊँगा।' जरासिध ने उसी समय अपने मंत्रियों से परामर्श कर यादवों को आज्ञानुवर्ती होने के लिए अपने बुद्धिसेखर नाम के दूत को उनके पास भेजा। जब उन्होंने आधीनता को स्वीकार नहीं किया तब अपनी विपुल सेना को लेकर युद्ध के लिए चल पड़ा। उधर कृष्ण ने जब सुना कि जरासिध सैन्य-संग्राम के लिए दुर्योधन से आ गुरा है :

तब वे भी अपनी सेना लेकर रणभूमि में आ पहुँचे और दोनों सेनाओं में बड़ा भारी युद्ध हुआ। अंत में जरासिध और श्रीकृष्ण को मुठभेड़ हो गयी। जरासिध ने जब शत्रु को दुर्जय समझा तो क्रोधित होकर श्रीकृष्ण को मस्तक शून्य करने के लिए चक्र चलाया तो वह चक्र श्रीकृष्ण की तीन प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आ गया। फिर श्रीकृष्ण ने उसी चक्र को जरासिध पर चलाया। चक्र ने जरासिध का मस्तक छेद दिया और फिर श्रीकृष्ण के हाथ में आ गया। जरासिध के मरते ही उसकी सेना भी इधर उधर भाग गयी और सब जगह श्रीकृष्ण की आज्ञा का विस्तार हुआ। श्रीकृष्ण जरासिध के पुत्र को राज्य देकर अपने स्थान पर वापस आ गये।

जिस समय का यह कथन है उस समय यादवों की संख्या छप्पन करोड़ थी। वे संसार भर में प्रसिद्ध हो गये थे। अथानंतर कुछ समय पश्चात् भगवान् नेमिनाथ का विवाह जूनायढ़ के राजा उग्रसेन की राजमती नाम का पुत्री के साथ होना निश्चित हुआ। थोड़े ही दिनों में नेमिकुमार की बारात जूनागढ़ आ पहुँची। भगवान् तोरण के पास आए ही थे कि इतने में स्वामी ने पशुओं के हृदय द्रायक चिल्लाने का स्वर सुना। उन्होंने अपने सारथी से पूछा 'ये पशु क्यों किलकार रहे हैं और निरपराध पशु क्यों बाँध रखे हैं।

तब उत्तर में सारथी ने कहा—'महाराज ! आपकी बारात में जो मांसाहारी राजा आए हैं उनके भोजन के लिए इनको बध करने के निमित्त एकत्रित कर रखा है।'

यह सुनते ही नेमिकुमार के हृदय पर बड़ी चोट लगी और उसी समय अपने रथ को लौटा दिया और वे विवाह का सारा शृंगार तजकर रथ से उतर गिरतार पर्वत पर जा चढ़े और जिनदीक्षा ले ली। उग्र तपश्चरण कर छप्पन दिन के पश्चात् शुक्ल ध्यानार्ति द्वारा घातिया कर्मों का नाश करके भगवान् केवलज्ञानी हो गये। केवलज्ञान के होते ही इन्द्र ने आकर गिरतार पर्वत पर बारह सभाओं से सुसज्जित समवशरण की रचना की। भगवान् को केवलज्ञान होने का समाचार सुनकर द्वारकापुरी से भी श्रीकृष्ण तथा द्वारिका के लोग भगवान् के दर्शन करने को आये और उनके साथ बहुतसी स्त्रियाँ भी आयीं और भगवान् का उपदेश सुनकर राजमती आदि अनेक स्त्रियों ने आश्रितों के अंतों की दीक्षा ले ली। बहुत से भव्यों ने उसी समय मुनिव्रत ग्रहण कर लिए। बहुतों ने अणुव्रत धारण किये। कितनों ने केवल सम्यक्त्व ग्रहण किया। उस समय भगवान् से देवकी ने तथा श्रीकृष्ण की स्त्रियों ने अपने-अपने अभीष्ट प्रश्न पूछे। भगवान् ने सब का यथार्थ उत्तर दिया। इसके पश्चात् बलदेव ने कुछ भविष्यवार्ता जानने की आकांक्षा से भगवान् से पूछा कि हे भगवान् ! जो संसार में जन्म लेते हैं उनका मरण अवश्य

होता है और यही आपके शासन में भी उपदिष्ट है अतएव आप कृपा कर कहिये कि—

द्वारावति को नाश हेतु किम होयगो ।
और कौन विधि कृष्ण मरण सो जौयगो ॥
तब बोले भगवान् बलदेव तुम शुभ करि ।
सो सुन कारण सुन कहों सब इस घरी ॥

भगवान् ने कहा—‘बलदेव सुनो—

मव के दोष उपाय द्वीपायन मुनि तैं सही ।
बारह वरष सोजाय, होसो भसमी द्वारिका ॥१॥
ग्रह पुनि जरदकुमार, ताके कर हरि मौत है ।
यह निश्चै चित धार तपलेसी सो उबरि है ॥२॥

जिनेंद्र भगवान् के मुखारविन्द से ये वचन सुनकर बलदेव ने तत्क्षण ही श्रीकृष्ण के पास जाकर यह वृत्तांत कह दिया । सुनकर श्रीकृष्ण ने समस्त द्वारकापुरी में यह घोषणा करवा दी कि जो कोई मनुष्य आज से मदिरापान करेगा वह राजाशा का विद्रोही समझा जाकर उचित दण्ड का पात्र होगा और मदिरा सम्बन्धी जितनी सामग्री तथा पात्र जिसके यहां उपस्थित है वह आज ही सब ले जाकर नगर के बाहर पर्वत की कन्दराओं में फेंक ~~दो~~ और साथ ही यह भी घोषणा करवा दी कि मेरे परिजन तथा पुरजनों में से जिसकी दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा हो वह ले लेवें । इस समय मैं किसी को नहीं रोकूंगा ।

यह राजाशा होते ही मदिरा की उत्पादक सामग्री तथा पात्रों को सब लोग कन्दराओं में फेंक आये । श्रीकृष्ण की आठों स्त्रियों तथा उनके पुत्र और प्रजा के अनेक लोगों ने निःशंक होकर जैनेन्द्र की दीक्षा ग्रहण की । उधर यह वृत्तांत जब जरदकुमार ने सुना तो वह भी अपने कुटुम्बी जनों को समझाकर घर से निकल कर वन में गुप्त रूप से खेदक का वेष बना कर रहने लगा । जब यह वृत्तांत द्वीपायन मुनि को मालूम हुआ तो वह भी द्वारकापुरी को छोड़कर अन्य देश में जाकर रहने लगे । परन्तु भावी को कौन रोक सकता है ? जैसा कि कहा गया है—

अवश्यंभावि भावनां, प्रतिकरोभवेद्यादि ।
तथा दुःखैर्न लिप्येत्, बलराम युधिष्ठिरा ॥

अर्थात् जो होनहार है वह तो अवश्य होती है । यदि भावी को रोकने का कोई उपाय होता तो राजा नल, श्रीरामचन्द्र और राजा युधिष्ठिर दुःख को प्राप्त नहीं होते ।

तदनंतर बारह वर्ष में कुछ समय शेष रहने पर एक समय यादव गण क्रीड़ा करने को गये । क्रीड़ा करते-करते बहुत देर हो गयी तब उन्हें प्यास ने बहुत व्याकुल किया परन्तु वहां जल का कोई पता नहीं लगा । अन्त में खोज करते-करते वे उस स्थान तक पहुँचे जहां मदिरा की निष्पन्न सामग्री डाली गयी थी । वहां वर्षा के होने से उस मादक सामग्री में जल के मिलने से वह गर्त भर गया और वे उसे पाकर बहुत प्रसन्न हुए । वे उसे जल समझकर पीकर द्वारकापुरी के पथ को ओर चल दिये । मार्ग में ही उनको बहुत तेज नशा हो गया । वे उत्तम होकर नाना प्रकार की निषिद्ध चेष्टाएँ करते हुए द्वारका के पास आए । वहां बारह वर्ष व्यतीत हुए जान नगरी को देखने के लिए द्वीपायन मुनि आए थे । उन्हें देखकर इन्हें द्वीपायन मुनि के द्वारा नगरी के ध्वंस होने की बात स्मरण हो आयी । इससे क्रोधित होकर उन्होंने मुनि को असह्य कष्ट दिया । इससे मुनि अत्यंत क्रुद्ध हुए । मुनि के क्रोधित होते ही उनके बाँए कंधे से अशुभ तैजस का पुतला निकला और उसके द्वारा समस्त द्वारका भस्म हो गयी ।

श्री कृष्ण को जब इस भयंकर वृत्तान्त का ज्ञान हुआ तो वे उसी समय बलदेव सहित अपने माता-पिता को बाहर ले जाने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु सब द्वारों के कपाट बन्द हो गये अतएव वे उसमें सफलता प्राप्त न कर सके। श्री कृष्ण को व्याकुल देखकर किसी देव ने कहा कि तुम व्यर्थ ही खेद उठा रहे हो समस्त द्वारका में तुम्हारे और बलदेव के सिवाय और कोई नहीं बचेगा।

यह सुनते श्री कृष्ण समुद्र पर पहुँचे और वहाँ से जल का नाला लाकर अग्नि को शान्त करने लगे परन्तु अशुभोदय से वह जल भी तेल रूप होकर दूना-दूना जलने लगा। ठीक ही है जब देव ही प्रतिकूल हो जाता है तब न तो पांडित्यता काम आती है न चतुराई। देवकी और वासुदेव अपना बचना कठिन समझकर सन्यास मरण कर उसके प्रभाव से स्वर्ग में देव हुए। देखते-देखते समस्त द्वारिकाभस्म हो गयी। इस घटना को देखकर श्रीकृष्ण और बलदेव बहुत दुःखी हुए और व्याकुलचित्त होकर साश्रुपात रुदन करने लगे। बहुत देर पश्चात् कुछ धैर्य धारण कर दोनों वहाँ से चल दिए। जब वे कीर्तिशायी नगरी के वन में आए तब श्रीकृष्ण बहुत व्याकुल हुए। उन्होंने बहुत तृपातुर होकर बलदेव से जल लाने के लिए कहा। बलदेव उनको एक वृक्ष की छाया में बैठाकर आप जल लाने के लिए चल दिए परन्तु वहाँ वन में जल कहाँ? पर वे खोज करते-करते बहुत दूर चले गये वहाँ उनको एक सरोवर दिखाई दिया। वे वहाँ पहुँचे और कमलपत्रों का पात्र बनकर उसमें जल लेकर आने लगे। इधर उनके जाते ही श्रीकृष्ण शीतल पवन चलने के कारण वृक्ष के नीचे लेट गये और उन्हें निद्रा भी आ गयी। अकस्मात् दैवयोग से उधर जरत्कुमार आ निकले। श्रीकृष्ण के पात्र में चमकते हुए पद्म को देखकर उनके चित्त में कल्पना उठी कि यह कोई मृग सो रहा है और जो यह चमक रहा है वह उसका नेत्र है। ऐसा विचारकर उन्होंने शीघ्रता से बाण चला दिया। बाण के लगते ही श्रीकृष्ण चिल्ला उठे और बोले कि—‘मुझको वन में अकेले सोते हुए देखकर किस पापी ने बाण मारा है? मुझको मारकर उसने क्या लाभ उठाया?’

रुदन का यह शब्द सुनकर जरत्कुमार दौड़े आए। देखा तो श्रीकृष्ण सिसक रहे हैं। उससे यह घटना देखी न गयी और वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। कुछ देर पीछे सचेत होकर कहने लगा—

हा हा तात कहा भयो, यह दुःखकारण आय।

मैं खल आय रही तहां तो भी भयो बनाय ॥

श्रीकृष्ण जरत्कुमार को पश्चात्ताप करते हुए देखकर क्षमा करके बोले—‘भाई! जो होना था वह तो हो चुका। अब तुम व्यर्थ शोक न करो। मेरे कहने से तुम अभी यहाँ से चले जाओ। बलदेव आ गये तो तुमको मार डालेंगे। तुम ये सब वृत्तान्त पांडवों को जाकर कह देना।’

निदान श्रीकृष्ण ने जरत्कुमार को बलदेव के आने से पहले पांडवों के पास भेज दिया और परलोकवासी हो गये। इतने में बलदेव भी जल लेकर आ गये। श्रीकृष्ण को मृत्यु शय्या पर शयन करते देखकर भी मोह के बशीभूत हुए उन्हें रुष्ट हुआ जानकर प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार से विनययुक्त वचन कहते हुए जल पीने का आग्रह करने लगे। कभी उनसे हास्य करने लग जाते और कभी रोने लग जाते। श्रीकृष्ण के शोक से उनकी पागलों जैसी अवस्था हो गयी। पांडवों को जब जरत्कुमार के द्वारा इस घटना का वृत्तान्त विदित हुआ तब वे भी बलदेव के पास आए और उनकी इस अवस्था को देखकर बहुत दुःखी हुए। पांडवों ने बलदेव को बहुत कुछ दिलासा दिया और श्रीकृष्ण के शव का अग्नि-संस्कार करने के लिए कहा, परन्तु बलदेव ने उनके कहने को बिल्कुल नहीं माना और उल्टे उनसे रुष्ट हो गये।

जब देवों के प्रतिबोधन के द्वारा उनकी बुद्धि स्थिर हुई तब उन्होंने श्रीकृष्ण के शव का अग्नि संस्कार कर दिया और संसार की लीला से विरक्त होकर भगवान के निकट दीक्षा ग्रहण कर कठिन तपश्चरण करते हुए अंत में समाधिमरण कर स्वर्ग में देव हुए ।

इधर पांडवों ने भी भगवान के समोप जैनेंद्रो दीक्षा ग्रहण कर ली, देखो ? यादवों ने केवल अज्ञान के कारण मादक जल का पान किया, उससे जब उनकी ये अवस्था हुई कि अपने कुल सहित सब नष्ट-भ्रष्ट हुए, तब जो जानकर मदिरा का पान करते हैं, उनकी जानें क्या दशा होगी ? मदिरा पान से दोनों लोक बिगड़ते हैं । इसको पीकर जो अपने आपको पवित्र मानते और धर्मानुरागी कहते हैं, उनकी बुद्धि पर बड़ा आश्चर्य है क्योंकि इसको बनाने के लिए पहले तो महुआ, दाख आदि पदार्थ सड़ाए जाते हैं, जब उसमें दुर्गंध पैदा हो जाती है तब उसमें असंख्यात, अनंत अस जीव उत्पन्न हो जाते हैं तब उन्हीं का पंखों के द्वारा अर्क निकालते हैं, उसी को मदिरा कहते हैं और इसको नीच जाति के मनुष्य हो निकालते हैं । फिर जो इसका पान करते हैं, उनका धर्म कैसे रह सकता ? कदापि नहीं रह सकता और इसके पान से अविवेकी होकर दुराचरण करता हुआ मनुष्य अन्त में दुर्गति का पात्र होता है । इससे बहंत से शारीरिक और मानसिक कष्ट भी सहने पड़ते हैं । मदिरा-पान से ही यादवों का सर्वनाश हुआ, यह प्रसिद्ध ही है । अतएव मदिरा पान को अतिनिन्द्य, दुर्गति एवं दुःखों का दाता जान कर सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । यही नहीं, इसका स्पर्श भी नहीं करना चाहिए ।

॥ इति मदिरा व्यसन वर्णनम् ॥

॥ अथ वेश्या-व्यसन-वर्णन-प्रारम्भः ॥

छंद—

धन कारण पापिनि प्रीति करे,
नहि तोरत नेह जया तिनको ।
लख चाखत नीचन के मुख की,
शुचिता कब जाय छिये तिनको ।
मद्य मांस बजारन खाय सदा,
अन्ध ले घिसनी न करे घिस को ।
गनिका संग जे बाठ लीन भये,
धिक है धिक है धिक है तिनको ॥

जिस अविवेकिनी ने तीव्र लोभ के बश में होकर वेश्यावृत्ति को अंगीकार कर अपने कोमल तन को अपनी प्रतिष्ठा लज्जा को अपने अमूल्य पतिव्रत को नीच लोगों को बेच दिया है, ऐसी वेश्या का सेवन करना महानिन्द्य है । यह वेश्या बड़ी ठगनी है । जो एक बार भी इसके पास आ जाता है, उसको अपने जाल में फंसाने के लिए मीठी-मीठी बातें करती है फिर दूसरे का विश्वास तो अपने ऊपर करा लेती है परन्तु आप दूसरे के ऊपर विश्वास नहीं करती है और धन के लोभ से उसको अपने हाव-भाव विलास आदि के द्वारा अपने पर आसक्त कर निरन्तर द्रव्य हरण का प्रयास करती है । इस पर एक कवि ने कहा है :—

वर्शनात् हरते चिसं, स्पर्शात् हरते बलम् ।
भोगात् हरते वीर्यं, वेश्या साक्षात् राक्षसी ॥

अर्थ :—अर्थात् देखने से मन का हरण करती है" स्पर्श करने से बल को हरती है और काम सेवन करने से वीर्य को अतएव वेश्या साक्षात् राक्षसी है। दूसरे यह धन की दासी है। किसी पुरुष विशेष की स्त्री नहीं है क्योंकि जब तक मनुष्य के पास धन रहता है तब तक उससे दिखाऊ प्रीति करते हुए सम्पूर्ण धन को हरकर अपने उस प्रेमी को मृतक के समान छोड़ देती है जैसे कि लक्ष्मी पुण्य क्षीण होने पर पुरुष को छोड़ देती है। द्रव्य को हरना तथा कष्ट आपदा और रोगों को देना ही इसका कार्य है। जो इस वेश्या का सहवास करता है और समागम करता है, यह उन अपने भक्तों को मांस, मदिरा जूआ आदि दुर्व्यसनों में फंसाकर कष्ट आपदा का कोष बनाकर सर्वस्व हरण कर उसके बदले में उपदेश भूतकृच्छ आदि रोग रूप पारितोषक देकर दुर्गति का पात्र बना देती है। यह अपवित्रता की भूमि और विष की बेल है। जैसा कि कहा है—

वृष्टि विषा यह नागनी, देखत विष चढ़ जाय ।

जीवन काढ़े प्राण को, मरे नरक ले जाय ॥

हीन वीन तें लीन है लेती अंग मिलाय ।

लेती सरवस सम्पदा, देती रोग लगाय ॥

यह सुयश तथा धर्म-कर्म का मूलोच्छेदन करने वाली है। जो लोग वेश्या सेवन में फंस जाते हैं, उनके जाति-पाति विचार प्रतिष्ठा और लज्जा तथा धर्म-कर्म सब नष्ट हो जाते हैं। धर्महीन अविद्येकी इस लोक में निन्द्य गिने जाते हैं और परलोक में कुगति को प्राप्त होते हैं। अतएव वेश्या संगम अति दोषों का स्थान होने से विचारशील पुरुषों के लिए सर्वथा त्यागने योग्य है। देखो ! वेश्या सेवन से सेठ चारुदत्त नाम के पुरुष ने कैसे-कैसे दुःख भोगे ? उसके दुःखानुभव से सर्वसाधारण को शिक्षा प्राप्त हो, इसलिए उसका उपाख्यान करते हैं—

इस जंबूदीप के भरत क्षत्र में अंग देश के अन्तर्गत चम्पा नाम की सुन्दर नगरी है। उसके राजा विमलवाहन थे। उनके राज्य में भानुदत्त नाम का एक सेठ रहता था उसकी स्त्री का नाम देविला था बहुत दिन प्रतीक्षा करने पर बड़े ही कष्ट से उसे एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम था चारुदत्त। भानुदत्त ने पुत्र जन्म के उपलक्ष में बहुत उत्सव किया, दान दिया, पूजा प्रभावना की। बंधु-बांधवों को बड़ा आनन्द हुआ। जब चारुदत्त सात वर्ष का हो गया तब इनके पिता ने इसे पढ़ाने के लिए इसके गुरु को सौंप दिया। इसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी और फिर इस पर गुरु की कृपा हो गयी। इससे वह थोड़े दिनों में पढ़-लिख कर अच्छा विद्वान बन गया। पढ़ने-लिखने में इसकी इतनी अधिक रुचि थी कि इसका ये एक प्रकार से व्यसन हो गया था अतएव उसे पढ़ने-लिखने के अलावा और कुछ सुभक्तता ही नहीं था।

तदन्तर इसकी बुद्धिमत्ता पर प्रसन्न होकर चम्पा नगरी के रहने वाले सिद्धार्थ नामक सेठ ने अपनी पुत्री मित्रावती का विवाह चारुदत्त के साथ कर दिया। यद्यपि चारुदत्त ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया तथापि वह अपना समय पढ़ने-लिखने के सिवाय दूसरे किसी काम में व्यतीत नहीं किया करता था।

एक दिन उसकी स्त्री अपनी माता के यहां गयी। उसने अपनी पुत्री को वस्त्राभूषण सुगंधादि से सुसज्जित देखकर कहा, "प्यारी पुत्री जैसा मैंने कल तुम्हको सांयकाल भूषणादि से सुसज्जित देखा था वैसे ही अब भी देख रही हूं और चन्दन भी वैसा ही लगा हुआ मालूम होता है। इसका तो रात्रि के समय नियम से परिवर्तन हो जाना चाहिए था। क्या तेरा प्राणप्यारा तुम्हसे कुपित तो

नहीं है।

सुनकर मित्रावती ने कहा—माताजी। तुम अपने जमाता का मुँह पर कुपित होना समझती हो। पर यह बात नहीं है। उनका तो समस्त समय पढ़ने-लिखने में ही जाता है। इससे मेरा उनसे समागम नहीं होने पाता। अस्तु, हो या न हो मुझे इस बात की कोई चिन्ता नहीं।

पुत्री के वचन सुनते ही सुमित्रा को क्रोध आ गया। वह उसी समय चारुदत्त की माता के पास गयी और कहने लगी—सेठानी तेरा पुत्र पढ़ा तो बहुत है परन्तु मेरी दृष्टि में तो अभी मूर्ख ही मालूम होता है जो विवाह हो जाने पर भी स्त्रियों के सम्बन्ध की बात को बिल्कुल नहीं सोचता जानता जिन पर कि सारे संसार की स्थिति निर्भर है। यदि तुमको रात दिन पढ़ाना ही था तो मेरी पुत्री के साथ उसका विवाह करके वृथा ही इसको क्यों कुँए में ढकेली।

सुमित्रा के क्रोधायुक्त वचन सुनकर देविला ने उसको कोमल वचनों से समझाकर उसे उसके घर भेज दिया और अपने देवर को बुलवाकर समस्त वृत्तान्त समझाकर उसको इसका यत्न करने के लिए कहा। सुनकर रुद्रदत्त ने कहा—आप इसकी चिन्ता न करें मैं अभी इसका प्रबन्ध करता हूँ।

यह कहकर रुद्रदत्त वहाँ से चल दिया और उसी चम्पापुरी में रहने वाली वसन्ततिलका नामक गणिका के निकट स्थित रूप लावण्य में प्रसिद्ध वसन्तसेना नामक वेश्या के पास गया और उससे कहने लगा कि देखो मेरे बड़े भाई का एक पुत्र है जिसका नाम चारुदत्त है और जिसका विवाह भी हो चुका है परन्तु वह अभी तक यह भी नहीं जानता कि भोग विलासादि क्या है? अतएव तुम ऐसा कोई उपाय करो जिससे वह सब बात जानकर काम क्रीड़ा की ओर झुक जाय। तुम्हें इसका उचित पारितोषिक दिया जायगा। यह कह कर रुद्रदत्त अपने घर पर चला गया और एक महावत को बुलाकर उस से गुप्त रीति से कहा—देखो जब हम चारुदत्त को लेकर बाजार में घूमने जावें तब तुम वसन्तसेना के घर के सामने दो हाथियों को लड़ा देना जिससे लड़ाई के कारण मार्ग न मिलने से चारुदत्त को विवश होकर उसके घर का आश्रय लेना पड़े। तब सहज ही हमारे अभीष्ट की सिद्धि हो जायगी।

तदन्तर एक दिन रुद्रदत्त चारुदत्त को लेकर नगर की शोभा देखने वहाँ आ निकले और महावत ने भी जैसे उसे कहा गया था उस समय वैसे ही किया। हाथियों के लड़ने से जब मार्ग बन्द हो गया तो वह चारुदत्त से बोला—जब तक हाथियों की लड़ाई शान्त न हो जाए तब तक ऊपर चलकर ठहरो। ऐसा कहकर शीघ्रता से हाथ पकड़कर उसे ऊपर ले गया। चारुदत्त उसके मन्दिर की शोभा देखकर चकित सा रह गया। वेश्या ने इनको बहुत आदर-सत्कार के साथ बिठाया और समय व्यतीत करने के छल से रुद्रदत्त के साथ घीपड़ खेलने बैठ गयी। खेल में रुद्रदत्त ही बार-बार हारने लगा। तब चारुदत्त ने सोचा कि चाचाजी बार-बार क्यों हार रहे हैं? ऐसा सोचकर कहने लगा चाचा जी लाओ एक दो बार मैं भी खेलूँ जिस से आपकी जीत हो।

सुनकर वसन्ततिलका चारुदत्त से कहने लगी हे सेठ के नन्दन। देखो मैं तो अब बूढ़ा हो चुकी हूँ और तुम अभी नवयुवक हो इसलिए तुम्हारा मेरे साथ खेलना शोभा नहीं देता तुम्हारा खेलना तो मेरी पुत्री वसन्तसेना के साथ ही शोभा देगा क्योंकि वह तुम्हारी जैसी ही नवयौवन सम्पन्न है। तुम अब उसी के साथ खेलना। मैं अभी उसको बुलाए देती हूँ। वसन्तसेना बुलाई गयी। चारुदत्त उसी के साथ खेलने लगा। खेलते हुए चारुदत्त को लूना ने सताया। वसन्तसेना से पहले गुप्त मन्त्रणा

हो चुकी थी अतः वह जल में नशीली कामोत्पादक वस्तु मिला लाई और उसे चारुदत्त को पिला दिया। जल के पीने के कुछ समय पश्चात् ही कामदेव ने उसे पीड़ित किया। उसने तब अपने चाचा रुद्रदत्त से अपने घर पर चले जाने के लिए कहा। रुद्रदत्त के घर जाने पर आप वसन्तसेना को एकान्त में ले जाकर उसके साथ सुख का अनुभव करने लगा। ज्यों-ज्यों यह विषय सेवन करने लगा त्यों-त्यों उसकी कामाग्नि घृत में अग्नि के समान अधिक होती गयी वह निरन्तर वसन्तसेना के निकट रहने लगा और बहुत सा धन अपने घर से मँगा-मँगाकर उसे समर्पित कर दिया।

जब इसके पिता भानुदत्त को यह वृत्तान्त मालूम हुआ कि पुत्र वेदया पर आसक्त हो गया है अतएव न तो घर आया है और न ही घर आने की उसकी इच्छा ही है बहुत सा द्रव्य भी नष्ट कर डाला है।

तब तो इनको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने अपने एक अनुचर को उसे बुलाने के लिए भेजा, परन्तु चारुदत्त ने आने से इन्कार कर दिया। फिर दूसरी बार उन्होंने कहलवाया—तेरे पिता असाध्य रोग से पीड़ित हैं अतः उनका इलाज करवाना चाहिए। परन्तु वह तब भी नहीं आया। कुछ दिन के अन्तर से तीसरी बार फिर सेवक को भेजा और कहलवाया—तेरे पिता की जीवन यात्रा समाप्त हो चुकी है उनका अग्नि संस्कार तो कर आ। पर वह इस पर भी नहीं आया और उल्टा कहलवा दिया कि हमारे कुटुम्बीजनों से कह देना कि पिताजी के शव का चन्दन आदि सुगंधित वस्तुओं से अग्नि संस्कार कर दें।

पुत्र के लक्षण सुनकर भानुदत्त ने विचार कि अब इसका इस दुर्व्यसन से छूटना असंभव है। जैसा जिसका कर्म होता है उसी के अनुसार उसका भविष्य होगा। अतः मैं भी अपने कर्तव्य कर्म से क्यों चूकूँ।

यह सोचकर चारुदत्त के पिता ने जैनेन्द्र कीक्षा ग्रहण कर ली और मुनि होकर विचरने लगे। उधर चारुदत्त की दिनों दिन बुरी दशा होने लगी। बहुत सा धन तो पहले ही नष्ट कर चुका था और रहा सहा अब कर डाला। जब अन्त में कुछ भी पास नहीं रहा तब अपने घर को भी गिरवी रख दिया अन्तिम परिणाम यह हुआ कि उसने अपना सब कुछ नष्ट कर दिया। उसकी माता तथा स्त्री एक अच्छे धनाढ्य घर की ग्रहणी होकर भी भोंपड़ी में रहने लगी। सच है कर्म का परिपाक बड़ा बुरा होता है। जब चारुदत्त की निर्धनता का वृत्तान्त वसन्ततिलका को मालूम हुआ तब उसने अपनी पुत्री वसन्तसेना को एकान्त में ले जाकर कहा पुत्री अब चारुदत्त बिलकुल दरिद्र हो गया है। अतएव तुम्हको उचित है कि अब इससे प्रेम हटाकर किसी धनिक युवा से प्रेम कर क्योंकि देव्याओं का यही कर्तव्य है कि वे द्रव्य से प्रेम करती हैं किसी पुरुष विशेष से नहीं। कामदेव के समान सुन्दर शरीर होने पर भी निर्धन होने के कारण वह उसे छोड़ देती है। अभी तू बालक है। सम्भव है तुम्हको यह बात न मालूम हो इसलिए तुम्हको मैंने इससे परिचित करा दिया है। अब निज कर्तव्य का पालन कर।

वसन्तसेना अपनी माता के बचनों को सुनकर कहने लगी। माताजी यद्यपि आप सत्य कहती हैं परन्तु मुझसे तो ऐसा अनर्थ नहीं हो सकेगा। इस जीवन से तो मेरा यही दरिद्र स्वामी होगा। मेरा ऐसा हार्दिक दृढ़ संकल्प है।

वसन्तसेना अपनी माता के बुरे भाव जानकर निरन्तर चारुदत्त के पास रहने लगी। एक दिन अवसर पाकर पापिनी वसन्ततिलका ने भोजन में कुछ नशीली वस्तु मिला चारुदत्त और वसन्तसेना

को खिलादी । अतः भोजन करने के थोड़े समय बाद उन दोनों पर निद्रा देवी ने अपना अधिकार कर लिया । निद्रा के अधीन हुआ देखकर वसन्ततिलका ने चारुदत्त को एक कपड़े से बाँधकर विष्ठाधाम में डाल दिया । कुछ समय पश्चात् वहाँ एक सूअर आ निकला । चारुदत्त के मुख को विष्टायुक्त देखकर वह उसे चाटने लगा । चारुदत्त नीचे में चूर हुआ कहने लगा—प्यारी वसन्तसेने मुझे इस समय बहुत नींद आ रही है । अभी जरा मुझे सोने दो । वह बार-बार यही कह रहा था कि इतने में ही नगर का रक्षक कोतवाल अपने नौकरों सहित इधर आ निकला । उसने बार-बार इसी आवाज को सुनकर अपने नौकरों से कहा देखो । इस पुरीषागार में कौन बोलता है ?

नौकरों ने जब इसे बंधा हुआ पड़ा देखा तो पाखाने में से बाहर निकाला और पूछा कि तू कौन है और यहां इस पाखाने में कैसे गिर पड़ा है ? यह सुनकर चारुदत्त की अकल कुछ ठिकाने आई तब उसने उस अवस्था का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया । कोतवाल ने इसे बहुत धिक्कारा और इस व्यसन की निन्दा करता हुआ अपने नौकरों सहित चला गया । इधर चारुदत्त वहाँ से चलकर अपने घर पर गया । परन्तु द्वारपालों ने उसे भीतर नहीं जाने दिया । तब चारुदत्त ने उन नौकरों से कहा कि यह घर तो मेरा है फिर तुम मुझे अन्दर क्यों नहीं जाने देते ? उसपर चारुदत्त से उन लोगों ने कहा—यद्यपि यह घर तेरा ही है परन्तु अब तो यह हमारे स्वामी के यहां धरोहर रूप में रखा हुआ है इस लिए तेरा इस पर कुछ अधिकार नहीं है ।

चारुदत्त ने पूछा—अस्तु क्या तुम यह जानते हो कि मेरी माता और स्त्री अब कहाँ रहती हैं ?

यह सुनकर नौकरों ने उनके रहने की झोंपड़ी बतला दी । चारुदत्त तब अपनी माता के पास गया । चारुदत्त की माता को उसकी यह दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ । यही दशा अपने प्राण प्यारे को देखकर उसकी स्त्री की हुई । माता ने पुत्र को गले लगाया और स्नान कराकर उसको शुद्ध किया । माता ने पुत्र के लिए भोजन तैयार किया । चारुदत्त ने भोजन कर माता से कहा—माता इस समय पैसा पास न होने से हम लोग बड़ी दुःख पूर्ण अवस्था में हैं । मेरी आकांक्षा है कि विदेश में जाकर कुछ धन अर्जित करूं इस दरिद्रावस्था में न मुझे सुख हो सकता है और न तुम्हें, इसलिए तुम मुझे जाने की आज्ञा दो ।

जब इसके मामा को इसके विदेश जाने का वृत्तान्त मालुम हुआ तो उसने आकर कहा—यदि तुम्हारी व्यापार करने की इच्छा हो तो मेरे घर पर चलो और वहां पर यथेच्छित द्रव्य से व्यापार करना ।

परन्तु चारुदत्त ने इसको स्वीकार नहीं किया । वह बोला मामाजी ! अब तो मेरी विदेश जाने की आकांक्षा है । चारुदत्त के मामा ने फिर उससे विदेश न जाने का आग्रह नहीं किया । चारुदत्त अपनी माता व धर्मपत्नी को संतुष्ट कर वहां से चल दिया । घर से निकलने पर प्रथम तो बेचारे चारुदत्त ने अति प्रयत्न और परिश्रम से कई बार धनोपार्जन किया परन्तु अशुभोदय से वह भी तस्करों द्वारा लूटा गया तथा अग्नि द्वारा भस्म हो गया उसने अनेक कष्ट तथा आपदायें भोगीं । फिर भी वह सुख मोक्ष सुख को देने वाली जिन भक्ति पूजा दान आदि सत्कर्मों से प्रवृत्त रहता था । जन्त में जब अधिक पुण्य कर्म का उदय आया तब तो वह देव, विद्याधर तथा राजा महाराजाओं द्वारा सम्मानित होने लगा । अपनी कीर्ति रूप पताका को उसने अचल रूप से पहरा दिया । बड़े-बड़े महापुरुषों के द्वारा उसका

यशोगान होने लगा। चारुदत्त की प्रसिद्धि तथा परोपकारता से प्रसन्न होकर इसके सिवा विद्याधरों ने अपनी सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियों का विवाह बड़े वैभव के साथ कर दिया। कुछ वर्षों तक विदेश में ही अपनी स्त्रियों के साथ सुखोपभोग करते हुए उसने अचल कीर्ति अर्जित की। अपने घर से गये बहुत दिन हो चुके थे इसीलिए अपना सब माल असबाब लेकर अपनी प्रियाओं सहित जब वह अपने घर आने लगा तब उसके साथ बहुत से विद्याधर उसे पहुँचाने के लिए चम्पानगरी तक आए। महाराजा विमलवाहन ने जब चारुदत्त के विदेशगमन का समाचार सुना तो वे भी अगवाणी करने को उसके सम्मुख आये और उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए। चारुदत्त भी महाराजा के आगमन का समाचार जानकर बहुत प्रफुल्लित हो स्वयं 'उत्तमोत्तम वस्तुएं' भेंट में देकर मिला। चारुदत्त की भेंट से महाराजा बहुत प्रसन्न हुए। चारुदत्त कुमार को सुयोग्य समझकर उन्होंने अपना आधा राज्य उसे प्रदान कर दिया। महाराज से मिलने के अनंतर चारुदत्त अपनी दुखिनी माता और प्राण प्रिया से मिलने को गया। माता बहुत दिनों से बिछड़े अपने पुत्र को पाकर बहुत प्रसन्न हुई। चारुदत्त को स्नेह से गले लगाया और शुभाशीष दिया। अपने प्यारे प्राणनाथ को पाकर उसकी प्रिया को भी सुख हुआ।

वसंतसेना को जब यह वृत्तान्त विदित हुआ कि उसकी माता ने चारुदत्त को पुरीषागार में डाल दिया था और वह यहाँ से चला गया था तो उसने भी अपने मन में यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि मेरे इस जीवन का स्वामी चारुदत्त है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी को विकार दृष्टि से नहीं देखूंगी। इसलिए वह भी चारुदत्त का विदेशगमन सुनकर बहुत संतुष्ट हुई और चारुदत्त ने अपनी पूर्वविस्था में जितना धन उसको समर्पित कर दिया था, वह सब अपने साथ लेकर वह चारुदत्त के यहाँ आ गयी। चारुदत्त का अब सब कार्य पूर्ववत् होने लगा। उसे पुण्योदय से जो राजलक्ष्मी प्राप्त हुई, उसे वह मुखपूर्वक भोगने लगा इसके दिन आनन्द और उत्सव के साथ बीतने लगे।

एक दिन अपने महल पर बैठा हुआ वह प्रकृति की शोभा को देख रहा था इतने में ही उसे एक बादल का टुकड़ा देखते-देखते छिन्न-भिन्न होता दिखाई दिया। उसको देखने से इसे संसार लीला भी वैसी ही प्रतीत होने लगी। वह उसी समय संसार से उदासीन हो गया और अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर बहुत से राजाओं के साथ संसार सागर से उद्धार करने वाली जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् कठोर तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर देव हुआ।

देखो ! पहले तो चारुदत्त की क्या अवस्था थी। कैसा उसका वैभव था ? परन्तु जब से वह वेश्या के जाल में फंसा तब से उसकी कैसी दशा होने लगी थी ? अंत में उसने कैसे असह्य दुःख भोगे। जब वह परिहार पूर्वक जिनेन्द्र भगवान् के चरणारविंदों का भक्त हुआ उनके द्वारा भाषित दयामयी धर्म का सेवन करने लगा तो वही अब स्वर्ग भोक्ता हुआ अतएव भव्य जीवों को उचित है कि चारुदत्त की कथा पर पूर्णतया विचार कर इस धर्म कर्म, पवित्रता, सत्यता, और दया का मूलोच्छेदन करने वाली वेश्याओं के सेवन दूर से ही त्याग करें।

(इति वेश्या व्यसन कथन समाप्तम्)

॥ अथ खेटक व्यसन-वर्णन प्ररम्भः ॥

अपनी रसना इन्द्रिय की लोलुपता से तथा अपना शौक पूरा करने के लिए अथवा कौतुक निमित्त बेचारे निरपराधी, भयभीत, अरण्यासी पशु पक्षियों को मारना—इससे बढ़कर और क्या निष्ठुरता तथा निर्दयता हो सकती है ? देखो जैसे हमें अपने प्राण प्रिय होते हैं और जरा सा काँटा लग जाने

अत्यन्त दुखी होते हैं इसी प्रकार वे भी सुख-दुःख आनन्द और पीड़ा का अनुभव करते हैं। खाद्य पदार्थ तथा जल के न मिलने से दुःखी होते हैं चोट लगने से कष्ट पाते हैं। प्यार करने और भोजन पाने से हर्षित होते हैं। मनुष्य की तरह खाते हैं, पीते हैं, हंसते हैं, रोते हैं, बोलते हैं, सोते हैं, और अन्य कार्य करते हैं अपने सहवासियों के साथ आनन्द में मग्न हुए तृणादिक से उदरपूर्ति करते वन में ही आनन्द से दिन व्यतीत करते हैं। ऐसे निरपराधी मृगादिक जीवों को अनेक प्रकार के छलछद्मों द्वारा विश्वास उपजाकर उनके प्राणों का संहार करना अन्याय और निर्दयता है। इस शिकार के व्यसनी मनुष्य का हृदय बड़ा ही कठोर और निर्दय होता है। जैसे कहा गया है—

कानन में बसैरो सो आनन गरीब जीव, प्राणन सों प्यारों प्राण पूंजी जिस यहै है।

कायर सुभाव धरै काहूँ सों न द्रोह करे, सबही सों डरै दांत लिये तृण रहै हैं ॥

काहूँ सों न रोष पुनि काहूँ पै न पोष चहै, काहूँ के परोष पर दोष नाहि कहै है।

नैक स्वाद सारिवे को ऐसे मृग मारिवे को हाहरे कठोर ! तेरो कैसे कर बहै है ॥

इस शिकार के व्यसनी मनुष्यों का हृदय बड़ा ही कठोर और निर्दय होता है। बुद्धि उनकी बड़ी क्रूर होती है निरन्तर उनके हृदय में छलछिद्र और विश्वघात रूप पाप वासनाएँ जाग्रत रहती हैं। बहुत से लोग इस व्यसन के सेवन को बड़ी वीरता का काम बताते हैं, परन्तु वह केवल उनकी स्वार्थान्धता है। वीरों का कर्तव्य है कि निस्सहाय, गरीब दीन अनाथ जीवों की कष्ट से रक्षा करें वही सच्चा बलवान क्षत्रिय है जो बलाबान होकर इस निन्द्य, निर्दय और दुष्ट कृत्य में अपने बल का प्रयोग करता है वह वीर नहीं किन्तु धर्महीन अशिक्षित है। वे इस निर्दय व्यसन के द्वारा इस लोक में निन्द्य और दुःखित होते हैं व परलोक में कुगति को प्राप्त होते हैं। देखो ! इसी व्यसन के कारण ब्रह्मदत्त राजा राज्य भ्रष्ट होकर नरक गया। उसके दुःखों से परिचित होने से सर्वसाधारण की शिक्षा प्राप्त हो अतः उसका उपाख्यान कहते हैं—

इस जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र के अन्तर्गत उज्जयिनी नाम की नगरी है। जिस समय का यह उपाख्यान है, उस समय वहाँ के राजा ब्रह्मदत्त को शिकार खेलने में बड़ी रुचि थी। उससे भी अधिक धर्म-सेवन में उसकी अरुचि थी ठीक ही है, ऐसे निर्दयी परिणामी का धर्म से कैसा सम्बन्ध ? वह प्रतिदिन शिकार खेलने जाया करता था। जब उसे शिकार मिल जाता तो बहुत प्रसन्न होता और जब नहीं मिलता तो उससे अधिक दुःखी होता। इस प्रकार राज्य करते-करते बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन की बात है कि जब वह शिकार के लिए गया तो उसे किसी वन में मुनिराज के दर्शन हो गये। मुनिराज जी एक पाषाण की शिला पर ध्यानारूढ़ स्थित थे। मुनि के प्रभाव से ब्रह्मदत्त को उस दिन शिकार नहीं मिला और वह अपने घर लौट आया। दूसरे दिन भी वह शिकार खेलने को गया, परन्तु उसे शिकार नहीं मिला। यह देखकर बड़ा क्रोधित हुआ उसने मुनि से बदला लेने के लिए फिर एक दिन यह दारुण कर्म किया कि उधर मुनिराज तो नगर में आहार के लिए गए और इधर ब्रह्मदत्त ने आकर मुनिराज के ध्यान करने की शिला को अग्नि की तरह गरम करवा दिया। मुनिराज भोजन कर नगर से वापिस आये और निःशंक हो उसी शिला पर ध्यान करने के लिए बैठ गये। बैठते ही मुनिराज का शरीर जलने लगा। असह्य वेदना होने लगी, परन्तु मुनिराज निश्चल रूप से घोर उपसर्ग सहते रहे अन्त में कुछ काल व्यतीत होने पर शुक्ल ध्यानग्नि से कर्मों का नाश कर अन्तःकृत केवली हो अनन्त-काल स्थायी अविनश्वर धाम में जा बसे।

इधर सात दिन भी न बीत पाये थे कि उस घोर पाप कर्म के उदय से ब्रह्मदत्त के सारे शरीर में कोढ़ निकल आया। उसे इससे इतनी असह्य पीड़ा हुई कि वह इस पीड़ा से एक जगह बैठ भी नहीं सकता था और अन्य लोग भी उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। जब उसने देखा कि इस व्याधि की निवृत्ति होना असाध्य है तो उसने अति दुःखी हो जीवित ही तन को अग्नि में भस्म कर डाला और इस मार्तण्ड्यान से मरकर सप्तम नरक में गया। नरक में उसने तैंतीस सागर पर्यंत छेदन, भेदन, यन्त्रों के द्वारा पिलना और अग्नि में जलना आदि कठिन-कठिन दुःख भोगे। वहाँ से निकलकर तिर्यंच गतियों में भी अनेक बार जन्म-मरण करता हुआ अन्त में फिर नरक में गया। वहाँ उसने बहुत दुःख सहे।

कथा तर्हा के दुःख की, को कर सके बखान।

भुगत सों जानें सही, कं जानें भी भगवान् ॥

अतएव बुद्धिमानों को उचित है कि इस निर्दयी व्यसन को अति निन्द्य, दुर्गति एवं दुःखों का दाता जान कर सर्वथा त्याग करें। देखो इस ही व्यसन के कारण ब्रह्मदत्त को नरक के दुःख भोगने पड़े। उसने उस पाप से कितने-कितने दुःख भोगे, उनको लेखनी से, लिखना भी असंभव है।

॥ इति खेटक व्यसन वर्णन समाप्तः ॥

॥ अथ चोरी व्यसन वर्णन प्रारम्भः ॥

बिना दिये किसी की वस्तु लेने को चोरी कहते हैं। चोरी करने में आसक्त हो जाना चोरी व्यसन है। जिनको इस निन्दनीय कर्म को करने की आदत पड़ जाती है, वह धन-सम्पत्ति युक्त होते हुए भी तीव्र लोभ के बशीभूत हो महान् कष्ट आपदा का कारण जानते हुए भी चोरी करता है। ऐसे पुरुषों को न तो कोई अपने समीप बैठने देता है। चोर से सब ही जन भयभीत रहते हैं; वह आप भी सदैव भयभीत रहता है। प्रति क्षण प्राण जाने तक का संकट उपस्थित रहता है। धन का हरण करना तो चोर का काम है ही। यदि धन का हरण करते हुए कोई जाग्रत हो जाए और रोके तो चोर प्राणों का भी हरण कर लेता है। पकड़ा जाए तो आप भी अनेक दुःखों का भागी होता है शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। राजदंड, जातिदंड के दुःख भोगकर निंदा का पात्र बनते हरभव में नीच गतियों के दुःख भोगते हैं। ऐसा जानकर दृढचित्त शुभबुद्धि पुरुषों को उचित है कि दूसरी की भूली हुई तथा अपने पास धरो-हर रखी हुई वस्तु को दबा लेने की इच्छा न करे और न बहुमूल्यपदार्थ के बदले में अल्पमूल्य पदार्थ देने की तथा न बहुमूल्य में अल्पमूल्य को मिला कर देने की इच्छा करे क्योंकि ये सब चोरी के ही पर्याय हैं। देखो, इस चोरी के कारण ही शिवभूति पुरोहित कितनी-कितनी आपदाओं को भोगकर दुर्गति को प्राप्त हुआ। उदारणार्थ उसका उपाख्यान प्रस्तुत है जिससे उसके दुःखों से परिचित होने से सर्वसाधारण इन अन्याय रूप असत्क्रियाओं से चित्त को हटाकर सत्क्रिया में प्रवृत्ति करेंगे—

इसी भरतक्षेत्र के अन्तर्गत बनारस नगर में जयसिंह नाम का राजा अपनी विदुषी महारानी जयवती सहित राज्य करता था। उसके नगर में शिवभूति नाम का पुरोहित रहता था। शिवभूति बड़ा सत्यवादी था। उसकी इस सत्यता के कारण वह सत्यघोष के नाम से स्मरण किया जाता था। राजा इसे सत्यवादी समझकर इसका बहुत सम्मान करता। इसी विश्वास के कारण लोग इसके यहाँ अपनी अमानत का धन रख जाया करते थे।

एक दिन पद्मपुर के सेठ धनपाल ने देवयोग से द्रव्योपाजन करने के लिए देशांतर जाने का विचार किया और वहाँ से चलकर इस बनारस नगर में आया। चित्त में विचारने लगा कि अपना धन धरोहर किसके यहाँ रखूँ? उसने वहाँ के लोगों से पूछा तब निर्णय हुआ कि सत्यघोष नाम का पुरोहित निष्कपट और महासत्यवादी है। धनपाल लोगों के कथनानुसार सत्यघोष के पास गया और सविनय निवेदन करके बोला—महाराज! मैं आप की सेवा में इसलिए आया हूँ कि मेरे पास पाँच-पाँच करोड़ के चार रत्न हैं। मैं उन्हें वस्त्र में बाँध कर आपको सौंप देता हूँ। आप सावधानी से इनकी रक्षा करें। यदि देवयोग से मुझे कदाचित्त वनहानि उठानी पड़ी तो मैं इनसे अपनी जीवन-लीला सुखपूर्वक व्यतीत कर सकूँगा। धनपाल पुरोहित के पास अपने रत्नों को रख कर विदेश गमन के लिये चला गया। वह द्वादश वर्ष तक विदेश में रहा। उसने वहाँ व्यापार के द्वारा बहुत सा धन अर्जित किया। जब वह जहाज से वापस आ रहा था तो देव के दुर्विपाक से उसका जहाज मार्ग में फट गया अर्थात् टक्कर खाकर टुकड़े टुकड़े हो गया। उस बेचारे का समस्त धन जहाज के साथ ही डूब गया परन्तु उसे एक लकड़ी का टुकड़ा हाथ लग गया जिससे वह उसके आश्रय से कठिनाइयों को उठाता हुआ समुद्र के तट पर आकर अपने नगर में आ गया। उसने जिन मंदिर में जाकर भगवान् के दर्शन कर उनका गुणानुवाद किया और मार्ग जनित श्रम की निवृत्ति के लिए दो दिवस पर्यंत वहीं ठहरा। तीसरे दिन वह पुरोहित महाराज के पास पहुँचा। पुरोहित जी महाराज सेठ को देशांतर से उल्टा आया जान भट से चलकर अपने सभानिवासी मनुष्यों से कहने लगे—‘देखो, शकुन के द्वारा जाना जाता है कि आज मुझको कोई बड़ा भारी कलंक लगेगा।’ बेचारे सभास्थित सरल स्वाभावी मनुष्यों ने उसके हृदय स्थित कपट को न जानकर कहा—‘महाराज! आप तो महासत्यवादी हैं। भला आप को कैसे कलंक लग सकता है।’ लोग यह कह ही रहे थे कि इतने में मलिन वस्त्र पहने हुए धनपाल वहीं उपास्थित हो गया और नमस्कार करने के अनन्तर अपना समस्त वृत्तान्त निवेदन कर कहने लगा—‘महाराज आप मेरी प्रमानत वस्तु दे दीजिए।’ कुछ न सुनने की चेष्टा दिखाते हुए सत्यघोष ने कहा—‘भाई! देव की गति विचित्र है। जैसा भाग्य उदय होता है वैसा ही भोगना पड़ता है। अच्छा, ठहरो, तुम्हें कुछ दान दिये देता हूँ जिससे तुम फिर अपना प्रबन्ध कर लेना।’

पुरोहित का कहना सुनते ही सेठ का रहा-सहा धैर्य भी जाता रहा और कहने लगा—‘महाराज! यह आप क्या कहते हैं? मुझे तो आप के दान की आवश्यकता नहीं है। आप तो केवल मुझे मेरे रत्न दीजिए।’

रत्नों का नाम सुनते ही सत्यघोष के कपट-क्रोध का कुछ ठिकाना नहीं रहा। वह लाल आँखें बूझाकर बोला—‘देखो, यह कैसा झूठ बोल रहा है। मैंने तुम लोगों से पहले ही कहा था कि मुझको आज का दिन अच्छा नहीं है। वही होकर रहा।’

तत्रस्थित मनुष्यों ने भी हाँ में हाँ मिलाकर कहा—‘महाराज! बेचारे का सब धन नष्ट हो गया है। उसी के कारण यह विक्षिप्त-सा मालुम होता है क्योंकि धन के नष्ट हो जाने से बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। भ्रम सा हो गया है।’

बेचारे धनपाल को सभी ने विक्षिप्त ठहरा कर घर के बाहर निकलवा दिया। तब धनपाल ने राजा के पास जाकर पुकार करी। अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। परन्तु उसका भी कुछ फल नहीं हुआ। सब उसे ही विक्षिप्त बताने लगे। निदान धनपाल को उसी दुखी दशा में लौट आना पड़ा।

उसकी कुछ सुनाई नहीं हुई। वह अपने निर्वाह का कुछ उपाय न देखकर जिनमंदिर में जाकर रहने लगा जो कोई श्रावक उसे बुलाकर ले जाता उन्हीं के यहाँ जाकर वह भोजन कर आता और जिनमंदिर में ही रहा करता था।

अन्त में उसने एक युक्ति की। जब अर्द्धरात्रि होती, तब वह राजा के महल के नीचे एक वृक्ष पर बैठकर उच्च स्वर से पुकारता—“महाराज ! आप धर्म अधर्म के जानने वाले हैं। आप को मेरी प्रार्थना पर ध्यान देना चाहिए कि जब मैं समुद्र यात्रा को गया था तब पाँच करोड़ लागत के रत्न आपके पुरोहित के पास रख गया था। जब मैं समुद्र यात्रा से लौट कर आने लगा, तो दैव दुर्विपाक से मेरा जहाज फट गया और मैं बड़ी कठिनाई से निकला। अब मैं अपने रत्न वापिस माँगता हूँ जो मुझे देना नहीं है उल्टा मुझे विक्षिप्त बताकर प्रसिद्ध कर दिया। आप मुझे मेरे रत्न दिलावा दीजिए।”

इसी तरह प्रतिदिन वह धिक्काने लगा। ऐसा करते करते उसे बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन रानी जयवती ने महाराज ने कहा—“प्राणनाथ ! यह मनुष्य कौन है जो बहुत दिनों से रत्नों के लिए पुकारता है ?” तब राजा ने कहा—“यह मनुष्य विक्षिप्त हो गया है।” महारानी बोली—“नाथ आप इसे विक्षिप्त बताते हैं यह नहीं समझ में आता कि इसमें विक्षिप्त होने की बात क्या है ? विक्षिप्त मनुष्य एक ही बात को बहुत दिनों पर्यंत नहीं कह सकता वरन् अनेक प्रकार के वचन कहता है। मुझे भासता है कि इस बेधारे नितहाय के न्याय को और आपका लक्ष्य ही नहीं जाता।”

उत्तर में महाराज बोले—“यदि तुम इसे निर्दोष समझती हो तो तुम ही इसका न्याय करो।

महाराज के वचनों को सुनकर महारानी जयवती ने इसकी परीक्षा का भार अपने ऊपर ले लेना स्वीकार किया और कहा—“महाराज ! आपको इतनी देर यहाँ ही ठहरना होगा।”

राजा ने कहा—“अस्तु स्वीकार है।”

महारानी ने उनसे चौसर खेलना आरम्भ कर दिया। इतने में पुरोहित महाराज भी वहाँ पहुँच गये और आशीर्वाद देकर तिथिपत्र पढ़ने लगे। जब वे अपना पाठ पूरा कर चुके तो महारानी ने उनसे भी खेलने के लिए कहा। पुरोहित जी बोले—“महारानी ! मैं क्षुद्र पुरुष आपके साथ कैसे खेल सकता हूँ ?” महारानी बोली—“आपने यह अच्छा कारण बतलाया। क्या पिता पुत्री के साथ नहीं खेल सकता ?”

महाराज ने भी महारानी के वचनों का समर्थन कर कह दिया—“पुरोहित जी खेलिए। इसमें क्या दोष है ?”

महाराज के आग्रह से बेचारे पुरोहित को खेलना पड़ा। खेलते-खेलते महारानी ने अपनी चतुरता से एक साल चली। वह पुरोहित जी से बोली—“महाराज ! अब ऐसा कीजिए कि आप मुझे खेल में हरा दोगे तो मैं अपनी मुद्रिका आपको दे दूंगी और यदि मैंने आपको हरा दिया तो आप अपनी मुद्रिका दे देना।

पुरोहित जी ने लोभवश रानी के इस वचन को स्वीकार कर लिया। अब दोनों वास्तविक हार जीत से खेलने लगे। महारानी ने उनके साथ में चौसर खेलकर मुद्रिका जीत ली और अपनी दासी को गुप्त रूप से मुद्रिका देकर धनपाल वाले रत्नों के लिये उनके लिए उनके घर पर भेजा दासी ने पुरोहित के घर जाकर वह मुद्रिका दिखाकर कहा—“देखो पुरोहित जी ने यह अपनी मुद्रिका की निशानी देकर कहलवाया है कि इसके देखते ही धनपाल के जो चार रत्न रखे हुए हैं वे दे देना।” वह बिगड़ कर बोली—“जा चली जा यहाँ से। जाकर कह देना मेरे पास कोई रत्न नहीं है।

दासी चली आई। जाकर अपनी स्वामिनी को ज्यों का त्यों सारा वृत्तान्त कह सुनाया। रानी ने दूसरी बार पुरोहित के गले का हार जीत लिया। उसे दासी को देकर फिर ब्राह्मणी के पास भेजा। दासी फिर पुरोहित की स्त्री के पास गई और जाकर कहने लगी—“देख! तेरे स्वामी ने अबकी बार हार की निशानी देकर मुझसे कहलवाया है कि मैं बड़े संकट में फँस गया हूँ यदि मुझको जीता देखना चाहती हो तो हार को देखते ही रत्नों को दे देना।” ब्राह्मणी ने अपने पति को संकट में आया हुआ जानकर शीघ्रता से घर में से उन्हीं चार रत्नों को हार के लाने वाले को दे दिया। महारानी ने उन रत्नों को लेकर खेलना बन्द कर दिया और शिवभूती की जो मुद्रिका तथा गने का हार जीता था वह उसको वापिस देकर कहा—“पुरोहित जी अब समय बहुत हो गया है अतएव खेलना बन्द कीजिए।” महारानी के कहने से उसी समय ही खेल बन्द कर दिया गया। तत्पश्चात् रानी जयवती उन रत्नों को अपने स्वामी को गुप्त रीति से देकर वहाँ से विदा हुई। महारानी के चले जाने के अन्तर राजा ने शिवभूति से पूछा—“पुरोहित जी चोरी करने वालों के लिए नीति शास्त्र में क्या दण्ड विधान है?”

सुनते ही सत्यघोष कहने लगा—“महाराज! या तो उसे सूली पर चढ़वाना चाहिए या तीक्ष्ण शास्त्रों द्वारा उसके खण्ड-खण्ड करा देना चाहिए।”

इस पर कुछ न कहकर महाराज ने वे चारों रत्न पुरोहित जी के सामने रख दिए और कहा कि—“पापी, द्विज कुलकलंक, कह तो सही, अब इस पाप का तुझे क्या दण्ड देना चाहिए? तूने बेचारे भोले पुरुषों को इस तरह धोखा देकर ठगा है।”

पुरोहित जी रत्नों को देखते ही चित्रलेख के समान निश्चल हो गये। मुख की कांति जाती रही। फिर महाराज बोले—“पुरोहित जी! आपको सूली का सुख तो अभी दिलवा देता परन्तु आपने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है इसलिए इससे आपकी रक्षा करके कहा जाता है कि मेरे यहाँ बार मल्ल हैं। तुम या तो उनमें से प्रत्येक के हाथ के चार-चार मुक्कों की मार या एक घाल गोबर की भक्षण करो यदि ये दोनों अस्वीकृत हों तो अपना सर्वस्व मेरे सुपुर्द कर देश छोड़कर चले जाओ।

निदान उसने अपने लिए दण्ड की योजना सुनकर चार मल्लों द्वारा मुक्कियां सहन स्वीकार किया। राजाज्ञा होने पर मल्लों ने धूँसे लगाने आरम्भ किये। धूसों की मार पूरी भी नहीं हुई थी कि सत्यघोष के प्राण निकल गये। पाप का उचित दंड मिल गया। पुरोहित जी आतं ध्यान से मरकर सूर्य की गति में गये। तदनन्तर राजा ने धनपाल को बुलाया। उसकी प्रशंसा कर उसके रत्न और पारितोषिक देकर धनपाल को उसके घर पहुँचा दिया। बुद्धिमानों! देखो, चोरी कितनी बुरी भादत है। चोरी के करने से पाप का बन्ध होता है। सब गुण नष्ट हो जाते हैं। धन का नाश हो जाता है। कुल को कलंक लगता है शारीरिक, मानसिक अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। राजदंड, जातिदंड के दुःख भोग निंदा और कुगति का पात्र बनना पड़ता है। किसी कवि ने ठीक कहा है—

“चिता तर्ज न चोर रहत चौकाय सारे
पीटं घनी विलोक लोक निर्दयि भान मरे।
प्रजापाल करि कोप तोय सों रोप उड़ावै,
ऐसे महाबुल बेरिख अंत नोची गति पावै।

अति विपत मूल चोरी विसन, प्रकट आस आवै नकर।
वित्त पर अवस अंगार, गिन नीतिनिपुन परसे न कर ॥

ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुषों को उचित है कि इस दारुण दुःखदाई पाप कर्म का परित्याग कर आत्मा को पूर्ण शांति देने वाले पवित्र जिन शासन की शरण ग्रहण करें ।

॥ इति चोरी व्यसन वर्णन समाप्तः ॥

॥ अथ परस्त्री व्यसन प्रारम्भः ॥

देव, गुरु, धर्म और पंचों की साक्षीपूर्वक पणिग्रहण की हुई स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ समागम करने में आसक्त हो जाना परस्त्री व्यसन कहलाता है । लज्जा, मर्यादा, उज्ज्वल सुयश, सत्यता, आचौर्य आदि उत्तम गुण नष्ट होकर राजदंड, जातिदंड जनित धन हानि और शारीरिक कष्ट प्राप्त हो निदा एवं परलोक में नरक आदि कुगतियों के पात्र बनते हैं । कहा भी है—

कुगति बहून गुण गहन, बहून दावानल सी है ।

सुजश चंद्र धन घटा, बेह कुश करनलाई है ।

धम सर सोषण धूप धरम दिन सौंभ समाती ।

विपत्ति भुजंग निवास, बांझ नैव बखानी ।

इहि विधि अनेक औगुण भरी, प्राण हरन फांसी प्रबल ।

मत कर कुमित्र यह जानि जिय, परबनिता सौं प्रीतिपल ।

इस पापाचार से होने वाली हानियों का विचार कर बुद्धिमानों को उचित है कि इसका शुद्ध चित्त से सर्वथा परिहार करें । जो परस्त्री संसर्ग का परित्याग कर देते हैं वे संसार में निर्भय हो जाते हैं । उनकी उज्ज्वल कीर्ति सब दिशाओं में विस्तृत हो जाती है । देखो इसी व्यसन की इच्छा तथा उपाय करने मात्र से त्रिखण्ड का स्वामी रावण मरकर नरक में गया । उसके कुल में कलंक लगा, लोक में सब तक उसका अपयश खला आता है । अब यहाँ पर उसी के उपख्यान का वर्णन किया जाता है जिससे उसके तज्जनित दुःखों से परिचित होने से सर्वसाधारण इस अन्याय रूप असत्यकर्म का परिहार कर सत्कर्म में प्रवृत्ति करेंगे—

राक्षस द्वीप के अन्तर्गत लंका नाम की नगरी में राक्षस वंशीय त्रिखंडेश रावण अपनी विदुषि प्रधान महारानी मंदोदरी सहित प्रजा का पालन करता था । रावण के कुम्भकर्ण और विभीषण नाम के दो भाई थे और इंद्रजीत तथा मेघनाथ आदि बहुत से उसके पुत्र थे । रावण बड़ा प्रतापी, भाग्यशाली और महान पराक्रमी था । सब राजा-महाराजा उसका आदर करते थे । रावण का बहनोई खरदूषण था उसकी राजधानी अलंकारपुर थी । वह भी रावण के समान त्रिखंडाधिपति और महाबली था । राक्षस-वंशी तथा बानरवंशी सब इसके आशाकारी थे ।

एक समय कैलाश पर्वत पर जब केवली भगवान की गंधकुटी में विद्याधर आदिधर्मोपदेशामृत का पान करने आये थे । उस समय सब धर्मोपदेश श्रवण कर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार व्रत नियम आदि ग्रहण किये तब रावण ने भी अपनी सुन्दरता के घमण्ड में आकर यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि जब तक मुझे परस्त्री न चाहेगी तब तक मैं बलात्कार से उसके साथ समागम नहीं करूँगा ।

तदनन्तर रावण व्रत धारण कर अपने घर चला गया और फिर सुखपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा । अब रावण ने जो दूसरे की स्त्री हरी थी, वह कौन थी किसकी स्त्री थी और कैसे हरी थी, ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर इस कथा से सम्बन्ध रखने वाले रामचन्द्र की कथा इस प्रकार है—

कौशल देश के अन्तर्गत अयोध्या नाम की नगरी में राजा दशरथ राज्य करते थे। इनका जन्म इक्ष्वाकु वंश में हुआ था। ये नीतिज्ञ और बुद्धिमान थे इनकी धार रानियां थी। उनके नाम क्रमशः कौशल्या, सुमित्रा, केकई तथा पराजिता थे। चारों के क्रमशः रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ये चार पुत्र हुए। अपने सुशील पुत्रों के साथ महाराजा दशरथ आनन्द भोगते हुए सुख पूर्वक अपनी प्रजा का पालन करते थे। बड़े-बड़े राजा महाराजा इनकी आज्ञा के अधीन थे।

एक दिन उन्होंने दर्पण में अपने मुख मण्डल की शोभा का निरीक्षण करते हुए कानों के पास एक दैवत केश देखा। इसके देखने मात्र से इनके हृदय में वैराग्य का अंकुर उत्पन्न हो गया वे विचारने लगे काल के घर का दूत अब आ पहुँचा इसलिए इन विषयों से इन्द्रियों को खींचकर अपने वश करूँ। इन इन्द्रियजन्य क्षणिक सुखों को मैंने बहुत दिन भोगा है। एक इस अंतिम अवस्था में तुम्हारे उचित है कि राज्यभार को रामचन्द्र को सौंपकर अविनश्वर मोक्ष महल के देने वाली जैनेन्द्री दीक्षा स्वीकार करूँ। इसके पश्चात् अपने विचारानुसार राजा दशरथ ने अपने सभी कुटुम्बी जनों को बुलाकर उनके समक्ष रामचन्द्र को राज्यभार देना चाहा। जब यह वृत्ति रानी केकई को मालूम हुआ तो वह उसी समय राजा के पास आई और अभ्युपास करती हुई बोली—“महाराज! मुझे दासी की अकेली छोड़कर आप कहाँ जाते हैं? मैं भी आप के साथ चलूँगी। आपके न होते हुए मुझे पुत्र और राज्य से क्या प्रयोजन? कुलवती बिदुषी स्त्रियों को आपति के साथ वन में भी क्यों न रहना पड़े उनके लिए वही सुख स्थल और महलों से भी बढ़कर सुखदाई है।” दशरथ बोले—“प्रिये! तुम मेरे साथ वन में चलकर क्या करोगी? तुम यहां रहकर अपने पुत्र को सुखी देखते हुए आनन्दपूर्वक अपने दिन बिताओ।”

यह सुनकर भरत बोल उठा—“पिताजी! मुझे घर से कुछ प्रयोजन नहीं है। आपके साथ ही साथ मैं भी दीक्षा धारण करूँगा।”

भरत का भी दीक्षा लेना जानकर केकई बोल उठी—“प्राणनाथ! जो आपने मुझे स्वयंवर के समय वचन दिया था वह यदि आपको स्मरण हो तो मुझे देकर मेरी आज्ञा पूर्ण कीजिए।”

उत्तर में दशरथ ने कहा—“प्रिये! यह न समझो कि मैं अपने वचन को भूल गया हूँ। मुझे भली प्रकार स्मरण है तुम्हें जो अभीष्ट हो वही माँगो मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा क्योंकि सब ऋणों में वचन ऋण बड़ा भारी है।”

यह सुन केकई नीचा मुखकर बोली—“प्राणनाथ यदि आपका आग्रह है तो सुनिये! खेद की बात यह है। इधर तो आप धले उधर पुत्र भी दीक्षा लेना चाहता है। ऐसी अवस्था में पति पुत्र रहित होकर मैं अभागिनी ही अकेली रहकर क्या करूँगी? अतएव यदि आप उचित समझते हैं तो भरत को अपना राज्य और राम को वनवास दीजिए।”

केकई की यह बुरी भावना जानकर राजा दशरथ चित्ता के मारे चित्रलिखित से हो गये। मुख कमल कान्ति विहीन हो गया। वे विचारने लगे कि यदि इस समय भरत को राज्य नहीं देता तो मेरे वचनों को कलंक लगता है और भरत को राज्य दे भी दिया जाय तो कुछ नहीं परन्तु मुझसे कैसे कहा जा सकेगा कि रामचन्द्र तुम वनवास सेवन करो, अब यह राज्य भरत को दिया जाएगा। वे इस चित्ता के मारे मन ही मन बड़े दुखी हो रहे थे कि इतने में ही श्री रामचन्द्र आ पहुँचे और पिता जी के मुख को निष्प्रभ देखकर मंत्रियों से पूछते लगे—“पिताजी, आज कुछ चिन्तायुक्त क्यों मालूम पड़ते हैं?”

उत्तर में मंत्रियों ने चितित होने का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही रामचन्द्र बड़ी धीरता के साथ बोले—“क्या यही छोटी-सी चित्ता महाराज के दुःख का कारण है? इस लघु वार्ता के

लिए पिताजी को चितित नहीं होना चाहिये। मेरी समझ में तो यही उचित जान पड़ता है कि पिताजी को अपना वचन पूर्ण करने के लिए माता कैकई की अभिरुचि के अनुकूल भरत को राज्य-तिलक कर देना चाहिए और मेरे लिए जो माता की आज्ञा हुई है उसको मैं सानन्द पालन करने के लिए तत्पर हूँ। क्या आप नहीं जानते हैं कि संसार में वे ही पुत्रपद को प्राप्त हैं जो पिता के पूर्ण भक्त और सदैव आज्ञानुवर्ती हों अतएव मैं पिताजी के वचनों को प्राणप्रण से पूर्ण करने का उद्योग करूँगा।

इतना कह कर रामचन्द्र ने उसी समय भरत के ललाट पर राज्यतिलक कर दिया और आप पिताजी के चरणों को नमस्कार कर लक्ष्मण भाई को साथ लेकर वहाँ से चल दिये। पुत्र की यह अभूत-पूर्व धीरता महाराज दशरथ नहीं देख सके। पुत्रों के जाते ही मूर्छित हो गये। रामचन्द्र जी वहाँ से चल कर अपनी माता के पास पहुँचे और उन्हें सादर नमस्कार कर माता से सविनय प्रार्थना की कि—‘माता जी, हम पिता जी के वचनों को पालन करने के लिए वन जाते हैं। जब हम अपनी कहीं सुव्यवस्था और सुयोग्य प्रबंध कर लेंगे तब हम आपको भी ले जायेंगे। अतएव आप किसी प्रकार का दुःख न करना।’

इस प्रकार अपनी माता को समझाकर वे दोनों भाई जनकनन्दिनी सीता को साथ लेकर घर से निकलकर वन की ओर चल दिये। उनको जाते हुए देख प्रजा के बहुत से मनुष्य राम-लक्ष्मण के साथ हो लिए। उन्होंने उनको बहुत समझाया, और अपने साथ चलने से रोका पर उनको अपने युवराज का अगाध प्रेम वापिस कैसे जानें देता? रामचन्द्र जी के बहुत रोकने पर भी वे लोग उनके पीछे पीछे ही चले जाते थे। कुछ दूर चल कर उन्हें एक अन्धकारमय भयानक अटवी मिली। वहीं एक बड़ी भारी और गहरी नदी बह रही थी। धीरे धीरे राम और लक्ष्मण तो नदी के पार हो गये, परन्तु और लोगों के लिए यह असंभव हो गया। अन्त में जब उन्हें अपने नदी पार होने का कोई उपाय न सूझा तब उन्हें इनके वियोग रूप दुःख दशा में अपने स्थान को लौट आना पड़ा। इसके अतिरिक्त वे बेचारे और कर भी क्या सकते थे।

जब भरत ने सब लोगों के साथ रामचन्द्रजी को न आते हुए देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे उसी समय माता के पास जाकर कहने लगे—‘माताजी! मैं रामचन्द्र जी के बिना किसी प्रकार भी राज्य का पालन नहीं कर सकता अतः या तो उन्हें वापिस लाने का यत्न करो, नहीं तो मैं भी वन में जाकर वीक्षा ग्रहण करता हूँ। आगे आप जैसा उचित समझो वैसा करो। मुझे जो कहना था, वह कह चुका।’

पुत्र के ऐसे आश्चर्य भरे वचन सुनकर उसे बहुत चिंता हुई। वह उसी समय उठी और पुत्र तथा और कितने ही सुयोग्य पुरुषों को साथ लेकर रामचन्द्र के पास जा पहुँची। रामचन्द्र ने अपनी माता का आगमन जानकर कुछ दूर जाकर उनके चरणारविन्दों को नमस्कार किया। भरत रामचन्द्र जी को देखते ही उनके पाँवों पर गिर पड़े और गद्गद स्वर से अश्रुपात करते हुए बोले—‘महाराज! मुझ पर दया कीजिए। आप चलकर अपना राज्य सम्हालिए। यह राज्य शासन आप ही को शोभा देगा। आप चल कर अपने चरण-कमलों से सिंहासन को शोभित कीजिए। नाथ! यदि आप अयोध्या की ओर गमन नहीं करेंगे तो यह निश्चय समझ लीजिए कि मैं भी वहाँ नहीं रहूँगा। आपके बिना मुझे राज्य से कुछ प्रयोजन नहीं है।’

उत्तर में रामचन्द्र ने कहा—‘भाई, तुम यह मत समझो कि मैंने माता से दूँव करके वन में आना विचारा है किन्तु मुझे तो पिताजी के वचनों का पालन करना है। मैं प्राणप्रण से उनके वचन पूरे

करूँगा, अतएव मैं किसी तरह से पीछे नहीं लौट सकता। तुम जाओ और बारह वर्ष पर्यन्त प्रजा का पालन करो तब तक मैं इधर नहीं आऊँगा।

रामचन्द्र के ऐसे दृढ़ प्रतिज्ञासूचक वचन सुनकर भरत बहुत दुःखी हुए। उन्होंने फिर भी रामचन्द्र से उल्टा अयोध्या चलने का बहुत आग्रह किया। भरत का अति आग्रह देख श्री रामचन्द्र ने उत्तर में कहा कि—“भरत तुम अयोध्या में जाकर राज्य करो। पिताजी ने तुमको बारह वर्ष राज्य शासन करने की आज्ञा दी है। तुम उनकी आज्ञा का पालन करो। इसका मुझे बड़ा आनन्द है। इसके अतिरिक्त मैं अपनी तरफ से और भी दो वर्ष के लिए तुम्हें राज्य प्रदान करता हूँ। बीस वर्ष से पूर्व मैं इधर न आने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं कदापि नहीं लौटूँगा अतएव तुम मुझसे अधिक आग्रह करना छोड़ दो। अधिक कहने से क्या लाभ?”

श्री रामचन्द्र के इस उत्तर से भरत यद्यपि बहुत खिन्न हुए परन्तु अन्त में जब उन्हें उनके वापिस लौटाने का कोई उपाय न सूझा तब उन्हें उसी दुःख दशा में रामचन्द्र के चरणों में नमस्कार कर वापिस लौट जाना पड़ा भरत राज्य तो करने लगे पर रामचन्द्र के बिना सदा व्याकुलचित्त रहा करते थे।

भरत के चले जाने के अनन्तर श्री रामचन्द्र भी वहाँ से चलकर चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे। यहाँ पर कुछ दिन विश्राम करके उन्होंने मालवा देश की ओर प्रयाण किया और मार्ग में धर्मात्मा वज्रजंघ आदि अनेक सन्तुष्टों के कष्ट आस्था निवारण कर रक्षा करते हुए अनेक राजा महाराजाओं की सुन्दर-सुन्दर कन्याओं का लक्ष्मण से पाणिग्रहण कराते तथा वंशस्थल गिरि पर श्री देशभूषण-कुलभूषण मुनि पर हो रहे उपसर्ग का निराकरण कर धीरे-धीरे कुछ दूरी पर विश्राम करते बहुत दिन पीछे क्रम से दंडकवन में आ पहुँचे। यह वन भयानक और विषम था। पर ये दोनों धीर वीर भाई जनक-नन्दिनी सहित यहाँ ही ठहरे। कुछ दिन चढ़ चुका था अतएव भोजन सम्बन्धी सामग्री लक्ष्मण ने एकत्रित की। सीता ने कुछ देर पीछे भोजन तैयार कर अपने स्वामी से कहा—प्राणनाथ रसोई तैयार है। अब आप पूजन कीजिए। दिन बहुत चढ़ा जाता है।

सीता के कहे अनुसार श्री रामचन्द्र त्रिनेत्र भगवान का पूजन कर अतिथि संविभाग के लिए सुयोग्य पात्र की प्रतीक्षा करने लगे। इतने में उनके प्रबल पुण्य से एक मास के उपवास किए हुए मुनिराज वहाँ उपस्थित हुए। रामचन्द्र ने उन मुनि महाराज के दर्शनों द्वारा अपने नैत्रों को पवित्र कर तीन प्रदक्षिणा देकर उनसे निवेदन किया—महाराज। अन्न तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ अन्न जल शुद्ध है। इस प्रकार प्रार्थना कर उनके चरण कमलों को धोया और उस पवित्र जल को अपने मस्तक पर लगाया। पश्चात् रामचन्द्र और सीता ने मुनिराज को नवधा भक्ति पूर्वक आहार करवाया। उसी जगह एक वृक्ष की शाखा पर जटायु नाम का पक्षी बैठा हुआ था। उसने रामचन्द्र द्वारा की हुई क्रिया को देखकर विचारा कि हाय, धिक्कार है मेरे इस जीवन को जो मुझे पशु पर्याय मिली। धर्म्य है इस जीवन को जो इन्हें जैसे महात्मा की सेवा तथा भक्ति करने का अवसर मिला। ये बड़े पुण्यात्मा और भाग्यशाली हैं। यदि मैं भी आज मानव पर्याय में होता तो क्या आज इस सुअवसर को खाली जाने देता, हे! भगवान यदि कभी मुझे भी पुण्य के प्रभाव से मानव पर्याय प्राप्त हो तो मैं भी नियम से ऐसे महात्माओं की भक्ति सेवा करूँगा।

इस प्रकार के पवित्र विचार उसके हृदय रूपी सरोवर में लहर लेने लगे। मुनिराज भोजन करने के अनन्तर वहाँ पर बैठे। तब रामचन्द्र ने नमस्कार कर पूछा—स्वामी यह स्थान इस प्रकार सूना कैसे

हो गया है और इसका नाम दंडकवन क्यों पड़ा है? तब मुनिराज बोले—सुन रामचन्द्र । इस देश के राजा का नाम था—दंडक । वह बड़ा तेजस्वी था । सारी पृथ्वी पर उसकी प्रसिद्धि हो रही थी । किसी समय उसके राज्य में बहुत से दिगम्बर मुनि आए । पापी दण्डक ने उनके नग्न रूप को देखकर उनसे बड़ी घृणा की और इसी घृणा के कारण उसने उन सब मुनियों को धानी में पेल दिया । उनमें से एक मुनि संघ के बाहर रह गये थे अतः जब वह मुनि आए और नगर में प्रवेश करने लगे तो नगर निवासी मनुष्यों ने पूर्व मुनियों का धानी में पेलने का वृत्तान्त कहकर उनसे नगर में जाने की प्रार्थना की मुनिराज साधुओं पर किए गए ऐसे अत्याचार की बात सुनकर बड़े क्रोधित हुए और क्रोध के आवेश में भरे हुए राजा के पास पहुंचे और बोले—रे दुष्ट पापी ! क्या हमारे निरपराध संघ को तुने ही मरवाया है । देख ! तू अब अपनी जीवन यात्रा को कैसे सुख से बिताता है ।

इस विषम कोप के साथ ही उनके वामस्कंध से पुरुषाकार एक तेजोमयी मूर्ति निकली और देखते-देखते राजा, प्रजा, अश्व आदि सबको भस्म कर साथ ही मुनिराज को भी भस्म कर दिया । राजा ने किए के अनुसार ही फल पाया और नरक में गया । वही नाना प्रकार के दुख भोगकर नरकायु पूर्ण कर अब जटायु का जीव हुआ है । यह तो इस स्थान के सुनसान होने का कारण है और इसके राजा का नाम दंडक होने से इसका नाम दंडक वन पड़ा । यह सब मुनि शाप का फल है ।

मुनि के द्वारा अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर पक्षी को बहुत दुःख हुआ । वह मूर्छित होकर शाखा पर से पृथ्वी पर गिर पड़ा । उसे पड़ा हुआ देखकर सीता को बहुत दया आई । उसने उसी समय उठकर पक्षी के ऊपर ठंडा जल छिड़का । कुछ समय पीछे उसकी मूर्छा दूर हो गयी । सचेत होकर सरकता-सरकता मुनि के चरणारविन्दों में जा पड़ा और अपनी मात्रभाषा में बोला—स्वामी कृपानाथ मुझ अनाथ, दीन पशु पर भी कुछ कृपा कीजिए जिसमें मैं कुछ अपना आत्म कल्याण कर सकूँ । मेरा चित्त इस संसार दुःख से बहुत भयभीत हो रहा है । मुनिराज ने जटायु की इस दशा को देखकर उसे सम्यक्त्व ग्रहण करने का उपदेश दिया । जटायु ने मुनिराज की आज्ञा प्रमाण सम्यक्त्व ग्रहणकर पंचाणुव्रत ग्रहण किए और जीवहिंसा का परिहार कर धर्म की ओर चित्त को लगाया । तत्पश्चात् मुनिराज भी अपना उपदेश देकर वहां से विहार कर गये । सीता को जब यह ज्ञात हुआ कि इस पक्षी ने जीव हिंसा का त्याग किया है एवं इसकी जीवन रक्षा होना कठिन है तो वह स्वयं उसका पालन पोषण करने लगी ।

तदन्तर संध्या के समय भाई से आज्ञा लेकर लक्ष्मण यह देखने निकले कि इस वन में कहीं हिंसक जीवों का निवास तो नहीं है । वे तिभीक चले आ रहे थे कि इतने में उनके समीप एकाएक सुगंध मिश्रित पवन आई । लक्ष्मण भी उसी ओर चल दिए जिस ओर से सुगन्ध आ रही थी । थोड़ी दूर जाकर उन्होंने देखा कि एक गहन बांस के बीहड़ के ऊपर केसर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से लिप्त तथा अन्य प्रकार के पुष्पों से सजा हुआ चन्द्रहास नाम का खड्ग लटका हुआ है । उन्होंने कौतुक-वश उसे हाथ में ले लिया और उसे चलाता चाहा उन्हें न तो यह मालूम था कि इस बांस के बीहड़ में कोई ध्यान लगाए हुए बैठा है और न खड्ग की शक्ति का ही परिचय था अतः खड्ग के चलाते ही बांस का बीहड़ और उसमें ध्यानावस्थित शम्भूक कट कर गिर पड़ा । तत्पश्चात् वह खड्ग उनका ध्वंश कर उल्टा ही लक्ष्मण के हाथ में आ गया । खड्ग लेकर लक्ष्मण वहाँ से चल दिए और अन्य स्थान पर जा ठहरे । शम्भूक कीन था और किसका पुत्र था उसको कथा इस प्रकार है—

मल्लिकार्जुन नामक नगर के राजा का नाम खरदूषण था और उसकी स्त्री का नाम सूर्यनखा था। वह रावण की बहन थी। इसके दाम्बूक नाम का एक पुत्र था। यही दाम्बूक उस गहन बांस के वीहड़ में चन्द्रहास खड्ग के सिद्ध करने के लिए बारह वर्ष से मन्त्र साधन कर रहा था। उसको गुरु ने मन्त्र साधन करने की विधि के साथ-साथ यह भी बतला दिया था कि बारह वर्ष के उपरान्त जब खड्ग प्रादुर्भूत हो तब सात दिन पीछे जिनेन्द्र भगवान का पूजन करने के पश्चात् उसे ग्रहण करना। खड्ग को प्राप्त पुरे सात दिन होने को आए थे कि वैवयोग से लक्ष्मण उधर आ निकले और उनके द्वारा ध्वंस हो गया। लक्ष्मण के खड्ग ले जाने के कुछ समय के अनन्तर उसकी माता सूर्यनखा भी भोजन लेकर आ पहुँची और वन को बिलकुल साफ देखकर मन में विचारने लगी कि मायूम होता है कि पुत्र ने खड्ग की शक्ति की परीक्षा की है। पुत्र को मन्त्र सिद्धि हुई जानकर वह बहुत प्रसन्न हुई परन्तु जब नीचे आकर उसको खण्ड-खण्ड होते हुए देखा तो उसे खुशी के बवसे महान दुःख हुआ। परन्तु फिर भी भ्रम से यह समझकर कि कदाचित् पुत्र ने यह अपने मन्त्र की प्राप्ति फैलाई हो शीघ्रता से पुत्र के पास आकर कहने लगी—प्यारे पुत्र उठो, उठो। क्या तुम्हें मुझसे ही मायाचार उचित था। तू मेरे दुःख की ओर तो जरा देख कि आज बारह वर्ष हो गये मैंने अपने हृदय के टुकड़े को किस दुःखी दशा में छोड़ रखा है। हे पुत्र अब अपनी माया को छोड़कर मुझ से वार्तालाप कर।

बहुत समय तक सूर्यनखा इसी प्रकार प्रार्थना करती रही परन्तु पुत्र उसी अवस्था में पड़ा रहा। अन्त में उसने पुत्र को मरा-हुआ समझा। वह निराश होकर पुत्र के विषम वियोग से अधीरता पूर्वक साधुपात उदन करने लगी, छाती कूटने लगी। उसे अपार दुःख हुआ। बहुत समय तक घोर दुःख से अधीर होकर वह विलाप करती रही। अन्त में जब शोक का भाव कुछ कम हुआ तो उसने विचारा कि अब रोने से ही क्या होगा? अब तो उस दुरात्मा की खोज लगाऊँ जिसने मेरे जीवन अवलम्ब निरपराधी पुत्र का प्राणहरण किया है। उस पापी को भी इसी दशा में पहुँचाऊँ जिससे मुझे कुछ संतोष हो। ऐसा विचार कर वह वहाँ से चलकर देखती-देखती वहीं आ निकली जहाँ धीर वीर लक्ष्मण ठहरे हुए थे। उनके हाथ में खड्ग को देखकर वह यह तो जान गयी कि मेरे पुत्र का प्राणघातक निश्चय पूर्वक यही है पर साथ ही लक्ष्मण की अनुपम स्वर्गीय सुन्दरता देखकर उसका हृदय उन पर मुग्ध हो गया और काम ने भी इसके हृदय में निवास जमाना आरम्भ किया अतः कामातुर होकर पुत्र के शोक का विस्मरण कर वह विचारने लगी पुत्र तो अब मर ही चुका पुनः अब जीवित नहीं हो सकता। अतः इस अपूर्व सुन्दर पुरुष से विरोध करने तथा प्राणहरण कराने का यत्न करने से क्या लाभ? सार तो इसमें है कि यह किसी प्रकार से मेरा स्वामी हो जाय तो फिर कहना ही क्या है? तब ही मेरा जीवन सुखरूप हो सकता है। ऐसा विचार कर उसने उसी समय अपने मायाबल से अपने को सोलह वर्षीय नवयौवन सम्पन्न कुमारी रूप में बदल लिया। सूर्यनखा बालिका बनकर लक्ष्मण के निकट गयी और रोने लगी। लक्ष्मण ने उसे रोती हुई देखकर पूछा—हे बालिके ! तू कौन है? किसलिए इस मुनसान वन में आई और किसलिए रोती है?

बालिका ने उत्तर में कहा—मैं छोटी अवस्था से अपने मामा के यहाँ रहती थी। मेरा पालन-पोषण मामाजी ने ही किया है। जब मैं बड़ी हुई और मुझको शात हुआ कि मामा मुझको बुरी नजर से देखने लगे हैं तब यह वृत्तान्त मैंने गुप्त रीति से पिताजी के कानों तक पहुँचा दिया। पिताजी मुझको उसी समय ही लेने आ गये। उनके साथ अपने घर को आ रही थी कि मार्ग में उनको यहाँ विधाम करना पड़ा। कुछ रात्रि शेष रहने पर हम उठकर चले परन्तु अब है कि चलते-चलते पिताजी तो आगे

निकल गये और मैं पीछे रह गयी। यही मेरा वन में रहने का कारण है। अब न तो मैं घर का भार जानती हूँ और न पिताजी ही लौटकर मुझको लेने आये हैं। आज मेरा बड़ा भाग्योदय है जो इस निर्जन वन में आप जैसे महाभाग्य के दर्शन हुए हैं। सुन्दर स्वरूप ! आपके इस कामदेव सदृश रूप पर मेरा हृदय न्यीछावर हुआ जाता है। अतः आपसे मेरा निवेदन है कि मुझ अनाथ बालिका को ग्रहण कर मुझको कृतार्थ करे तो बहुत अच्छा हो।

उत्तर में लक्ष्मण ने कहा—तुम जो कहती हो वह तो ठीक है परन्तु मैं तुमसे एक बात कहता हूँ कि मेरे बड़े भाई के उपस्थित होते हुए मैं स्वयं तुम्हें ग्रहण नहीं कर सकता। अतएव तुम मेरे बड़े भाई के पास जाकर अपनी प्रार्थना करो। तुम यह न समझो कि मैं ही सुन्दर हूँ किन्तु मेरे भाई मुझसे भी अधिक सुन्दर हैं तुम्हारी सुन्दरता के योग्य वह ही उचित जान पड़ते हैं। तुम उन्हीं के निकट जाओ।

इस प्रकार लक्ष्मण के कहने पर सूर्यनखा रामचन्द्र के पास पहुँची और कहने लगी मुझे आप से कुछ प्रार्थना करनी है। उसे आप ध्यान देकर सुन लें तो आपकी बहुत कृपा हो मैंने पहले लक्ष्मण जी से विवाह करने का निवेदन किया था। उन्होंने कहा है कि मेरे बड़े भाई के पास जाकर निवेदन करो। मुझे अभी अवकाश नहीं है। उनके कथनानुसार मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। मुझ अनाथ बालिका पर दया कर पाणिग्रहण करके मेरे जीवन को कृतार्थ कीजिए ! आशा है कि आप मुझ अनाथ अबला पर दया कर स्वीकृति वचन प्रदान करेंगे।

रामचन्द्र ने उस कामातुर सूर्यनखा की वार्ता श्रवण कर उत्तर में कहा—“हे बाले ! अब तुम मेरे ग्रहण करने योग्य नहीं रही हो क्योंकि तुम मेरे छोटे भाई लक्ष्मण से अपने विवाह की आकांक्षा कर चुकी हो अतएव तुम अब लघु भ्रातृ जाया कहलाने योग्य हो। तुम लक्ष्मण के ही पास जाओ और उसी से अपनी इच्छा पूर्ण करो।”

रामचन्द्र के वचन श्रवण कर सूर्यनखा फिर लक्ष्मण के पास गयी और उनको समस्त वृत्तान्त सुनाया। लक्ष्मण ने फिर उत्तर में कहा—“तुम हमारे बड़े भाई से विवाह की इच्छा प्रकट कर चुकी हो अतएव तुम अब मेरे योग्य भी नहीं रही क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि बड़े भाई की स्त्री माता के समान होती है अतएव तुम श्री रामचन्द्र के पास जाकर उनसे ही अपनी इच्छा पूर्ण करो।”

निदान वह काम से पीड़ित होकर कितनी ही बार राम और लक्ष्मण के पास आई और गयी। अंत में कपटी बालिका रूप सूर्यनखा की यह दशा देखकर सीता ने उससे कहा—“तू बड़ी मूर्ख है। जरा अपने आप का भी तो ध्यान कर। जरा विचार तो कर कि कहीं काक के संसर्ग से मकान भी काला हुआ है।”

सीता के कटाक्ष भरे वचन को सुनकर वह कहने लगी कि—“अच्छा ! तुम्हें काक संसर्ग से ही मकान काला होता दिखाई देता है।”

यह कहकर वह चली गयी। जाकर उसने मायाजाल से अपने शरीर को तख्तों से नोच कर केशों को बिखरे हुए धूल रसाकर अपने पति के पास गमन किया और मूर्छित होकर गिर पड़ी। खरदूषण ने शीतोपचार कराकर उसे सचेत किया और उससे पूछा—ध्यायी ! आज यह क्या हुआ ? किस पापी की मृत्यु आई है जिसने तुम्हारी यह दुर्दशा की है ? प्रिये शीघ्र कहो ! मुझसे तुम्हारी यह दुर्दशा नहीं देखी जाती।”

सुपनखा बोली—“प्राणनाथ ! मैं क्या कहूँ । अपनी दुखी दशा को मैं ही जानती हूँ ।”

इतना कहकर वह रो पड़ी और छाती कुटने लगी । तब खरदूषण ने उसे बहुत दिलासा दिया और इस आकस्मिक दुःख का कारण पूछा तब सुपनखा ने धैर्य धारण कर कहा—“प्राणनाथ ! दण्डक वन में दो मनुष्य और एक स्त्री ठहरे हुये हैं । उन्होंने मेरे प्राणों से प्यारे पुत्र को मार डाला और जब मैंने प्यारे पुत्र की यह दशा देखी तो मेरा साहस जाता रहा और मैं पुत्र के मस्तक को गोद में रख कर रो रही थी कि इतने में उन पापियों में से एक ने आकर मुझसे अपनी बुरी वासना प्रकट की । मैंने उसको बहुत धिक्कारा, पर फिर भी उसने मुझसे बलात्कार करना चाहा तब मैं बड़ी कठिनता से आपके पुण्य के प्रसाद से अपने सती धर्म की रक्षा कर आपके पास आ सकी हूँ । मैं अपना बड़ा ही पुण्योदय समझती हूँ जो आज उन पापियों के पंजे में आए हुए भी मेरा धर्म सुरक्षित रह सका । प्राणनाथ ! बड़े खेद की बात है कि आपके उपस्थित होते हुए भी नीच छुद्र पुरुषों के द्वारा पुत्र का मरण और मेरी ये दशा हो । मुझसे इन रंको द्वारा कृत अपमान नहीं सहा जाता । ऐसे जीवन से तो मरना हजार गुना अच्छा है । मुझे संतोष तो तभी होगा जब मैं उन दुष्टों के मस्तक को ठोकरोँ से ठुकराते हुए देखूँगी ।”

सुनकर उत्तर में खरदूषण ने कहा—“प्रिये ! तुम अब इस चिंता को छोड़ो और महल में जाकर बैठो मैं अभी उनको इस दुष्कृत का परिणाम दिखा देता हूँ । इस प्रकार प्रिया को तो धीरे-धीरे बंधाकर महल में भेज दिया और आप संग्राम के लिए तत्पर हो गया और एक दूत के द्वारा ये सब वृत्त रावण के पास भी कहला भेजा । उधर लक्ष्मण भी राम के पास पहुँचे । राम ने लक्ष्मण से कहा—‘लक्ष्मण ! तुमने जाना कि ये बालिका का रूप बनाये कौन थी ? मैं तो जहाँ तक समझता हूँ ये कोई राक्षसी थी ।’

इस प्रकार दोनों भाई परस्पर वार्तालाप कर ही रहे थे कि इतने में खरदूषण प्रचुर सेना सहित युद्ध के लिए आता हुआ दिखाई पड़ा । अस्कमात ही इतना भारी समारंभ देखकर सीता बहुत डरी और राम की गोद में जा गिरी । रामचन्द्र जी ने भी जब दृष्टि उठाकर देखा तो उन्हें भी कुछ सन्देह हुआ । उन्होंने धनुष की ओर संकेत करके लक्ष्मण से कहा—“भाई ! ये लोग जो आ रहे हैं, वे छली मालूम होते हैं । अतएव अब असावधान रहना उचित नहीं ।

यह सुन कर लक्ष्मण ने कहा—“स्वामी, आप किसी प्रकार की चिंता न करें मैं इनको अभी इस कार्य का फल दिखाए देता हूँ । आप यहीं स्थित रहें क्योंकि सीता को ऐसी जगह अकेली छोड़ना उचित नहीं है । एक और प्रर्थना है कि जब तक मैं वापिस नहीं आऊँ तब तक आप वहीं रहें । कोई आपत्ति आने पर मैं सिंहनाद करूँगा तब आप आकर मेरी सहायता करना ।”

यह कह कर लक्ष्मण धनुष-बाण ले युद्ध भूमि की ओर चल दिये । युद्ध भूमि में पहुँचते ही लक्ष्मण ने विद्याधरों की ओर दृष्टि उठाकर उन्हें ललकारा—“हे विद्याधरो ठहरो, कहाँ जाते हो ? यदि कुछ वीरता रखते हो तो मुझे उसका परिचय दो ।”

लक्ष्मण का इतना कहना था कि वे सब चारों ओर से इसके ऊपर आक्रमण करने लगे और बाणों की वर्षा करने लगे । यद्यपि ये अकेले ही थे तथापि इनकी कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सके । लक्ष्मण ने उद्दग में आकर ऐसे जोर से बाण चलाए कि उन पर चक्र के आने वाले बाणों को काटते हुए हजारों योद्धा घाराशायी हो गये । उस सेना में विराधित नाम का एक विद्याधर भी था । उसने लक्ष्मण के इस अलौकिक पराक्रम को देखकर मन में विचारा कि खरदूषण मेरे पिता का वध कर्त्ता मेरा शत्रु है । उस समय तो मुझे शक्ति और सहायताहीन होने से शत्रु की ही सेवा करनी पड़ी थी, परन्तु अब सुयोग्य

अवसर आ मिला है। अब इस महावीर की सहायता से मेरी इच्छा पूर्ण हो जाएगी अतएव इससे मैत्री करनी चाहिए। ऐसा विचार कर वह सैन्य लक्ष्मण के पास पहुंचा और नमस्कार करके बोला—“महाराज ! हे स्वामी, मैं आपकी सेवा करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ। दुरात्मा खरदूषण ने मेरे पूज्य पिता का वध कर डाला है। उसके बदले की इच्छा से मैं आपकी सहायता लेने के लिए आया हूँ। आगंतुक को सहायता देना आप जैसे उत्तम पुरुष का कर्तव्य है।” यह सुनकर लक्ष्मण ने कहा—“तुम इसकी चिंता न करो। तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी, परन्तु मुझे एक बात यह पूछनी है कि मुझे धोखा देने तो नहीं आये हो! यदि तुम धोखा देने भी आए हो तो मुझे इसकी चिंता नहीं। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।”

उत्तर में विराधित ने कहा—“महाराज ! मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मैं केवल अपने पिता का बदला लेने के अभिप्राय से सहायतार्थ आपके पास आया हूँ और किसी दुष्ट अभिप्राय से नहीं। महाबाहु ! आप तो खरदूषण से युद्ध करें क्योंकि वह महाबली है और शेष सेना के लिए मैं अकेला ही बहुत हूँ।”

ऐसा कह विराधित तो खरदूषण की सेना से युद्ध करने लगा और लक्ष्मण की खरदूषण से मुठभेड़ हो गयी। दधर तो विराधित ने अपने वचन के कथनानुसार खरदूषण की सारी सेना को वध में कर लिया और उधर लक्ष्मण ने खरदूषण को जीत लिया। जब खरदूषण की पराजय का वृत्तान्त रावण को मालूम हुआ तो वह उसी समय पुष्पक नामक विमान पर आरुढ़ होकर खरदूषण की सहायतार्थ वहाँ से चल दिया। जब चलते चलते दंडक वन में आया तो वहाँ पर रामचन्द्र के समीप बैठी हुई सीता की अप्रतिम सुन्दरता को देखकर उसका हृदय काम के बाणों से भेदा गया। उसने काम वेदना से पीड़ित हो सीता को उठा लाने के लिए अनेक उपाय किये परन्तु उसका उपाय कभी भी अभीष्ट सिद्ध नहीं कर सका। तब अन्त में उसने अपनी विद्या को उसको लाने के लिए भेजा परन्तु विद्या महातेजस्वी पूज्यमूर्ति श्री रामचन्द्र के आगे कुछ न कर सकी और निष्प्रभ हो वापिस आकर रावण से बोली—“स्वामी ! मैं रामचन्द्र के निकट से सीता को लाने में असमर्थ हूँ।”

सुनकर रावण ने कहा—“अस्तु ! अब तू ये उपाय बता कि वह कैसे लाई जा सकती है।”

तब विद्या ने कहा—“यदि लक्ष्मण युद्ध में सिंहनाद करें तो राम उसकी सहायतार्थ चले जाएंगे तब सीता को ला सकते हो।”

सुनकर रावण ने विद्या से कहा—“तुम यहाँ से थोड़ी दूर जाकर सिंहनाद करो। उसे सुनकर रामचन्द्र अपने भाई का किया हुआ सिंहनाद समझ वहाँ से सहायतार्थ चले जाएंगे।”

विद्या ने ऐसा ही किया। उसे रामचन्द्र और सीता ने सुन लिया। रामचन्द्र अपने भाई को संकट में आया जान कर जटायु को सीता की रक्षा के लिए छोड़कर आप वहाँ से चल दिये। उधर रावण भी यही चाह रहा था अतः रामचन्द्र के जाते ही रावण सीता को बलात्कार उठा ले गया जैसे पक्षी माँसपिण्ड को उठा ले जाता है। जटायु अपनी स्वामिनी को ले जाते देखकर रावण को अपने तीखे-तीखे नुकीले नखों से घायल करने लगा। यह देख रावण को बड़ा क्रोध आया और उसने उस बेचारे पक्षी के ऐसा थप्पड़ मारा कि वह अधमरा होकर बड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। यह घटना रत्नजटी नाम के विद्याधर ने जाते हुए देखी। उसने आकर रावण से कहा—“हे नीच विद्याधर ! बेचारो एक अबला स्त्री को चुराकर कहां लिए जाते हो। तुम्हें इस कर्म को करते हुए लज्जा नहीं आती।” उस

वेचारे से सीता का हृदय द्राक्क रुदन न सहा गया। वह निरुपाय हो उसे छुड़ाने के लिए युद्ध करने लगा। अपने से एक बहुत छोटे विद्याधर की ऐसी धृष्टता देखकर रावण को बड़ा क्रोध आया। उसने उसकी समस्त विद्याओं का हरण कर विना पंख के पक्षी के समान समुद्र में डाल दिया, परन्तु उसका परम प्रकर्ष पुण्योदय था जिससे वह समुद्र में एक स्थल पर पड़ा और उसे एक युक्ति सूझी वह अपने कुछ कपड़े एक लकड़ी से बांध ध्वजा के समान उड़ाने लगा जिससे आकाश मार्ग में आने-जाने वालों की इधर दृष्टि पड़ जाए। उधर पापी निर्दयी रावण ने सती साध्वी सीता पर कुछ दया न कर उसे रुदन विलाप करते हुए ले जाकर लंका के उपवन में बँटा दिया और नित्यप्रति उसको वश में करने का उपाय सोचने लगा, परन्तु वह काम सम्भव न था कि जिस साध्वी ने अपने प्राणप्यारे के चरण कमलों में अपने मन रूपी भ्रमर को समर्पित कर दिया था वह अब दूसरे की अङ्कशायनी हो अर्थात् कभी नहीं। अब आगे रामचन्द्र का वृत्तांत लिखा जाता है।

जब रामचन्द्र लक्ष्मण के पास पहुँचे तो लक्ष्मण को भली प्रकार देखा और लक्ष्मण ने भी देखते ही कहा—“पूज्य ! आप कैसे आए ? सीता को अकेली ही कहीं छोड़ आए ?”

रामचन्द्र ने कहा—“मैं तुम्हारा सिंहनाद सुनकर आया हूँ।” लक्ष्मण ने कहा “मैंने तो सिंहनाद किया ही नहीं किसी दुष्ट ने सीता को ले जाने के लिये दुष्टता की है आप शीघ्र जाइये। कुछ भ्रमंगल होने की संभावना है। जब मैं इन दुष्ट राक्षसों को वश में कर चुका था तो मुझे सिंहनाद करने की क्या आवश्यकता थी ?”

ऐसा सुनते ही रामचन्द्र वापिस लौटे और वहाँ आकर देखा कि सीता वहाँ पर नहीं है। उन्होंने चारों ओर घूम घूम कर देखा तो एक स्थान पर अधमरा जटायु पक्षी दिखाई दिया। उसके प्राण कंठगत जानकर उन्होंने उसे पंच नमस्कार मंत्र सुनाया जिस मंत्र के प्रभाव से वह परम अभ्युदय का धारक देव हुआ। रामचन्द्र सीता के न मिलने के कारण उसके असह्य वियोग से धड़ाम से मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। जब कुछ मंद मंद शीतल पवन का स्पर्श हुआ तब वे सचेत हुए। वे सीता के वियोग से इतने अधीर हुये कि उन्हें अपने स्वरूप का भी बोध नहीं रहा और पशु तथा पक्षी तो क्या, वे तो वृक्ष और पर्वतों से भी अपनी प्रिया का वृत्तांत पूछने लगे इधर उधर उन्होंने बहुत कुछ खोज की, परन्तु जब कहीं पता न लगा तब वे पुनः सीता के वियोग रूप वज्र के आघात से मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। इतने में लक्ष्मण और विराधित भी वहाँ आ पहुँचे। लक्ष्मण अपने बड़े भाई की दशा देखकर जान गए कि सीता निश्चय पूर्वक हरी गई है।

लक्ष्मण ने निकट जाकर भाई की अभिवंदना की परन्तु इस समय राम तो अपने आपे में ही नहीं थे। लक्ष्मण से कहने लगे—“तू कौन है और क्यों ऐसे विकट घरण्य में आया है ?” तब लक्ष्मण ने कहा—“पूज्य ! क्या आप भूल गये ? मैं तो वही आप का दास लक्ष्मण हूँ।”

यह सुनकर रामचन्द्र को कुछ स्मृति आई, वे लक्ष्मण से बोले—“भाई ! सीता हरी गयी। उसको कोई पापी उड़ा ले गया।”

यह सुनकर लक्ष्मण भी बहुत दुःखी हुए। दोनों मिलकर रुदन करने लगे। विराधित ने इन दोनों को जैसे तैसे समझाकर रोने से रोका। विराधित को भी अपने उपकारकर्ता के ऊपर अनायास आपत्ति आ जाने से बड़ा दुःख हुआ। संयोगवश यहीं पर वानरबंशियों का स्वामी सुग्रीव भी विराधित से आ मिला और अपने पर बीती हुई समस्त घटना कह सुनाई। विराधित ने भी उसको रामचन्द्र का

सारा वृत्त कह सुनाया। सुनकर सुग्रीव ने कहा—“विराधित ! यदि तेरे स्वामी मेरा दुःख दूर कर दें तो मैं भी उनकी प्रिया का शीघ्र ही पता लगाऊंगा। इस प्रण से मैं भी कभी विचलित नहीं होऊंगा।”

विराधित ने रामचन्द्र से जाकर कहा—“स्वामी ! दानरत्नशाधिपति सुग्रीव आपके पास आया है। वह कहता है, कि यदि रामचन्द्र मेरा दुःख दूर कर देंगे तो सीता का सात दिन के भीतर-भीतर पता लगाऊंगा। यदि आपकी आज्ञा हो तो सुग्रीव को ही उपस्थित किया जाए।”

रामचन्द्र की आज्ञा होने पर सुग्रीव को उपस्थित किया गया। रामचन्द्र ने सुग्रीव का यथोचित आदर सत्कार किया और परस्पर कुशल-वार्ता होने के उपरान्त रामचन्द्र ने सुग्रीव से पूछा—“सुग्रीव ! तुम्हें क्या दुःख है !”

सुग्रीव ने कहा—“महाराज ! मेरी राजधानी किष्किंधा है। मेरी तारा नाम की स्त्री अति सुन्दर और नवयौवना है। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर दुष्ट विद्याधर मेरे समान रूप बनाकर मेरे महल में घुस गया था। मेरी प्रिया ने उसकी धाल ढाल से यह जाना कि यह मेरा खास पति नहीं है। उसे घर में नहीं जाने दिया। तारा के आशय को समझ कर उस दुष्ट ने मेरे घर की समस्त गुप्त बातें कह सुनाई। सुनकर मेरी स्त्री ने कहा—“हे दुष्ट पुराण ! तूने सब बातें तो मेरे स्वामी के समान कह दीं परन्तु तुझे चलना तो अभी तक उन जैसा नहीं आया। उसका इतना कहना था कि उसने मुझे अपने घर पर आता हुआ देखकर चाल भी सीख ली। परन्तु उस समय मेरी स्त्री ने परम दक्षता की कि मुझको और उसे सामानाकृति वाला देखकर महल के पट बन्द कर लिए। जब मैं महल के द्वार पर पहुँचा तो मैंने कपटी वेषी सुग्रीव को ललकारा—“पापी ! तू कौन है और किस लिए कपट से ऐसा वेष बनाकर मेरे घर में घसना चाहता है ?” उत्तर में उसने भी मेरे जैसे ही वाक्य कहे। यह विचित्र लीला देख मन्त्रियों ने हम दोनों को ही अन्दर जाने से रोका और कहा जब तक इस बात का निर्णय न हो कि वास्तव में सुग्रीव कौन है तब तक हम किसी को भी भीतर प्रवेश नहीं करने देंगे। हम दोनों नगर से बाहर जंगल में रहने लगे। जब मुझसे अपनी प्रिया का वियोग जनित दुःख सहा नहीं गया तो मैं रावण के निकट गया और अपनी समस्त व्यथा का वर्णन किया, पर उससे भी मेरा उपकार न हो सका। रावण तथा और भी बहुत से विद्याधर और हनुमान आदि इसकी परीक्षा के लिए आए परन्तु किसी से कुछ प्रतिकार न बन सका। अन्त में अब सब ओर से निराश होकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। विश्वास तो यही है कि अब इस असौम्य दुःख का आपके द्वारा अंत हो जायेगा मेरा परम प्रकर्ष पुण्योदय है जो आज आप जैसे महा-पुरुषों के दर्शन हुए। सुनकर रामचन्द्र ने कहा—“सुग्रीव ! चिन्ता न करो। मैं तुम्हें दृढ़ विश्वास के साथ कहता हूँ कि इस बात का ठीक ठीक पता लगाकर मैं तुम्हारा न्याय करूँगा और तुम्हारी प्रिया तुम्हें दिलवा दूँगा परन्तु उसके बाद तुम्हें भी अपना प्रण पूरा करना होगा।

सुग्रीव ने रामचन्द्र के कहने को स्वीकार किया। उसके बाद सुग्रीव राम लक्ष्मण को अपनी राजधानी में ले गया और नगर के बाहर उन्हें एक स्थान पर ठहरा दिया, वहाँ पर कृत्रिम वेषधारी सुग्रीव के पास युद्ध के लिए दूत भेज दिया। वह अपनी प्रचुर सेना लेकर संग्राम के लिए आया और दोनों सुग्रीवों का युद्ध आरम्भ हुआ। सच्चा सुग्रीव मायामयी सुग्रीव की गदा के आघात से मूर्छित हो गया। तब उसके कुटुम्बी जनों ने अपने स्थान पर ले जाकर शीतलोपचार किया। मायावी सुग्रीव उसको मरा जानकर आनन्द मनाता हुआ अपने स्थान पर वापिस लौट गया। जब सुग्रीव सचेत हुआ, तब उसने रामचन्द्र से कहा—“महाराज ! आपने उसे क्यों जाने दिया ?

उत्तर में रामचन्द्र ने कहा—“सुग्रीव ! क्या कहें ? तुम दोनों एक ही समान थे । अतएव तुम्हारा निश्चय न हो सका कहीं संशय ही संशय में तुम्हारी मृत्यु हो जाती तो बहुत बुरा होता । ऐसा विचार कर उसको छोड़ दिया । अब कुछ चिंता नहीं । उसे फिर बुलवाते हैं ।

यह कह कर रामचन्द्र ने पुनः कृत्रिम सुग्रीव को युद्ध के लिए बुलाया । वह फिर भी बड़े साहस पूर्वक संग्राम के लिए युद्धभूमि में आया । इस बार रामचन्द्र के दिव्य तेज को देखकर सादृश्य रूप बना देने वाली कृत्रिम सुग्रीव की बैताली विद्या तत्काल भाग गई और वह अपने पूर्व स्वरूप में आ गया । यह देख सबने असली सुग्रीव को पहचान लिया और उसका बहुत सत्कार किया । सुग्रीव अपने पुत्र आदि के साथ अपने घर पर गया और वियोग रूपी अग्नि के द्वारा कृश हुई अपनी प्राणप्रिया से मिला तथा सुखोपभोग करने लगा । बहुत दिनों से विछुड़ी हुई अपनी प्राणप्रिया को पाकर विषय भोगों में ऐसा मग्न हुआ कि रामचन्द्र के साथ की हुई प्रतिज्ञा को भूल गया और छः महीने बीत गये । उधर ज्यों ज्यों दिन बीतने लगे त्यों त्यों रामचन्द्र को अधिक दुःख होने लगा । उन्होंने लक्ष्मण से कहा—“भाई, देखो जब मनुष्य पर विपत्ति आती है तब तो अपना कार्य सिद्ध करने के लिए जिस तिस की सेवा शुश्रूषा, प्रण प्रतिज्ञा करता फिरता है और जब दुःख निवृत्त हो जाता है तब उसे किसी के उपकार प्रतिज्ञा का ध्यान नहीं रहता । सुग्रीव को देखो, पहले कितनी दृढ़ प्रतिज्ञा करता था और अब अपना काम निकलने पर प्रतिज्ञा को भूल गया ।”

सुनकर लक्ष्मण को सुग्रीव की इस स्वार्थ बुद्धि पर बड़ा क्रोध आया । वह उसी समय सुग्रीव के पास पहुंचे । उन्हें देखते ही सुग्रीव बहुत चिंतातुर हुआ । आप सिंहासन से उठकर नीचे बैठे और लक्ष्मण को उस पर बैठाया । लक्ष्मण ने सुग्रीव से कहा—“सुग्रीव ! क्या तुम्हें यही उचित था कि अपनी सात दिन की प्रतिज्ञा तक को भूल गये ? क्या प्रतिज्ञा पूर्ण करना इसी को कहते हैं ? जो तुम तो महल में बैठे हुए सुखोपभोग भोगे और हमारे भाई वन में दुःख भोगें । सच है जो स्त्री जन्य सुख में लीन होते हैं उन्हें अपने व्रत, नियम, प्रण आदि के भंग होने का कुछ भी ध्यान नहीं रहता ।” सुग्रीव ने कहा—“स्वामी ! है तो आज सातवां ही दिन । यदि मैं समय पूर्ण होने तक यह कार्य न कर दूँ तो आप मुझे दोष दीजिएगा ।”

इतना कह सुग्रीव लक्ष्मण सहित रामचन्द्र के पास आया और उनके चरणों में पड़कर अपने अपराध की क्षमा माँगी । उसके बाद सुग्रीव ने अपने दक्ष विद्याधरों को सीता का समाचार लाने की आज्ञा दी । आज्ञा पाते ही विद्याधर चारों ओर गये । उनमें से एक विद्याधर वहां भी आ निकला जहाँ रावण के द्वारा विद्याहरण कर समुद्र में डाल देने वाला रत्नजटी नाम का एक विद्याधर हाथ में ध्वजा लिए हुए आने जाने वालों को संकेत कर रहा था । उसे संकेत करते देखकर वह नीचे उतरा और रत्नजटी को पहचान कर उसने उससे पूछा कि—हे मित्र ! कहो, तुम यहां कैसे आए और कैसे यहाँ इस दशा में ठहरे हुए हो ?”

तब उसने रावणकृत अपने पर बीती हुई सारी घटना कह सुनाई इससे उसने अच्छी तरह समझ लिया कि सीता को रावण ही हर ले गया है इसमें कोई संदेह नहीं है तब वह रत्नजटी को अपने विमान में बैठाकर सुग्रीव के पास लाया और उससे उसका वार्तालाप करवाया, रत्नजटी ने सुग्रीव से समस्त वृत्तांत ज्यों का त्यों कह सुनाया । सुग्रीव आनन्द दायक समाचार सुनकर प्रसन्न होता हुआ उसे साथ लेकर रामचन्द्र के पास पहुंचा और कहा—महाराज ! ये सीता जी का वृत्तांत अच्छी तरह जानता

है। आप इसे एकांत में ले जाकर पूछ लीजिए।" रामचन्द्र ने उसे एकान्त में ले जाकर पूछा तब उसने जैसा देखा था और जैसी अपने पर आपत्ति आई थी वह सब सुनाई। रामचन्द्र ने रावण के इस कृत्य पर उसे परोक्ष में बहुत धिक्कारा और कहा—“रे नीच कुल कलंक ! देखू तेरी वीरता जो पर प्रिया को हरण कर सुख से जीता रह सकेगा।” साथ ही अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि “सैनिको ! संग्राम की तैयारी करो। आज ही हमको सीता को छुड़ा लाने के लिए रावण पर युद्ध के लिए चढ़ना है।”

सुनकर वीर सैनिकों ने उत्तर में निवेदन किया—“महाराज ! वह कोई साधारण पुरुष नहीं है। अतएव प्रथम यह बात जानना अत्यावश्यक है कि सीता यथार्थ में वहां है या नहीं ? है तो कहाँ, किस स्थान पर है और रावण इस समय किस काम पर लगा हुआ है ? यह जानकर ही फिर यथोचित उपाय करना चाहिये।” रामचन्द्र ने उनका कहना स्वीकार किया और प्रथम सब वृत्तों को जानने की आज्ञा दी। साथ अपने सहज होकर हनुमान को बुलाया। हनुमान रामचन्द्र के आदेश को पाकर उसी समय उपस्थित होकर परम विनम्रता से रामचन्द्र तथा सुग्रीव आदि से मिला और बोला “महाराज ! कहिये क्या आज्ञा है ?”

रामचन्द्र ने उसकी विनम्रता की प्रशंसा करते हुए एकांत में ले जाकर अपनी निशानी के रूप में अपनी मुद्रिका देकर कहा—“कि देखो, इसे जनकनन्दिनी के आगे रखकर कहना कि रामचन्द्र तुम्हारे वियोग में बहुत दुःखो हैं। उन्हें रात-दिन चैन नहीं पड़ता है। वे तुम्हें छुड़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं। तुम चिन्ता न करना।”

इतना कह कर हनुमान को वहाँ से विदा किया। हनुमान रामचन्द्र के चरणों में नमस्कार करके लंका की ओर चले गये। मार्ग में भीषण उपद्रवों का निराकरण करते हुए लंका में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर वहाँ के निवासी मनुष्यों से सीता का पता निकाल कर जहाँ सीता ठहराई गयी थी, उसी उपवन में पहुँचे और एक वृक्ष पर चढ़कर गुप्त रूप से वहाँ का वृत्त देखने लगे। उन्होंने देखा कि कामी रावण ने मंदोदरी आदि रानियों को सीता के पास भेज रखा है। वे उससे कह रही थीं कि—“हे जनकनन्दिनी ! देख ! रावण सर्व गुण विद्याओं का स्वामी, तीन खंड का अधिपति तथा सब राजा—महाराजाधीन का शासक है। उसके एक से एक सौन्दर्य युक्त हजारों रानियाँ हैं तथापि वह जी-जान से तुझ पर मुग्ध हो गया है। तुझे अपना अत्यन्त पुण्योदय समझना चाहिये कि आज वह तुझे अपनी समस्त प्रियाओं के मध्य प्रधान पटरानी बनाना चाहता है। तू स्वयं विचार कर देख कि त्रिखंडाधिपति रावण को प्रियतम बनाने से सुख प्राप्त हो सकता है या एक साधारण अल्प भूमि के अधिकारी भूमिगोचरी मनुष्य को बनाने से। हम यह नहीं चाहती कि तुझे किसी प्रकार का दुःख उठाना पड़े। हम तो सब तेरे सुख के लिए ही तुझसे इतना कुछ कह रही हैं। तुझे तो अपने लिए बड़ी खुशी का दिन समझना चाहिये जो अपनी एक से एक रूपवान अठारह हजार रानियों को छोड़कर विद्याधरों के स्वामी का हृदय तुझ पर न्योछावर हुआ जाता है और जिसमें तुझे आसन भी ऊँचा दिया जायेगा अतएव तू व्यर्थ रोकर अपने चित्त को क्यों कष्ट देती है ? रामचन्द्र से तुझे इतना सुख नहीं मिल सकता जितना रावण को प्रियतम बनाने से उठायेंगी।

इस प्रकार और भी बहुत सी बातें मंदोदरी सीता से कहती रही। सीता को मंदोदरी के ऐसे लज्जाशून्य वचन सुनकर बहुत क्रोध आया। वह उसे धिक्कार कर बोली—“हे मंदोदरी ! तेरी तो पतिव्रता स्त्रियों में बहुत प्रशंसा सुनती थी पर ये आज नवी का प्रवाह उल्टा कैसे ? तुझे ऐसे निर्लज्ज

वचन कहते हुए कुछ तो संकोच होना चाहिए था कि मैं कुलीन और पतिव्रता होकर कैसे अपशब्द बोल रही हूँ। मुझे नहीं मालूम था कि तेरा ऐसा कुल होगा। तू मुझे अतिशय मूर्ख जान पड़ती है जो तुझे इतना भी विचार नहीं आया कि कुलीन कन्याओं का एक ही पति होता है। बस, फिर कभी ऐसे अश्लील वचन मेरे सम्मुख मुख से न निकालना।”

सीता का यह कहना मंदोदरी को बहुत बुरा मालूम हुआ। वह क्रोध रूप अग्नि से जलकर अपने मन ही मन में भस्म हो गयी। उसने सीता को दुःख देना चाहा हो था कि इतने में हनुमान वृक्ष के नीचे उतर मंदोदरी आदि रावण को स्त्रियों को उनके किये का फल देकर सीता के पास पहुँचा। जनक नंदिनी सीता को सादर नमस्कार कर रामचन्द्र जी की अभिज्ञान (निशानी) रूप मुद्रिका सम्मुख रख कर उसने रामचन्द्र जी का कहा हुआ समस्त वृत्तांत ज्यों का त्यों कह सुनाया। सीता रामचन्द्र की मुद्रिका पाकर दरिद्री को खजाने की प्राप्ति के समान अत्यन्त आनन्दित हुई। उसने हनुमान से पूछा—“भाई! यथार्थ सत्य वार्ता कहो! तुम्हारा नाम क्या है और कहां से चले आये हो?” तब उत्तर में हनुमान ने निवेदन किया कि—“मैं रामचन्द्र का सेवक हूँ। मेरा नाम हनुमान है। सुग्रीव के अनुसार रामचन्द्र ने मुझे आपकी कुशलता का संदेश लाने के लिए भेजा है।”

सुनकर सीता बहुत खुशी हुई। उसने फिर पूछा—“भाई! रामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों भाई कुशल तो हैं।”

हनुमान बोला—“तुम कुछ चिन्ता न करें। वे दोनों भाई बहुत अच्छी तरह से किष्किंधापुरी में सेना सहित ठहरे हुए हैं। उनका परम प्रकर्ष पुण्योदय है जो उनके साथ विद्याधरों का अधिपति सुग्रीव भी हो गया है। वे शीघ्र ही विपुल सेना लेकर तुम्हें इस आकस्मिक आपत्ति से छुड़ाने के लिए आयेगे।”

इस प्रकार हनुमान ने सीता को बहुत कुछ धैर्य बंधाया। सीता जी जब लंका में लाई गई थीं तभी से उन्होंने आहार-पान नहीं किया था अतः हनुमान ने उसी समय आहार सामग्री लाकर सीता को आहार कराया और फिर सीता को चित्त प्रसन्न करने के लिए राम सम्बन्धी कथा सुनाने लगे। जब मंदोदरी को हनुमान ने उसके किये का फल दिया तो वह उसी समय दौड़ती हुई अश्रुपात करती रावण के पास गई और हनुमान की सब बात कह सुनाई। सुनकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ। उसने अपने वीर सैनिकों को आज्ञा दी कि “जाओ तुम अभी उस मूर्ख पशु की खबर लो जो सीता जी के पास बैठा हुआ है।” वीर सैनिक अपने स्वामी की आज्ञा पाते ही हनुमान पर चढ़ कर आये। हनुमान सैनिकों को घाते हुए देखकर शीघ्रता से आकाश गमन कर उनसे लड़ने लगे। बड़े बड़े वृक्ष उखाड़कर रावण की सेना को उनसे धाराशायी करने लगे। अनेक योद्धा प्राणरहित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और कितने ही इधर-उधर भाग गये। अन्त में उसने अपने भीषण युद्ध से थोड़ी ही देर में समस्त राक्षस सेना को हरा दिया और फिर स्वयं रावण के पास जाकर उससे बोले—हे लंकाधिपति! तू बड़ा बुद्धिमान समझा जाता है। तुझे यह मूर्खता कैसे सूझी जो पर स्त्री का हरण कर उससे विषय सुख की इच्छा करता है। क्या तुझे मालूम नहीं है कि उसका स्वामी रामचन्द्र कैसा महापरकामी प्रतापी वीर है और उसका लघु भ्राता लक्ष्मण भी! क्या तू ऐसे वीर की स्त्री को लाकर अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करने की इच्छा रखता है? कदापि नहीं। मुझे तो यह नितांत असम्भव मालूम होता है।

इस प्रकार हनुमान ने निडर होकर रावण को खूब फटकारा। तब रावण ने क्रोधाग्नि से प्रज्वलित होकर अपने नौकरों से कड़क कर कहा - बड़े आश्चर्य की बात है कि यह एक साधारण मनुष्य सभा में अपशब्द व कटुक शब्दों के द्वारा कितना अपमान कर रहा है और तुम खड़े हुए उसके मुख की ओर देख रहे हो। शीघ्र ही इसका भस्मक छेदन क्यों नहीं कर देते? स्वामी की आज्ञा पाते ही पेवक गण हनुमान पर दूट पड़े, परन्तु फिर भी उस महावीर युद्ध कला कुशल हनुमान का वे क्या कर सकते थे? हनुमान भट से आकाश में चले गये और रावण की इस दुष्टता पर क्रोधित हो समस्त लंकापुरी में अग्नि लगा दी। तदनन्तर सीता के पास पहुँचे और उनसे कुछ अभिज्ञान रूप वस्तु देने के लिए प्रार्थना की। तब पतिवियोगिनी सीता ने अपना चूड़ारत्न देकर और रामचन्द्र के लिए कुछ शुभ समाचार कह कर हनुमान को विदा किया। हनुमान जनकनन्दिनी को नमस्कार कर उनसे आज्ञा लेकर शीघ्र ही प्रणाम कर सागर लीध सुग्रीव की राजधानी किष्किंधापुरी में राम के निकट आकर उपस्थित हुए।

हनुमान ने सीता का अभिज्ञान रूप चूड़ारत्न सम्मुख रखकर सीता के कहे हुए सब शुभ समाचार कह सुनाए और भी रामचन्द्र ने सीता सम्बन्धी जो भी वृत्तांत पूछा उसका यथोचित उत्तर देकर उनके संतप्त हृदय को शान्त किया। तदनन्तर जब यह वृत्तांत सुग्रीव आदि को मालूम हुआ तब वह मिलकर विचारने लगे कि अब हमको क्या करना चाहिये? रावण तीन खंड का स्वामी है। इसी से उसके यहां चक्ररत्न भी प्रकट हो गया है जो सब सुखों का कारण और शत्रु पक्ष का मान मदन करने वाला समझा जाता है। जिसने अपनी भुजाओं के बल से इन्द्र, वरुण, यम और वैश्वदेव आदि बड़े-बड़े प्रतापी राजाओं के अभिमान को नष्ट कर अपने वश में कर लिया है, पृथ्वी पर कौन ऐसा राजा है जो उसकी आज्ञा का अनादर कर सके? अर्थात् उसकी आज्ञा को सब राजा-महाराजा स्वीकार करते हैं। जिसके कुम्भकरण और विभीषण जैसे महापराक्रमी भाई और इन्द्रजीत, मेघनाद आदि बहुत से पराक्रमी पुत्र हैं, जो समुद्र से घेरे हुए राक्षस द्वीप समूह के अन्तर्गत चारों ओर से विशाल प्राकार से युक्त लंका नामक अपनी राजधानी में रहते हुए निराबाध तीन खंड का एक छत्र राज्य करता है, ऐसा प्रतापी त्रिल्लोचन रावण कैसे जीता जा सकेगा? सीता कैसे लाई जायेगी। कैसे हम रामचन्द्र को संतुष्ट कर सकेंगे? हम लोगों ने रामचन्द्र की ओर होते हुए तो कुछ भी नहीं विचारा, परन्तु देखो, रावण जब ये वृत्तांत सुनेगा तो कितना क्रोधित होगा और क्रोधाग्नि से प्रज्वलित होकर हमारा अपकार किये बिना कैसे चूकेगा? हमें अभी से मालूम नहीं है कि रामचन्द्र और लक्ष्मण कितने पराक्रमी वीर हैं और जब तक इनकी शक्ति का ठीक परिचय न हो जाए तब तक अपनी विजय की आशा भी बंध्या के पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा के समान व्यर्थ है अतएव सबसे प्रथम इनकी शक्ति का अनुमान करना चाहिये और इस का ठीक निर्णय कोटि शिला के उठाने पर हो सकेगा क्योंकि कोटि शिला वही उठा सकता है जो नारायण ही और वही प्रतिनारायण का मारक होता है। रावण प्रतिनारायण है यह तो निसंदेह निश्चित है। अब यदि इनका नारायण होना निश्चित हो जाये तो इनके साथ में हमारी कोई हानि नहीं, नहीं तो रावण के द्वारा इनका और हमारा वृथा ही सर्वनाश होगा। विद्याधरों के इस विचार को विराधित ने जाकर श्री रामचन्द्र से कह सुनाया। यह सुनकर लक्ष्मण ने बड़ी निर्भीकता से कहा—“कि ये लोग क्यों कायरता दिखाते हैं? सब एकत्रित होकर पंचशिला के पास चलें और अपने इस संदेह का निवारण करें मैं सब के समक्ष कोटिशिला को उठाकर अपनी शक्ति का परिचय करा दूंगा।”

लक्ष्मण के कथनानुसार वानरवंशी सब एकत्रित होकर शुभ महर्त में लक्ष्मण के साथ कोटि-

शिला के समीप गये। वहाँ पहुँचते ही लक्ष्मण ने उस शिला की अष्ट द्रव्यों से पूजनकर फिर उसको तथा वहाँ से निर्वाण होने वाले सिद्धों को नमस्कार कर एक योजन चौड़ी चौकोर सर्वशोभद्र नाम की शिला को अपने हाथों से जाँघ के ऊपर तक उठा ली। लक्ष्मण की यह अनुपम अतुल वीरता देखकर देवों ने पुष्पवर्णा की, अनेक प्रकार के बाजे बजाए और उमती बहुत प्रशंसा की उनी दिन से यह भरत खंड में आठवाँ वसुदेव प्रसिद्ध हुआ। यही रावण के वंश का विनाशक और रावण के सुख की इतिश्री करने वाला पुरुषोत्तम है। इन प्रकार देवों के द्वारा जब और भी विद्याधरों ने लक्ष्मण की प्रशंसा सुनी तब उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि यह रावण का पूर्ण नाश करेगा। उस समय समस्त विद्याधर और वानरवासी अपने सुन्दर विमान पर उन्हें बैठकर किंकिन्धापुरी में ले आए। अब रावण से युद्ध करने का निश्चय किया गया तब विद्याधर अपनी-अपनी सेना इकट्ठी करके रामचन्द्र के दल में आकर मिलने लगे। सुग्रीव आदि अनेक अनेक सेना लेकर आ गये। रामचन्द्र के परम प्रकर्ष पुण्योदय से उस समय विद्याधर और वानरवंशियों की असंख्य सेनाएँ एकत्रित हो गईं। इतनी अपार सेना को देखकर रामचन्द्र और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए। जब सेना सब धजकर तैयार हो गई तो उसके चलने के लिए आज्ञा दी गई। आज्ञा पाले ही सब सैनिक गण अपने-अपने विमानों पर आरुढ़ होकर समुद्र की लीव कर त्रिकुटाक्षय पर आए। उन्होंने राक्षसों की राजधानी लंकापुरी चारों ओर से विशाल आकार संकुल गूँघरी हुई देखी।

लंका के देखते ही रामचन्द्र की सेना को विजय सूचक शुभ शकुन हुए जिन्हसे राम लक्ष्मण को अत्यंत आनन्द हुआ। जब राम के ससैन्य आने का वृत्तान्त रावण को विदित हुआ तब उसे बड़ा क्रोध आया, परन्तु वह उनका कुछ नहीं कर सका।

इसी प्रसंग में एक दिन की बात है कि सीता तो अपनी रक्षा किये हुए धीरता के साथ वन में बैठी हुई थी। रात्रि के समय रावण भी वहीं पर पहुँचा और राक्षस, भूत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, सर्प, हाथी सिंह आदि भयंकर जीव जन्तुओं को गर्जना करते हुए दिखाए। पानी बरसाया, अग्नि की भयंकर ज्वाला प्रवर्धित की और बड़े-बड़े पर्वतों के फूटने जैसा घोर भयंकर शब्द किया। इस प्रकार उसने अनेक उपद्रव किये जिनके देखने और सुनने से बड़े बड़े वीर पुरुषों के हृदय काँप जाते हैं परन्तु तब भी जनकनंदिनी सीता ने अपने अखंड शीलव्रत को किंचित भी मलित नहीं होने दिया। उसने इन उपद्रवों से प्राण रहित हो जाना अच्छा समझा, पर रावण का आश्रय लेना अच्छा नहीं समझा। उसने अपनी रक्षा की प्रार्थना किसी से नहीं की। वह नराधम सीता का चित्त विचलित करने के लिए रात भर इसी प्रकार उपद्रव करता रहा परन्तु जनकनंदिनी के सुमेरु समान अचल चित्त को किंचित भी चलायमान नहीं कर सका। अंत में निराश होकर वह वहाँ से वापिस लौट आया। सीता की प्राप्ति न होने पर काम उसे अधिकाधिक अधीर और संतप्त करने लगा, परन्तु परवश से मन मारकर रहना पड़ा।

जब यह वृत्तान्त रावण के लघु भ्राता विभीषण को विदित हुआ तब उसे बड़ी करुणा आई। वह उसी समय सीता के निकट आया और बोला— माता! तुम क्यों रो रही हो? तब सीता ने अपनी समस्त दुःख भरी कथा कह सुनाई। सुनकर विभीषण को बड़ा दुःख हुआ। वह वहाँ सीता को धैर्य बंधा कर रावण के पास आया और उसने बोला—“हे पूज्य! आप तो स्वयं विद्वान हैं। यह आप भली प्रकार जानते हैं कि परस्त्री सेवन करने से अनेक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं अतएव मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप जिसकी स्त्री लाए हैं उसे उसके सुपुर्व कर दें तो बहुत अच्छा हो। ऐसा करने से हमारे कुल की कीर्ति प्रकट होगी। आप एकप्रचित्त होकर विचार करें। इसमें हमारी सलाह न होगी वरन

अपयश होगा। हे महाभाग ! अन्याय करने से न लाभ हुआ है और न होगा। सुख के लिए धर्म सेवन करना उचित है। धर्म से सीता ही क्या उससे भी कहीं अच्छी मनोज्ञ सुन्दरी स्वयमेव धर्मात्मा पृथ्वी को अपना पति बनाती है। मुझे आशा तथा दृढ़ विश्वास है कि आप इस बुरी घासना को अपने चित्त में पृथक् कर देंगे। देखिए, रामचन्द्र यहाँ पहुँचे हैं। वे अभी राजधानी से बाहर हैं। यदि आप उन्हें सीता को सौंप देंगे तो वे वहीं से प्रसन्न होकर लौट जाएंगे और कुछ झगड़ा भी नहीं होगा अन्यथा वे तो अपनी प्रिया को लेने आए ही हैं अतः उसे लेकर ही जाएंगे परन्तु इस अवस्था में अधिक हानि होने की संभावना है। अतएव परस्पर द्वेष न बढ़े तथा शान्ति हो जाए, तो बहुत अच्छा हो। शान्ति का एकमात्र उपाय सीता को वापिस देना ही है। यही मेरी आपसे प्रार्थना है। आगे आप जो योग्य सन्देश भी करें।”

विभीषण के समझाने का रावण के हृदय पर उल्टा असर पड़ा। उसे शान्ति के बदले क्रोध आ गया। वह विभीषण से बोला—“रे पापी, दुष्ट, नीच ! तू मेरा भाई होकर भी मेरा अपवाद करना है और रामचन्द्र जो कि न जाने कौन हैं, उनकी प्रशंसा करता है। तुझे मुख से कहे हुए वचन भी नहीं आती। मैं तेरे समान दुष्ट से इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहता और न तुझसे सम्बन्ध ही रखना चाहता हूँ। बस, खबरदार ! अब तूने मुख से कुछ शब्द निकाला तो, मेरी जैर डमो में है कि तू यहाँ से निकल जा। अब तुझे इस पुरी में रहने का अधिकार नहीं।”

विभीषण ने रावण के वाक्य सुनकर उत्तर में और कुछ न कह कर केवल इतना ही कहा कि “अच्छा ! आपकी जैसी इच्छा हो वैसा ही होगा। मैं भी ऐसी अनीति करने वाले राजा के अधिकार में नहीं रहना चाहता।”

इतना कह कर अपनी सब सेना को लेकर लंका से निकल गया और सुग्रीव से आकर भिना। उसने अपने आने की यथार्थ वार्ता कह सुनाई। सुनकर सुग्रीव अत्यधिक आनन्दित हुआ। उसी समय रामचन्द्र के पास जाकर बोला—“महाराज ! विभीषण रावण से लड़कर आया है।”

सुनकर रामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने विभीषण से मिलने की इच्छा प्रकट की सुग्रीव जा कर विभीषण को बुला लाया। रामचन्द्र और विभीषण को परस्पर कुशल वार्ता हुई। रामचन्द्र ने विभीषण को गले से लगाकर उससे पूछा—“लंकाधिराज अच्छी तरह तो हो। अब तुम सब चिन्ताओं को छोड़ो और विश्वास करो कि तुम्हें लंका का राज्य दिलाया जायेगा।”

विभीषण ने कहा—“जैसा आप विश्वास दिलाते हैं वैसा ही होगा क्योंकि महात्माओं के वचन कभी भूटे नहीं होते हैं जैसे बाहर निकला हुआ हृत्पी दांत फिर भीतर नहीं घुसता।”

रामचन्द्र ने फिर भी यही कहा—“तुम निश्चित रहो। सब अच्छा ही होगा।” वानरवंशियों को विभीषण के अपने पक्ष में मिलने से अत्यन्त हर्ष हुआ। सच है सत्पुरुष के मिल जाने से किमे आनन्द नहीं होता। जब विभीषण के रामचन्द्र से मिलजाने का वृत्तान्त रावण को मालूम हुआ तब वह भी उसी समय संग्राम के लिए उत्पर हुआ और अपने सूर वीरों को भी उत्पर होने की आज्ञा दी। स्वामी की आज्ञा पाते ही अतने वीर भोद्धा थे वे सब रावण के निकट आकर उपस्थित हुए। जब रावण ने देखा कि सब वीर लोग इकट्ठे हो गये हैं तो वह उसी समय अपनी सब सेना साथ लेकर बन्दी-जनों के द्वारा अपना यक्षोगान सुनता हुआ लंका से युद्ध के लिए चल पड़ा। उधर रामचन्द्र ने जब सेना का कोलाहल सुनकर यह जान लिया कि रावण भी सेना लेकर युद्ध भूमि में आ रहा है तब रामचन्द्र ने भी अपने वीरों को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही सेना तैयार हुई। तब वे

भी सेना लेकर युद्ध भूमि में आ पहुँचे। दोनों वीरों ने अपनी अपनी सेना को युद्ध करने की आज्ञा दी। अपने-अपने स्वामी की आज्ञा पाते ही दोनों ओर के योद्धाओं की मुठभेड़ हो गयी। घोर युद्ध होना प्रारम्भ हुआ। हाथी-हाथियों के साथ, घोड़े-घोड़ों के साथ, रथ-रथों के साथ और पैदल सेना अपने समान बालों के साथ भयंकरता से लड़ने लगीं। दोनों सेनाओं में बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। हाथी-हाथियों से, घोड़े-घोड़ों से, रथ-रथों से, पैदल सेना-पैदल सेनाओं से मारी गयी। इस भीषण युद्ध में राम की सेना ने रावण की सेना को व्याकुल करके भगा दिया। जब रावण ने देखा कि युद्ध से सेना भागी जा रही है तो यह स्वयं उठा और अपने भागते हुए वीरों को ललकार कर कहा—वीरो यह भागने का समय नहीं है। ठहरो! इन पामरों को धराशाई बनाकर विजय श्री प्राप्त करो। वे लोग कायर हैं जो युद्ध में पीठ दिखाकर भागते हैं। तुम ऐसे वीर होकर थोड़े से मनुष्यों की सेना से भयभीत होकर भागे जाते हो। क्या इसी का नाम वीरता है? युद्ध में पीठ दिखाकर अपने कुल को कलंकित मत करो वरन यश लाभ कर स्वर्ग प्राप्त करो।

यह कहकर वह अपने वीरों को साथ लेकर राम की सेना से आ भिड़ा। भिड़ते ही उसने अपने पराक्रम का विलक्षण परिचय दिया। उस समय राम की सेना रावण के प्रहार को सहन न कर दधर-उधर भाग निकली। यह देखकर लक्ष्मण को पूछने पर ज्ञात हुआ कि रावण के प्रहार को सहन न करने के कारण सेना भाग रही है तब उसने अपने वीरों को ललकार कर कहा—वीरो, भागो मत। तुम्हारा सेनापति अभी आगे होकर रावण को पराक्रम का परिचय कराये देता है। तुम अपनी आँखों से देखोगे कि रावण की क्या दशा होती है?

यह कहते हुए लक्ष्मण अपने वीरों को साथ लेकर युद्धभूमि में जा पहुँचे। दोनों वीर (राम और लक्ष्मण) ताल ठोककर युद्ध भूमि में उतर पड़े। मुष्टि प्रहार तथा अस्त्र-शस्त्र से दोनों का घोर युद्ध हुआ। इसमें लक्ष्मण ने रावण को व्याकुल कर दिया और उसके हाथी को गिरा दिया। उस समय रावण अपने हाथी को बेकाम जानकर नीचे उतर पड़ा और क्रोध के आवेश में आकर लक्ष्मण के ऊपर शक्ति चलाई। शक्ति व्यर्थ न जाकर लक्ष्मण के लगी। इससे वह मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। जब यह वृत्तान्त रामचन्द्र को मालूम हुआ तब वह लक्ष्मण के पास आए और लक्ष्मण को मूर्छित देखकर स्वयं भी मूर्छित होकर गिर पड़े, उनका शीतलोपचार किया गया। तब कुछ समय के बाद वे सचेत हुए। भाई की यह दशा देखकर उनको असह्य दुःख पहुँचा। युद्ध रूकवा दिया गया। रावण से रामचन्द्र ने कहा—हमारे भाई लक्ष्मण का चित्त अप्रसन्न है इससे युद्ध बन्द कर दिया जाय।”

राम के कहे अनुसार रावण ने युद्ध बन्द कर दिया। रावण यह समझकर कि मैं अब सर्वथा विजयी हो गया, मुझे अब किसी का भय नहीं है, अपनी राजधानी में जाकर सुखपूर्वक रहने लगा। इसी अवसर में अष्टाह्नि का पर्व आ गया। सब धर्म ध्यान में लग गये। किसी को युद्ध की चिन्ता न रही। उधर राम लक्ष्मण को युद्धभूमि से अपने डेरे पर ले गये। कुटिल रावण के भय से विद्याओं के द्वारा कटक की रक्षा का प्रबन्ध किया गया। रामचन्द्र को तो भाई के शोक में रोने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुझता था। उनकी यह दशा देखकर सुग्रीव आदि को बड़ी चिन्ता हुई। इससे उसने रक्षा का और भी सख्त प्रबन्ध किया। रामचन्द्र दुखी होकर भामंडल से बोले—तुम अपनी बहिन के पास जाओ और उससे कहो कि तुम्हारे लिए लक्ष्मण ने अपने प्राण दे दिए हैं और अब उनके साथ-साथ रामचन्द्र भी अग्नि में प्रवेश करेंगे। तुम अपनी कुल की रीति न छोड़ना।”

रामचन्द्र अधीर हो उठे। उनसे वह दुख सहा नहीं गया। वे रोकर कहने लगे—हाय ! मैं बड़ा पापी हूँ जो मुझे इस समय में ही यह यन्त्रणा भोगनी पड़ी। प्यारे भाई का मुझे विधोग हुआ। मुझे इस बात का और भी दुख है कि मैं विभीषण के सामने असत्यवादी हो जाऊँगा। यह मुझे क्या कहेगा ? जो हो, मैं उससे क्षमा चाहता हूँ। भाई विराधित ! तुम चिन्ता तैयार करो। भाई लक्ष्मण के साथ मैं भी अपनी जीवन लीला पूर्ण करूँगा। मैं बिना भाई के क्षणमात्र भी नहीं जी सकता। तुम सबसे मैं क्षमा चाहता हूँ।”

रामचन्द्र इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में एक विद्याधर ने आकर हनुमान से कहा—मैं लक्ष्मण के जीने का उपाय बताता हूँ। मेरा कहना सुनो।”

हनुमान ने प्रसन्न होकर उससे पूछा—तुम जल्दी उपाय बताओ। लक्ष्मण का चित्त बहुत खराब है। विशेष वार्तालाप के लिए समय न मिलने से मैं क्षमा मांगता हूँ।” वह बोला—कि एक बार मुझे भी शक्ति लगी थी तब उसे हटाने के लिए मुझपर विशल्या का जल छिड़का गया था अब भी जब कभी हमारे यहाँ किसी तरह की महामारी चलती है तब उसी के जल से शांति की जाती है। तुम भी वैसा ही करो।”

सुनकर हनुमान ने कहा—“विशल्या कहाँ रहती है ?” विद्याधर कहने लगा—द्रोण नाम का एक राजा है। वह भरत का मामा है। उसके विशल्या नाम की कन्या है। तुम उसके पास जाओ।”

यह सब वृत्तान्त हनुमान ने रामचन्द्र से आकर कहा। उत्तर में रामचन्द्र ने कहा—हो सके तो शीघ्र ही उद्यम करो। इसमें हमारी क्या हानि ? यह सुनकर इस कार्य को करने के लिए हनुमान और भामन्दल दोनों धीरे उद्यत हुए। वे उसी समय वहाँ से चलकर अयोध्या पहुँचे और अपने पर बीती हुई समस्त घटना भरत को कह सुनाई। सुनकर भरत को रावण की इस दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। वह रावण से युद्ध करने के लिए अपनी सेना को तैयार होने की आज्ञा देने लगा। तब हनुमान ने उसे समझाकर कहा—कि युद्ध की आशा करना अभी उचित नहीं है। प्रथम भ्रातृ जीवन का उपाय कीजिए वे तुम्हारे मामा द्रोण की विशल्या नामक पुत्री के स्नान किए हुए जल के सिंचन करने से जीवित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। अतएव प्रथम जल लाने का उद्योग कीजिए।

भरत ने कहा—अभी रात्री है। सूर्योदय होते ही मैं विशल्या का स्नानोदक ला दूँगा।

हनुमान ने कहा—आपने कहा वह तो ठीक है परन्तु लक्ष्मण के सूर्योदय होना अच्छा नहीं है क्योंकि जिसके शक्ति लग जाती है, यदि उसका प्रतिकार रात्री में ही कर दिया जाए तो अच्छा है नहीं तो सूर्योदय होने पर उसका जीना कठिन है। अतएव जहाँ तक हो सके अभी जल लाना उचित है। उठिए विमान उपस्थित है। मैं भी आपके साथ चलता हूँ।

भरत उठे और विमान में आरुढ़ होकर अपने मामा के यहाँ पहुँचे। सोते हुए राजा द्रोण को उठाया और उससे सब वृत्तान्त कहा। द्रोण ने उसी समय विशल्या को बुलवाया और कहा—बेटी ! लक्ष्मण शक्ति के आघात से मूर्च्छित पड़ा हुआ है अतः तू अपने शरीर का जल शीघ्र दे दे, जिससे वह सचेत हो सके। पिता के वाक्य सुनकर विशल्या ने विनीत होकर उससे पूछा—पिताजी ! लक्ष्मण कौन है ?

उत्तर में द्रोण ने कहा—बेटी ! लक्ष्मण दशरथ की रानी सुमित्रा का पुत्र तथा रामचन्द्र का लघु भ्राता है। रावण ने उस पर शक्ति मारी है अतएव हनुमान तुम्हारे शरीर का गंधोदक लेने आया

‘है। उसे बहुत शीघ्र दे दो क्योंकि सूर्योदय होना उसके लिए अमंगलकारक है।’

विशल्या ने कहा—पिताजी ! मैं आपसे अपनी वृष्टता की क्षमा प्रार्थी होकर निवेदन करती हूँ कि मैं लक्ष्मण के गुण सुना करती थी और उसी समय उस पर मुग्ध होकर उन्हें अपना जीवनेश समझ लिया था। आज अवसर है। मैं स्वयं ही उनके पास जाकर अपना कर्त्तव्य पालन करती हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिए।’

द्रोण ने सुनकर कहा—अस्तु ! जैसी इच्छा हो स्वीकार है।’

पिता की आज्ञा पाकर विशल्या विमान में आरुढ़ होकर हनुमान के साथ लक्ष्मण के पास जाने के लिए चल दी। वह जैसे जैसे लक्ष्मण के पास पहुँचने लगी शक्ति वैसे वैसे ही शरीर से निकलने लगी। विशल्या के लक्ष्मण के शरीर स्पर्श करते ही शक्ति शरीर से निकल भागी। लक्ष्मण की मूर्छा दूर हुई। तब वह एकदम यह कहता हुआ मारो-मारो, पकड़ो-पकड़ो रावण और भागने न पावे सचेत हो गया। सबको अत्यन्त हर्ष हुआ। सबने बड़ा भारी आनन्दोत्सव किया। तदन्तर विशल्या का समस्त वृत्तान्त लक्ष्मण को सुनाकर उसका इस महाभाग के साथ विधि पूर्वक पाणिग्रहण करा दिया। उधर रावण अष्टाह्निका पर्व आया जानकर बहुरूपी विद्या साधन करने के लिए जिन मन्दिर जाकर ध्यान लगाकर अपना अभीष्ट सिद्ध करने लगा। जब वह वृत्तांत रामचन्द्र को विदित हुआ तो वे अंगद से बोले—अब अवसर अच्छा है तुम जाओ और रावण की विद्या-सिद्धि में विघ्न करो।’

रामचन्द्र की आज्ञा पाते ही अंगद अपने साथियों को साथ लेकर जहाँ पर रावण विद्या साधन कर रहा था, वहीं वह पहुँचा और महान घोर उपद्रव करने आरम्भ कर दिए परन्तु धीरे धीरे रावण इन के उपद्रवों की कुछ भी चिन्ता न कर वैसे ही ध्यान में लगा रहा। तब अन्त में इनको निराश होकर वापिस अपने डेरे पर लौटना पड़ा। अनुष्ठान समाप्त होने पर रावण को विद्या सिद्ध हो गयी। वह उसके द्वारा अनेक प्रकार के रूप धारण करने लगा। लक्ष्मण जब अच्छे हो गये तब फिर रामचन्द्र ने रावण के पास युद्ध करने के लिए आमन्त्रण पत्र भेजा। वह उसी समय सेना लेकर रणक्षेत्र में आ उपस्थित हुआ। यह देखकर रामचन्द्र और लक्ष्मण भी अपनी सेना लेकर युद्धभूमि में आ पहुँचे। अपनी अपनी सेना को लड़ने की दोनों ने आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही दोनों सेनाओं में परस्पर घोर युद्ध हुआ। लक्ष्मण ने राम से कहा—पूज्य ! आप तो यहीं ठहरें। मैं अभी जाकर पापी रावण को निष्प्राण किए देता हूँ।’ लक्ष्मण के कहे अनुसार रामचन्द्र तो बाहर रहे और लक्ष्मण ने युद्धभूमि में प्रवेश किया। रावण और लक्ष्मण का भारी युद्ध हुआ। इस बार रावण लक्ष्मण को अपने सम्मुख बहुत देर तक युद्ध करते देखकर बड़ा क्रोधित हुआ। उसने क्रोधाग्नि से प्रज्वलित होकर लक्ष्मण पर अग्नि बाण चलाया। उसे लक्ष्मण ने मेघबाण से काट दिया। रावण ने सर्प बाण चलाया। लक्ष्मण ने उसे गरुड़ बाण से काट दिया। रावण ने फिर तामस बाण चलाया। उसे लक्ष्मण ने सूर्य बाण से रोक रखा। रावण दूसरा बाण छोड़ना ही चाहता था कि लक्ष्मण ने बड़ी फुर्ती से अपने अर्द्धचन्द्र बाण से उसका मस्तक छेदन कर दिया सिर कटते ही उसने दो मस्तक बनाए। लक्ष्मण ने इस बार दोनों सिर काट डाले। उसने चार सिर बना लिए। तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे रावण सिर बढ़ाता गया लक्ष्मण वैसे ही सिर काटता गया। यह देखकर रावण को बड़ा क्रोध आया। उस समय उसने अपूर्व शक्तिमान लक्ष्मण को साधारण उपायों से पराजित होता न देखकर क्रोधांध हो लक्ष्मण के ऊपर चक्र चलाया जिसकी हजारों देव सेवा करते रहते हैं। चक्र लक्ष्मण को कुछ भी हानि न पहुँचाकर उल्टा प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आ गया।

फिर लक्ष्मण ने उसी चक्र को अपने शत्रु पर चलाया। रावण के समीप पहुँचते ही चक्र उसे धारासार करके (मार के) उल्टा लक्ष्मण के हाथ में आ गया।

रावण के मरते ही सेना में हाहाकार मच गया। अनाथ सेना जिधर मार्ग निकला, उधर ही भाग निकली! युद्ध का अंत हुआ। विभीषण ने भाई का अग्नि संस्कार किया। संसार को यह लीला देखकर इन्द्रजीत, मेघनाद आदि उसी समय ज्वालीन होकर तपोवन में चले गये। उन्होंने उसी समय मायाजाल तोड़कर आत्महित का पथ जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी दिन से रामचन्द्र की कीर्ति पता-का संसार में फहराने लगी। लक्ष्मण ने चक्रवर्त्तन की पूजा की। विभीषण को लंका का राज्य दिया गया।

सब राक्षसवंशी रामचन्द्र से आकर मिले। आमंडल, सुग्रीव, हनुमान और विराधित आदि को राम की विजय का अत्यधिक आनन्द हुआ। तदनंतर रामचन्द्र जी सीताजी से आकर मिले। सीता ने स्वामी को नमस्कार किया। अपने प्यारे प्राणनाथ को पाकर जनकनंदिनी को जो हर्ष हुआ, वह लेखनी से नहीं लिखा जा सकता, वह अनुभव से ही जाना जा सकता है। बहुत दिन पश्चात् आज दोनों के विरह दुःख की इतिश्री हुई। रामचन्द्र ने सीता को फिर पाकर अपने को कृतार्थ माना। दोनों का सुख सम्मिलन हुआ। कुछ समय पश्चात् लक्ष्मण भी वहीं आ पहुँचा और सीता के चरणों में गिर पड़ा। सीता ने उसे उठाकर उसके कुशल समाचार पूछे। तब लक्ष्मण ने अपनी सारी कथा कह सुनायी।

रामचन्द्र और सीता के दिन पहले की तरह अब फिर सुख से जीतने लगे। जब रामचन्द्र का सुख चारों ओर अच्छी तरह फैल गया, तब बहुत से विद्याधर अच्छी-अच्छी वस्तुएँ उनको भेंट कर बड़े ही विनय के साथ उनसे मिले और उनकी अधीनता स्वीकार की। इस सुख में रामचन्द्र के बहुत से दिन आनन्द और उत्सव के साथ जीत गये। उन्हें समय का कुछ ध्यान नहीं रहा। रामचन्द्र ने चौदह वर्ष के लिए अयोध्या छोड़ी थी, आज वह अवधि समाप्त हुई। उन्हें अकस्मात् अपनी जन्म-भूमि की याद आ गयी। तब उन्होंने अच्छा दिन देखकर अयोध्या के लिए गमन किया। तब उनके साथ-साथ विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, विराधित आदि बहुत से बड़े-बड़े राजा इन्हें पहुँचाने के लिए अयोध्यापुरी तक आए। मार्ग में और भी बहुत से देशों को वशावर्त्ती कर दिग्विजयी होते हुए कुछ दिनों पश्चात् अयोध्या में आ पहुँचे।

रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता के आगमन का शुभ समाचार सुनकर अयोध्यावासियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने अपने महाराज के आगमन की खुशी में खूब जय-जयकार किया और बहुत आनन्द व उत्सव मनाया। महाराज भरत ने जब यह सुना कि रामचन्द्र आ गये तो उन्हें बहुत हर्ष हुआ और उनकी अगवाती करने को वे बहुत दूर तक आए और पहले ही पहुँचकर इन्होंने दोनों के चरणों की अभिवंदना की। रामचन्द्र ने भरत का आलिंगन कर उससे कुशल समाचार पूछे। एक के देखने से दूसरे को परम आनन्द हुआ। आज रामचन्द्र अयोध्या में प्रवेश करेंगे इसलिए समस्त नगरी खूब सजाई गयी। घर-घर आनन्द-उत्सव मनाया गया, दान दिया गया, पूजा-प्रभावता की गयी। वरिष्ठ अपाहिज लोग मनवांछित सहायता से प्रसन्न किये गये। रामचन्द्र आनन्दपूर्वक नगरी की शोभा देखते हुए अपने महल में पहुँचे। पहले माताओं से मिले। माताओं ने प्रेमवश होकर पुत्र की आरती उतारी। माताओं को इस समय अपने प्रिय पुत्र को पाकर जो आनन्द हुआ, उसका पता उन्हीं के हृदय को है। उस आनन्द की कुछ थोड़ी प्राप्ति दूसरे उसको हो सकती है जिस पर ऐसा भयानक प्रसंग आकर कमी पड़ा हो। सर्वसाधारण उनके उस आनन्द का, उस सुख का, साह नहीं पा सकते।

माता अपने बिछुड़े पुत्रों को पाकर बहुत आनन्दित हुई। पुत्रों को गले लगाया और शुभाशीर्वाद दिया। सध है—“जैसा स्नेह पुत्र पर माता को होता है वैसा किसी का नहीं होता।” उस प्रेम की तुलना किसी दृष्टांत या उदाहरण से नहीं दी जा सकती और जो देते हैं वे माता के आनन्द प्रेम को न्यून करने का यत्न करते हैं। तदनंतर रामचन्द्र अपनी प्रजा से प्रेमपूर्वक मिले। सबको बहुत दिन बिछुड़े हुए अपने महाराज के दर्शन कर बड़ा आनन्द हुआ। रामचन्द्र राज्य पालन करने लगे। इस खुशी में रामचन्द्र जी ने मित्र, भाई-बधु और विद्याधर आदि जितने अपने प्रेम-पात्र थे, उन्हें बहुत पुरस्कार देकर संतुष्ट किया। रामचन्द्र के शासन से प्रजा भी बहुत संतुष्ट रहने लगी। देखो! रामचन्द्र पर-स्त्री के पाप से रहित थे, इसलिए उनकी कीर्ति सब दिशाओं में विस्तृत हो गई और रावण इसी पर-स्त्री के पाप से मर कर नरक गया, इसलिए उसकी कीर्ति नष्ट हुई। उसके कुल में कलंक लगा और अंत में दूसरे के हाथ से उसकी मृत्यु हुई। सारांश यह है कि पर-स्त्री सेवन से दोनों लोक भिगड़ते हैं। हजारों वर्षों का उज्ज्वल सुयश एक क्षण-मात्र में नष्ट हो जाता है। शरीर रोगों का धर जीर्ण प्राय हो जाता है और फिर बुरी तरह मृत्यु हो जाती है, इसलिए हे बुद्धिमानों! पर-स्त्री से संसर्ग करना छोड़ दो।

जो पर-स्त्री के त्यागी हैं वे संसार में निर्भीक हो जाते हैं। उनकी कीर्ति सब जगह फैल जाती है। देखो, यही रावण त्रिखंड का स्वामी था। लंका जैसी पुण्यपुरी इसकी राजधानी थी और उसके प्रताप से बड़े-बड़े राजा-महाराजा डरते थे। आज उसी कीर की केवल पर-स्त्री हरण के पाप से यह दशा हुई तो और साधारण पुरुष इस पर-स्त्री-व्यसन से कितना दुःख उठाएंगे, यह अनुभव मैं नहीं माता और कुछ नहीं तो पर-स्त्री सेवन करने वालों को इस लोक में घनहानि और शारीरिक कष्ट और परलोक में नरक आदि कुगतियों के दुःख तो सहने ही पड़ते हैं। इसमें किसी तरह का संदेह नहीं है। वे मनुष्य नहीं हैं किंतु नीच हैं जो दूसरों की स्त्री से अपनी बुरी वासना पूरी करते हैं। झूठा खाने वाले कुत्ते हैं। भाइयो! पर-स्त्री सेवन सर्वथा निन्द्य है। इसे छोड़कर अपनी स्त्री में संतोष करो। यही धर्मत्मा होने की पहली सीढ़ी है। इसी प्रकार बहुत-सी कथाएँ पर-स्त्री के सम्बन्ध की हैं। इन सबका अभिप्राय केवल इस पाप प्रवृत्ति के छुड़ाने का है। कथा के पढ़ने का यही फल होना चाहिए कि उससे कुछ शिक्षा ली जाए। केवल पढ़ना किसी काम का नहीं है। वह तो तोते का सा रटना है। तात्पर्य यह है कि इन पापाचारों से होने वाली हानियों को विचार कर उसके छोड़ने में उद्यमशील बनो।

॥ इति परस्त्री व्यसनम् ॥

॥ इति पाक्षिक श्रावक वर्णन समाप्तः ॥

अथ नैष्ठिक श्रावक वर्णन प्रारम्भः—

देशयमभक्त्योपादि, क्षयोपशम भावतः।

आद्यो दर्शनिकास्त, नैष्ठिकः स्यात्सुलेश्यकः ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के क्षयोपशम होने से दर्शन प्रतिमा आदि को धारण करने वाला नैष्ठिक श्रावक कहा जाता है। उसके पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में से कोई लेश्या होती है।

भावार्थः—जो धर्मत्मा पाक्षिक श्रावक की क्रियाओं का साधन करके अर्थात् एकदेशसंयम को पालन करने का अभ्यास करके जिन शासन के अध्ययन द्वारा संसार शरीर भोगोपभोगों से विरक्त होने रूप वैराग्य वृक्ष को बार-बार सिंचन करता हुआ अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम होने से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के अनुसार निरतिशार श्रावक धर्म का निर्वाह करने में

तत्पर है उनको नैष्ठिक श्रावक कहते हैं। नैष्ठिक श्रावक के दार्शनिक आदि ग्यारह भेद हैं। जिनको ग्यारह प्रतिमा भी कहते हैं। अब इन ग्यारह प्रतिमाओं के नाम कहते हैं—

छंद

मृष्टया मूलगुणाष्टकं व्रतभरं सामायिकं प्रोषधं,
सच्चिताश्र विन व्यवयवन्नितारं भोषधिम्योमतात् ।
उच्छिष्टादपि भोजनाकवविरतिं प्राप्ताः क्रमात्प्रागुण,
प्रौढाया वशीनिकावयः सह भवंत्येकादशोपासकाः ॥

अर्थात्—दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषध प्रतिमा, सचित त्याग प्रतिमा, रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भ त्याग प्रतिमा, परिग्रह विरति प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा और उच्छिष्ट त्याग प्रतिमा इस प्रकार से ग्यारह प्रतिमा हैं। ये ग्यारह प्रतिमाएँ क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अनुक्रम से धारण की जाती हैं क्योंकि इस जीव के अनादि काल से अनादि कर्म सम्बन्ध के कारण आत्मीक स्वभावों के यथार्थ रूप जाने बिना पंचेन्द्रिय जनित विषय वासनाओं का जो अभ्यास हो रहा है तज्जनित असंयम एक साथ नहीं छूट सकता इसलिए क्रम क्रम से छोड़ने की परिपाटी बतलाई गई है इसलिए ही अगली अगली प्रतिमाओं में पहली पहली प्रतिमाओं के गुण अवश्य ही रहते हैं और वे उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं जैसे व्रत प्रतिमा में सम्यग्दर्शन और मूलगुणों की उत्कृष्टता रहती है। सामायिक प्रतिमा में सम्यग्दर्शन मूल-गुण और व्रतों की उत्कृष्टता रहती है इसी प्रकार सब प्रतिमाओं में पहली पहली प्रतिमाओं के गुण अधिकता से रहते हैं।

यथोक्तम्—

आर्या छंद

श्रावक पदानि देवरेकादश देशितानि खलु येषु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्निष्ठं ते कमविबुद्धा ॥

अर्थ—भगवान ने श्रावक के ११ स्थान कहे हैं। उनमें अपने-अपने स्थान के गुण पहली प्रतिमा के गुणों के साथ-साथ क्रम से बढ़ते हुए रहते हैं। इनमें से तीसरी पाँचवी सातवीं आदि उच्च कक्षा धारण करने वाले पहली, दूसरी, चौथी, छठी आदि नीचे की सब कक्षाओं के निरतिधार नियम धारण करने से ही वह उच्च कक्षा धारी कहला सकता है। यदि वह पहली, दूसरी, छठी आदि नीचे की सब कक्षाओं में अतिचार लगाए तो उसके पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी आदि की प्रतिमा गिनी जाएगी जैसे किसी मनुष्य ने स्व पर स्त्री सेवन आदि ब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग तो कर दिया परन्तु सामायिक, प्रोषध आदि प्रतिमा यथा योग्य पालन न करे तो उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारी नहीं कह सकते क्योंकि जिस प्रतिमा में जिस व्रत के पालन या जिस पाप के निराकरण की प्रतिज्ञा ली जाती है उसका निरतिचार पालन करना ही प्रतिमा कहलाती है अन्यथा केवल कौतुक मात्र है उससे कुछ भी फल नहीं होता क्योंकि नीचे के यथावत क्रम पूर्वक चरित्र साधन करने से ही विषय कषाय को मंदता होने से निजा-त्मीक सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है जो कि प्रतिमाओं के धारण करने का मुख्य प्रयोजन है। इन दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमाओं के धारियों के गृहस्थ, ब्रह्मचारी, भिक्षुक तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे भेद दिखलाते हैं—

षड्त्रा गृहिणो ज्ञेया, स्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः ।
भिक्षको ब्रौमतु निविष्टो, ततः स्यात्त्वर्ततोयति ॥

अर्थ—इन ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली छह प्रतिमाओं को धारण करने वाला गृहस्थ (जघन्य श्रावक) उसके पीछे नवमी तक तीन प्रतिमाओं को धारण करने वाला ब्रह्मचारी (मध्यम श्रावक) और अन्त की दो प्रतिमाओं को धारण करने वाला भिक्षुक (उत्तम श्रावक) कहलाता है। तथा इनके अनन्तर परिग्रह त्यागी मुनि होता है। अब इन प्रतिमाओं का संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है।

अथ दर्शन प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छन्द

सम्यग्दर्शन शुद्धः, संसार भोग निर्विणः ।

पञ्च गुण चरण शरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगुह्यः ॥

अर्थात्—जो संसार शरीर भोगों से विरक्त शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी केवल पञ्च परमेष्ठी के चरण कमलों का शरण ग्रहण करने वाला सत्यार्थ मार्ग ग्राही तथा तत्त्व अर्थात् व्रत का मार्ग अर्थात् निवृत्ति रूप अष्टमूल गुण का धारक है वह दार्शनिक श्रावक है।

भावार्थ—जो संसार शरीर और भोगोपभोग आदि इष्ट किंवदियों से विरक्त है। जिसने पाक्षिक श्रावक सम्बन्धी आचार आदि के पालन करने से अपना सम्यग्दर्शन निर्मल कर लिया है तथा अरिहंत, सिद्ध आदि पञ्च परमेष्ठियों के चरण कमलों का ही जिसको आश्रय है अर्थात् जो भारी आपत्ति आने पर भी उसके निवारण करने के लिए शासन देवताओं का आराधन नहीं करता है और मद्य आदि के निवृत्ति मूलगुणों के अतीचारों का अभाव करके निरतिचार पालनकर आगे को व्रतादि प्रतिमाओं के पालन करने में उत्कण्ठित है और जो अपने पद के अनुसार न्याय पूर्वक भाजीविका का करने वाला है वह दर्शन प्रतिमा का धारी दार्शनिक श्रावक है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—

पाक्षिकाचार सम्पत्त्या, निर्मलीकृत दर्शनः ।

विरक्ती भव भोगाभ्या, महंदादि पक्षाब्धकः ॥

मलात्मूलगुणानां निर्मूल्यन्नपिमोत्सुकः ।

न्यायां वास्तविषुः स्थित्यै, दधद्दर्शनिकोमतः ॥

इन श्लोकों का तात्पर्य पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार है।

अथ व्रत प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छन्द

निरतिक्रमणमनुव्रत, पञ्चकसपि शीलसप्तकं चापि ।

धारतये निःशल्यो, योऽसौ व्रतिनामतोव्रतिकः ॥

अर्थ—जो शल्य रहित होता हुआ सम्यग्दर्शन और मूलगुणों सहित निरतिचार पांच अनुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों को धारण करे वह व्रती श्रावक है।

भावार्थ—जो पुरुष उपभोग के आश्रय करने वाले अन्तरंग अतीचार और चेष्टा तथा क्रिया के आश्रय रहने वाले बहिरंग अतिचारों के रहित निर्मल अखंड सम्यग्दर्शन और मूलगुणों का धारक और शल्य रहित है, शल्य नाम बाण का है जो हृदय के लगे हुए बाण के समान शरीर और मन को दुःख देने वाला कर्मोदय जनित विकार हो उसे शल्य कहते हैं। शल्य के तीन भेद हैं—माया, मिथ्यात्व और निदान। मन में और वचन में और तथा कार्य में कुछ और ही करे, ऐसे पापों को गुप्त रखकर दूसरों के दिखाने तथा मान, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, लोभ आदि के अभिप्राय से व्रत धारण करना माया शल्य है।

धर्म के यथार्थ स्वरूप को न समझने से विपरीत श्रद्धान तथा संवेह रूप श्रद्धान करके व्रत धारण करने के अभिप्राय को न समझ दूसरों की देखा-देखी या और किसी विशेष अभिप्राय से व्रत धारण करना मिथ्यात्व शाल्य है ।

तपश्चरण, संयम आदि के साधन द्वारा आगामी काल में विषय भोगों की आकांक्षा अर्थात् इच्छा करना निदान शाल्य है ।

इन तीन शाल्यों से रहित होकर इष्ट-अनिष्ट पदार्थों से राग द्वेष के अभाव और साम्यभाव की प्राप्ति के लिए अतिचार रहित गुणों को अर्थात् बारह व्रतों के निर्दोष पालन करने वाले को दूसरी व्रत प्रतिमा का धारी कहते हैं ।

बारह व्रतों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) संकल्पी व्रत हिंसा का त्याग, (२) स्थूल असत्य का त्याग, (३) स्थूल चोरी का त्याग (४) स्वदार संतोष (५) परिग्रह (धन-धान्य आदि का) प्रमाण, (६) दशों दिशाओं में गमन क्षेत्र की मर्यादा (७) प्रतिदिन गमन क्षेत्र की अन्तर्मर्यादा, (८) व्यर्थ धावर हिंसा आदि का त्याग, (९) उचित भोगोपभोग का प्रमाण करना (१०) सामायिक (कुछ समय के लिए समस्त जीवों के साम्यभाव धारणकर ध्यानाखड़ होना), (११) पर्व तिथियों में उपवास आदि करना, (१२) पात्रों को भक्ति पूर्वक चतुर्विध दान देना ।

इस प्रकार ये पंचाणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर श्रावक के १२ व्रत कहलाते हैं । इन बारह व्रतों को पांच-पांच अतिचार रहित धारण करना व्रत प्रतिमा है । दार्शनिक श्रावक के अष्टभूलगुण के धारण और सप्त व्यसन त्याग के निरतिचार पालने से जो स्थूलपणे पंचाणुव्रतों का पालन होता था वह पंचाणुव्रत तो यहाँ निरतिचार पलते हैं और शेष तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत क्षेत्र की वाङ् के समान व्रत रूप क्षेत्र की रक्षा करते हैं ।

यथोक्तं धर्म संग्रह श्रावकाचारे

पंचाणुव्रत रक्षार्थं, पत्यते शील सप्तकम् ।

शस्य ब्रक्षेत्रं बृद्धयर्थं, क्रियते महती व्रतिः ॥

अर्थ—इनमें तीन गुणव्रत तो अणुव्रतों का उपकार अर्थात् गृहस्थ के अणुव्रत गुणों की वृद्धि करते हैं और चार शिक्षाव्रत मुनिव्रत धारणकराने का अभ्यास कराते हैं व शिक्षा देते हैं इसीलिए इनको शिक्षाव्रत कहते हैं । ये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत एवं सप्तशील अणुव्रतों को नसैनी की पंक्तियों के समान सहायक होकर महाव्रत रूप महल पर पहुँचा देते हैं यद्यपि व्रती जहाँ तक संभव हो वहाँ तक अतिचार नहीं लगाते हैं और उनकी अतिचारों से बचाने का प्रयत्न करते हैं तथापि इनमें विवश अतिचार लगते हैं क्योंकि यदि बारह व्रत, व्रत प्रतिमा में ही निरतिचार रूप में पालन हो जाएं तो धारण की सामायिक आदि प्रतिमाएँ निष्फल ही ठहरें क्योंकि सामायिक संज्ञक तीसरी प्रतिमा से उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमा पर्यन्त इन सप्तशीलों के निरतिचार पालन करने का ही उपदेश है । यथा-सामायिक प्रतिमा में सामायिक और चौथी प्रतिमा से प्रोषधोदास निरतिचार होते हैं इसी प्रकार सब प्रतिमाओं में सप्त शील निरतिचार होने से अणुव्रत महाव्रत की परिणति को पहुँच जाते हैं अतएव बारह व्रतों का द्वितीय प्रतिमा में ही निरतिचार होना कैसे संभव हो सकता है ?

अथ सामायिक प्रतिमा स्वरूप प्रारम्भ :—

आर्या छंद

चतुरावर्त्तं त्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितौ यथाजातः ।

सामयिको द्विनिषद्य, स्थियोगशुद्धस्थितसन्ध्यमभिवन्धी ॥

अर्थात्—जिसके आवर्त्त के चार त्रितय हैं और तीनों सन्ध्याओं में जो अभिवन्दना करता है उसे सामायिक संज्ञक तीसरी प्रतिमा का धारी कहते हैं ।

भावार्थ—प्रभात, मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों समय उत्कृष्ट छह घड़ी, मध्यम चार घड़ी और जघन्य दो घड़ी योग्यतानुसार नियमपूर्वक नियत समय पर तथा नियत समय तक ध्यान के डिगाने वाले कारणों से रहित निरुपद्रव एकांत स्थान में पद्मासन या खड्गासन से इन्द्रियों के व्यापार व विषयों से विरक्त होते हुए मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक सामायिक के आदि अन्त में चारों दिशाओं में एक-एक नमस्कार और चारों दिशाओं में नव णमोकार मंत्र अर्थ सहित तीन आवर्त्त (दोनों हाथों की अन्जलि जोड़कर दाहिने हाथ की ओर से तीन बार फिराना) और एक-एक शिरोनति (दोनों हाथ जोड़ नमस्कार) करे । तत्पश्चात् शरीर से निर्ममत्व होता हुआ स्थिर चित्त करके सामायिक के वन्दना आदि पाठों का पंच परमेष्ठी तथा आत्मा के स्वभाव विभावों का चितवन और अपने आत्म स्वरूप में उपयोग स्थिर करने का अभ्यास करे, इस प्रकार यह सामायिक संज्ञक तीसरी प्रतिमा होती है ।

अथ प्रोषध प्रतिमा स्वरूप प्रारम्भ :—

आर्या छन्द

पर्वविनेषु चतुष्पर्वणि, मासे-मासे स्वशक्तिसमिग्रहाः ।

प्रोषधनियमविधायी, प्रणधिवरः प्रोषधानशनः ॥

अर्थात्—जो महीने-महीने चारों ही पर्वों के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर शुभध्यान में तत्पर होता हुआ आदि अन्त में प्रोषधपूर्वक उपवास करे वह प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी है ।

भावार्थ—तीसरी प्रतिमा का धारण करने वाला जब प्रत्येक अष्टमो चतुर्दशी के दिन नियम-पूर्वक यथा-शक्ति जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद रूप प्रोषधोपवास (एक बार भोजन करने को एकाशन कहते हैं सर्वथा भोजन पान का त्याग कर देना उपवास और धारणा तथा पारणे के दिन एकाशन करके बीच के पर्व दिन में सोलह पहर सर्वथा चार प्रकार के आहार के त्याग करने को प्रोषधोपवास कहते हैं) कर समस्त प्रारम्भ और विषय छोड़ कषाय की निवृत्तिपूर्वक धर्मध्यान में सोलह पहर व्यतीत करता है तब उसे प्रोषधोपवास संज्ञक चतुर्थ प्रतिमा का धारी कहते हैं ।

अथ सच्चित्त त्याग प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छन्द

मूल फल शाक शाखा, करीर कंद प्रसून बीजानि ।

नामानियो अस्ति सोऽयं, सच्चित्त चिरतोदयामूर्तिः ॥

अर्थ—जो कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर (गांठ अथवा खैर) जिभीकंद, पुष्प और बीज नहीं खाता है वह दयामूर्ति सच्चित्त त्याग प्रतिमा का धारी भावक है ।

भावार्थ—जब वह दयालु पुरुष श्री जिनेन्द्र देव की आज्ञा और प्राणियों की दया पालते हुए धर्म पालन में तत्पर होता हुआ अति कठिनता से जीती जाने वाली जिह्वा इन्द्रिय को दमन कर कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कंद, पुष्प, बीज, अप्राशुक जल आदि सच्चित्त (जीव सहित) पदार्थों के

भक्षण करने का त्याग कर देता है तब उसे सचित्त त्याग नामक पंचम प्रतिमा का धारी कहते हैं ।

अथ दिवा मैथुन व रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छन्द

अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नारनातियो विभावयाम् ।

स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेवनुकम्पमानमनाः ॥

अर्थ—जो जीवों पर दया रूप चित्त वाला होता हुआ अन्न (रोटी, दाल, चावल आदि पदार्थ) पान (दधि, जल, शर्बत आदि पदार्थ) खाद्य (फल, अंड, पौष्टिक आदि) लेह्य (रबड़ी आदि चाटने योग्य वस्तु) इस प्रकार चार प्रकार के पदार्थों को रात्रि में ग्रहण नहीं करता है वह रात्रि भुक्ति त्याग नामक प्रतिमा का धारी है ।

भावार्थ—इस प्रतिमा का शास्त्रों में दो प्रकार से वर्णन किया है । एक तो कारित अनुमोदना से रात्रि भोजन का त्याग और दूसरे दिवा मैथुन का त्याग । यद्यपि रात्रि भोजन का त्याग तो सातिचार प्रथम प्रतिमा में हो जाता है और प्रचुर आरम्भ जनित असहिष्णुता की अपेक्षा व्रत प्रतिमा में होता है परन्तु यहाँ पर पुत्र, पौत्र आदि कुटुम्ब तथा अन्य जनों के निमित्त से कारित, अनुमोदना सम्बन्धी जो अतिचार लगते हैं उनके यथावत् त्याग की प्रतिज्ञा होती है और इसके अतिरिक्त इस प्रतिमा वाला मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना से दिवा मैथुन का त्याग कर देता है तब उसे रात्रि भुक्ति त्यागी कहते हैं ।

यथोक्त—

अन्ये चाहुर्दिवा ब्रह्मचर्यं, चानशनं निशि ।

पालयेत्स भवेत्षष्ठः, श्रावको रात्रि भुक्तिः ॥

अर्थ पूर्वोक्त आशयानुसार है ।

अथ ब्रह्मचर्य प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छन्द—

मलबीजं मलयोमि, गलन्मलं पूतिगन्धिबीभत्सं ।

पश्यन्नंगमनंग, द्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥

अर्थ—जो मल का बीज भूत, मल को उत्पन्न करने वाले, मल प्रवाही, दुर्गन्धियुक्त, लज्जाजनक अथवा ग्लानियुक्त अंग को देखता हुआ काम सेवन से विरक्त होता है वह ब्रह्मचर्य नामक प्रतिमा का धारी ब्रह्मचारी है ।

भावार्थ—रात्रि भुक्ति और दिवा मैथुन त्यागी स्त्री के शरीर को मल का बीजभूत मल को उत्पन्न करने वाला, मल प्रवाही दुर्गन्धियुक्त, लज्जाजनक जानता हुआ स्व-स्त्री तथा परस्त्री अर्थात् स्त्रीमात्र में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से काम सेवन तथा काम सम्बन्धी अतिचार त्यागकर ब्रह्मचर्य व्रत में आरुढ़ होता है तब ब्रह्मचर्य संज्ञक सप्तम प्रतिमा का धारी कहा जाता है ।

अथ आरम्भ त्याग प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छन्द—

सेवाकृषि बाणिज्य, प्रमुखादारम्भतो व्यपारमति ।

प्राणानिपातहेतोर्यो, साधारम्भविनिवृत्तः ॥

अर्थ—जो जीव हिंसा के कारण नीकरी, खेती, व्यापार आदि के आरम्भ से विरक्त होता है वह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी है।

भाषार्थ—ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारी जब हिंसा से अति भयभीत होकर आरम्भ (जिन क्रियाओं में षट्काय के जीवों की हिंसा हो वह आरम्भ है) को परिणामों में विकलता उत्पन्न करने वाला जानकर हिंसा के कारण भूत गृह सम्बन्धी षट्कर्म व कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ मन, वचन, काय से त्याग कर देता है तब उसे आरम्भ संज्ञक प्रष्टम प्रतिमा का धारी कहते हैं।

अथ परिग्रह विरति नाम नवमी प्रतिमा का स्वरूप—

आर्या छन्द

बाह्यं पुद्गलवस्तुषु, ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।

स्वस्थः संतोषपरः, परिचित्परिग्रहाद्विरतः ॥

अर्थ—जो बाह्य के दश परिग्रहों में ममता को छोड़कर निर्ममत्व होता हुआ माया आदि रहित स्थिर और संतोष वृत्ति धारण करने में तत्पर है वह परिचित परिग्रह से विरक्त है।

भाषार्थ—जो आरम्भ त्यागी आत्महितेच्छुक धार्मिक आश्रय राग द्वेष आदि आभ्यन्तरिक परिग्रहों की मंदतापूर्वक घन-धान्य आदि दश प्रकार के परिग्रह से ममत्व त्यागे अतिप्रयोजनीय शीतोष्ण बाधा दूर करने निमित्त वस्त्र, जल पात्र व भोजन पात्र आदि तुच्छ परिग्रह रखकर शेष सबसे ममत्व त्याग गृहास्थाश्रम का भार पुत्र, भाई, भतीजे आदि को सौंपकर क्षमा भावपूर्वक धर्म साधन की आज्ञा लेकर किंचित् काल पर्यन्त गृह में ही निवासकर धर्म सेवन करता है उसे परिग्रह त्याग संज्ञक नवमी प्रतिमा का धारी कहते हैं।

अथ अनुमति त्याग प्रतिमा स्वरूप वर्णनम् :—

आर्या छन्द—

अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे वैहिकेषु कर्मेषु वा ।

मास्ति कलु तस्य समधीरनुमतिविरतः स भक्तव्यः ॥

अर्थ—जिसकी आरम्भ तथा परिग्रह में इस लोक सम्बन्धी कार्यों में अनुमति नहीं है वह समान बुद्धि वाला निश्चय करके अनुमति त्याग प्रतिमा का धारी मानने योग्य है।

भाषार्थ—जो परिग्रह त्यागी आश्रय सांसारिक आश्रय कर्म विवाह आदि यथा अग्नि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि षट् प्राणीवी कर्मों और चूला, चक्की आदि पंचसूत सम्बन्धी आरम्भ क्रियाओं के करने की आज्ञा, सम्मति नहीं देता, अनुमोदना नहीं करता उसे समान बुद्धि वाला अनुमति त्याग प्रतिमा का धारी कहते हैं। वह उदासीनता पूर्वक कुटुम्बी जनों से पृथक् एकान्त निज स्थान चैत्यालय, मठ, मण्डप तथा धर्मशाला में निवास कर धर्म सेवन करता हुआ कुटुम्बी अथवा अन्य किसी सब गृहस्थ के दुला ले जाने पर उनके यहाँ भोजन कर आता है परन्तु पहले से किसी का निमन्त्रण (न्योता) नहीं मानता और अपने अन्तराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार सरस, विरस, खट्टा नमकीन, मीठा आदि जैसा भोजन प्राप्त हो उससे उबर पोषण कर संतुष्ट रहता है। इस प्रकार के धर्म सेवन करने वाले गृहस्थ को दशमी प्रतिमा वाला अनुमति त्यागी कहते हैं।

अथ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा स्वरूपः—

आर्या छन्द—

गृहस्थो मुनिव्रतमित्रा, गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।

भक्ष्याशनस्तपस्य, उत्कृष्टश्चैलखण्ड धरः ॥

अर्थ—जो घर से मुनिव्रत को प्राप्त होकर गुरु के निकट व्रत धारण करके तप करना हुआ भिक्षा भोजन करता है वह खण्ड वस्त्र का धारी उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक व अहिलक (ऐलक) है ।

भाषार्थ—जब अनुमति त्याग, श्रावक चारित्र्य मोहनीय कर्म के मंद हो जाने से पंचाचार प्राप्ति एवं रत्नत्रय की शुद्धता के निमित्त गृहवास त्याग व्रत में जाकर गुरु के निकट उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा धारण करता है और अपने लिए किए हुए भोजन, शयन, आसन, उपकरण आदि का त्याग कर देना है उसे ग्यारहवीं प्रतिमा वाला उद्दिष्ट त्यागी कहते हैं । इस प्रतिमा का धारण करने वाला श्रावक मुनि के समान मन, वच, काय, कृत, कारित, अनुमोदना सम्बन्धी दोष रहित भिक्षाचरण पूर्वक याचना रहित निर्दोष शुद्ध आहार गृहस्थों ने जो स्वतः अपने लिए आरम्भ करके बनाया हो उस ही को ग्रहण करता है भोजन के लिए किसी के बुलाने से नहीं जाता किन्तु भोजन के समय गृहस्थों के घर जाकर उनके आँगन में खड़े होकर अपना आगमन जताकर यदि वे भक्ति पूर्वक आहार करायें तो आहार करता है अन्यथा अति शीघ्र वहाँ के लौट जाता है और इसी प्रकार से जिस गृहस्थ के भोजन हो जाए वहाँ से लौटकर वन में जा पुनः धर्म सेवन में तत्पर होता है । इस ग्यारहवीं प्रतिमा वाले उद्दिष्ट विरत श्रावक के दो भेद होते हैं—प्रथम क्षुल्लक श्रावक श्वेत कोपीन (लंगोटी) और ओढ़ने के लिए एक खंड वस्त्र जिससे सिर ठके तो पाँव उधड़े रहे और पाँव ठके तो सिर उधड़ा रहे और मल मूत्र आदि शारीरिक अशुद्धियों को दूर करने के लिए प्राशुक जल सहित कमण्डलु रखते हैं जल पानार्थ नहीं तथा जीव दया निमित्त स्थान संशोधन के लिए मयूर पिच्छिका व पठन-पाठन के लिए पुस्तक रखते हैं और दाढ़ी मूछ तथा सिर के बालों को कैंची व उस्तरे से किसी दूसरे मनुष्य से कटवाते हैं, काँख के बाल बनवाने का निषेध है ।

दूसरा ऐलक कोपीन, पीछी और कमण्डलु मात्र रखते हैं तथा गृहस्थ के द्वारा अपने हाथ में समर्पण किये हुए भोजन को शोधकर खाते हैं, थाली आदि किसी व्रतन में नहीं यह अपने दाढ़ी मूछ और सिर के बालों का उत्कृष्ट दो मास, मध्यम तीन मास और जघन्य चार मास में लोच करते हैं अर्थात् अपने हाथों से उखाड़ डालते हैं और आत्म ध्यान में सदैव तत्पर रहते हैं । उद्दिष्ट त्यागी को शास्त्रों में मुनि का लघु आत्मा कहा जाता है अतएव हिंसा आदि पापों के पूर्ण रूप से त्याग करने रूप परिणामों में आसक्त उत्कृष्ट श्रावक को ग्यारहवीं प्रतिमा का अभ्यास कर अन्त में अवश्यमेव मुनिव्रत धारण करने चाहिये । इस प्रकार श्रावक धर्म को पालन करने वाले भव्य जीव यथायोग्य नियम के सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त जाकर महर्द्धिक व इन्द्रादिक उच्च पदस्थ देव होते हैं ।

यथोक्तं धर्म संग्रह श्रावकाचारे—

एष निष्ठापरो भव्यो, नियमेन सुरालयम् ।

गच्छत्यच्युतपर्यन्तं क्रमशः शिवमंदिरम् ॥

अर्थ—इस प्रकार निष्ठा (प्रतिमाओं के पालन) में तत्पर यह भव्यात्मा नियम से अच्युत विमान पर्यन्त जाता है और क्रम से भोक्ष को प्राप्त होता है । क्योंकि जिस जीव के देवायु के अतिरिक्त अन्य

आयु बन्ध हो जाता है उसके परिणामों में देशव्रत धारण करने की रुचि और अनुष्ठान करने योग्य शुद्धता उत्पन्न होती ही नहीं। इस कारण शाश्वत रूप वाली अमर जीवों के निगम पूर्वक कल्पवासी देवायु का ही बन्ध होता है अतएव व्रती श्रावक निश्चय से देव पर्याय पा वहाँ से चय मध्य लोक में कान्ति, प्रताप, वीर्य, कीर्ति, कुल वृद्धि, विजय विभव का अधिपति हो मौडलिक, चक्रवर्ती आदि उत्कृष्ट पद पाकर मुनिव्रत धारण कर निष्कर्म होकर अनन्तकाल स्थायी मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।

। इति एकादश प्रतिमा स्वरूप ।

अथ साधक श्रावक वर्णन प्रारम्भ :—

वेहाहारे हितत्यागात्, ध्यानशुद्धयात्मशोधनम् ॥

यो जीवितं से संग्रोतः, साधयत्येष साधकः ॥

अर्थ—जो व्रती श्रावक शरीर भोगों से निर्ममत्व होकर चार प्रकार के आहार का त्याग कर मन, वचन, काय की क्रियाओं के निरोध से उत्पन्न हुए आद्र रौद्र रहित एकाग्र चित्त निरोध रूप विशुद्ध ध्यान से मरण के अन्तिम समय में जो अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को शुद्ध करता है, अर्थात् मोह, राग द्वेष को छोड़कर जो अपनी आत्मा के ध्यान करने में तल्लीन है उसको साधक श्रावक कहते हैं। भावार्थ जो व्रती श्रावक सस्लेखनाभरण करने का उत्साही, विषय कषाओं को मंदतापूर्वक यथासंभव अपनी पदवी अर्थात् समय पालन करने के प्रतिमा आदि स्थानों को सम्यक प्रकार पालन करता है तथा जो श्रावक अनिवार्य उपाय रहित उपसर्ग आने पर, बुढ़ापा आने पर व असाध्य रोग होने पर आत्म कल्याण के लिए सांसारिक शरीर भोगों से विरक्त होकर राग द्वेष सम्बन्ध और बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह को त्यागकर अर्थात् अपनी आत्मा से पृथक् पर पदार्थों से ममत्व (मोह) त्यागकर शांत परिणाम युक्त अपने और उत्साह को प्रगट करके संसार के दुख रूपी संताप को दूर करने वाले अमृत के समान जिन श्रुत के पाठों का पठन, श्रवण करता हुआ विलकुल क्रम-क्रम से आहार, दुग्ध आदि का त्याग कर, मन, वचन, काय की एकाग्रता से शांत परिणाम युक्त परमात्मा व स्वात्मा का चिंतन करते हुए शरीर रूप गृह का त्याग करता है उसे साधक श्रावक कहते हैं।

यथोक्तं धर्म संग्रह श्रावकाधारे—

शोद्धन्ते सन्यासमावाय, स्वात्मानं शोधयेद्यदि ।

तदा साधनमापन्नः साधकः श्रावको भवेत् ॥

अर्थ—जो वैष्टिक श्रावक मरण समय में सन्यास को ग्रहण करके यदि अपनी आत्मा को शुद्ध करे तो उस समय साधन दशा को प्राप्त होता हुआ श्रावक साधक कहा जाता है।

इति साधक श्रावक वर्णनम् ।

अथ लोकाधिकारः ।

लोक स्वरूप वर्णनः—

इस अनन्तानन्त आकाश के बीचों बीच अनादि निघन घनोदधि वातवल्लय, घन वातवल्लय और तनुवातवल्लय नामक तीन वातवल्लयों से वेष्टित (घिरा हुआ) आकाश के प्रदेशों में निराधार लोक स्थित है। वास्तव में तो लोक एक ही है परन्तु व्यवहार में ऊर्ध्व (ऊपर) का मध्य (बीच का) भेद करके लोक को तीन लोक रूप कहते हैं। यह लोक नीचे से सात राजू चौड़ा और सात ही राजू लम्बा है और ऊपर से एक राजू चौड़ा और सात राजू लम्बा है। मध्य में से कहीं घटता हुआ जिस प्रकार मनुष्य अपने

दोनों हाथ कमर पर रखकर पैर चौड़े करके खड़ा हो जाए उस आकृति के सदृश नीचे से ऊपर तक तीनों लोक चौदह राजू ऊँचे हैं। इस का विशेष इस प्रकार जानना कि लोक को मोटाई उत्तर और दक्षिण दिशा में सर्वत्र सात राजू है। चौड़ाई पूर्व और पश्चिम दिशा में मूल में सात राजू है। फिर ऊपर को क्रमशः घटता-घटता सात राजू की ऊँचाई पर मध्य लोक में एक राजू चौड़ाई और फिर अनुक्रम से बढ़ता-बढ़ता साढ़े तीन राजू की ऊँचाई पर अर्थात् प्रथम सात राजू मिलाकर ये साढ़े दस राजू की ऊँचाई पर ब्रह्म लोक (पाँचवाँ स्वर्ग) के पास पाँच राजू चौड़ा है फिर पंचम स्वर्ग से क्रमशः घटता-घटता चौदह राजू की ऊँचाई पर अर्थात् अन्त में एक राजू चौड़ा है और उर्ध्व तथा अधोदिशा में ऊँचाई चौदह राजू है।

राजू का प्रमाण:—

इस मध्य लोक में (जिसे लोग पृथ्वी कहते हैं) पच्चीस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पत्य के जितने समय होते हैं उतने ही द्वीप समुद्र एक-दूसरे को बलयाकार घेरे हुए हैं। इन सबके बीच में जम्बू द्वीप एक लक्ष योजन व्यास लिए गोलाकार है। इसको घेरे हुए लवण समुद्र दो लाख योजन चौड़ा है। इस प्रकार दुगनी-दुगनी चौड़ाई लिए सब द्वीप समुद्र हैं। जितना लम्बा क्षेत्र सब द्वीप समुद्रों का दोनों तरफ का हो वह ही राजू का प्रमाण है क्योंकि मध्य लोक एक राजू पूर्व-पश्चिम है। इसको दूसरे प्रकार से ऐसे भी कह सकते हैं कि कोई देव पहले समय एक लाख योजन, दूसरे समय दो लाख योजन गमन करे, इस प्रकार प्रति समय दुगना-दुगना गमन करता हुआ अठ्ठाई सागर अर्थात् पच्चीस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पत्य के जितने समय हों उतने समय पर्यन्त बराबर चला जाए तब आधा राजू हो, इसे द्विगुणा करने से जो क्षेत्र हो वही एक राजू का प्रमाण है। इति ॥

घनोदधि वातबलय, घन वातबलय और तनुवातबलय ये तीन वातबलय जैसे वृक्ष के सर्वत्र छाल लिपटी होती है अथवा शरीर के ऊपर सर्वांग चाम होती है ऐसे तीन लोक को तीन वातबलय सर्वत्र वेष्टित किए हुए हैं। वहाँ घनोदधि वातबलय जल और जल पवन मिश्रित है। दूसरा घन वातबलय अधिक पवन का है और तीसरा तनुवातबलय अल्प पवन का है।

वातबलयों की मोटाई का वर्णन—

लोक के नीचे से लेकर एक राजू की ऊँचाई पर्यन्त तीनों वातबलयों की मोटाई बीस-बीस हजार योजन की है। तीनों मोटाई जोड़कर साठ हजार योजन हुई। इससे ऊपर मध्यलोक पर्यन्त घनोदधि वात सात योजन का, दूसरा घनवात पाँच योजन का और तनुवातबलय की चार योजन की मोटाई है। ऐसे तीनों वातबलय सोलह योजन के मोटे मध्य लोक पर्यन्त चले आए हैं और मध्य लोक के पार्श्वभाग में पहला घनोदधि वातबलय पाँच योजन का, दूसरा घन वातबलय चार योजन का, तीसरा तनु वातबलय तीन योजन का ऐसे बारह योजन के मोटे हैं।

मध्यलोक में पंचम स्वर्ग पर्यन्त पहला घनोदधि वातबलय सात योजन दूसरा घन वातबलय पाँच योजन का और तीसरा तनु वातबलय चार योजन का ऐसे तीनों सोलह योजन के मोटे हैं और पंचम स्वर्ग से लोक के ऊपर अन्त पर्यन्त घनोदधि वातबलय पाँच योजन का, दूसरा घन वातबलय चार योजन का और तीसरा तनु वातबलय तीन योजन का ऐसे तीनों बारह योजन के मोटे हैं और लोक के शीश पर घनोदधि वात की मोटाई दो कोश की, घन वात की मोटाई एक कोश की और तीसरे तनु वात की मोटाई पौने सोलह सौ धनुष की है। सब लोक को पहले घनोदधि वातबलय ने घेरा है, घनोदधि वात-

वल्लभ को घन वात में और घन वात को तनु वात में घेरा है। ऐसे तीन वातावलयों से वेष्टित अनन्त-नन्त आकाश के बीचों-बीच अनादि निधन तीन सौ तैंतालीस घन राजू प्रमाण पुरुषाकार (जिस प्रकार मनुष्य अपने दोनों हाथ कमर पर रखकर पैर चौड़े करके खड़ा हो जाए उस आकृतिवाला) लोक स्थित है। इस लोक के बिलकुल मध्य चौदह राजू ऊँची, एक राजू चौड़ी, एक राजू लम्बी चौकोर स्तम्भाकार अस नाड़ी है। इसको अस नाड़ी इस कारण से कहते हैं कि स्थावर जीव तो अस नाड़ी के बाहर भी तीनों लोकों में भरे हुए हैं परन्तु अस जीव देव, नारकी, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि तथा जलचर: मीन, मत्स्य आदि अस नाड़ी के बाहर कोई नहीं है। इसी कारण यह अस नाड़ी कहलाती है और न कोई जीव अस नाड़ी से बाहर ही जा सकता है किन्तु उपपाद और मरणान्तिक समुद्घात वाले अस तथा केवल समुद्घात वाले भी अस नाड़ी के बाहर कदाचित् रहते हैं।

यह इस प्रकार से कि लोक के अन्तिम वातवलय में स्थित कोई जीव मरण करके विग्रह गति द्वारा अस नाली में अस पर्याय से उत्पन्न होने वाला है वह जीव जिस समय में मरण करके प्रथम समय में मोड़ा लेता है उस समय में अस पर्याय को धारण करने पर भी असनाली के बाहर रहता है इसीलिए उपपाद की अपेक्षा अस जीव अस नाड़ी के बाहर रहता है इस प्रकार अस नाली में स्थित किसी अस ने मरणान्तिक समुद्घात के द्वारा अस नाली के बाहर के प्रदेशों का स्पर्श किया क्योंकि उसको मरण करके वहीं पर उत्पन्न होता है तो उस समय में भी अस जीव का अस्तित्व असनाली के बाहर पाया जाता है। इसी प्रकार जब केवली के केवल समुद्घात के द्वारा अस नाली के बाह्य प्रदेशों का स्पर्श करते हैं उस समय में भी अस नाली के बाहर उस जीव का सद्भाव पाया जाता है परन्तु इन तीन कारणों के अतिरिक्त अस जीव अस नाली के बाहर कदापि नहीं जा सकता।

चौदह घन राजू में अस नाली है उसमें नीचे निगोद में एक राजू में तथा सर्वार्थ सिद्धि से ऊपर अस जीव नहीं है। बाकी कुछ कम तेरह राजू अस नाली में अस जीव भरे हुए हैं और स्थावर भी भरे हुए हैं और तीन सौ उनतीस घन राजू में स्थावर लोक है। ऐसे सब तीन सौ तैंतालीस घन राजू में लोक है। एक राजू लंबे, एक राजू चौड़े और एक राजू ऊँचे को घन राजू कहते हैं। यदि इस लोक के ऐसे-ऐसे खंड-खंड बनाए जाएं तो समस्त तीन सौ तैंतालीस खंड होते हैं जैसे सात राजू चौड़ाई नीचे, एक राजू चौड़ाई मध्यलोक में, दोनों का जोड़ आठ राजू हुआ। इसके आधे चार को सात राजू लम्बाई सात राजू ऊँचाई से गुणा करके— $4 \times 7 \times 7 = 196$ घन राजू अधः लोक हुआ। फिर एक राजू मध्य लोक की चौड़ाई में पाँच राजू ब्रह्म स्वर्ग के पास की चौड़ाई जोड़ी तो छह राजू हुई। इसकी आधी तीन राजू को साढ़े तीन राजू ऊँचाई सात राजू लम्बाई से गुणाकर— $3 \times 3\frac{1}{2} \times 7 = 73\frac{1}{2}$ साढ़े तिहत्तर राजू हुए। इतना ही घनफल ब्रह्म स्वर्ग से सिद्धशिला तक हुआ तो मध्य लोक से पंचम स्वर्ग तक का पंचम स्वर्ग से सिद्धालय तक का दोनों घनफल जोड़ कर एक सौ तैंतालीस घनफल हुआ। ऐसे $196 + 148 =$ सब तीन सौ तैंतालीस घन राजू हुए।

इति लोकस्वरूप वर्णनम् ।

अथ अधःलोक विवरण प्रारम्भ

मेरु के नीचे अधः लोक में क्रमशः एक के नीचे दूसरी, दूसरे के नीचे तीसरी, इसी प्रकार नीचे-नीचे रत्नप्रभा (घर्मा) १, शर्कराप्रभा (बंशा) २, वालुकाप्रभा (मेघा) ३, पंकप्रभा (अंजना) ४, धूमप्रभा (अरिष्टा) ५, तमःप्रभा (मघवी) ६, महातमः प्रभा (माघवी) ७, ऐसे नारकियों के निवास स्थान सात भूमियाँ हैं। रत्नप्रभा आदि भूमियों के नाम तो गुणों के अनुसार हैं और घर्मा, बंशा रुद्रि नाम

जानने चाहिए । प्रथम नरक रत्नप्रभा वा घर्मा भूमि की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है । उसके तीन भाग हैं — उनमें से सोलह योजन मोटा पहला खर भाग है उसमें विश्वा, वज्रा, वैडूर्य आदि एक-एक हजार योजन की मोटी सोलह पृथ्वी हैं । इनमें से ऊपर नीचे की एक-एक हजार योजन की दो पृथ्वी छोड़कर बीच की चौदह हजार योजन मोटी और एक राजू लम्बी-चौड़ी पृथ्वी में किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, भूत और पिशाच इन सात प्रकार के व्यंतर देवों के तथा नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार इन नव प्रकार के भवनवासी देवों के निवास स्थान हैं । खरभाग के नीचे चौरासी हजार योजन मोटा पंक भाग है उसमें असुरकुमार और राक्षसों के निवास स्थान हैं । पाताल लोक में जो सात कोड़ी बहत्तर लाख अकृत्रिम जिनमन्दिर कहे हैं उनकी संख्या असुरकुमार नामक देवों के भवन में चौसठ लाख, नागकुमार देवों के भवन में चौरासी लाख, विद्युत्कुमार देवों के भवन में छिहत्तर लाख, सुपर्णकुमार देवों के भवन में बहत्तर लाख, अग्निकुमार देवों के भवन में छिहत्तर लाख, वातकुमार देवों के भवन में छयाणवें लाख, स्तनितकुमार देवों के भवन में छिहत्तरलाख जिनमन्दिर हैं । उदधिकुमार देवों के भवन में छिहत्तर लाख, द्वीपकुमार देवों के भवन में छिहत्तर लाख और दिक्कुमार देवों के भवनों में भी छिहत्तर लाख जिन मन्दिर हैं । इस प्रकार आनन्दकन्द श्री जिनेन्द्र देवाधिदेव के दस प्रकार भवनवासी संज्ञकदेवों के भवनों में समस्त सात कोड़ी बहत्तर लाख अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं । उन चैत्यालय स्थित जिन प्रतिमाओं को मन, वचन, काय से मेरा बारम्बार नमस्कार हो । इति पंक भाग के नीचे अस्सी हजार योजन मोटा अव्वहुल भाग है । उसमें प्रथम नरक है । सर्व नरक पृथ्वियों की भूमि स्थान परलोक की लम्बाई-चौड़ाई के समान लम्बी-चौड़ी है । अव्वहुल भाग में एक-एक हजार योजन ऊपर-नीचे मोटाई छोड़कर अठहत्तर हजार योजन की मोटाई में तेरह पाथड़े और तीस लाख बिल हैं । १ ।

दूसरा नरक शर्कराप्रभा वा बंशा की भूमि बत्तीस हजार योजन मोटी है । नीचे-ऊपर एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर तीस हजार योजन की मोटाई में ग्यारह पाथड़े और पच्चीस लाख बिल हैं । २ ।

तीसरे नरक बालुका प्रभा वा मेघा की भूमि अठ्ठाईस हजार योजन मोटी है । ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर छब्बीस हजार योजन की मोटाई में नौ पाथड़े और पन्द्रह लाख बिल हैं । ३ ।

चौथा नरक पंक प्रभा वा अंजना की भूमि चौबीस हजार योजन मोटी है । ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर बाईस हजार योजन मोटाई में सात पाथड़े और दश लाख बिल हैं । ४ ।

पांचवा नरक धूमप्रभा वा अरिष्टा की भूमि बीस हजार योजन मोटी है । ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर अठारह हजार योजन मोटाई में पांच पाथड़े और तीन लाख बिल हैं । ५ ।

छठा नरक तमप्रभा वा मधवी की भूमि सोलह हजार योजन मोटी है । ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर चौदह हजार की मोटाई में तीन पाथड़े और पांच कम एक लाख बिल हैं । ६ ।

सातवा नरक महानमप्रभा वा माधवी की भूमि घाठ हजार योजन मोटी है । ऊपर नीचे अनु-

मान से दो-दो हजार योजन मोटाई छोड़कर चार हजार योजन मोटाई में एक पाथड़ा और पांच बिल हैं । ७ ।

पाथड़ों के नाम—

प्रतरव पाथड़ा वह स्थान है जिसमें बिल और उपजने के स्थान होते हैं जैसे तिमंजले मकान में तल के ऊपर तीन छतें होती है उसी प्रकार पाथड़े जानने चाहिए । छतकी मोटाई के सदृश पाथड़े की मोटाई जाननी चाहिए । जैसे छत में चूहों के बिल होते हैं वैसे पाथड़ों में नारकियों के बिल जानने चाहिए, जैसे छत प्रति छत अन्तराल है वैसे ही पाथड़ों में तल ऊपर अन्तराल है । प्रथम नरक में जो तेरह पाथड़े हैं उनके नाम ये हैं—(१) सीमंतक, (२) निरय, (३) रौरव, (४) भ्रांत, (५) उद्भ्रांत, (६) सम्भ्रांत, (७) असम्भ्रांत, (८) विभ्रांत, (९) तृस्त, (१०) तृषित, (११) वक्रान्त, (१२) अवक्रान्त और (१३) निष्पन्न ये तेरह पाथड़े प्रथम नरक में हैं ।

दूसरे नरक में (१) तनक, (२) स्तनक, (३) वनक, (४) मनक, (५) खंडा, (६) वैखंडिका, (७) जिह्वा, (८) जिह्वक, (९) लौकिका, (१०) लोलवत्स, (११) स्तनलोलका नामक ये ग्यारह पाथड़े जानने चाहिए ।

तीसरे नरक में (१) तप्त, (२) तपित, (३) तपन, (४) तापन, (५) निदाघ, (६) उज्ज्वलित, (७) प्रज्वलित, (८) संज्वलित, (९) सपकुलित नामक ये नव पाथड़े हैं ।

चौथे नरक में (१) धर, (२) मारा, (३) तारा, (४) चर्चा, (५) तमकी, (६) घाग, (७) घण्टा नामक ये सात पाथड़े हैं ।

पांचवे नरक में (१) तमका, (२) भ्रमका, (३) रुपका, (४) अक्षौद्रा, (५) तमिका नामक ये पांच पाथड़े हैं ।

छठे नरक में (१) हिम, (२) वर्दलि, (३) तहन्नका नामक ये तीन पाथड़े हैं ।

सातवें नरक में अप्रतिष्ठित नामक एक ही पाथड़ा है ।

सातों नरकों में सर्व उन्नचास पाथड़े हुए ।

प्रत्येक पाथड़े में बीचों-बीच एक इन्द्रक बिल है । दशों दिशाओं में श्रेणी बद्ध पंक्ति रूप बिल है और सर्वत्र तारागणों के सदृश फैले हुए प्रकीर्णक बिल हैं ।

बिलों की संख्या—

प्रत्येक पाथड़े के मध्य में इन्द्रक बिल है । उसके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाओं में और ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य विदिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल इस क्रम से हैं । प्रथम नरक के प्रथम पाथड़े की चारों दिशाओं में उनचास-उनचास और विदिशाओं में अड़तालीस-अड़तालीस हैं अतः चारों दिशाओं के एक सौ छियानवें और विदिशाओं के १६२ हुए । सर्वप्रथम पाथड़े के तीन सौ अठ्ठासी श्रेणी बद्ध बिल हुए । आगे क्रम से नीचे के प्रत्येक दिशा पाथड़े विदिशा आदि में एक-एक कम होने से दिशा विदिशाओं में चार-चार ऐसे प्रत्येक में आठ-आठ कम है यहाँ तक कि उनचासवें पाथड़े में प्रत्येक दिशा में तो एक-एक है परन्तु विदिशाओं में एक भी नहीं । इस क्रम से दूसरे पाथड़े की दिशाओं में अड़तालीस, विदिशाओं में सैंतालीस ऐसे चारों दिशाओं में समस्त तीन सौ अस्सी श्रेणी बद्ध बिल हैं, ऐसे ही तीसरे पाथड़े में तीन सौ बहत्तर, चौथे पाथड़े में तीन सौ चौसठ, पांचवें पाथड़े में तीन सौ छप्पन, छठे पाथड़े में तीन सौ अड़तालीस, सातवें पाथड़े में तीन सौ चालीस, आठवें पाथड़े में तीन सौ बत्तीस, नवें पाथड़े

में तीन सौ चौबीस, दसवें पाथड़े में तीन सौ सोलह, ग्यारहवें पाथड़े में तीन सौ आठ, बारहवें पाथड़े में तीन सौ, तेरहवें पाथड़े में दो सौ बाणवें हैं ।

ऐसे सर्वप्रथम नरक के पाथड़े में चार हजार चारसौ चौबीस श्रेणीवद्ध बिल हैं । दूसरे नरक के प्रथम पाथड़े में दो सौ चौरासी, दूसरे पाथड़े में दो सौ छिहत्तर, तीसरे पाथड़े में दो सौ अड़सठ, चौथे पाथड़े में दो सौ साठ, पाँचवें पाथड़े में दो सौ बावन, छठे पाथड़े में दो सौ चवालीस, सातवें पाथड़े में दो सौ छत्तीस, आठवें पाथड़े में दो सौ अठाईस, नवें पाथड़े में दो सौ बीस दसवें पाथड़े में दो सौ बारह, ग्यारहवें पाथड़े में दो सौ चार ऐसे दूसरे नरक में सर्वश्रेणी वद्ध बिल दो हजार छह सौ चौरासी हैं ।

तीसरे नरक के प्रथम पाथड़े में सर्व बिल एक सौ छियानवें, दूसरे पाथड़े में एक सौ अठ्ठासौ, तीसरे पाथड़े में एक सौ अस्सी, चौथे पाथड़े में एक सौ बहत्तर, पाँचवें पाथड़े में एक सौ चौसठ, छठे पाथड़े में एक सौ छप्पन, सातवें पाथड़े में एक सौ अड़तालीस, आठवें पाथड़े में एक सौ चालीस, नवें पाथड़े में एक सौ बत्तीस—ऐसे तीसरे नरक में सर्व श्रेणीवद्ध बिल एक हजार चार सौ छिहत्तर हुए ।

चौथे नरक के प्रथम पाथड़े में सर्व श्रेणी वद्ध बिल एक सौ चौबीस, दूसरे पाथड़े में एक सौ सोलह, तीसरे पाथड़े में एक सौ आठ, चौथे पाथड़े में सौ, पाँचवें पाथड़े में बाणवें, छठे पाथड़े में चौरासी और सातवें पाथड़े में छिहत्तर बिल हैं ऐसे चौथे नरक में सर्व श्रेणी वद्ध सात सौ बिल हैं ।

पाँचवें नरक के प्रथम पाथड़े में सर्वश्रेणीवद्ध बिल अड़सठ हैं, दूसरे पाथड़े में साठ, तीसरे पाथड़े में बावन, चौथे पाथड़े में चवालीस और पाँचवें में छत्तीस हैं अतः पाँचवें नरक में सर्वश्रेणीवद्ध बिल २६० हैं ।

छठे नरक के प्रथम पाथड़े में सर्वश्रेणीवद्ध बिल अठ्ठाईस, दूसरे पाथड़े में बीस और तीसरे पाथड़े में बारह हैं । छठे नरक में सर्वश्रेणीवद्ध बिल साठ हैं ।

सातवें नरक में पाथड़ा एक ही है और बिल श्रेणीवद्ध चारों दिशाओं में तो चार हैं परन्तु त्रिदिशाओं में नहीं है । इससे सातवें नरक में सर्वश्रेणीवद्ध बिल चार ही हैं ।

सातों नरक के सर्वश्रेणीवद्ध बिल नौ हजार छह सौ चार जानने चाहिए ।

इति बिल संख्या ।

आगे सातों नरकों के सर्व बिलों का संक्षेप में विवरण लिखते हैं

प्रथम नरक से चौथे नरक तक के सर्व बिल और पाँचवें नरक के तीन चौथाई बिल महाउष्ण (गर्मे) हैं । पाँचवें नरक के एक चौथाई बिल और छठे, सातवें नरकों के सर्व बिल महाशीत (महा ठंडे) हैं । प्रथम नरक में तेरह बिल इन्द्रक, चार हजार चार सौ बीस बिल श्रेणीवद्ध और उनतीस लाख पिच्यानवें हजार पाँच सौ सड़सठ बिल प्रकीर्णक (पंकित रहित जहाँ-तहाँ फैले हुए) हैं । इन्द्रक बिल सब संख्यात योजन विस्तार के हैं । श्रेणीवद्ध सब असंख्यात योजन विस्तार के हैं और प्रकीर्णक संख्यात असंख्यात योजन विस्तार के हैं । पाँच लाख निन्यानवें हजार नौ सौ सत्तासी प्रकीर्णक और तेरह इन्द्रक ये छह लाख संख्यात योजन विस्तार के और प्रकीर्णक तेईस लाख पिच्यानवें हजार पाँच सौ अस्सी तथा श्रेणीवद्ध चार हजार चार सौ बीस, ये चौबीस लाख बिल असंख्यात योजन के विस्तार के हैं । सर्व तीस लाख बिल हैं ।

दूसरे नरक में ग्यारह बिल इन्द्रक, दो हजार छह सौ चौरासी बिल श्रेणी वद्ध और चौबीस लाख सत्ताणवें हजार तीन सौ पाँच बिल प्रकीर्णक हैं उनमें से ग्यारह इन्द्रक और चार लाख निन्यानवें

हजार नौ सौ नवासी प्रकीर्णक बिल-ये पाँच लाख बिल सब संख्यात योजन विस्तार के हैं और दो हजार छह सौ चौरासी बिल श्रेणी बद्ध और उन्नीस लाख सत्ताणवें हजार तीन सौ सोलह बिल प्रकीर्णक, ये बीस लाख बिल असंख्यात योजन विस्तार के हैं। सर्व पच्चीस लाख बिल हुए।

तीसरे नरक में नव बिल इन्द्रक, एक हजार चार सौ छिहत्तर बिल श्रेणीबद्ध और चौदह लाख अठ्ठाणवें हजार पाँच सौ पन्द्रह बिल प्रकीर्णक हैं उनमें से नौ इन्द्रक और दो लाख निन्याणवें हजार नौ सौ इक्याणवें बिल प्रकीर्णक—ये तीन लाख तो संख्यात योजन विस्तार के हैं और एक हजार चार सौ छिहत्तर बिल श्रेणीबद्ध और ग्यारह लाख अठ्ठानवें हजार पाँच सौ चौबीस बिल प्रकीर्णक—ये बारह लाख बिल असंख्यात योजन विस्तार के हैं। सब पन्द्रह लाख बिल हैं।

चौथे नरक में सात बिल इन्द्रक, सात सौ बिल श्रेणी बद्ध और नौ लाख निन्याणवें हजार दो सौ तरेसठ बिल प्रकीर्णक हैं उनमें से सात बिल इन्द्रक और एक लाख निन्याणवें हजार नौ सौ निराणवें बिल प्रकीर्णक—सब दो लाख तो संख्यात योजन विस्तार के हैं और सात सौ बिल श्रेणी बद्ध और सात लाख निन्याणवें हजार तीन सौ बिल प्रकीर्णक—सब आठ लाख बिल असंख्यात योजन विस्तार के हैं। सब दस लाख बिल हैं।

पाँचवें नरक में पाँच बिल इन्द्रक, दो सौ साठ बिल श्रेणीबद्ध और दो लाख निन्याणवे हजार सात सौ पैंतीस बिल प्रकीर्णक हैं। इनमें से पाँच बिल इन्द्रक, उनसठ हजार नौ सौ पिच्चाणवें बिल प्रकीर्णक—ये साठ हजार बिल तो संख्यात योजन विस्तार के हैं और दो सौ साठ बिल श्रेणीबद्ध और दो लाख उनतालीस हजार सात सौ चालीस बिल प्रकीर्णक—सब दो लाख चालीस हजार बिल असंख्यात योजन विस्तार के हैं। सब तीन लाख बिल हैं।

छठवें नरक में तीन बिल इन्द्रक साठ बिल श्रेणीबद्ध और निन्याणवें हजार नौ सौ बत्तीस बिल प्रकीर्णक हैं उनमें से तीन बिल इन्द्रक, उन्नीस हजार नौ सौ छ्यानवें बिल प्रकीर्णक—सब उन्नीस हजार नौ सौ निन्याणवें बिल तो संख्यात योजन विस्तार के हैं और साठ बिल श्रेणीबद्ध और उनहत्तर हजार नौ सौ छत्तीस बिल प्रकीर्णक—सब उनहत्तर हजार नौ सौ छ्यानवें बिल असंख्यात योजन विस्तार के हैं। सर्व निन्याणवें हजार नौ सौ पिच्चाणवें हैं।

सातवें नरक में एक बिल इन्द्रक संख्यात योजन विस्तार का, चार बिल श्रेणीबद्ध असंख्यात योजन विस्तार के हैं। सर्व पाँच बिल हैं।

इन्द्रक बिलों के विस्तार का वर्णन :

इन्द्रक बिल जो संख्यात योजन विस्तार के कहे गए हैं उनका विस्तार इस प्रकार है। प्रथम इन्द्रक बिल पैंतालीस लाख योजन है प्रथम नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार पैंतालीस लाख योजन, दूसरे का चौरासी लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, तीसरे का तेतालीस लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन, चौथे का वयालीस लाख पच्चीस हजार, योजन, पाँचवें का इकतालीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक छठे का चालीस लाख इकतालीस हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन, सातवें का उनतालीस लाख पचास हजार योजन, आठवें का अड़तीस लाख अठावन हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, नवें का सैंतीस लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन

भाग में दो भाग अधिक योजन, दसवें का छत्तीस लाख पिचहत्तर हजार योजन, ग्यारहवें का पैंतीस लाख तिरासी हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, बारहवें का चौतीस लाख इक्यानवें हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन, तेरहवें का चौतीस लाख योजन है। ये प्रथम नरक के इन्द्रक बिलों का विस्तार है।

दूसरे नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार तैंतीस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, दूसरे का बत्तीस लाख सोलह हजार छहसौ छयासठ और एक योजन के तीन में से दो भाग अधिक योजन, तीसरे का इकतीस लाख पच्चीस हजार योजन, चौथे का बीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, पांचवें का उनतीस लाख इकताबीस हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीसरे भाग में से दो भाग अधिक योजन, छठे का अठ्ठाईस लाख पचास हजार योजन, सातवें का सत्ताईस लाख अठ्ठावन हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, आठवें का छब्बीस लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन, नवें का पच्चीस लाख पिचहत्तर हजार योजन, दसवें का चौबीस लाख तिरासी हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, ग्यारहवें का तेईस लाख इक्काणवें हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन—यह दूसरे नरक के इन्द्रक बिलों का विस्तार है।

तीसरे नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार तेईस लाख योजन, दूसरे का बाईस लाख, आठ हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, तीसरे का इक्कीस लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन में से दो भाग अधिक योजन, चौथे का बीस लाख पच्चीस हजार योजन, पांचवें का उनतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, छठे का (१८४१६६६३) योजन, सातवें का (१७५००००) योजन, आठवें का (१६५८३३३३) योजन, नवें का (१५६६६६६३) योजन—यह तीसरे नरक के इन्द्रक बिलों का विस्तार है।

चौथे नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार (१४७५०००) योजन, दूसरे का (१३८३३३३३) योजन, तीसरे का (१२६१६६६३) योजन, चौथे का (१२०००००) योजन, पांचवें का (११०८३३३३) योजन, छठे का (१०६६६६३) योजन, सातवें का (९२५०००) योजन—यह चौथे नरक के इन्द्रक बिलों का विस्तार है।

पांचवें नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार (८३३३३३३) योजन, दूसरे का (७४१६६६३) योजन, तीसरे का (६५००००) योजन, चौथे का पांच लाख अठ्ठावन हजार तीन सौ तैंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, पांचवें का (४६६६६६३) योजन,—यह पांचवें नरक के इन्द्रक बिलों का विस्तार है।

छठे नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार तीन लाख पिचहत्तर योजन, दूसरे का (२८३३३३३) योजन, तीसरे का (१९१६६६३) योजन—यह छठे नरक के इन्द्रक बिलों का विस्तार है।

सातवें नरक का इन्द्रक बिल (१०००००) योजन विस्तार का है।

समाप्तोज्यं इन्द्रक बिल विस्तारः।

अथ नरक बिलों की ऊँचाई का वर्णन :—

बिलों के भीतर धरती से छत तक की पोलाई को बिलों की ऊँचाई कहते हैं। प्रथम नरक के इन्द्रक बिल एक कोश, श्रेणीवद्ध ४ कोश प्रकीर्णक ३ कोश ऊँचे हैं।

दूसरे नरक में इन्द्रक बिलों की ऊँचाई डेढ़ कोश, श्रेणीवद्ध बिलों की ऊँचाई दो कोश और प्रकीर्णक बिलों की ऊँचाई साढ़े तीन कोश है।

तीसरे नरक में इन्द्रक बिलों की ऊँचाई दो कोश, श्रेणीवद्ध बिलों की ऊँचाई २½ कोश और प्रकीर्णक बिलों की ऊँचाई ४½ कोश है।

चौथे नरक में इन्द्रक बिलों की ऊँचाई अढ़ाई कोश, श्रेणीवद्ध कोश बिलों की ऊँचाई ३½ कोश और प्रकीर्णक बिलों की ऊँचाई ५½ कोश है।

पाँचवें नरक में इन्द्रक बिलों की ऊँचाई तीन कोश, श्रेणीवद्ध बिलों की ऊँचाई चार कोश और प्रकीर्णक बिलों की ऊँचाई सात कोश है।

छठे नरक में इन्द्रक बिलों की ऊँचाई साढ़े तीन कोश, श्रेणीवद्ध बिलों की ऊँचाई ४½ कोश और प्रकीर्णक बिलों की ऊँचाई ८½ कोश है।

सातवें नरक में इन्द्रक बिलों की ऊँचाई चार कोश, श्रेणीवद्ध बिलों की ऊँचाई ५½ कोश और प्रकीर्णक बिलों की ऊँचाई ९½ कोश है। इति।

अथ नरक के पाथड़ों का आयु वर्णन

प्रथम नरक के प्रथम पाथड़े में जघन्य आयु दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बे हजार वर्ष की है। दूसरे पाथड़े में नब्बे लाख वर्ष, तीसरे पाथड़े में असंख्यात कोड़ि पूर्व है, चौथे में सागर का दशवाँ भाग, पाँचवें में सागर का पाँचवाँ भाग, छठे में १ सागर, सातवें में ३ सागर, आठवें में अष्ट सागर, नवें में १ सागर, दशवें में २ सागर, ग्यारहवें में ५ सागर, बारहवें में १ सागर, तेरहवें में एक सागर की आयु है।

दूसरे नरक के प्रथम पाथड़े में ११ सागर, दूसरे में १५ सागर, तीसरे में १९ सागर, चौथे में १६ सागर, पाँचवें में १९ सागर, छठे में २३ सागर, सातवें में २९ सागर, आठवें में २९ सागर, नवें में २९ सागर, दशवें में २९ सागर, और ग्यारहवें में तीन सागर आयु है।

तीसरे नरक के प्रथम पाथड़े में आयु एक सागर के सौ भाग में से चार भाग अधिक तीन सागर, २९, दूसरे में ३५ सागर, तीसरे में ४३ सागर, चौथे में ४९ सागर, पाँचवें में ५९ सागर, छठे में ५९ सागर, सातवें में ६९ सागर, आठवें में ६९ सागर, और नवें में सात सागर आयु है।

चौथे नरक के प्रथम पाथड़े में आयु ७९ सागर, दूसरे पाथड़े में ७९ सागर, तीसरे पाथड़े में ८९ सागर, चौथे पाथड़े में ८९ सागर, पाँचवें पाथड़े में ६९ सागर, छठे पाथड़े ६९ सागर और सातवें पाथड़े में दश सागर आयु है।

पाँचवें नरक के प्रथम पाथड़े में आयु ११९ सागर, दूसरे पाथड़े में १२९ सागर, तीसरे में १४९ सागर, चौथे में १५९ सागर और पाँचवें पाथड़े में सतरह सागर आयु है।

छठे नरक के प्रथम पाथड़े में आयु १८९ सागर, दूसरे पाथड़े २०९ सागर और तीसरे पाथड़े में बाईस सागर आयु है।

सातवें नरक में पाथड़ा एक ही है इसीलिए तेतीस सागर ही आयु है।

अथ नरक पाथड़ों का काय वर्णन—

प्रथम नरक के प्रथम पाथड़े में काय तीन हाथ का है। दूसरे पाथड़े में एक धनुष एक हाथ साढ़े आठ अंगुल, तीसरे में एक धनुष तीन हाथ सत्रह अंगुल, चौथे में दो धनुष दो हाथ डेढ़ अंगुल, पाँचवें में तीन धनुष दश अंगुल, छठे में तीन धनुष दो हाथ साढ़े अठारह अंगुल, सातवें में चार धनुष एक हाथ तीन अंगुल, आठवें में चार धनुष तीन हाथ साढ़े ग्यारह अंगुल, नवें में पाँच धनुष एक हाथ बीस अंगुल, दसवें में छह धनुष साढ़े चार अंगुल, ग्यारहवें में छह धनुष दो हाथ तेरह अंगुल, बारहवें में सात धनुष साढ़े इक्कीस अंगुल, तेरहवें में सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है।

दूसरे नरक के प्रथम पाथड़े में काय आठ धनुष दो हाथ २१, अंगुल, दूसरे पाथड़े में नौ धनुष २२, अंगुल, तीसरे में नौ धनुष तीन हाथ १, अंगुल, चौथे पाथड़े में दश धनुष दो हाथ १४, अंगुल, पाँचवें पाथड़े में ग्यारह धनुष एक हाथ १०, अंगुल, छठे में बारह धनुष ७, अंगुल सातवें में बारह धनुष तीन हाथ ३, अंगुल, आठवें में तीन धनुष एक हाथ २३, अंगुल, नवें में चौदह धनुष १६, अंगुल, दसवें में चौदह धनुष तीन हाथ १५, अंगुल, ग्यारहवें में पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल है।

तीसरे नरक के प्रथम पाथड़े में काय सत्रह धनुष एक हाथ १०, अंगुल है, दूसरे पाथड़े में उन्नीस धनुष ६, अंगुल, तीसरे पाथड़े में बीस धनुष तीन हाथ आठ अंगुल, चौथे पाथड़े में बाईस धनुष दो हाथ ६, अंगुल, पाँचवें पाथड़े में चौबीस धनुष एक हाथ ५, अंगुल, छठे पाथड़े में छब्बीस धनुष चार अंगुल, सातवें में सत्ताईस धनुष तीन हाथ २, अंगुल, आठवें में उनतीस धनुष दो हाथ १, अंगुल और नवें में इक्कीस धनुष एक हाथ काय है।

चौथे नरक के प्रथम पाथड़े में काय पैंतीस धनुष दो हाथ २०, अंगुल है, दूसरे पाथड़े में चालीस धनुष १७, अंगुल, तीसरे पाथड़े में चालीस धनुष दो हाथ १३, अंगुल, चौथे में उनचास धनुष १०, अंगुल, पाँचवें में तिरपेन धनुष ६, दो हाथ अंगुल, छठे में अठ्ठावन धनुष ३, अंगुल और सातवें में बासठ धनुष दो हाथ का काय है।

पाँचवें नरक के प्रथम पाथड़े में काय पचहत्तर धनुष, दूसरे में सत्तासी धनुष दो हाथ, तीसरे में सौ धनुष, चौथे पाथड़े में १६२ धनुष दो हाथ और पाँचवें पाथड़े में १२५ धनुष काय है।

छठे नरक के प्रथम पाथड़े में एक सौ छयासठ धनुष दो हाथ सोलह अंगुल काय है, दूसरे पाथड़े में दो सौ आठ धनुष एक हाथ आठ अंगुल और तीसरे में अढ़ाई सौ धनुष है।

सातवें नरक में एक ही पाथड़ा है इसमें पाँच सौ धनुष ही काय है।

नरकों का विविध प्रकार वर्णन—

नरक बिलों का परस्पर दीवाल अन्तराल जघन्य संख्यात योजन और उत्कृष्ट असंख्यात योजन है उनकी छतों में उष्ट्र मुखाकार के स्थान हैं जहाँ से नारकी अंतर्मुहूर्त में जन्म घर के अधोमुख हो नरक में गिरते हैं। उन स्थानों की चौड़ाई एक कोश, दो कोश, तीन कोश से एक योजन, दो योजन और तीन योजन है और ऊँचाई पंचगुणी है। नरक में नारकियों को विभंगावधि ज्ञान, प्रथम नरक में चार कोश है और नीचे-नीचे आधे-आधे कोश ग्यून अर्थात् कम होता चला गया है। यथा—दूसरे में साढ़े तीन कोश, तीसरे में तीन कोश, चौथे में ढाई कोश, पाँचवें में दो कोश, छठे में डेढ़ कोश और सातवें में एक कोश है। सातों नरकों से निकला हुआ जीव कर्मभूमि में मनुष्य वा सैनी तिर्यच ही हो सकता है; स्थावर, विकलत्रय, असैनी पंचेन्द्रिय वा देव, नारकी नहीं हो सकता। किसी भी नरक से निकला जीव नारायण,

बलभद्र, चक्रवर्ती नहीं हो सकता, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें से निकलकर तीर्थंकर नहीं हो सकता; पाँचवें, छठे, सातवें से निकलकर चरम शरीरी नहीं हो सकता; छठे, सातवें से निकलकर महाव्रत धारण नहीं कर सकता; सातवें का निकला अव्रत सम्यग्दृष्टी भी नहीं होता। नरकों में जाने वालों का नियम-असैनी पंचेन्द्रिय लगातार प्रथम नरक में आठ बार तक जाता है नवमी बार नहीं जाता; भुग, नीलकण्ठ, तीतर आदि हिंसक पक्षी लगातार दूसरे नरक तक सात बार जाता है; गृध्र, सियार आदि हिंसक पशु तीसरे नरक तक छह बार जाते हैं; सर्प आदि दुष्ट कीड़े चौथे नरक तक लगातार पाँच बार जाते हैं; सतह आदि दुष्ट नख वाले पशु पाँचवें नरक तक लगातार चार बार जाते हैं; स्त्री छठे नरक तक लगातार तीन बार तक जा सकती है; मनुष्य और मत्स्य लगातार सातवें नरक तक दो बार जा सकते हैं यह उत्कृष्ट जाने का नियम है।

नरकों के विविध दुःखों का वर्णन

सर्व नरक बिल बज्र समान दृढ़ हैं। गोल, चौकोर आदि अनेक आकृति के हैं। सब नरक अनेक दुःखदायक सामग्री से भरे हैं, महा दुर्गन्ध रूप हैं। वहाँ अनेक प्रकार के दुःख हैं परन्तु मुख्य दुःख चार प्रकार हैं पहला क्षेत्रीय शीत, उष्ण, दुर्गन्ध आदि का, दूसरा शारीरिक जो रोग आदि शरीर से उपजते हैं, तीसरा मानसिक-आकुलित भावों का रहना तथा इच्छा का पूर्ण न होना, चौथा असुरकृत लड़ाना आदि और पाँचवां ताड़न, मारन, छेदन, भेदन, शूलरोपण आदि पंच प्रकार यह दुःख नारकी परस्पर देते हैं। नरक ऐसे दुःख रूप है। वहाँ अधिक आरम्भ परिग्रह की तृष्णा वाले तीव्र विषय कषाय वाले जीव जाते हैं। नारकी जन्म लेकर शिर के बल से नीचे नरक में गिरकर तीन बार उछलते हैं। नवीन नारकी को पुराने नारकी नाना प्रकार लड़ाकर दुःख देते हैं। तब नवीन नारकी को विभंगावधि उपजती है जिससे पूर्व वैर विचार कर रौद्र भाव करके वे भी लड़ते हैं। असुरकुमार देव वैर बताकर लड़ाते हैं जिससे नारकी अशुभ विक्रिया से दंती, नखी, शृङ्गी रूप धारण करते हैं और खंड भुगदर, खड्ग, त्रिशूल आदि शस्त्रों से परस्पर आघात करते हैं। जिस प्रकार इस लोग में अज्ञानी पुरुष अनेक मैडे, मैसे और हाथियों को परस्पर लड़ाते हैं और उनकी हार जीत से आनन्द मानते अथवा तमाशा देखते हैं उसी प्रकार दुष्ट कौतुकी देव अवधिज्ञान के द्वारा उनके पूर्व वैरों का स्मरण कराके परस्पर लड़ाते तथा दुःखित करते रहते हैं और स्वयं तमाशा देखते हैं। नरकों में घानी पेलकर, करोंत से चीरकरकर, मुद्गरों से कूटकर खड्ग से खंड खंड करके, शूलों की शय्या पर घसीटकर, तप्त कड़ाहों में जलाकर, तप्त धातु पिलाकर, तप्त पूतली चिपटाकर इत्यादि नाना प्रकार कष्ट देते हैं। नरकों की भूमि महा दुर्गन्धित और कंटकमयी है। असिपत्र बन के करोंत समान पत्र गिरकर अंगों को छिन्न भिन्न करते हैं। खाने पान की सामग्री वहाँ रंचमात्र नहीं है। दुर्गन्धित, कृमि, पीप मिश्रित क्षार जल भरी वैतरणी नदी बहती है। नरक मृत्तिका ऐसी दुर्गन्धित है कि यदि यहाँ आये तो प्रथम पायड़ों की मृत्तिका को दुर्गन्ध से आधा कोश पर्यन्त के जीव मर जाय। आगे आगे के पायड़ों की मृत्तिका अधिक अधिक दुर्गन्धित होने से आधे-आधे कोश के अधिक जीवों को मारे, इतनी वेदना होने पर भी नारकी नरकायु पूर्ण होने पर ही मरते हैं। शरीर खंड खंड हो जाने पर भी पुनः पारेबत एक हो जाते हैं। तीसरे नरक पर्यन्त असुरकुमार लड़ाते हैं। मरने पर नारकियों के शरीर कपूरवत् उड़ जाते हैं। जिनको नरक से निकलकर तीर्थंकर होना होता है उनकी नरक वेदना मरण से छह मास पहले ही मिट जाती है।

अथ मध्यलोक वर्णन आरम्भ :

एक राजू विस्तार वाले इस मध्य लोक में जम्बू द्वीप आदि तथा लवण समुद्र आदि उत्तम-उत्तम नाम वाले असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उन सब के अत्यन्त बीच में एक लक्ष योजन प्रमाण

लम्बा, चौड़ा, गोला (शाली के आकार की तरह) जम्बू द्वीप है इस जम्बू द्वीप के मध्य लक्ष योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है जिसका एक हजार योजन पृथ्वी के ऊपर है। चालीस योजन की चूलिका (चोटी) है। पृथ्वी में तो दस हजार चौड़ा है और ऊपर शिखर में एक हजार योजन चौड़ा है। सुमेरु पर्वत और सौधर्म स्वर्ग के बीच में एक बाल का अन्तर है। इस जम्बू द्वीप के बीच में पूर्व और पश्चिम की तरफ लम्बे षट्कुचालक पर्वत हैं जिससे जम्बू द्वीप के सात खंड हो गए हैं। हिमवान, महाहिमवान, निषिध नील, रुषिम और मिखरी ये छह वर्ष धर पर्वत तथा षट् कुचालक कहलाते हैं। इन्हीं के द्वारा जम्बू द्वीप के सात खंड हो गए हैं। उन सात खंडों के नाम इस प्रकार हैं भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत इन्हीं को क्षेत्र कहते हैं। वहाँ विदेह क्षेत्र में मेरु के उत्तर की तरफ उत्तर कुरु और दक्षिण की तरफ देव कुरु है। विदेह क्षेत्र के पर्वत और क्षेत्र उस भरत क्षेत्र से दुगने-दुगने विस्तार वाले हैं। विदेह क्षेत्र के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण के पर्वतों और क्षेत्रों के बराबर विस्तार वाले हैं। भरत क्षेत्र दक्षिण उत्तर में पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भाग में से छह भाग अर्थात् ३/१६ योजन अधिक विस्तार वाला है। समस्त विस्तार ५३६-६/१६ योजन है। जम्बू द्वीप को चारों तरफ खाई की तरह घेरे हुए दो लक्ष योजन चौड़ा लवण समुद्र है। लवण समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ा धातुकी खंड द्वीप है। इस धातुकी खंड द्वीप में दो सुमेरु पर्वत हैं और क्षेत्र कुल आदि की रचना सब जम्बू द्वीप से दुगनी दुगनी है। धातुकी खंड को चारों तरफ से घेरे हुए आठ लाख योजन चौड़ा कालोदधि नाम का समुद्र है और कालोदधि को घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्कर द्वीप है और पुष्कर द्वीप के बीचों बीच बलयाकार चौड़ाई पृथ्वी पर एक हजार बाईस योजन, बीच में सात सौ तेईस योजन ऊपर चार सौ चौबीस योजन, ऊँचे पर सत्रह सौ इक्कीस योजन और पृथ्वी के भीतर चार सौ सैंतीस योजन जिसकी जड़ है ऐसा मानुषोत्तर नाम का पर्वत है जिससे पुष्कर द्वीप के दो भाग हो गए हैं। पुष्कर द्वीप के पहले के अर्द्ध भाग में जम्बू द्वीप से दुगनी-दुगनी अर्थात् धातुकी खंड द्वीप के समान दो-दो भरत आदि क्षेत्रों की रचना है। आगे ऐसी रचना नहीं है।

जम्बू द्वीप, के धातुकी खंड द्वीप, पुष्कर द्वीप, लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र इतने क्षेत्र को नरलोक कहते हैं। इतने ही क्षेत्र में मनुष्य होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत से आगे के द्वीप समुद्रों में ऋद्धि-धारी मुनि वा विद्याधरों का सर्वथा गमन नहीं है और न उन द्वीपों में मनुष्य होते हैं। पुष्करवर द्वीप के आगे उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है। उसके आगे वारुणी द्वीप है और उसके चारों तरफ वारुणी समुद्र है। उसके आगे क्षीरवर द्वीप है और उसके चारों तरफ क्षीरवर समुद्र है। उसके आगे घृतवर द्वीप है और उसके चारों तरफ घृतवर समुद्र है। उसके आगे क्षौद्रवर द्वीप है और उसके चारों तरफ क्षौद्रवर समुद्र है।

उसके आगे नन्दीश्वर द्वीप है और उसके चारों तरफ नन्दीश्वर समुद्र है। उसके आगे अरुणवर द्वीप है और उसके चारों तरफ अरुणवर समुद्र है। उसके आगे अरुणभासवर द्वीप है और उसके चारों तरफ अरुणभासवर समुद्र है। उसके आगे कुंडलवर द्वीप है और उसके चारों तरफ कुंडलवर समुद्र है। उसके आगे शंखवर द्वीप है उसके चारों तरफ शंखवर समुद्र है।

उसके आगे रुचिकर द्वीप है, उसके चारों ओर रुचिकर समुद्र है। उसके आगे भुजंगवर द्वीप है और उसके चारों तरफ भुजंगवर समुद्र है। उसके आगे कुसंगवर द्वीप है और उसके चारों तरफ कुसंगवर समुद्र है। उसके आगे कौचवर द्वीप है और उसके चारों तरफ कौचवर समुद्र है। इसी प्रकार

एक दूसरे को घेरे हुए अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात् द्वीप और समुद्र हैं। वे सब जम्बू द्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त द्विगुण-द्विगुण विस्तार वाले जानने चाहिए।

विशेष—यहाँ पर इन द्वीपों में जो चार सौ अठ्ठावन अनादि निधन अकृत्रिम जिन भगवान के चैत्यालय हैं उनको संख्या लिखते हैं—अर्द्ध द्वीप में पाँच मेरु पर्वत हैं वहाँ एक-एक मेरु सम्बन्धी चार-चार वन हैं। एक-एक वन में चार-चार जिनमन्दिर हैं अतः वन के सोलह जिनमन्दिर हुए। ऐसे पाँचों मेरु के बीस वनों में अस्सी जिनमन्दिर हैं। एक-एक मेरु पर्वत के पूर्व पश्चिम विदेह क्षेत्रों में सोलह-सोलह वक्षार पर्वत हैं और प्रत्येक पर्वत पर एक-एक मन्दिर है।

इस तरह सर्व वक्षार पर्वतों के ८०, एक-एक मेरु सम्बन्धी चार-चार गजदंत पर्वत हैं, इन पर भी एक-एक चैत्यालय है। इस तरह गजदंतों के बीस एक-एक मेरु सम्बन्धी छह-छह कुलाचल पर्वत हैं। उन पर एक-एक मन्दिर होने से तीस मन्दिर उनके हैं। एक-एक मेरु सम्बन्धी चौतीस-चौतीस वैताड्य पर्वत हैं। उन पर एक एक मन्दिर होने से सबके कुल एक सौ सत्तर (१७०) जिन मन्दिर हैं। एक-एक मेरु सम्बन्धी देवकुरु और उत्तरकुरु नाम की दो-दो भोगभूमि होने से और उन प्रत्येक में एक-एक मन्दिर होने से दश मन्दिर उनमें हैं। इक्ष्वाकार पर्वत पर चार, मानुषोत्तर पर्वत पर चार, नंदीश्वर द्वीप में एक-एक दिशा सम्बन्धी एक-एक अंजनगिरि, चार-चार दधिमुख और आठ-आठ रतिकर पर्वतों पर ऐसे तेरह-तेरह मन्दिर होने से कुल बावन जिन मन्दिर चारों दिशाओं में हैं। रुचिक द्वीप के रुचिक पर्वत पर चार और कुंडलद्वीप के कुंडल गिरि पर चार इस तरह अड़सठ जिन मन्दिर हैं। $(८० + ८० + २० + ३० + १७० + १० + ४ + ४ + ५२ + ४ + ४ = ४५८)$ इन सब चैत्यालयों की मैं बन्दना करता हूँ। ये सब विघ्नों के हरने वाले हैं।

इति मध्य लोक अकृत्रिक चैत्यालय वर्णन।

पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह—इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह कर्मभूमि हैं। पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत् इन दश क्षेत्रों में जघन्य भोग भूमि है। पाँचहरि और पाँच रम्यक् इन दश क्षेत्रों में मध्यम भोगभूमि है। पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु इन दश क्षेत्रों में उत्तम भोग भूमि हैं। जहाँ पर असि (शस्त्र धारण) मसि (लिखने का काम) कृषि (खेती) शिल्प (कारीगरी) वाणिज्य (व्यापार-लेन-देन) और सेवा इन षट्कर्मों की प्रवृत्ति हो उसको कर्म भूमि कहते हैं। जहाँ पर इनकी प्रवृत्ति न हो उसको भोग भूमि कहते हैं। मनुष्य क्षेत्र से बाहर के समस्त द्वीपों में जघन्य भोग भूमि की सी रचना है किन्तु अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तरार्द्ध में तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्र में और चारों कोणों की पृथियों में भी कर्म भूमि की सी रचना है। जवण समुद्र और कालोदधि समुद्र में छयाणवें अन्तद्वीप है जिनमें कुभोगभूमि की रचना है। वहाँ मनुष्य ही रहते हैं उनमें मनुष्यों की नाना प्रकार की कुत्सित आकृतियाँ हैं।

कल्पकाल वर्णन

एक कल्पकाल बीस कोटाकोटी सागर का होता है। जैसे चन्द्रमा की हानि वृद्धि से एक मास में शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष ऐसे दो पक्ष होते हैं वैसे ही एक कल्पकाल के दो भेद होते हैं—एक उत्सर्पिणी, दूसरा अवसर्पिणी! प्रत्येक काल की स्थिति दश कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है। दोनों की स्थिति के काल को ही कल्पकाल कहते हैं। उत्सर्पिणी के छह कालों में वृद्धि और अवसर्पिणी के छह कालों में दिनों-दिन घटती होती जाती है। अवसर्पिणी काल के सुखम, सुखमा, सुखमा, सुखम दुःखमा, दुःखम सुखमा, और दुःखमा, अति दुःखमा ऐसे छह भेद हैं। इसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी अति दुःखमा

दुःखमा, दुःखम सुखमा, सुखम दुःखमा, सुखमा और सुखमा सुखमा—ये छह भेद हैं। इनमें से पहला सुखम सुखमा काल चार कोड़ा कोड़ी सागर का होता है। दूसरा सुखमा तीन कोड़ा कोड़ी सागर का, तीसरा सुखम दो कोड़ा कोड़ी सागर का, चौथा दुःखम सुखमा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागर का, पांचवां दुःखमा इक्कीस हजार वर्ष का और छठा अति दुःखमा भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है। प्रथम सुखमा-सुखमा काल में महान सुख होता है।

दूसरे काल में भी सुख होता है परन्तु प्रथम काल जैसा नहीं उससे कुछ कम होता है। तीसरे सुखम दुःखमा काल में सुख और किञ्चित् मात्र दुःख भी होता है। चौथे दुःखम सुखमा काल में दुःख और सुख दोनों होते हैं, पुण्यवानों को सुख और पुण्यहीनों को दुःख होता है। पाँचवे दुःखमा काल में दुःख ही रहता है, सुख नहीं जिस प्रकार सुषुप्त अवस्था में मनुष्य का अपने दुःख का भान नहीं रहता और वह सुखमय होकर रहता है।

उसी प्रकार पंचम काल के जीवों को किसी को कुछ दुःख है, किसी को कुछ दुःख है परन्तु जब किसी विषय में वे रत हो जाते हैं तो अन्तःकरणगत दुःख को भूलकर अपने को सुखी मानते हैं। जब उसको पुनः स्मरण होता है तब वह फिर दुःख मानते हैं। अतएव पंचम काल में दुःख ही है सुख नहीं छठे काल में महान घोर दुःख है। देवलोक और उत्कृष्ट भोगभूमि में सदैव प्रथम सुखम सुखमा काल की, मध्यम भोग भूमि में दूसरे सुखम काल की, जघन्य भोग भूमि में सुखम दुःखमा काल की, महाविदेह क्षेत्रों में दुःखम सुखमा चौथे काल की और अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तरार्द्ध में तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्र में तथा चारों कोणों की पृथ्वियों में तथा समुद्रों के मध्य जितने क्षेत्र हैं उनमें सदैव दुःखमा जो पंचम काल है उसकी रीति रहती है नरक में सदा दुःखम दुःखमा जो छठा काल है सदा उसकी सी रीति रहती है अर्थात् सदा छठा काल प्रवर्तमान रहता है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र के अतिरिक्त शेष सब क्षेत्रों में ही रीति रहती है। केवल आयु, काय आदि बढ़ना, घटना, रीति का पलटना भरत क्षेत्रों और ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है अन्यत्र नहीं क्योंकि इनमें अवसर्पिणी के छठीं उत्सर्पिणी कालों की प्रवृत्ति रहती है यथा जब अवसर्पिणी काल का प्रारम्भ होता है तो उसमें पहले सुखमा सुखमा काल, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवा और छठा काल प्रवर्तता है। छठे के पीछे फिर उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होता है। और तब उसमें उल्टा परिवर्तन होता है। अर्थात् पहले प्रथम दुःखमा दुःखमा का काल प्रवर्तता है फिर पांचवा, चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला काल प्रवर्तता है।

प्रथम के पीछे प्रथम और छठे के पीछे छठा आता है इस प्रकार अवसर्पिणी काल के पीछे उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के पीछे अवसर्पिणी काल आता रहता है। ऐसे काल का परिवर्तन सदैव से चला आता है और सदैव तक चला जाएगा। इस समय भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल प्रवर्तमान है। जब यहाँ पहला सुखमा काल प्रवर्तमान होता है तब यहाँ उत्तम भोगभूमि अर्थात् देव कुरु उत्तर कुरु, के समान रचना व रीति रहती है। इसमें स्त्री और पुरुष दोनों हो युगल पैदा होते हैं और जन्म दिन से सात दिवस पर्यन्त ऊपर की अपना मुख किए हुए पड़े रहते हैं। युगलों के उत्पन्न होते ही इनके माता-पिता को छींक या जम्हाई आती है जिससे वो तत्समय ही प्राणगत हो जाते हैं और अपने सरल स्वभाविक भावों से भृत्य लाभ करके ये दानी महात्मा कुछ शेष बचे हुए पुण्य फल से स्वर्ग में जाते हैं। और वहाँ भी उच्च पदाधिकारी होकर मन चाहा दिव्य सुख भोगते हैं। न तो युगल हो अपने माता-पिता का दर्शन करते हैं और न माता-पिता ही अपनी सन्तान का मुखावलोकन करते हैं।

वे युगल जन्म-दिन से सात दिन तक तो ऊपर की मुख किए पड़े रहते हैं और अँगूठा चूमते रहते हैं तत्पश्चात् दूसरे सप्ताह में धीरे-धीरे घुटनों के बल चलते हैं, तीसरे सप्ताह में वे आर्य मधुर भाषण करते तथा इधर-उधर पड़ते हुए अटपटी चाल से चलने लगते हैं, चौथे सप्ताह में सात दिन तक भूमि पर स्थिरता से पैर से चलते हैं, तदनन्तर पाँचवें सप्ताह में सात दिन गाना-बनाना आदि चातुर्य कलाओं से तथा लावण्य, सौन्दर्य आदि गुणों से विभूषित हो जाते हैं। तदनन्तर छठे सप्ताह में सात दिन में ही नव यौवन सम्पन्न होकर अपने इष्ट भोग आदि के भोगने में समर्थ हो जाते हैं। तत्पश्चात् सातवें सप्ताह में सम्पत्त्व के ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं। वे शुभ लक्षण परिपूर्ण, उगते सूर्य से समान कान्ति के धारी स्त्री-पुरुषों के युगल तीन पल्य पर्यन्त देवों के समान मनचाहा दिव्य सुख भोगते हैं। न तो उन्हें किसी प्रकार की बीमारी, शोक, चिन्ता, दरिद्रता आदि के होने वाले कष्ट सताते पाते हैं और न किसी प्रकार के अपघात से मृत्यु होती है।

यहाँ न अधिक शीत पड़ती है और न अधिक गर्मी होती है किन्तु सदैव एक-सी सुन्दर ऋतु रहती है। यहाँ न किसी को सेवा करनी पड़ती है और न किसी के द्वारा अपमान सहना पड़ता है। न यहाँ युद्ध होता है न कोई किसी का बैर ही। यहाँ के लोगों के भाव सदा पवित्र और उत्साह रूप रहते हैं। यहाँ उन्हें कोई खाने-पीने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। पुण्योदय से प्राप्त हुए दश प्रकार के कल्प वृक्षों से मिलने वाले सुखों को भोगते हैं और तीन पल्य आयु पूर्ण होने पर्यन्त ये इसी तरह निराकुलित सुख से रहते हैं। वहाँ भक्षण, पान, शयन, आशन, वस्त्र, आभूषण, सुगंध आदि सर्व ही भोग-उपभोग योग्य सामग्री कल्प वृक्षों से उत्पन्न होती है। उन दस कल्प वृक्षों के नाम इस प्रकार हैं :—

मद्यातोद्धविभूषास्त्रम्, ज्योतिर्दीपगुहाङ्गकाः ।

भोजनामत्र वस्त्राङ्गा, दशधा कल्प पादपाः ॥

अर्थ—मालाङ्ग, वादित्राङ्ग, भाजनाङ्ग, भूषणाङ्ग, पानाङ्ग, ज्योतिराङ्ग, दीपाङ्ग, गुहाङ्ग, भोजनाङ्ग, और वस्त्राङ्ग, ये दश प्रकार के कल्प वृक्ष हैं।

नाना प्रकार के फूलों से बनाई हुई उत्कृष्ट और उत्तम सुगन्धित मालाएँ जिससे प्राप्त हों उसे मालाङ्ग वृक्ष कहते हैं। १।

तत, वितत, वन, सुषिर आदि बाजे जिससे प्राप्त हो वह वादित्राङ्ग वृक्ष है। २।

कलश, थाली, कटोरा, गिलास आदि वर्तन देने वाला भाजनाङ्ग वृक्ष है। ३।

मुकुट, माला, बाजूबन्द आदि आभरण व भूषण देने वाला भूषणाङ्ग वृक्ष है। ४।

रुचिकर और सुगन्धित, इन्द्रियों तथा बल की पुष्टि करने वाली तथा जिसके देखने से अभिलाषा पैदा हो ऐसी पीने की वस्तु मद्याङ्ग वृक्ष से मिलती है। ५।

ज्योतिराङ्ग वृक्षों से सूर्य और चन्द्रमा से भी अधिक प्रकाश होता है। ६।

दीपाङ्ग जाति के वृक्षों से घर में प्रकाश होता है। ७।

गुहाङ्ग वृक्ष से नाना प्रकार के मकान मिलते हैं। ८।

जिनसे चार प्रकार, भोजन, प्राप्त हों वह भोजनाङ्ग वृक्ष है। ९।

जिससे उत्तमोत्तम रेशमी सूती, आदि वस्त्र प्राप्त हों उन्हें वस्त्राङ्ग वृक्ष कहते हैं। १०।

ऐसे ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष न तो वनस्पति-काय हैं और न देवाधिष्ठित किन्तु पृथ्वीकाय रूप ही सार वस्तु हैं। इन दश प्रकार के वृक्षों से मनवांछित पदार्थ प्राप्त करके सुख भोगते हुए आयु के अन्त में शुभ भावों से मृत्यु लाभकर लेश बचे पुण्य फल से स्वर्ग में जाते हैं और वहाँ भी महा वैभवशाली

देव होकर दिव्य सुख भोगते हैं। यह सब उनके उत्तम पात्र दान का फल है। अतएव जो लोग पात्रों की भक्ति से दान देंगे वे भी नियम से ऐसा ही उच्च गुण लाभ करेंगे। यह बात ध्यान में रखकर सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे प्रतिदिन कुछ न कुछ दान अवश्य करें। यही दान स्वर्ग और मोक्ष सुख का देने वाला है। भोगभूमि में असीती तिर्यन्च नहीं होते और वे भी स्त्री पुरुष युगल ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही मरते हैं। यह उत्कृष्ट भोगभूमि की रचना चार कोड़ा कोड़ी सागर पर्यन्त रहती है। तदनन्तर सुखमा नाम का दूसरा काल प्रवर्तता है उसमें मध्यम भोगभूमि अर्थात् हरि और रम्यक क्षेत्र के समान रचना व रीति होती है। इसमें मनुष्यों की ऊँचाई चार हजार धनुष और दो पत्य की आयु होती है। तब भी निरन्तर दो पत्य तक कल्प वृक्षों से उत्पन्न हुए सुख भोग कर आयु पूर्ण होने पर मृत्यु लाभ कर अपने शेष बचे पुण्य के अनुसार स्वर्ग में देव उत्पन्न होते हैं। इस काल में भी युगल ही पैदा होते हैं। यह मध्यम भोगभूमि की रचना तीन कोड़ा कोड़ी सागर पर्यन्त रहती है। तत्पश्चात् तीसरा काल जो सुखमा दुःखमा है, प्रवर्तमान होता है उसमें जघन्य भोगभूमि अर्थात् हैमवत और हैरण्यवत् क्षेत्र के समान रचना व रीति होती है। इसमें मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष और एक पत्य की आयु होती है। एक पत्य पर्यन्त बराबर कला वृक्ष आदि से उत्पन्न हुए विषयभोगों के सुख भोगते हैं। आयु पूर्ण होने पर मृत्यु लाभ कर अपने शेष बचे पुण्य के अनुसार देव पर्याय में जाते हैं और वहाँ पुण्यानुसार सुख भोगते हैं। यह जघन्य भोग भूमि की रचना दो कोड़ा-कोड़ी सागर पर्यन्त रहती है। इस प्रकार ४+३+२+१=१० कोड़ा कोड़ी सागर पर्यन्त भोगभूमि की रचना होती है।

जब तीसरे काल में पत्य का आठवाँ भाग शेष रहा तो चौदह कुलकर हुए। उनके नाम ये हैं—प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान यशस्वान, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, महदेव, प्रसेनजित और नाभिराय। ये अपने तीन जन्म के ज्ञाता और कर्म भूमि के व्यवहार के उपदेशक थे।

प्रथम कुलकर के शरीर की ऊँचाई अठारह सौ धनुष थी। इनके समय ज्योतिराग जाति के कल्प वृक्षों की ज्योति मंद होने के कारण चन्द्रमा और सूर्य का प्रादुर्भाव देखकर उनके प्रकाश से जो लोग भयभीत हुए थे उनका इन्होंने भय निवारण किया। १।

दूसरे कुलकर का शरीर प्रमाण तेरह सौ धनुष था। इन्होंने ज्योतिष जाति के कल्पवृक्षों की ज्योति मंद होने से तारागण के विमानों का प्रादुर्भाव देखकर तारागण के प्रकाश से जो लोग भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। २।

तीसरे कुलकर का शरीर आठ सौ धनुष था। इन्होंने सिंह, सर्प आदि के क्रूर स्वाभावी होने से जो लोग भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। ३।

चौथे कुलकर का शरीर प्रमाण सात सौ पचहत्तर धनुष था। इन्होंने अन्धकार से भयभीत हुए लोगों को दीपक प्रज्वलित कराने की शिक्षा से उनका भय निवारण किया। ४।

पाँचवें कुलकर का शरीर प्रमाण सात सौ पचास धनुष था। इन्होंने कल्पवृक्षों के स्वत्व की मर्यादा बाँधी। ५।

छठे कुलकर का शरीर प्रमाण सात सौ पच्चीस धनुष था। इन्होंने अपनी-अपनी नियमित सीमा तथा शासन करना सिखलाया। ६।

सातवें कुलकर का शरीर प्रमाण सात सौ धनुष था । इन्होंने घोड़े, रथ आदि सवारियों पर आरुढ़ होना सिखलाया । ७।

आठवें कुलकर का शरीर प्रमाण छह सौ पितृहस्तर धनुष था । इन्होंने जो लोग अपने पुत्र का मुख देखने से भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया । ८।

नवें कुलकर का शरीर प्रमाण छह सौ पचास धनुष था । इन्होंने लोगों को पुत्र-पुत्रियों के नाम-करण की विधि बतलाई । ९।

दसवें कुलकर का शरीर प्रमाण छह सौ पच्चीस धनुष था । इन्होंने लोगों को चन्द्रमा दिखलाकर बच्चों को क्रीड़ा करना सिखलाया । १०।

ग्यारहवें कुलकर का शरीर प्रमाण छह सौ धनुष था । इन्होंने पिता पुत्र के व्यवहार की शिक्षा दी अर्थात् लोगों को सिखलाया कि यह तुम्हारा पुत्र है, तुम इसके पिता हो । ११।

बारहवें कुलकर का शरीर प्रमाण पांच सौ पितृहस्तर धनुष था । इन्होंने नदी, समुद्र आदि में नौका और जहाजों के द्वारा पार जाना, तैरना सिखाया । १२।

तेरहवें कुलकर का शरीर प्रमाण पांच सौ पचास धनुष था । इन्होंने लोगों को गर्भ मल के शुद्ध करने का अर्थात् स्नान आदि कर्म का उपदेश दिया । १३।

चौदहवें कुलकर का शरीर प्रमाण पांच सौ पच्चीस धनुष था । इन्होंने लोगों को नाभि काटने की विधि बताई । १४।

इनके समय समस्त कल्पवृक्षों का अभाव हुआ । युगल उत्पत्ति मिटी और वे अकेले ही उत्पन्न हुए । इनकी मन को हरण वाली उत्तम पतिव्रता, सरलस्वभावी, विदुषी जैसे चन्द्रमा के रोहिणी, समुद्र के गंगा, राजहंस के हंसनी इन्द्र के इन्द्राणी हैं वैसे ही महारानी मरु देवी अपने शयनागार में सुखपूर्वक सोई हुई थी कि उसने जिनेन्द्र के अवतार के सूचक रात्रि के पिछले पहर में अत्यन्त हर्षदायक सोलह स्वप्न देखे । उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) ऐरावत हस्ती, (२) श्वेत वृषभ, (३) केशरी, (४) हस्तिनियों के द्वारा दो कलशों से स्नान करती हुई लक्ष्मी, (५) दो पुष्प मालाएँ, (६) अखण्ड चन्द्र बिम्ब (७) उदय होता हुआ सूर्य, (८) मीन युगल, (९) दो कनकमय कलश, (१०) कमलों से शोभित सरोवर, (११) गम्भीर समुद्र, (१२) सुन्दर सिंहासन, (१३) छोटे-छोटी घटिकाओं से सुशोभित विमान, (१४) धरणेन्द्र का भवन, (१५) प्रदोष पंच वर्णों के उत्तमोत्तम रत्नों की राशि और (१६) निर्धूम अग्नि—इस प्रकार सोलह स्वप्न देखे ।

तदनन्तर उसने अपने मुख में प्रवेश करते हुए हाथी को देखा । स्वप्न देखकर मरुदेवी प्रातः काल सम्बन्धी मंगल शब्द श्रवण करके जाग्रत हुई और शीघ्र स्नान आदि प्रभात क्रियाओं से निवृत्त होकर नाभिराय के समीप राजसभा में गई । महाराज ने महारानी को अपने धाई ओर बैठाकर कहा—देवी आज क्या विचार करके आई हो ? महारानी बोली—‘नाथ ! रात्रि के अन्तिम समय में मैंने सोलह स्वप्न देखे हैं । उनका फल आप से पूछने के लिए आई हूँ । यह कहकर मरुदेवी ने अपने रात्रि में देखे हुए सब स्वप्न कह सुनाए ।

महाराज स्वप्नों को सुनकर उनका फल कहने लगे—‘देवी ! इन स्वप्न से सूचित होता है कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर अवतार लेंगे जिनकी आज्ञा का देवता तक भी सन्मान करते हैं । उनके अवतार के छह महीने पहले से ही देवता प्रतिदिन अपने धर पर रत्नवर्षा करेंगे । तुम्हारी संतुष्टि के लिए प्रत्येक स्वप्न का फल पृथक्-पृथक् कहता हूँ सो सुनो—

प्रथम हस्ती के देखने से सर्वोच्च माननीय पुत्र होगा ?

वृषभ के देखने से धर्म रूपी धुरी का धारण करने वाला जगन्पूज्य होगा ॥ २ ॥

सिंह के देखने से अनन्त बल का धारी होगा । ३ ।

पुष्पमाला देखने से धर्म प्रगट करने वाला होगा । ४ ।

लक्ष्मी अभिवेक हस्तिनियों के द्वारा होता हुआ देखने से उसका इन्द्रों के द्वारा मेरु पर्वत पर अभिवेक होगा । ५ ।

पूर्णमासी का अर्खंड चंद्र बिम्ब देखने से वह सब जन संताप हर्ता आनन्दकारी होगा । ६ ।

सूर्य के देखने से वह महा प्राप्ति होगा । ७ ।

मीन युगल देखने से वह विविध सुख का भोक्ता होगा । ८ ।

कनक कुम्भ युगल देखने से वह विविध निधि भोक्ता होगा । ९ ।

सरोवर के देखने से वह एक हजार आठ शुभ लक्षण सम्पन्न होगा । १० ।

गम्भीर समुद्र के देखने से केवल ज्ञान धारी होगा । १२ ।

सिंहासन के देखने से विपुल राज्य का भोक्ता होगा । ११ ।

स्वर्ग विमान देखने से स्वर्ग से चयकर अवतार लेगा । १३ ।

चरणेन्द्र भवन देखने से अवधिज्ञान संयुक्त होगा । १४ ।

रत्नराशि देखने से गुण निधान होगा । १५ ।

निर्धूम अग्नि देखने से वह कर्मों का नाश करने वाला होगा । १६ ।

इस प्रकार मरुदेवी त्रैलोक्य नाथ की उत्पत्ति अपने पति से सुनकर परम हर्षित होकर वापिस अपने महल में चली गई । कुछ दिनों पश्चात् आषाढ़ कृष्ण द्वितीया को सर्वार्थ सिद्धि से चयकर तीन ज्ञान संयुक्त भगवान् मरुदेवी के गर्भ में आ विराजे । देवों के द्वारा उस पूज्य गर्भ की दिनों-दिन वृद्धि होने लगी । उसके भार से मरुदेवी को किसी तरह की पीड़ा न हुई जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब के पड़ने से दर्पण की किसी तरह हानि नहीं होती है । गर्भ पूर्ण दिनों का हुआ ।

तब चैत्र मास कृष्ण पक्ष में नवमी के दिन शुभ मुहूर्त में उत्तराषाढ़ नक्षत्र का योग होने पर सौभाग्यवती मरुदेवी ने त्रिभुवन पूज्य पुत्ररत्न का प्रसव किया । पुत्र के उत्पन्न होते ही नगर भर में आनन्द उत्सव होने लगा और नाभिराय ने भी पुत्र जन्म का महा उत्सव किया । त्रैलोक्य के प्राणी हर्षित हुए । इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए और देवों के बिना बजाए स्वतः स्वभाव सुन्दर-सुन्दर बाजों का मनोहर शब्द होने लगा तब सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से यह जानकर कि इस समय भरत क्षेत्र में तीर्थराज का अवतार हुआ है ।

उसी समय अपने ऐरावत गजराज पर आरोढ़ होकर वह अपनी इन्द्राणी और देवों सहित बड़े भारी उत्साह और समारोह के साथ अयोध्यापुरी में आया और सभक्ति नगरी की तीन प्रदक्षिणा की । इन्द्र ने अपने विशाल ऐश्वर्य से नगरी को अनेक प्रकार सुशोभित किया और पश्चात् अपनी प्रिया को भगवान् के लाने के लिए मरुदेवी के निकट भेजा । इन्द्राणी अपने स्वामी की आज्ञा पाकर प्रसूतिगृह में गई और अपनी दिव्य शक्ति से ठीक मायामयी वैसा ही एक बालक वहाँ स्थापित कर भगवान् को उठा लाई ।

उसने बालक लाकर अपने पति के कर-कमलों में दे दिया। इन्द्र उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाकर बड़े समारोह के साथ सुमेरु पर्वत की ओर चला। ईशान इन्द्र ने छत्र धरे, सनत्कुमार, महेन्द्र, चैत्र हुलाने लगे और शेष इन्द्र तथा देव जय-जयकार शब्द करने लगे। किन्नर, गन्धर्व, तुम्बर, नारद आदि मनोहर-मनोहर गान करने लगे, अतः सौधर्म इन्द्र बड़े भारी महोत्सव के साथ सुमेरु पर्वत पर गया। वहाँ से पांडुक वन जाकर तत्र स्थित पांडुक शिला पर भगवान को पूर्व दिशा मुख विराजमान कर अभिषेक करने की उद्यत हुआ तब सब देवों ने रत्नजड़ित सुवर्णमय एक हजार आठ कलशों को लेकर पर्वत पर्यन्त कलशों की ऐसी सुन्दर श्रेणी बांध दी जो मन को मुग्ध किए देती थी।

पश्चात् इन्द्र अपनी इन्द्राणी सहित भगवान का कलशाभिषेक करने लगा। इस समय सुमेरु पर्वत क्षीरसमुद्र के स्फटिक से भी धवल और निर्मल जल के अभिषेक से ऐसा मालूम होने लगा मानों चांद का बना हुआ हो जब भगवान का क्षीराभिषेक हो चुका तब दूसरे जल से अभिषेक कर इन्द्राणी ने जिनराज का शरीर छोछा और उनके शरीर में सुगन्धि चन्दन आदि का विलेपन कर अनेक प्रकार सुगन्धित पुष्पों से उनकी पूजा की।

तत्पश्चात् स्वर्गीय दिव्य वस्त्रों और मुकुट, कुंडल, हार आदि सोलहों आभूषणों से भूषित कर और उनके अंगूठे में अमृत रखकर इन्द्र भगवान की स्तुति करने लगा—हे नाथ ! हे जिनाधीश ! यह जगत महान् अज्ञान रूप अंधकार से भरा है। उसमें भ्रमण करते हुए भव्य जीवों के मोह तिमिर हरने को आप सूर्य के समान प्रफुल्लित हो जायेंगे।

इस संसार रूप में प्रकट हुए जीवों को सन्मार्ग बताने के लिए आप केवलज्ञान मय दीपक रूप में प्रगट हुए हो। हे जगन्नाथ ! आप तीन भुवन के स्वामी हैं। सब प्राणियों के नमस्कार के योग्य हैं। इस संसार में आपसे अधिक और कोई पूज्य नहीं है।

आप प्रत्यक्ष हस्तरेखावत् लोकालोक के जानने वाले हैं स्वयं हैं, विज्ञाननिधान हैं, अजर हैं, अमर हैं और कर्मों के जीतने वाले हैं। आपको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ, नाथ ! आप भक्तजनों के रक्षक हैं, दरिद्रता के नाश करने वाले हैं, दुःख दरिद्रता के मिटाने वाले हैं। आप ही काम धेनु (मनोवांछित) फल के देने वाले हैं। आप काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग, द्वेष आदि कषायों से रहित वीतराग हैं। कर्म रूप वन के भस्म करने की वह्नि हैं। इच्छित पदार्थों के देने की चितामणि हैं। काम रूप सर्प के नाश करने की गरुड़ हैं।

पंचेन्द्रियों के विषय रूपी पिशाचिनी के मारने की कटार हैं। आप अपने आश्रयी जीवों के भय, तृषा, रोग, अरति आदि दुःखों को नाशकर शम अर्थात् सुख के करने वाले हैं अर्थात् आप शंकर हैं। हे धीर ! आप मोक्षमार्ग की विधि के विधानकर्ता हैं अतएव आप ब्रह्मा हैं।

हे देव ! मैं आपके गुणों का कहाँ तक यशोगान करूँ ? जब देवों के गुरु (बृहस्पति) भी आपके गुणों का पार नहीं पा सकते तो मेरी तुच्छ बुद्धि कहाँ पार पा सकती है ?' इस प्रकार इन्द्र, भगवान की बहुत देर तक समन्वित स्तुति करके बारम्बार नमस्कार करता हुआ तत्पश्चात् ऐरावत हाथी पर आशु करके अयोध्यापुरी में वापिस ले आया और अपनी प्रिया के द्वारा मरुदेवी के पास उसी अवस्था में भगवान को पहुँचा दिया। जब मरुदेवी की निद्रा खुली तो पुत्र को दिव्य अलंकारों से भूषित देखकर बड़ी आश्चर्यान्वित हुई। तत्पश्चात् इन्द्र, भगवान के माता-पिता का पूजनकर, अपने स्थान पर चला गया।

भगवान् इन्द्र के द्वारा अंगूठे में रखे हुए अमृत का पान करते हुए दिनों-दिन बढ़ने लगे। उन के लिए सुगंध विलेपन, वस्त्राभूषण, अशन पान आदि सब सामग्री इन्द्र भेजा करता था। उन नाना प्रकार के दिव्य रत्नमयी अलंकारों से विभूषित भगवान् का शरीर बहुत सुन्दर मालूम होता था। उनके बहुमूल्य रत्नों से जड़ित वस्त्राभूषणों की शोभा देखते ही बनती थी। उनके वक्षः स्थल पर पड़ी हुई स्वर्गीय कल्प वृक्षों के पुष्पों की सुन्दर मालाएं शोभा दे रही थीं। भगवान् इस प्रकार अपनी वय वाले देव कुमारों के साथ क्रीड़ा करते और स्वर्गीय भोगोपभोगों को भोगते हुए शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनों-दिन बढ़ने लगे। भगवान् जब लावण्य आदि गुणों से सुशोभित तथा नवयौवन सम्पन्न हुए तब नाभिराय ने बड़े समारोह के साथ इनका पाणिग्रहण करा दिया।

भगवान् ऋषभदेव के दो रानियां थीं। उनके नाम थे सुनन्दा और नन्दा। सुनन्दा के भरत आदि सौ पुत्र और एक ब्राह्मी कन्या थी और नन्दा के बाहुबलि पुत्र और सुन्दरी नाम की पुत्री थी। इस प्रकार भगवान् ऋषभ देव धन, सम्पत्ति, राज, वैभव, कुटुम्ब, परिवार आदि से पूर्ण सुखी होकर प्रजा का नीति के साथ पालन करते हुए तिरासी लाख पूर्व पर्यन्त राज करते रहे तब एक दिन इन्द्र ने अवधिज्ञान से विचार किया कि तीर्थंकर भगवान् का समस्त समय पन्थेन्द्रिय भोगों में व्यतीत हुआ चला जा रहा है, और भगवान् विरक्त नहीं हुए, वैराग्य का कोई निमित्त विचारना चाहिए। तब इन्द्र ने एक नीलांजना नाम की अप्सरा को जिसका आयु कर्म बहुत अल्प शेष रहा था, भगवान् के समीप नृत्य करने के लिए भेजा अतः भगवान् के सम्मुख उस देवी ने आकर लोगों को चकित करने वाला नृत्य गान करना आरम्भ किया तब समस्त सभा निवासीजन आश्चर्यान्वित होकर कहने लगे कि देखो ऐसे अद्भुत नृत्य का देखना इन्द्र को भी दुर्लभ है। जब ऐसे नृत्य करती हुई नीलांजना अप्सरा का आयु कर्म पूर्ण हो गया तो आत्मा तो परगति गया और शरीर दर्पण के प्रतिबिम्बवत् अदृश्य हो गया अतः इन्द्र ने नृत्य के समय को भंग न होने के कारण उसी समय दूसरी देवांगना रच दी इससे वैसा ही नृत्यगान होता रहा अतः यह परिवर्तन सभा निवासियों में से किसी ने नहीं जाना कि यह वही देवी नृत्य कर रही है अथवा दूसरी परन्तु यह परिवर्तन भगवान् ने अवधिज्ञान से तत्समय ही जान लिया कि वह देवी नृत्य तजकर अन्य लोक गई, यह इन्द्र ने नवीन रच दी है। भगवान् के चित्त पर उसकी इस क्षण तत्परता का बहुत गहरा असर पड़ा। वे विचारने लगे कि अहो जिस प्रकार ये अप्सरा आँखों के देखते-देखते नष्ट हो गई उसी तरह यह संसार भी क्षण भंगुर है। यह पुत्र, पौत्र, स्त्री आदि का जितना समुदाय है वह सब दुःख को देने वाला है और इन्हीं के मोह में फँसकर वह नाना प्रकार के दुखों को भोगता है। अतः इनसे सम्बन्ध छोड़कर जिन दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये जिससे मैं आत्मिक सच्चा सुख प्राप्त कर सकूँ। इस प्रकार ऋषभ देव का मन वैराग्य युक्त जानकर लौकांतिक देव आए और भगवान् को वैराग्य पर दृढ़ कर निज स्थान पर चले गये।

तदनन्तर इन्द्र आदि देव भगवान् को पालकी में बैठाकर उन्हें तिलक नामक उद्यान में ले गए। वहाँ भगवान् ने वट वृक्ष के नीचे सभी वस्त्राभूषणों का परित्याग करके केशलौच के अनन्तर सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर जिनदीक्षा स्वीकार की। भगवान् के केशों को इन्द्र ने ले जाकर क्षीर समुद्र में डाल दिया। भगवान् की दीक्षा के समय सब देव गण आए और भगवान् का दीक्षोत्सव करके अपने-अपने स्थान पर चले गए। भगवान् के साथ और भी चार हजार राजाओं ने मुनिव्रत का स्वरूप जानकर केवल स्वामी की भक्ति करके जगन्मुद्रा धारण की। भगवान् ऋषभदेव तो दीक्षा लेकर षट्मास पर्यन्त निश्चल कायोत्सर्ग में लीन रहे परन्तु शेष जो कच्छ महाकच्छ आदि चार हजार राजा थे वे जब

नम्र मुद्रा धारण कर क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परिषह सहन करने में असमर्थ हो गए तब कितने ही कायोत्सर्ग तजकर क्षुधा की वेदना से महा व्याकुल होकर फल आदि का भक्षण करने लगे, कुछ तृषा के कारण संतप्त चित्त होकर नदी सरोवर आदि का शीतल जलपान करने लगे। उनका अष्ट आचरण देखकर उस वन के देवताओं ने उनसे मना किया और कहा—“कि तुम लोग ऐसा मत करो। अरे मूर्खों! यह तुम्हारा दीक्षा ग्रहण किया हुआ दिगम्बर अवस्था का रूप सर्वत्रोष्ठ अरिहंत, चक्रवर्ती आदि लोगों के धारण करने योग्य है। तुम्हें इस नम्र जिनमुद्रा को धारण कर जैनेन्द्री दीक्षा को कलंकित करना तथा इस निन्दनीय कृत्य का करना योग्य नहीं। दूसरी बात, ऐसे कृत्य का करना तुम्हें मरक आदि दुर्गति का कारण भी है।

तब उन्होंने नम्रमुद्रा का परित्याग कर वृक्षों के बकल धारण कर ली। कुछ ने मृगचर्म आदि धारण कर ली। कुछ ने दर्म धारण कर ली। वन वृक्षों के फलों से वे क्षुधा निवारण करने लगे। सरोवर आदि के शीतल जल से तृषा निवारण करने लगे। कितने ही परस्पर वार्तालाप करने लगे। “कि यह गुरु महावीर वीर किसी कार्य की सिद्धि के लिए योग साधन करने वन में आए हैं। और बाद में वापिस जाकर राजलक्ष्मी का सेवन करेंगे, आज या एक दो दिन में योग का परित्याग कर अपने स्थान पर जाकर राज्य लक्ष्मी अंगीकार करेंगे इससे यदि हम पहले नगर में चले जाएंगे तो वे हमें स्वामी कार्य में विघ्न डालने वाले और छल करने वाले जानकर हमारा मान भंग कर देश से निकाल देंगे तब भी तो हमें सम्पदा विहीन होकर बहुत बाधा सहन करनी पड़ेगी अथवा इनके पुत्र भरत चक्रवर्ती राज्य कर रहें हैं वे भी हम पर कोप करेंगे कि वे स्वामी को तजकर चले आए हैं अतः ये दण्ड देने योग्य हैं अतः यावत् (जब तक) भगवान् ऋषभ देव का योग पूर्ण न हो जाय तावत् (तब तक) हमें भी बाधा सहने योग्य है। यह भगवान् अभी दिन दो दिन में योग सिद्धि होने पर उठे घर जाएंगे तब हम से प्रसन्न होकर हमें प्रतिष्ठा, सत्कार, लाभ आदि से सम्पन्न करेंगे।” इस प्रकार कितनों ही ने अन्तःकरण में व्याकुलता होते हुए भी अपनी आत्मा को दृढ़ (स्थिर) किया। कितने ही विचलित होकर भस्मी लगाकर जटाधारी हो गये, कितने ही दंडधारी हुए इत्यादि उन्होंने अनेक भेष धारण किये। उनमें से मारीच ने परिव्राजकों में मुख्य होकर परिव्राजक का मार्ग चलाया।

अथानन्तर महाध्यानी ऋषभदेव भगवान् ने छह मास पूर्ण होने पर आहार के निमित्त प्रवर्तन किया। उन्होंने मन में विचारा कि—अहो! देखो, ये कच्छ महाकच्छ आदि महान वंशोद्भव संयमी मुनि का मार्ग न जानकर क्षुधा, तृषा, आदि २२ परीषह सहन करने में असमर्थ होकर थोड़े ही दिनों में भ्रष्ट हो गए अतः मुझे मोक्षमार्ग की सिद्धि और काय की स्थिति के निमित्त अब यतियों के आहार का मार्ग दर्शना चाहिए। मोक्षाभिलाषी निर्ग्रन्थ साधुओं को न विलकुल काय ही कुश करना और न गरिष्ठ रस संयुक्त, मिष्ट, स्वादिष्ट भोजन के द्वारा पोषण ही करना चाहिए किन्तु दोष अर्थात् राग आदि दोष अथवा वात, पित्त, कफ आदि दोष के नाश के निमित्त उपवास आदि तप करना और प्राण धारण करने के निमित्त शास्त्रोक्त निर्दोष शुद्ध निरंतराय आहार लेना चाहिये ऐसा मन में निश्चय करते हुए आदीश्वर भगवान् ने ईर्या समिति पूर्वक अहार के निमित्त बिहार किया। मुनि सम्बन्धी क्रिया के आचरणी भगवान् भीन पूर्वक बिहार करते गये, सोपुर ग्राम आदि में बिहार करते हुए प्रजाजन राज्य अवस्थावत् विविध प्रकार के उत्तम-उत्तम पदार्थ उन्हें भेंट करते थे परन्तु अब इन्हें भेंट आदि से क्या प्रयोजन था? अन्तराय जानकर वापिस वन में चले जाते थे। इस प्रकार षट् मास पर्यन्त जब आहार की विधिपूर्वक प्राप्ति न हुई तब वे बिहार करते-करते हस्तनागपुर आए। सर्व ही नगर निवासीजन भगवान् के दर्शन करके परम आनन्दित हुए। जब भगवान् राजद्वार के निकट पहुँचे तब

सिद्धांत नामक एक द्वारपाल ने महाराज से जाकर कहा—स्वामी ! आदिनाथ भगवान पृथ्वी को अपने पैरों से पवित्र करते हुये आहार के लिए आये हैं, तब सोमप्रभ तथा श्रेयांस राजा अपने पुरोहित, मन्त्री आदि तथा अन्तःपुर सहित उठकर भगवान के सम्मुख गए महा भक्ति संयुक्त राजद्वार के बाहर जाकर भगवान की प्रदक्षिणा करके उन्होंने बारम्बार नमस्कार किया और रत्नपात्र से अर्घ्य देकर भगवान के चरणारविंद धोए । राजा सोमप्रभ के लघुभ्राता श्रेयांस को भगवान के दर्शन के द्वारा अपने प्रथम भव में उसने जो चारण ऋद्धि धारी युगल मुनियों को आहार दान दिया था वह सब विधान ज्यों का त्यों स्मरण हो आया । उस समस्त विधि से परिचित होकर राजा श्रेयांस ने बड़ी भक्ति से उनको नवधा-भक्षितपूर्वक रत्नकण्ठित वनकमय पात्रों में रखे हुए शीतल मिष्ट प्रासुक ईक्षु रस का आहार कराया । इस पात्रदान के अतिशय से उनके यहां स्वर्ग के देवों ने रत्नों की वर्षा की, कल्पवृक्षों के सुगन्धित और सुन्दर पुष्प बरपाये, दुन्दुभि बाजे बजाए । उस समय मंद, सुगन्धित, शीतल पवन चली । धन्य है यह पात्र, धन्य है यह दान और धन्य है यह दान का देने वाला श्रेयांस इस प्रकार जय-जयकार शब्द हुआ । श्रेयांस के दान से आहार देने की विधि प्रगट हुई । श्रेयांस राजा देवों में भी प्रशंसा के योग्य हुए । सच है सुवात्रों को दिए दान के फल से क्या-क्या नहीं होता है ? भगवान निरन्तराय निर्दोष शुद्ध आहार लेकर वन में विहार कर गए । एक हजार वर्ष पर्यन्त महान घोर तपश्चरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घातिया कर्म रूपी काष्ठ को भस्मकर फाल्गुण कृष्ण एकादशी के दिन प्रातःकाल के समय भगवान ने लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया । केवलज्ञान होते ही इन्द्र ने आकर बारह सभाओं में सुशोभित समवसरण की रचना की । उन बारह सभा निवासियों का अनुक्रम इस प्रकार है—

काव्य

पहले कोठे विषै साध तिष्ठे अथ नाशक,
भयन को शुभ स्वर्ग मोक्ष मारग परकाशक ।
दूजे कल्प सुरी महान मूरत दुति धारक,
जिनवर भक्ति धरंत लखे प्रभु पद दुःखहारक । १।
तीजेवृतिका एक श्वेत साड़ी तन धारे,
तथा श्राविक्य तिष्ठत अत युत तिसी मंभारे ।
चौथे राशि रवि आदि ज्योतिषी सुरी निहारो,
क्रान्ति युक्त जिन भक्ति भरी मिथ्यात विहारो । २।
पंचम कोठे विषै व्यन्तरी क्रान्ति विराजत,
जिन पद अम्बुज भक्ति धरे आनन्द सुसाजत ।
भवनवासिनी छठे विषै मुख पद्म समानो,
जिन चरणाम्बुज सेव करन को अमरी जानो । ३।
दश प्रकार सुर नागपति सप्तम तिष्ठते,
जिन पद अम्बुज सेव करन को अलि दुतिवन्ते ।
अष्टम व्यन्तर देव भक्ति युत अष्ट निहारो,
नवमे द्योतन करत ज्योतिषी पंच प्रकारो । ४।
कल्पवासि सुर दशम विषै तिष्ठें हरषाई,
राजादिक नर दृष्टि सहित ग्यारम तिष्टाई ।

सिंह आदि सब पशुदयाव्रत सम्यक् मंडित,

षट् दुगुण के विषै जान लेहु तुम पंडित ।५।

बोहा— शूर पशु भी परस्पर, वैर त्याग तिष्ठंत ।

यह प्रभु की महिमा अगम, वरनै को बुधिवंत ॥

इस प्रकार द्वादश सभाओं के मध्य अशोक वृक्ष के समीप रत्नमय सिंहासन पर चतुरांगुल अन्तरीक्ष ऋषभ देव भगवान् विराजे हुए अपनी निरक्षरी दिव्य ध्वनि द्वारा संसार त्राप को नाश करने वाले परम पवित्र उपदेशामृत से अनेक जीवों को दुःखों से छुटाकर सुखी बनाते थे । भगवान् के चौरासी गणधर हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) वृषभसेन, (२) कुम्भ, (३) दृढरथ, (४) शतधनु, (५) देवशर्मा (६) देवभाव, (७) नन्दन, (८) सोमदत्त, (९) सूरदत्त, (१०) वायुशर्मा, (११) यशोब्राह्म (१२) देवग्नि, (१३) अग्निदेव, (१४) अग्निगुप्त, (१५) मित्राग्नि, (१६) हलभूत, (१७) महीधर, (१८) महेन्द्र, (१९) वसुदेव, (२०) वसुन्धर, (२१) अचल, (२२) मेरु, (२३) मेरुधन, (२४) मेरुभूति, (२५) सर्वयश, (२६) सर्वयज्ञ, (२७) सर्वगुप्त, (२८) सर्वप्रिय, (२९) सर्वदेव, (३०) सर्वविजय (३१) विजयगुप्त (३२) विजयमित्र, (३३) विजयिल, (३४) अपराजित (३५) वसुमित्र, (३६) विश्वसेन, (३७) साधुसेन, (३८) सत्यदेव, (३९) देवसत्य, (४०) सत्यगुप्त, (४१) सत्यमित्र, (४२) निर्मल, (४३) विनीत, (४४) संवर (४५) मुनिगुप्त (४६) मुनिदत्त, (४७) मुनियज्ञ, (४८) मुनिदेव, (४९) गुप्तयज्ञ, (५०) मित्रयज्ञ (५१) स्वयंभू, (५२) भगदेव, (५३) भगदत्त, (५४) भगफल्लु, (५५) गुप्तफल्लु, (५६) मित्रफल्लु, (५७) प्रजापति, (५८) सर्वसंग, (५९) वरुण, (६०) धनपालक, (६१) मधवान, (६२) तेजोराशि, (६३) महावीर (६४) महारथ, (६५) विशालाक्ष, (६६) महाबाल, (६७) भुविशाल, (६८) वज्र, (६९) वज्रसार, (७०) चन्द्रबूल, (७१) जप, (७२) महारत्न, (७३) कच्छ, (७४) महाकच्छ, (७५) नमि, (७६) विनमि, (७७) बल, (७८) अतिबल, (७९) भद्रबल, (८०) नंदी, (८१) महाभाग, (८२) नंदिमित्र, (८३) कामदेव, और (८४) अनुपम ।

इस सबमें वृषभसेन मुख्य जानने चाहिए । भगवान् के चतुर्विध संघ का प्रमाण पृथक्-पृथक् इस प्रकार जानना चाहिए—वादी-१२६५० । चौदह पूर्व के पाठी-४७५० । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि-४१५० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या-६००० । केवलज्ञानियों की संख्या-२०००० । विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या-२०६०० । मनः पर्ययज्ञानी मुनियों की संख्या-१२७५० । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या-१२७५० । समस्त मुनियों की संख्या-८४००० । आर्यिकाओं की संख्या-७५०००० ।

मुख्य आर्यिका का नाम ब्राह्मी था । आर्यों की संख्या—तीन लाख । आर्यिकाओं की संख्या—पांच लाख । समवशरण काल-एक लाख पूर्व में १००० वर्ष और चौदह दिन कम । मोक्षजाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघट्य और तब ही भरत चक्रेश्वरी आदि आठ महान् पुरुषों को आदिनाथ भगवान् के निर्वाणसूचक आठ स्वप्न आए जिनके नाम और चिन्ह इस प्रकार हैं—

(१) जिस दिन आदिनाथ भगवान् ने योगों का निरोध किया उसी दिवस की रात्रि में भरत चक्रवर्ती को ऐसा स्वप्न हुआ कि मानों सुमेरु पर्वत ऊँचा होकर सिद्धक्षेत्र से जाकर लग गया है ।

(२) भरत चक्रवर्ती के पुत्र अकंकीर्ति को ऐसा स्वप्न हुआ कि स्वर्ग लोक के शिखर से एक

महान पवित्र श्रीधर का वृक्ष आया था और वह जगत निवासी जीवों के जन्म, जरा, मृत्यु रूप रोगों का नाशकर पुनः उल्टा लोक शिखर जाने को उद्यत हुआ है।

(३) भरत चक्रवर्ती के गृहपति रत्नशिष्य को ऐसा स्वप्न हुआ कि उर्ध्वलोक से एक कल्पवृक्ष आया था और वह जीवों को मनोवांछित फल देकर पीछे स्वर्गलोक के शिखर जागा।

(४) चक्रवर्ती के मुख्य मन्त्री को ऐसा स्वप्न आया कि स्वर्गलोक से जो एक रत्नद्वीप आया था वह जिन्हें रत्न लेने की इच्छा थी उनको अनेक रत्न देकर पीछे उर्ध्वलोक को गमन करेगा।

(५) भरत चक्रवर्ती के सेनापति को ऐसा स्वप्न आया कि एक अनन्तवीर्य का धारी, अद्भुत पराक्रमी मृगराज कैलाश पर्वत रूपी पिंजरे को छेदकर ऊपर जाने का उत्सुक हो उछलने को अभियोगी हुआ।

(६) जय कुमार के पुत्र अनन्तवीर्य को ऐसा स्वप्न आया कि एक अद्भुत, अनन्त कला का धारी चन्द्रमा जगत में उद्योतकर अपने तारागण सहित उर्ध्वलोक को जाने का उद्यमी हुआ है।

(७) भरत चक्रवर्ती की पटरानी सुभद्रा को ऐसा स्वप्न हुआ कि कृपभदेव की रानियाँ—यशस्वती और सुनन्दा ये दोनों एक स्थान पर बैठी हुई चिन्ता कर रही हैं।

(८) काशीदेशाधिपति चित्रांगद को ऐसा स्वप्न हुआ कि अद्भुत तेज का धारी प्रकाशमान सूर्य पृथ्वी पर उद्योतकर उर्ध्वलोक को जाना चाहता है।

इस प्रकार आदि धर्मोपदेशक आदिनाथ भगवान के निर्वाण सूचक आठ स्वप्न आठ प्रधान पुरुषों को हुए। इस प्रकार भरत आदि को लेकर सब लोगों ने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही पुरोहित से उनके फल पूछे।

पुरोहित ने कहा कि ये सब स्वप्न यही सूचित करते हैं कि भगवान ऋषभदेव कर्मों को निःशेष कर अनेक मुनियों के साथ-२ मोक्ष पधारेंगे। पुरोहित इन सब स्वप्नों का फल कह ही रहा था कि इतने में आनन्द नाम का एक मनुष्य आया और उसने भगवान ऋषभदेव का सब विवरण कहा। उसने कहा कि जिस प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर सरोवर के सब कमल मुकुलित हो जाते हैं उसी प्रकार भगवान की दिव्य ध्वनि बन्द हो जाने पर सब सभा हाथ जोड़े हुए मुकुलित हो रही है।

यह समाचार सुनकर वह चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगों के साथ कैलाशपर्वत पर पहुँचे। उसने जाकर भगवान की तीन प्रदक्षिणायें दी, स्तुति की, भक्तिपूर्वक अपने हाथ से महामह नाम की महापूजा की और इसी तरह चौदह दिन तक भगवान की सेवा की तदनन्तर कैलाश पर्वत पर माघ कृष्ण चौदश को शुभ मुहूर्त और अभिजित नक्षत्र में भगवान ऋषभदेव ने तीसरे सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नाम के शुक्ल ध्यान से मन, वचन, काय तीनों योगों का निरोध किया और फिर अन्त के चौदहवें गुण-स्थान में ठहर कर जितनी देर में अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पंच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण होता है उतने ही समय में चौथे व्युपरस क्रिया निवृत्ति नाम के शुक्ल ध्यान से अघातिया कर्मों का भी नाशकर पर्यकासन से बस हजार मुनियों के साथ वे परमधाम मोक्ष सिधार गए। वे आदिनाथ स्वामी मुझे तथा भव्यजनों को सम्यग्ज्ञान और शांति प्रदान करें।

इति श्री आदिनाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्तः।

अथ श्री अजितनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री आदिनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर पचास लाख कोटि सागर के बाव दूसरे

तीर्थंकर श्री अजितनाथ भगवान ने जन्म लिया। इनका पहला भव-वैजयन्त नामा, दूसरा अनुत्तर विमान। गर्भतिथि आषाढ़ कृष्ण २। जन्म स्थान—अयोध्यापुरी। पिता का नाम श्री जितशत्रु। माता का नाम-विजयसेना देवी। वंश-इक्ष्वाकु। जन्म तिथि माघ शुक्ल १०, शरीर का वर्ण सुवर्णसम। चिह्न-गज। शरीर की ऊँचाई—४५० धनुष। आयु प्रमाण बहत्तर लाख पूर्व। कुमार काल—अठारह लाख पूर्व। राज्यकाल—५३ लाख पूर्व और एक पूर्वांग व चौरासी लाख वर्ष। पाणि ग्रहण किया।

समकालीन प्रधान राजा-सगर चक्रवर्ती। दीक्षा तिथि-माघ शुक्ल १०। तप कल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम सिद्धार्थ। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—सप्तपर्ण वृक्ष। तपोवन—सहस्राभ्र वन। वैराग्य का कारण उल्कापात होते देखना। दीक्षा समय अपरान्ह। दीक्षा लेने के कितने दिवस पश्चात् प्रथम पारणा किया—आठ दिवस। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—अरिष्टपुर (अयोध्या) प्रथम आहारदाता का नाम-ब्रह्मदत्त। तपश्चरण का काल-बारह वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—पौष शुक्ल चतुर्थी। केवलज्ञान समय अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण-साढ़े ग्यारह योजन। गणधर संख्या—नब्बे। मुख्य गणधर का नाम-सिहसेन। वादियों की संख्या बारह हजार चार सौ।

चौदह पूर्व के पाठी तीन हजार सात सौ पचास। आचार्यंग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि इक्कीस हजार छह सौ। मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—बारह हजार पाँच सौ। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या बारह हजार चार सौ। विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या बीस हजार चार सौ। केवल ज्ञानियों की संख्या—बीस हजार समस्त मुनियों की संख्या एक लाख। आर्यिकाओं की संख्या तीन लाख पचास हजार। मुख्य आर्यिका का नाम फाल्गु। श्रावकों की संख्या—तीन लाख। श्राविकाओं की संख्या पाँच लाख। समवशरण काल एक लाख पूर्व में एक पूर्वांग और बारह वर्ष कम। मोक्ष जाने के कितने दिन पहले समवशरण बिघटा—तीस दिन। निर्वाण तिथि चैत्र शुक्ल पंचमी। निर्वाण नक्षत्र—रोहिणी। मोक्ष जाने का समय—पूर्वाह्न। मोक्ष जाने के समय का आसन कायोत्सर्ग। मोक्ष-स्थान—सम्मेदशिखर सिद्धवरकूट। भगवान के मुक्ति गमन के समय में कितने मुनि साथ मोक्ष गए—१०००। समवशरण से समस्त कितने मुनि मोक्ष गए—सत्तर हजार एक सौ। एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर तक अन्तर काल—तीस लाख कोटि सागर।

इति श्री अजितनाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्तः।

अथ श्री संभवनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारंभः॥

श्री अजित नाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर तीस लाख कोटि सागर बाद श्री संभव-नाथ भगवान ने जन्म लिया। इनका पहला भव-वैदेयक विमान। गर्भ तिथि—फाल्गुन शुक्ल ८। जन्म स्थान—श्रावस्ती (अयोध्या)। पिता का नाम श्री-जितारि। माता नाम—सुसेना देवी। वंश—इक्ष्वाकु। जन्मतिथि—कार्तिक शुक्ल १५। शरीर वर्ण—सुवर्णसम। चिह्न—अश्व। शरीर की ऊँचाई ४०० धनुष। आयु प्रमाण—साठ लाख पूर्व। कुमार काल १५ लाख पूर्व। राज्यकाल—४४ लाख पूर्व और ४ पूर्वांग। पाणिग्रहण किया। समकालीन प्रधान राजा का नाम—सत्यवीर्य। दीक्षा तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल १५। तप कल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम—सिद्धार्थ। भगवान के साथ दीक्षा देने वालों की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—शालमली वृक्ष। तपोवन—सहस्राभ्रवन (अयोध्या)। वैराग्य का कारण—भेदों का विघटना देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के पश्चात् प्रथम

पारण किया—वेला के पश्चात् नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—इष्टपुर (श्रावस्ती)। प्रथम आहार दाता का नाम—सुरेन्द्रदाता। तपश्चरण काल—१४ वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—कातिक कृष्ण ४। केवल—ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहरवन। समवशरण प्रमाण—११ योजन। गणधर संख्या—१०५। मुख्य गणधर का नाम—चारुदत्त। वादियों की संख्या—बारह हजार। चौदह पूर्व के पाठी—२१५०। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—१२६३०००। अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—६६०००। केवलज्ञानियों की संख्या—१५०००। विक्रियारिद्धिधारी मुनियों की संख्या—२६६६६। मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—१२१५०। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—१२०००। समस्त मुनियों की संख्या—२००००। आर्यिकाओं की संख्या—३३००००। मुख्य आर्यिका का नाम—श्यामा। श्रावकों की संख्या—३०००००। श्राविकाओं की संख्या—५०००००। समवशरण काल एक लाख पूर्व में ४ पूर्वांग चौदह वर्ष कम। मोक्ष जाने के कितने दिन पहले समवशरण विघटा—तीस दिन। निर्माणतिथि—चैत शुक्ल ६। निर्माण नक्षत्र—ज्येष्ठा। मोक्ष जाने का समय अपरान्ह। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्षस्थान—सम्मेदशिखर धवल कूट। भगवान के मुक्ति गमन समय में कितने मुनि साथ मोक्ष गए—१०००। समवशरण से समस्त कितने मुनि मोक्ष गए—एक लाख सत्तर हजार एक सौ (१७०१००)।

इति श्री संभवनाथ तीर्थकरस्य विवरण समाप्तः।

अथ श्री अभिनन्दन नाथ तीर्थकरस्य विवरण प्रारम्भः।

श्री संभवनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर दश लाख कोटि सागर बाद अभिनन्द नाथ भगवान ने जन्म लिया। इनका पहला भव—विजय—विमान। जन्म स्थान—विनीता (अयोध्या) पिता का नाम—श्री संवरराय। माता का नाम—सिद्धार्थ देवी। वंश—इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—वैशाख शुक्ल ६। जन्मतिथि—माघ शुक्ल १२। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—कपि (बानर)। शरीर प्रमाण—३५० धनुष। आयु प्रमाण—५० लाख पूर्व। कुमार काल—साढ़े बारह लाख पूर्व। राज्य काल—३६ लाख पूर्व और पचास लाख पूर्वांग, पाणिग्रहण किया। समकालीन प्रधान राजा का नाम—मित्रभव। दीक्षा तिथि—माघ शुक्ल १२। भगवान के तपकल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम—अर्थसिद्धा। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१०००।

दीक्षा वृक्ष—सरल जाति का वृक्ष। तपोवन सहस्राब्ज वन (अयोध्या) वैराग्य का कारण मेघ विघटना देखना दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के कितने दिन पश्चात् प्रथम पारणा किया—वेला नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—साकेता (सिद्धार्थपुर)। प्रथम आहार दाता का नाम—इन्द्रदत्त। तपश्चरण काल—१८ वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—पौष शुक्ल १४। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान का स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—साढ़े दश योजन। गणधर संख्या—१०३। मुख्य गणधर का नाम—बच्चनाभि। वादियों की संख्या—११०००। चौदह पूर्व के पाठी—दो हजार पाँच सौ। आचारांगसूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२३०५०। अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—६६०००। केवल ज्ञानियों की संख्या—१६०००। विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—२६०००। मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—११६५०। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—११०००। समस्त मुनियों की संख्या—३०२४००। आर्यिकाओं की संख्या—३३०६००। मुख्य आर्यिका का नाम—अजिता। श्रावकों की संख्या—तीन लाख। श्राविकाओं की संख्या—पाँच लाख। समवशरण काल १ लाख पूर्व में १२ पूर्वांग और २० वर्ष कम। मोक्ष जाने के एक मास पहले समवशरण दिवटा। निर्वाणतिथि—वैशाख शुक्ल

६। निर्वाणनक्षत्र-पुनर्वसु । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर आनन्दकूट । भगवान् के मुक्ति गमन समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त दो लाख अस्सी हजार एक सौ मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में धर्म का विच्छेद नहीं हुआ अर्थात् इनके निर्वाण गमन से सुमतिनाथ भगवान् के जन्म पर्यन्त अखंडरीति से धर्म प्रवर्तता रहा ॥ इति ॥

अथ श्री सुमतिनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् ॥

श्री अभिनन्दन नाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर नौ लाख कोटि सागर बाद श्री सुमति नाथ भगवान् ने जन्म लिया । इनका पहला भव-वैजयन्त विमान । जन्म स्थान साकेता (अयोध्या) । पिता का नाम—श्री मेघ प्रभु । माता का नाम—सूमंगलादेवी । वंश—इक्ष्वाकु । गर्भ तिथि—श्रावण शुक्ल-२ । जन्म तिथि—चैत्र शुक्ल ११ । जन्म नक्षत्र—मघा । शरीर का वर्ण—सुवर्णसम । चिन्ह—चातक । शरीर प्रमाण—तीन सौ धनुष । आयु प्रमाण—४० लाख पूर्व । कुमार काल—१० लाख पूर्व । राज्यकाल—१६ लाख पूर्व और १२ पूर्वांग । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधानराजा—मित्रवीर्य । दीक्षा तिथि—चैत्र शुक्ल ११ । भगवान् के तप कल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम—अभयकरी । भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१००० । दीक्षावृक्ष—प्रियंगुवृक्ष । तपोवन—सहस्राश्रवन (अयोध्या) वैराग्य का कारण—मेघों का विघटना देखना । दीक्षासमय—अपरान्ह । दीक्षा से बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—विजयपुर (महापुर) । प्रथम आहारदाता का नाम—पद्मराय । तपश्चरणकाल—२० वर्ष । केवलज्ञान तिथि—चैत्र शुक्ल ११ । केवलज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवलज्ञान स्थान—मनोहरवन । समवशरण का प्रमाण—१० योजन । गणधर संख्या—११६ । मुख्य गणधर का नाम—चमर । वादियों की संख्या—१०००० । चौदह पूर्व के पाठी—२४००० । आचारांगसूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२५४३५० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—११००० । केवलज्ञानियों की संख्या—१३००० । विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—१८४०० । मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—१०४५० । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—१०६०० । समस्त मुनियों की संख्या—३०२०० । आयिकाओं की संख्या—३३०००० । मुख्य आयिका का नाम—काश्यप । श्रावकों की संख्या—तीन लाख । श्राविकाओं की संख्या—पांच लाख । समवशरण काल—१ लाख पूर्व में १६ पूर्वांग और छः मास कम । मोक्ष जाने के एक मास पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—चैत्र शुक्ल ११ । निर्वाण नक्षत्र—मघा । मोक्ष जाने का समय—पूर्वाह्न । मोक्ष जाने के समय का आसन कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर अविधल कूट । भगवान् के मुक्ति गमन समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त ३०१६०० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में भी धर्म का विच्छेद नहीं हुआ अर्थात् इनके निर्वाण होने से श्री पद्मप्रभु तीर्थकर भगवान् के जन्म पर्यन्त अखंडरीति से धर्म प्रवर्तता रहा ।

॥ इति श्री सुमतिनाथ तीर्थकरस्य विवरण समाप्तः ॥

अथ श्री पद्मप्रभु तीर्थकरस्य विवरण प्रारम्भः ॥

श्री सुमति नाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर नब्बे हजार कोटि सागर बाद श्री पद्मप्रभु भगवान् ने जन्म लिया । इनका पहला भव ग्रंथेयक विमान । जन्म स्थान—कोशाम्बी (प्रयाग) । पिता का नाम—श्री धरणराय । माता का नाम—सुसीमा देवी । वंश—इक्ष्वाकु वंश । गर्भ तिथि—माघ कृष्ण ६ । जन्म तिथि—कार्तिक शुक्ल १३ । जन्म नक्षत्र—चित्रा । शरीर का वर्ण—अरुण वर्ण । चिन्ह—पद्म । शरीर प्रमाण—२५० धनुष । आयु प्रमाण—३० लाख पूर्व । कुमारकाल—साढ़े सात लाख पूर्व । राज्यकाल २१ लाख पूर्व

और ५८ लाख पूर्वांग । पाणिग्रह किया । दीक्षा तिथि-कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी । दीक्षावृक्ष-प्रियंगु वृक्ष । तपोवन (सहस्राभ्र वन) कौशाम्बी । वैराग्य का कारण—हाथी के भोजन न करने का समानार सुनना । दीक्षा समय-अपरान्ह । दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया । प्रथम पारणा करने के नगर का नाम धान्यपुर-“मंगलपुर” । प्रथम आहार दाता का नाम-सोमदत्त । तपश्चरण काल-साढ़े छ वर्ष । केवल ज्ञान तिथि-चैत्रशुक्ल १५ । केवल ज्ञान समय-अपरान्ह काल । केवलज्ञान स्थान-मनोहरवन । समवशरण का प्रमाण-साढ़े नौ योजन । गणधर संख्या-१११ । मुख्यगणधर का नाम-बज्रवली । वादियों की संख्या-६६०० । चौदह पूर्व के पाठी-२६६००० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या-१०००० । केवलज्ञानी मुनियों की संख्या-१२६०० । विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या-१६८०० । मनःपर्ययज्ञानी मुनियों की संख्या-१०३०० । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या-८००० । समस्त मुनियों की संख्या-३०२००० । आर्यिकाओं की संख्या-४२०००० । मुख्य आर्यिका का नाम-रतिसेना । श्रावकों की संख्या-तीन लाख । श्राविकाओं की संख्या-पाँच लाख । समवशरण काल-एक लाख पूर्व में बीस पूर्वांग और नौ वर्ष कम । मोक्ष जाने के तीस दिन पहिले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि फाल्गुन कृष्ण ४ । निर्वाण नक्षत्र-चित्रा । मोक्ष जाने का समय अपरान्ह । मोक्ष जाने के समय का आसन-कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान-सम्मदशिखर मोहनकूट । भगवान् के मुक्ति गमन समय १००० मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त ३१३६०० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में भी धर्म का विच्छेद नहीं हुआ । अर्थात् इनके निर्वाण होने से सुपाश्व-नाथ भगवान् के जन्मपर्यन्त अखंड रीति से धर्म प्रवर्तता रहा था ।

॥ इति श्री पद्मप्रभु तीर्थकरस्य विवरणम् ॥

अथ श्री सुपाश्वनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् :—

श्री पद्मप्रभु भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर नव्वे हजार कोटि सागर के बाद श्री सुपाश्व-नाथ भगवान् ने जन्म लिया । इनका पहला भव—ग्रेदेयक विमान । जन्म स्थान—वाराणसी (काशी) । पिता का नाम—श्री सुप्रतिष्ठ । माता का नाम—पृथ्वी देवी । इक्ष्वाकु वंश । गर्भ तिथि—हरित । चिन्ह-स्वस्तिक । शरीर प्रमाण—२०० धनुष । आयु प्रमाण—बीस लाख पूर्व । कुमार काल—५ लाख पूर्व । राज्य काल—१४ लाख पूर्व और २० पूर्वांग । पाणि ग्रहण किया । समकालीन राजा का नाम—धर्मवीर्य । दीक्षा तिथि—ज्येष्ठ शुक्ल १२ । भगवान् के तप कल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम—मनोरमा । भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१००० । दीक्षा वृक्ष—शिरीष वृक्ष । तपोवन सहस्राभ्र वन (काशी) । वैराग्य का कारण—मेघों का बिघटना देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने के एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—पाटली खंड । प्रथम आहार दाता का नाम—महादत्त । तपश्चरण काल—६ वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—फाल्गुन कृष्ण ६ । केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहरवन । समवशरण का प्रमाण—६ योजन । गणधर संख्या—६५ । मुख्य गणधर का नाम—चमरवली । वादियों की संख्या—७४०० । चौदह पूर्व के पाठी—२०३० । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२४४६५० । अवधि ज्ञानी मुनियों की संख्या—६००० । केवल ज्ञानियों की संख्या—११३०० । विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—बारह हजार तीन सौ । मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—६१५० । वादित्र ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—७६०० समस्त मुनियों की संख्या—३०००० । आर्यिकाओं की संख्या—३३०००० । आर्यिका का नाम—सोमा । श्रावकों की संख्या—तीन लाख । श्राविकाओं की संख्या—पाँच लाख । समवशरण काल—१ लाख पूर्व में २४ पूर्वांग और ३ मास कम । मोक्ष जाने के एक मास पहिले समवशरण

विघटा । निर्वाण तिथि—फाल्गुन ७ । मोक्ष जाने का समय—पूर्वाह्न । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—प्रभास कूट सम्मेद शिखर । भगवान् के भुक्तिगमन के समय १००० मुनि साथ मोक्ष गये । समवशरण से समस्त २३५६०० मुनि मोक्ष गये । इनके तीर्थ में भी धर्म का विच्छेद नहीं हुआ अर्थात् इनके निर्वाण होने से चन्द्रप्रभ भगवान् के जन्म पर्यन्त अखंड रीति से धर्म प्रवर्तता रहा ।

इति श्री सुपाश्वर्नाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्तः ।

अथ श्री चन्द्रभ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री सुपाश्वर्नाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर नब्बे हजार कोडि सागर के बाद श्री चन्द्रप्रभ भगवान् ने जन्म लिया । इनका पहला भव—वैजयन्त विमान । जन्म स्थान चन्द्रपुरी (काशी) । पिता का नाम—श्री महासेन । माता का नाम—सुलक्षणा देवी । वंश इक्ष्वाकु । गर्भ तिथि—चैत कृष्ण पंचमी । जन्म तिथि—पौष कृष्ण ११ । जन्म नक्षत्र—अनुराधा । शरीर का वर्ण—शुक्ल वर्ण । चिन्ह—चन्द्रमा । शरीर प्रमाण—१५० धनुष । आयु प्रमाण—दस लाख पूर्व । कुमार काल—द्वादश लाख पूर्व । राज्य काल—छह लाख पूर्व और ६६ लाख पूर्वांग । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—दानवीर्य । दीक्षा तिथि—पौष कृष्ण ११ । भगवान् के तप कल्याणक के गमन के समय को पालकी का नाम—मनोहरा । भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१००० । दीक्षा वृक्ष—नागवृक्ष । तपोवन—सहस्रवाभवन (चन्द्रपुरी) बरार का कारण—दर्पण में मुख देखना । दीक्षा का समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—सोमसनपुर पञ्चखंड । प्रथम आहार दाता का नाम—सोमदेव । तपश्चरण काल—तीन वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—फाल्गुन कृष्ण सप्तमी । केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण का प्रमाण साढ़े आठ योजन । गणधर संख्या—६३ । मुख्य गणधर नाम—दंडक । वादियों की संख्या—७६०० । चौदह पूर्व के पाठी—२००० । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२१०४०० । अवधिज्ञानो मुनियों की संख्या—आठ हजार । केवल ज्ञानियों की संख्या—दस हजार । विद्विधा ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—चौदह हजार । मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—८००० । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—७६०० । आर्यिकाओं की संख्या—३८०००० । मुख्य आर्यिका का नाम—सुमना । आवर्कों की संख्या—तीन लाख । आविकाओं की संख्या—पांच लाख । समवशरण काल—एक लाख पूर्व में ३८ पूर्वांग और चार मास कम । मोक्ष जाने के तीन दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—फाल्गुन शुक्ल सप्तमी । निर्वाण नक्षत्र—अनुराधा । मोक्ष जाने का समय—पूर्वाह्न । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर ललित कूट । भगवान् के भुक्ति गमन के समय एक हजार मुनि मोक्ष गए । समवशरण से समस्त दो लाख चौतीस हजार मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में भी धर्म का विच्छेद नहीं हुआ अर्थात् इनके मोक्ष गमन से पुष्पदन्त भगवान् के जन्म पर्यन्त अखंड रीति से धर्म प्रवर्तता रहा ।

इति श्री चन्द्रप्रभु तीर्थंकरस्य विवरण समाप्तः ॥

अथ श्री पुष्पदन्त तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री चन्द्रप्रभ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर नब्बे कोडि सागर के बाद श्री पुष्पदन्त भगवान् ने जन्म लिया । इनका पहला भव—आरण्यनाम का पन्द्रहवां स्वर्ग । जन्म स्थान—काकंदी । पिता का नाम—श्री सुग्रीव । माता का नाम—रामा देवी । वंश—इक्ष्वाकु । गर्भतिथि—फाल्गुन कृष्ण नवमी ।

जन्म तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल १ । जन्म नक्षत्र—मूल । शरीर का वर्ण - शुक्ल वर्ण । चिन्ह—मगर । शरीर-प्रमाण—सौ धनुष । आयु प्रमाण—दो लाख । पूर्व कुमार काल—पचास हजार पूर्व । राज्य काल—एक लाख पूर्व और २८ पूर्वांग । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—मेघत्रा । दीक्षा तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल १ । भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—पुष्पप्रभा । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—एक हजार । दीक्षा वृक्ष—शालि वृक्ष । तपोवन पुष्पक वन (काकंदी) । वैराग्य का कारण—उल्कापात होते देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—मंदर पुर (श्वेत पुर) । प्रथम आहार दाता का नाम—पुष्पक । तपश्चरण काल—चार वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—कार्तिक शुक्ल २ । केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण का प्रमाण—आठ योजन । गणधर संख्या—८८ । मुख्य गणधर का नाम—विदर्भ । वादियों की संख्या—६६०० । चौदह पूर्व के पाठी—१५०० । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—१५५००० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—८४००० । केवल ज्ञानियों की संख्या—७५०० । विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—१३००० । मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—७५०० । वादित्रऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—७६०० । समस्त मुनियों की संख्या—दो लाख । आर्थिकाओं की संख्या—३८०००० । मुख्य आर्थिका का नाम—वारुणी । आवकों की संख्या दो लाख । आविकाओं की संख्या—चार लाख । समवशरण काल—तीन मास कम ५०००० पूर्व । मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—भाद्रपद शुक्ला अष्टमी । निर्वाण नक्षत्र—मूल । मोक्ष जाने का समय—अपरान्ह । मोक्ष जाने के समय का आसन कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (सुप्रभ कूट) । भगवान के मुक्ति गमन के समय एक हजार मुनि मोक्ष गए । समवशरण से समस्त १७२६६० मुनि मोक्ष गए । श्री पुष्पदन्त भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर इनके तीर्थ में नब्बे केवली हुए । पश्चात् पावपत्य पर्यन्त मुनि, अजिका, आवक, आविका एवं चार प्रकार के संघ का असदभाव होने से धर्म का अभाव रहा । जब शीतल नाथ भगवान का जन्म हुआ तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ ।

॥ इति ॥

अथ श्री शीतल नाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री पुष्पदन्त भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर नौ कोडि सागर के बाद श्री शीतल नाथ भगवान ने जन्म लिया । इनका पहला भव—अच्युत नामक सोलहवाँ स्वर्ग । जन्म स्थान—भद्रिका पुरी । पिता का नाम—श्री दृढरथ । माता का नाम सुनन्दा देवी । वंश—इक्ष्वाकु । गर्भतिथि—चैत्र कृष्णा अष्टमी । जन्मतिथि—माघ कृष्णा १२ । जन्म नक्षत्रपूर्वाषाढ़—शरीर का वर्ण सुवर्णसम । चिन्ह श्रीवृक्ष (कल्पवृक्ष) शरीर प्रमाण नब्बे धनुष । आयु प्रमाण एक लाख पूर्व । कुमार काल—२५००० पूर्व । राज्य काल—५०००० पूर्व । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—सीमन्धर । दीक्षा तिथि—माघ कृष्ण १२ । भगवान के तपकल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—शुक प्रभा । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—एक हजार । दीक्षा वृक्ष—लाक्ष वृक्ष (पीपल) । तपोवन—सहेतुकवन (भद्रिकापुर) । वैराग्य का कारण—मेघों का विघटना देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—अरिष्टपुर (हस्तिनापुर) । प्रथम आहार दाता का नाम—पुनर्वसु । तपश्चरण काल—

दो वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—पौष कृष्ण चौदश । केवलज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण का प्रमाण—साढ़े सात योजन । गणधर संख्या—८१ । मुख्य गणधर का नाम—अनागार । वादियों की संख्या—५७०० । चौदह पूर्व के पाठी—चौदह सौ । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—५६२०० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—सात हजार दो सौ । केवल ज्ञानियों की संख्या—सात हजार । विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—एक हजार दो सौ । मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—सात हजार पाँच सौ । वादित्र ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—नौ हजार सात सौ । समस्त मुनियों की संख्या—एक लाख । आर्यिकाओं की संख्या—३८०००० । मुख्य आर्यिका का नाम—सुयशा । श्रावकों की संख्या—दो लाख । श्राविकाओं की संख्या—चार लाख । समवशरण काल—दो वर्ष कम २५००० पूर्व । मोक्ष जाने के लिये चौदह दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—आश्विन शुक्ल अष्टमी । निर्वाण नक्षत्र—पूर्वाषाढ़ । मोक्ष जाने का समय—अपरान्ह । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्षस्थान—सम्मैद शिखर (धूतवर कूट) । भगवान के मुक्ति गमन के समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त ८०६०० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में चौरासी केवली हुए । पश्चात् आघातल्य पर्यंत चतुर्विध संघ का असद्भाव होने से धर्म का अभाव रहा । जब श्री श्रेयांसनाथ भगवान का जन्म हुआ तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ ।

इति ।

अथ श्री श्रेयांस नाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री शीतल नाथ भगवान के निर्वाण होने के अन्तर सौ सागर ६६२०००० वर्ष कम एक कोडि सागर के बाद श्री श्रेयांस नाथ भगवान ने जन्म लिया । इनका पहला भव—अच्युत नामक सोलहवां स्वर्ग । जन्म स्थान—सिंहपुरी (काशी) । पिता नाम—श्री विष्णु राय । माता का नाम—विष्णु श्री । वंश—इक्ष्वाकु । गर्भतिथि—ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी । जन्म तिथि—फाल्गुन कृष्ण ११ । जन्म नक्षत्र—श्रवण । शरीर का वर्ण—सुवर्ण सम । चिन्ह—गैंडा । शरीर प्रमाण—अस्सी धनुष । आयु प्रमाण—चौरासी लाख वर्ष । कुमार काल—२१ लाख वर्ष । राज्य काल—४२ लाख वर्ष । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—त्रिपृष्ठ वामुदेव । दीक्षा तिथि—फाल्गुन कृष्ण ११ । भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—विमल प्रभा । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—एक हजार । दीक्षा वृक्ष—तिंदुक वृक्ष । तपोवन—मनोहर वन (सिंहपुरी) । वैराग्य का कारण—वसन्त ऋतु में परिवर्तन का देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—सिद्धार्थ पुर (मिथुलापुर) । प्रथम आहार दाता का नाम—सुनन्दराय । तपश्चरण काल—दो वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—माघ कृष्ण ३० । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । केवल ज्ञान का समय—अपरान्ह काल । समवशरण का प्रमाण—सात योजन । गणधर संख्या—७७ । मुख्य गणधर का नाम—कुंतू । वादियों की संख्या—पाँच हजार । चौदह पूर्व के पाठी—१३०० । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—३८४०० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—६००० । केवल ज्ञानियों की संख्या—६५०० । विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—११००० । मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—छः हजार । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—पाँच हजार । समस्त मुनियों की संख्या—८०००० । आर्यिकाओं की संख्या—एक लाख बीस हजार । मुख्य आर्यिका का नाम—धारिणी । श्रावकों की संख्या—दो लाख । श्राविकाओं की संख्या—चार लाख । समवशरण काल—दो वर्ष कम २१००००० वर्ष । मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा ।

निर्वाण तिथि—श्रावण शुक्ल पञ्चम । निर्वाण नक्षत्र—श्रवण । मोक्ष जाने का समय—पूर्वाह्न । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (संकल्प कूट) । भगवान् के मुक्ति गमन के समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त ६५६०० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में बहत्तर केवली हुए । पश्चात् पौण पत्य पर्यन्त चतुर्विध संघ का असद्भाव होने से धर्म का अभाव रहा । जब श्री वासुपूज्य भगवान् का जन्म हुआ तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ ।

इति श्री श्रेयांस नाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री वासुपूज्य तीर्थंकरस्य विवरणम्—

श्री श्रेयांसनाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर चौवन सागर के बाद श्री वासुपूज्य भगवान् ने जन्म लिया । इनका पहला भव—महाशुक नामक दसवीं स्वर्ग । जन्म स्थान—चम्पापुर । पिता का नाम—श्री वसुपूज्य । माता का नाम—विजयावती । वंश—इक्ष्वाकु । गर्भ तिथि—प्राषाढ़ कृष्ण ६ ।

जन्म तिथि—फागुन कृष्ण चौदश । जन्म नक्षत्र—शतभिषा । शरीर का वर्ण—अरुण वरण । चिन्ह—महिष । शरीर प्रमाण—सत्तर धनुष । आयु प्रमाण बहत्तर लाख वर्ष । कुमार काल—अठ्ठारह लाख वर्ष । राज्यकाल—३६ लाख वर्ष । पाणिग्रहण नहीं किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—त्रिपुष्ट (वासुदेव) । दीक्षा तिथि—फाल्गुन कृष्ण चौदश । भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या ६०० । भगवान् के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—पुष्प प्रभा । दीक्षाधृक्ष—पांडु वृक्ष । तपोवन—श्रीडोद्यान वन (चंपापुरी) । वैराग्य का कारण—मेघों का विघटना देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने के ७१ दिवस पश्चात् प्रथम पारणा किया ।

नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—राजग्रही (महीपुर) । प्रथम आहार दाता का नाम—नन्द भूप । तपश्चरण काल—एक वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—माघ शुक्ल २ । केवल ज्ञान समय—पूर्वाह्न काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण का प्रमाण—साढ़े छह योजन । गणधर संख्या—६६ । मुख्य गणधर का नाम—सुधर्म । वादियों की संख्या—४००० । चौदह पूर्व के पाठी—१२०० । प्राचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—३६२०० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—५४०० । केवल ज्ञानियों की संख्या—६००० ।

विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—१०००० । मनः पर्ययज्ञानी मुनियों की संख्या ६५०० । वादित्रऋद्धि धारी मुनियों की संख्या ४२०० । समस्त मुनियों की संख्या ७२००० । आदिकाओं की संख्या—१०६००० । मुख्य आदिका का नाम—धरणी । आदिकों की संख्या—२००००० । आदिकाओं की संख्या—चार लाख । समवशरण काल—एक वर्ष कम अठ्ठारह लाख वर्ष कम । मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—भाद्रपद शुक्ल चौदश । निर्वाण नक्षत्र—अश्विनी । मोक्ष जाने का समय—अपरान्ह । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्षस्थान—चम्पापुर (चंपातालतट) । भगवान् के मुक्ति गमन के समय में चौरासी मुनि साथ मोक्ष गये । समवशरण से समस्त ५४६०० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में चौवालीस केवली हुए । पश्चात् एक पत्य पर्यन्त चतुर्विध संघ का अभाव होने से धर्म का विच्छेद रहा । जब श्री विमल नाथ भगवान् का जन्म हुआ तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ ।

इति श्री वासु पूज्य तीर्थंकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री विमलनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री वासुपूज्य भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर तीस सागर के बाद श्री विमलनाथ भगवान् ने जन्म लिया। इनका पहला भव—सहस्रार नामक आरहवाँ स्वर्ग। जन्म स्थान—कंपिला नगर। पिता का नाम—श्री कृतवर्मा। माता का नाम—श्यामा देवी। वंश—इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—कृष्ण ज्येष्ठ दशमी। जन्म तिथि—माघ शुक्ल ४। जन्म नक्षत्र—उत्तराभाद्र पद। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम।

चिन्ह—वाराह। शरीर प्रमाण—साठ धनुष। आयु प्रमाण—साठ लाख वर्ष। कुमार काल—पन्द्रह लाख वर्ष। राज्य काल—तीस लाख वर्ष। पाणिग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—स्वयंभू वासुदेव। दीक्षा तिथि—माघ शुक्ल ४। भगवान् के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—देवदत्ता। भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष जंबू वृक्ष। तपोवन—सहस्राश्रवन (कंपिला)। वैराग्य का कारण—मेघों का बिघटना देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के पृथक् देखा पक्षवान् प्रथम पारणा किया। नया नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—राजग्रही (महीपुर)। प्रथम आहार दाता का नाम—विशाखदत्त, तपश्चरण। काल—तीन वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—माघ शुक्ल ६।

केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण प्रमाण—छह योजन। गणधर संख्या—पचपन। मुख्य गणधर का नाम—नंदिराय। वादियों की संख्या—३४००। चौदह पूर्व के पाठी—११००। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—३४५०००। अवधि ज्ञानी मुनियों की संख्या—४८००। केवल ज्ञानियों की संख्या—५५०००। विप्रियाऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—६०००। मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या ५५०००। वादित्रऋद्धिधारी मुनियों की संख्या ३६००। समस्त मुनियों की संख्या—६८०००। आर्यिकाओं की संख्या—१०३०००। मुख्य आर्यिका नाम—धरा। आवकों की संख्या—२०००००।

आविकाओं की संख्या—चार लाख। समवशरण काल—तीन वर्ष कम १५००००० लाख वर्ष। मोक्ष जाने से चौदह दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—आषाढ़ कृष्ण ६। निर्वाण नक्षत्र—भरणी। मोक्ष जाने का समय—पूर्वाह्न। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्तर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मैद शिखर (शालकूट)। भगवान् के मुक्ति गमन के समय ८६०० मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त ५१३००० मुनिमोक्ष गए। इनके तीर्थ में चालीस केवली हुए। पश्चात् पौन पत्य पर्यन्त धर्म का विच्छेद रहा। जब श्री अनन्त नाथ भगवान् का जन्म हुआ तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ।

इति श्री विमल नाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्त।

अथ श्री अनन्तनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री विमलनाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर तीस सागर के बाद श्री अनन्तनाथ भगवान् ने जन्म लिया। इनका पहला भव—अच्युत नामक सोलहवाँ स्वर्ग। जन्म स्थान—अयोध्या। पिता का नाम—श्री सिंह सेन। माता का नाम—सर्वयशादेवी। वंश—इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—कार्तिक कृष्ण १। जन्म तिथि—ज्येष्ठ कृष्ण १२। जन्म नक्षत्र—रेवती। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—सेही। शरीर प्रमाण—पचास धनुष। आयु प्रमाण—तीस लाख वर्ष। कुमार काल—साढ़े सात लाख वर्ष।

राज्य काल—पन्द्रह लाख वर्ष । पाणिग्रहण किया । इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—पुरुषोत्तम (वासुदेव) । दीक्षातिथि—ज्येष्ठ कृष्ण १२ । भगवान् के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—सागर दाता । भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१००० । दीक्षा वृक्ष—पीपल वृक्ष ।

तपोवन—सहस्राश्रवन (अयोध्या) । वैराग्य का कारण—उल्कापात होते हुए देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—वारावली (धान्यपुर) प्रथम आहार दाता का नाम—धर्मसिंह । तपश्चरण काल—दो वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—चैत्र कृष्ण ३० । केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण प्रमाण—साढ़े पाँच योजन । गणधर संख्या—पचास । मुख्य गणधर का नाम—जयमुनि । वादियों की संख्या—३२०० । चौदह पूर्व के पाठी—एक हजार । आचरांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि ३६५०० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—४३०० । केवल ज्ञानियों की संख्या पाँच सौ । विक्रिया-ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—आठ हजार । मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—पाँच हजार । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—३२०० । समस्त मुनियों की संख्या—छः हजार । आयिकाओं की संख्या—१०५००० ।

मुख्य आयिका का नाम—पद्मा । आयिकों की संख्या—दो लाख । आयिकाओं की संख्या चार लाख । समवशरण काल—दो वर्ष कम ७५०००० वर्ष । मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विधवा । निर्वाण तिथि—चैत्र कृष्ण ४ । निर्वाण नक्षत्र—रेवती । मोक्ष जाने का समय—अपरान्ह । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (स्वयंभू कूट) । भगवान् के मुक्ति गमन के समय ७५०७ मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त ५१००० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में छत्तीस केवली हुए । पश्चात् चतुर्विध संध का अभाव होने से आधापत्य पर्यन्त धर्म का विच्छेद रहा जब श्री धर्मनाथ ने जन्म लिया तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ ।

इति श्री अनन्त नाथ तीर्थकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री धर्मनाथ तीर्थकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री अनन्तनाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर चार सागर के बाद धर्मनाथ भगवान् ने जन्म लिया । इनका पहला भव-सर्वार्थ सिद्धि । जन्म स्थान—रत्नपुरी । पिता का नाम—श्री भानु-राय । मातृ नाम—सुव्रता देवी । वंश—कुह । गर्भ तिथि—वैशाख शुक्ल अष्टमी । जन्म तिथि—माघ शुक्ल ३ ।

जन्म नक्षत्र—पुष्य । शरीर वर्ण—सुवर्ण सम । चिन्ह—वज्र । शरीर प्रमाण—४५ धनुष । आयु प्रमाण—दस लाख वर्ष । कुमार काल—ठाई लाख वर्ष । राज्य काल—पाँच लाख वर्ष । पाणिग्रहण किया । इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—पुण्डरीक (वासुदेव) । दीक्षा तिथि—माघ शुक्ल तेरस । भगवान् के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—नागदाता ।

भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१००० । दीक्षावृक्ष—दधिपर्ववृक्ष । तपोवन—शालिवन (रत्नपुरी) । वैराग्य का कारण—उल्कापात होते देखना । दीक्षा का समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—पाटलीपुत्र (पटना) । प्रथम आहार दाता का नाम—धन्यसेन । तपश्चरण काल—एक वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—

पौष शुक्ल १५ । केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण का प्रमाण—पाँच योजन । गणधर संख्या—४३ । मुख्यगणधर का नाम—अरिष्ट । वादियों की संख्या—२५०० ।

चौदह पूर्व के पाठी—नौ सौ । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—४०७०० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—३६०० । केवल ज्ञानियों की संख्या—४५०० । विप्रियाश्रुद्धि धारी—मुनियों की संख्या—७००० । मनःपर्ययज्ञानी मुनियों की संख्या—४५०० । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों संख्या—२८० । समस्त मुनियों की संख्या—६४००० । आधिकाग्रों की संख्या—६२४००० । मुख्य आधिका का नाम—आर्य शिवा । आधिकाओं की संख्या—दो लाख । आधिकाग्रों की संख्या—चार लाख । समवशरण काल—एक वर्ष कम २५०००० वर्ष । मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—ज्येष्ठ शुक्ल ४ । निर्वाण नक्षत्र—पुष्य । मोक्ष जाने का समय—रात्रि । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्भेद शिखर (सुदसवर कूट) ।

भगवान के मुक्ति गमन के समय नौ सौ आठ मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त ४१७०० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में बत्तीस केवली हुए पश्चात् पाव पत्य पर्यन्त अतुविध संघ का अभाव होने से धर्म का विच्छेद रहा । जब श्री शान्तिनाथ भगवान ने जन्म लिया तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ ।

इति श्री धर्मनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री शान्तिनाथ तीर्थकरस्य विवरण प्रारम्भः :-

श्री धर्मनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर तीन सागर के बाद श्री शान्तिनाथ भगवान ने जन्म लिया । इनका पहला भव—सर्वाथ सिद्धि । जन्मस्थान—हस्तिनापुर । पिता का नाम—श्री विश्वसेन । माता का नाथ—ऐरादेवी । वंश—कुरु । गर्भ तिथि—भाद्रपद कृष्ण ७ । जन्म तिथि—ज्येष्ठ कृष्ण चौदश । जन्म नक्षत्र—भरणी । शरीर का वर्ण—सुवर्णसम । चिह्न—मृग । शरीर प्रमाण—४० धनुष ।

आयु प्रमाण—एक लाख वर्ष । कुमार काल—पच्चीस हजार वर्ष । राज्य मन्त्र—५०००० हजार वर्ष । पाणिग्रहण किया । इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—पुरुषदत्त । दीक्षा तिथि—ज्येष्ठ कृष्ण चौदश । भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—सिद्धार्थ । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाग्रों की संख्या—१००० ।

दीक्षा वृक्ष—मंदिवृक्ष । तपोवन—सहस्राश्रवन (हस्तिनापुर) । वैराग्य का कारण—उल्कापात होते देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने से एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—सीमनसपुर (पद्म खंड)

प्रथम आहार दाता का ना—धर्ममित्र । तपश्चरण काल—एक वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—पौष शुक्ल १० । केवलज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवलज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण का प्रमाण—साढ़े चार योजन । गणधर संख्या—छत्तीस । मुख्य गणधर का नाम—चक्रायुध । वादियों की संख्या—२४०० ।

चौदह पूर्व के पाठी—८०० । आचारांगसूत्र के पाठी शिष्य मुनि—४८८०० । अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—३००० । केवलज्ञानियों की संख्या—४००० । विप्रियाश्रुद्धि धारी मुनियों की

६००० । मनः पर्ययज्ञानी मुनियों की संख्या—६२००० । आर्यिकाओं की संख्या—६०३०० । मुख्य आर्यिका का नाम—शुषि । आर्यकों की संख्या—दो लाख । आर्यिकाओं की संख्या—दो लाख । आर्यिकाओं की संख्या—४००००० ।

समवशरण काल एक वर्ष कम २५००० वर्ष; मोक्ष गमन से चौदह दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—ज्येष्ठ कृष्ण चौदश । निर्वाण नक्षत्र—भरणी । मोक्ष जाने का समय—रात्रि । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (शान्तिप्रद) । भगवान के मुक्ति गमन के समय नौ सौ मुनि मोक्ष गए । समवशरण से समस्त ४८४०० मुनि मोक्ष गए ।

इति श्री शान्तिनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री कुण्डनाथ तीर्थकरस्य विवरण प्रारम्भः —

श्री शान्तिनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर आधा पल्य व्यतीत होने के बाद श्री कुण्डनाथ भगवान ने सर्वार्थ सिद्धि से चयन कर इस पावन भारत वर्ष के हस्तिनापुर नामक नगर में जन्म लेकर असंख्य जीवों को संसार सागर से पार किया । पिता का नाम - सूर्यप्रभ । माता का नाम— श्रीमती देवी । वंश—कुरु । गर्भ तिथि—आषाढ कृष्ण दशमी । जन्म तिथि—वैशाख शुक्ल एकम् । जन्म नक्षत्र—कृतिका । चिह्न—बकरा । शरीर प्रमाण—पैंतीस अनुष । आयु प्रमाण—६५ हजार वर्ष । कुमार काल—२३७५० वर्ष । राज्य काल—४७५० वर्ष । पाणिग्रहण किया ।

समकालीन प्रधान राजा का नाम—कुन्तलराय । दीक्षा तिथि—वैशाख शुक्ल एकम् । भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—विजया । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१००० । दीक्षा वृक्ष—तिलक वृक्ष । तपोवन—सहस्राश्रयन (हस्तिनापुर) । वैराग्य का कार—उल्कापात होकर देखना ।

दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया । मंदरपुर (स्वेतपुर) । प्रथम आहार दाता का नाम—अपराजित । तपश्चरण काल—सोलह वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—चैत्र शुक्ल ३ । केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन ।

समवशरण का प्रमाण—चार योजन । गणधर संख्या—पैंतीस । मुख्य गणधर का नाम—स्वयंभू । आर्यियों की संख्या—२००० । चौदह पूर्व के पाठी—सात सौ । आचारंग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—४३१५० । अवधि ज्ञानी मुनियों की संख्या—२५०० । केवल ज्ञानियों की संख्या—३२०० । विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—६१०० । मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—६०००० । आर्यिकाओं की संख्या—६०३५० । मुख्य आर्यिका का नाम—दामिनि । आर्यकों की संख्या—एक लाख । आर्यिकाओं की संख्या—तीन लाख ।

समवशरण काल—२३७३४ वर्ष । मोक्ष गमन से तीस दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—वैशाख शुक्ल १ । निर्वाण नक्षत्र—कृतिका । मोक्ष जाने का समय—रात्रि । मोक्ष गमन के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (ज्ञानधर कूट) । भगवान के मुक्ति गमन के समय ४६८०० मुनि मोक्ष गए । समवशरण से समस्त १००० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में चौबीस केवली हुए ।

इति श्री कुण्डनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री अरहनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् :—

श्री कुण्डनाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर हजार कोटि वर्ष कम पावपत्य व्यतीत होने के बाद श्री अरहनाथ भगवान् ने अपराजित विमान से चय कर से इस वसुधा मंडल को मंडित किया। इनका जन्म स्थान—हस्तिनापुर। पिता का नाम—श्री सुदर्शन। माता का नाम—सुमित्रा देवी। वंश—कुरु। गर्भ तिथि—फाल्गुन शुक्ल तीज। जन्म तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल चौदश। जन्म नक्षत्र—रोहिणी। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—मत्स्य। शरीर प्रमाण—तीस धनुष। आयु प्रमाण—चौरासी हजार वर्ष। कुमार काल—इक्कीस हजार वर्ष। राज्यकाल—त्रयासी हजार वर्ष। पणिग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—गोविन्द राय। दीक्षा तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी। भगवान् के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—वैजयन्ती। भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—आम्रवृक्ष। तपोवन—सहस्राश्रवन (हस्तिनापुर)। वैराग्य का कारण—उल्का पात होते देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—हस्तिनापुर। प्रथम आहार दाता का नाम—नंद सेन। तपश्चरण काल—ग्यारह वर्ष। केवलज्ञान तिथि—कार्तिक शुक्ल १२। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवलज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—साढ़े तीन योजन। गणधर संख्या—तीस। मुख्य गणधर का नाम—कुण्डनाथ। वादियों की संख्या—सोलह सौ। चौदह पूर्व के पाठी—छः सौ दस। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—३५८३५। अथधि ज्ञानी मुनियों की संख्या—२८००। केवल ज्ञानियों की संख्या—२८००। विप्रिया—ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—४३००। मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—२५५१। वादिव ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—सोलह सौ—। समस्त मुनियों की संख्या—गन्नास हजार। आर्यिकाओं की संख्या—६००००। मुख्य आर्यिका का नाम—रक्षिता। श्रावकों की संख्या—एक लाख। श्राविकाओं की संख्या—तीन लाख। समवशरण काल—२०६८६ वर्ष। मोक्ष गमन से एक मास पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—चैत्र शुक्ल ११। निर्वाण नक्षत्र—रोहिणी। मोक्ष जाने का समय—अरणोदय। मोक्ष गमन के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (नाटक कूट)। भगवान् के मुक्ति गमन के समय—३७२०० मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त एक हजार मुनि मोक्ष गए। पश्चात् इनके तीर्थ में सोलह केवली हुए।

इति श्री अरहनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम्।

अथ श्री मल्लिनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री अरहनाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर एक कोटि वर्ष व्यतीत होने के बाद मदन विजयी जिनेन्द्र चन्द्र श्री मल्लिनाथ भगवान् ने अपराजित विमान से चयकर अपने जन्म से इस भूमंडल को परम पवित्र किया। इनका जन्म स्थान—मिथिलापुरी। पिता का नाम—श्री कुंभराय। माता का नाम—रक्षिता देवी। वंश—कुरु। गर्भ तिथि—चैत्र सुदी १। जन्म तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल ११। जन्म नक्षत्र—अश्विनी। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—कलश। शरीर प्रमाण—पञ्चोस धनुष। आयु प्रमाण—पचपन हजार वर्ष। कुमार काल—दस हजार वर्ष। राज्यकाल—३६५०० वर्ष। पणिग्रहण नहीं किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—सुलूमारय। दीक्षातिथि—अगहन शुक्ल ११।

भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—६०६। दीक्षावृक्ष—अशोक वृक्ष। तपोवन—सहस्राश्रवन (मिथिलापुरी)। वैराग्य का कारण—उल्कापात होते देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह।

दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—चक्रपुर। प्रथम आहार दाता का नाम—श्रद्धाभक्त। तपश्चरण काल—सोलह वर्ष। केवलज्ञान तिथि—पौष कृष्ण २। केवलज्ञान समय—प्रातः काल। केवलज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण प्रमाण—तीन योजन। गणधर संख्या—२८। मुख्य गणधर का नाम—विद्याखाचार्य। वादियों की संख्या—१४००। चौदह पूर्व के पाठी—५५०। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२६०००। अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—२२००। केवल ज्ञानियों की संख्या—२०६५०। विक्रिया—ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—१४००। मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—१७५०। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—१२००। समस्त मुनियों की संख्या—४००००। आर्यिकाओं की संख्या—५५०००। मुख्य आर्यिका का नाम—बन्धुमती। श्रावकों की संख्या—एक लाख। श्राविकाओं की संख्या—तीन लाख। समवशरण काल—१६६८४ वर्ष। मोक्ष जाने से तीस दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—फाल्गुन शुक्ल पंचमी। निर्वाण नक्षत्र—अश्विनी। मोक्ष जाने का समय—रात्रि। मोक्ष जाने का स्थान—सम्मेद शिखर (शांकुल कूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय—२८८०० मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त पांच सौ मुनि मोक्ष गए।

इति श्री मल्लिनाथ तीर्थकरस्य विवरण समाप्तम् ॥

अथ श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् :—

श्री मल्लिनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर जीवन लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद आनन्द कंद जिनेन्द्र चन्द्र श्री मुनिसुव्रत भगवान ने आणत नामक चौदहवें स्वर्ग से चयकर अपने जन्म से इस अवनि मंडल को विभूषित किया। इनका जन्म स्थान—राजग्रही। पिता का नाम—श्री सुभित्रनाथ। माता का नाम—पद्मवतीदेवी। वंश—हरि। गर्भ तिथि—श्रावण कृष्ण २। जन्म तिथि—वैशाख कृष्ण १०। शरीर का वर्ण—श्याम। जन्म नक्षत्र—श्रवण चिन्ह—कच्छप। शरीर प्रमाण—तीस धनुष। आयु प्रमाण—तीस हजार वर्ष। कुमार काल—साढ़े सात हजार वर्ष। राज्य काल—१५००० वर्ष। पाणिग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—अजितराय। दीक्षा तिथि—वैशाख कृष्ण १०। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—अपराजिता। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—चम्पावृक्ष। तपोवन—नीलगुफा (कुशाग्रपुर)। वैराग्य का कारण—उल्कापात होते हुए देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—मिथिलापुर। प्रथम आहार दाता का नाम—राजादत्त। तपश्चरण काल—ग्यारह वर्ष।

केवलज्ञान तिथि—वैशाख कृष्ण नवमी। केवलज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—ढाई योजन। गणधर संख्या—अठ्ठारह। मुख्य गणधर का नाम—मल्लिनाथ। वादियों की संख्या—१२००। चौदह पूर्व के पाठी—पाँच सौ। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२१०००। अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—आठ सौ। केवलज्ञानियों की संख्या—१८००। विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—२२००। मनःपर्ययज्ञानी मुनियों की संख्या—१५००। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—१२००। समस्त मुनियों की संख्या—३००००। आर्यिकाओं की संख्या—५००००। मुख्य आर्यिका का नाम—पुष्पमती। श्रावकों की संख्या—एक लाख। श्राविकाओं की संख्या—तीन लाख। समवशरण काल—२४८६ वर्ष। मोक्ष गमन से तीस दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण

तिथि—फाल्गुन कृष्ण १२। निर्वाण नक्षत्र—श्रवण । मोक्ष जाने का समय—रात्रि । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मोद शिखर (निर्जरा कूट) । भगवान के मुक्ति गमन के समय १६२०० मुनि मोक्ष गए । समवशरण से समस्त एक हजार मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में बारह केवली हुए ।

इति श्री मुनिसुब्रतनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री नमिनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् :—

श्री मुनिसुब्रतनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर छह लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद आनन्दकन्द भव्य जन तारक श्री नमिनाथ भगवान ने अपराजित विमान से चयकर अपने जन्म से भारत-वर्ष को परम शाश्वत किया । इसका जन्म स्थान—मिथलापुरी । पिता का नाम—श्री विजयरथ । माता का नाम—त्रिप्रा देवी । वंश—इक्ष्वाकु । गर्भ तिथि—आश्विन कृष्ण २। जन्म तिथि—आषाढ़ कृष्ण १०। शरीर का वर्ण—सुवर्ण सम । चिह्न—नील कमल । शरीर प्रमाण—पन्द्रह धनुष । आयु प्रमाण—दस हजार वर्ष । कुमार काल—पच्चीस सौ वर्ष । राज्य काल—पाँच हजार वर्ष । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—विजयराम । दीक्षा तिथि—आषाढ़ कृष्ण १०। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी नाम—उत्तरकुरु । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—मौलसिरी । तपोवन—सहस्रश्रवण (मिथलापुर) । वैराग्य का कारण—उल्कापात होते देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—राजाग्रही (महीपुर) । प्रथम आहार दाता का नाम—सुनयदत्त । तपश्चरण काल—नौ मास । केवलज्ञान तिथि—माघ शुक्ल ११। केवलज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवलज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण प्रमाण—दा योजन । गणधर संख्या—सत्रह । मुख्य गणधर का नाम—सोमनाथ । वादियों की संख्या—१००० । चौदह पूर्व के पाठी—सत् सी पचास । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—१२६००। अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—१६०० । केवल ज्ञानियों की संख्या १६०० । विक्रियाश्रद्धिधारी मुनियों की संख्या—१५०० । मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—१२५०। वादिश्रद्धिधारी मुनियों की संख्या—१०००। समस्त मुनियों की संख्या—२००००। आर्यिकाओं की संख्या—४५०००। मुख्य आर्यिका का नाम—प्रतिष्ठा । आवकों की संख्या—एक लाख । आविकाओं की संख्या—तीन लाख । समवशरण काल—नव मास कम पच्चीस सौ वर्ष । मोक्ष गमन से तीस दिन पहले समवशरण विधटा । निर्वाण तिथि—वैशाख कृष्ण चौदश । निर्वाण नक्षत्र—अश्वनी । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मोदशिखर (मित्रधर कूट) । भगवान के मुक्ति गमन के समय नौ हजार छह सौ मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त १००० मुनि मोक्ष गए । पश्चात् इनके तीर्थ में आठ केवली हुए ।

इति श्री नेमिनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री नेमिनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् :

श्री नेमिनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर पाँच लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद आनन्द कन्द जितेन्द्र चंद्र मदन विजयी श्री नेमिनाथ भगवान ने अपराजित विमान से चयकर अपने जन्म से वसुधा मंडल को मंडित किया ।

अथ श्री नेमिनाथ तीर्थंकरस्य विशेषाख्यानम् :—

यदुवंशोद्भव समुद्र विजय नामक यदुवंशियों में प्रधान राजा थे । उनकी प्रधान महारानी का नाम शिवादेवी था । इन्हें धर्म से बड़ा प्रेम था । दोनों स्मृति सदा बड़े हंसमुख और प्रसन्न रहते थे । सुख की इन्हें चाह न थी । पर सुख ही इनका अनुचर बन रहा था । इस प्रकार सुख पूर्वक समय व्यतीत होने पर एक दिन सती शिवादेवी ने अपने शयनागार में आनन्द शयन करते हुए जिनेन्द्र के अवतार के सूचक रात्रि के पश्चिम पहर में गजराज, वृषभ, केशरी आदि सोलह पदार्थ स्वप्न में देखे । पश्चात् अपने मुख में प्रवेश करते हुए हाथी को देखा । इन्हें देखकर वह जाग उठी । प्रातः काल होते ही वह अपने स्वामी के पास गयी और उन्हें रात्रि में देखे हुए स्वप्नों का वृत्तांत उ्यों का त्यों कह सुनाया । सुनकर महाराज समुद्रविजय उसके फल के सम्बन्ध में कहने लगे—कि 'प्रिये ! स्वप्न तुमने बड़े ही सुन्दर और उत्तम देखे हैं । इनके देखने से सूचित होता है कि—भग्य जीव ली कमल वन को प्रफुल्लित करने वाले तीर्थंकर तुम्हारे गर्भ में अवतार लेंगे । जिसकी आज्ञा का सम्मान देवता तक करते हैं ।' अपने पतिदेव द्वारा स्वप्न का फल सुनकर शिवादेवी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । सच है, पुत्र प्राप्ति से किसे प्रसन्नता नहीं होती । कुछ दिनों पश्चात् त्रिलोक पूज्य गर्भ की दिनोंदिन वृद्धि होने लगी । जिनके प्रभाव से जन्म होने के छह महीने पहले ही से प्रतिदिन देवता त्रिकाल रत्न वर्षा करते थे । गर्भ पूर्ण दिनों का हुआ । श्रावण मास शुक्ल पक्ष में छठ के दिन शुभ मुहूर्त में चित्रा नक्षत्र का योग होने पर सौभाग्यवती शिवादेवी ने शुभ लक्षण संयुक्त श्याम वरण सुन्दर पुत्र रत्न को जन्म दिया । पुत्र के उत्पन्न होते ही नगर भर में आनन्दोत्सव होने लगा । उधर सौधमेंन्द्र अवधि ज्ञान से भारत वर्ष में तीर्थराज का अवतार हुआ जानकर उसी समय ऐरावत गजराज पर आरुढ़ हो अरुणी इन्द्राणी और देवी सहित बड़े महोत्सव के साथ द्वारिकापुरी में आया और सभक्ति नगरी की तीन प्रदक्षिणा की । उसके बाद अपनी प्रिया को भगवान् को लाने के लिए राज महल में भेजा । इन्द्राणी प्रसूति गृह में गयी और वहाँ अपनी दिव्य शक्ति से ठीक वंसा ही मायावी बालक रखकर श्री नेमिनाथ को उठा लाई । लाकर उस सुन्दर और तेज पुंज बालक को अपने प्राण प्रिय को सौंप दिया । इन्द्र उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाकर बड़े समारोह के साथ सुमेरु पर्वत पर ले गया । पांडुक वन में ले जाकर पांडुक वन की ईशान दिशा में स्थित अर्द्ध चन्द्रभा के आकार से अनेक तीर्थंकरों के जन्मनिषेक से पावन कलधौत वर्ण की धारक पूर्व-पश्चिम में सी योजन लम्बी, दक्षिणोत्तर पचास योजन चौड़ी और आठ योजन प्रमाण ऊँची पांडुक नामक शिला पर स्थित रत्न जडित स्वर्णमय सिंहासन के ऊपर पचासन युक्त पूर्व मुख आनन्द कंद जिनेन्द्र चन्द्र श्री नेमिनाथ भगवान् की स्थापना कर क्षीर समुद्र के स्फटिक से भी उज्ज्वल और निर्मल जल से इनका अभिषेक किया । क्षीराभिषेक हो चुकने के पश्चात् केशर चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं का विलेपन कर स्वर्गीय वस्त्राभूषणों से भगवान् को विभूषित किया । उत्तम से उत्तम द्रव्यों से उनकी पूजा की । अन्त में उन्होंने भगवान् के गुणों का निर्मल पवित्र भावों से बहुत काल पर्यन्त गायन किया और पीछे वह उन्हें ऐरावत गजराज पर बैठाकर द्वारिकापुरी में वापस ले आया । तथा अपनी प्रिया के द्वारा भगवान् को शिवादेवी के निकट पहुंचा दिया । जब शिवादेवी की निद्रा खुली और पुत्र को दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित देखा तो उसे बड़ा विस्मय हुआ और साथ ही परमानन्द भी हुआ । इसके पश्चात् इन्द्र, भगवान् की पवित्र भक्ति में निमग्न हुआ इस मंगलमय समय में तांडव नृत्य करने लगा और भगवान् के माता-पिता के गुणों का गायन किया । तदनंतर भगवान् और उनके माता-पिता के चरणारविंदों को बारम्बार

भक्ति से नमस्कार करके देव देवांगनाओं सहित अपने स्थान पर चला गया। इन्द्र के चले जाने के पश्चात् समुद्रविजय ने भी बहुत उत्सव किया और दान दिया। पूजा प्रभावना की। बन्धु बान्धवों को परम आनन्द हुआ। भगवान् युक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनोदिन बढ़ने लगे। सुन्दरता में भी कामदेव को जीतते थे। इनके बल के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या था। जबकि वह चरम शरीर के धारी इसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं। भगवान् नेमिनाथ के द्वारा भेजे हुए दिव्य वस्त्राभूषणों का उपयोग करते तथा अपनी समान बय वाले देवकुमारों के साथ माता-पिता के नेत्रों को आनन्द देने वाली बाल-क्रीड़ा करते हुए दिनोदिन बढ़ने लगे।

तथाप्युक्तं नेमिनाथ पुराणे :—

तीन जगत करि पूज्य नेमि सुख से तिष्ठते,
देव इन्द्र सब सुरी युक्त ह्वै आनन्दवन्ते ।
स्वर्ग विषै उत्पन्न वस्त्रभूषण नित लाकर,
महा भक्ति अन साथ सेव करहैं निसवासर ॥
तीन काल किकर भये, प्रीति सहित सेवत ।
षट् ऋतु के जो सुख भये, ताकरि हर्ष करंत ॥१॥
रत्नन के आंगन विषै, देव कुमारन संग ।
नाना विधि क्रीड़ा करत, सुख से नाथ अभंग ॥२॥
बो क्रीड़ा जगचित्त को, दायक आनन्द भौत ।
जो दंपति को आनन्द भयो, ताको वरनै कौन ॥३॥

जिस समय समुद्र विजय और नमुदेव आदि मथुरा में रहते थे उस समय श्री कृष्ण ने अपने मामा कंसराज को मार कर अपने नाना उग्रसेन को बगदी गृह से छुड़ा दिया था। कंसराज का स्वसुर जरासिध उस समय एक बड़ा भारी प्रतापी राजा था। उसे अपने जामाता की मृत्यु का संवाद सुनकर बड़ा क्रोध आया। वह उसी समय बड़ी भारी सेना लेकर यादवों से युद्ध करने के लिए चल पड़ा। यदुवंशियों ने जब यह खबर सुनी कि जरासिध विपुल सेना लेकर चढ़ा आ रहा है तब वे बहुत घबराए। सब मिलकर विचार करने लगे कि जरासिध से युद्ध करना उचित नहीं है क्योंकि हमारे में इतनी शक्ति नहीं है जो जरासिध से सामना कर सकें। इसलिए ये दूसरा कोई उपाय न देखकर वहाँ से चल दिए और सौराष्ट्र देश के समीप द्वारिका में अपना उपनिवेश स्थापित करके रहने लगे। लिखा है कि द्वारिका की रचना जिन भगवान् की भक्ति और श्री कृष्ण के वहाँ आने से इन्द्र की आज्ञा से देवों ने की थी। नेमिकुमार का जन्म द्वारिका में हुआ। श्री कृष्ण नेमिकुमार के चचेरे भाई थे तथा नेमिकुमार से अवस्था में बड़े थे। कुछ समय में कृष्ण एक प्रतापी राजा हो गए। तथा द्वारिका को अपनी राजधानी बना कर निष्कण्टक राज्य करने लगे। श्री कृष्ण का सत्यभाका आदि सोलह हजार राजकुमारियों से विवाह हुआ। इनके साथ श्री कृष्ण के दिन बहुत ही सुख पूर्वक बीतते थे।

अथान्तर शीत ऋतु व्यतीत होने पर वसन्त ऋतु का आगमन हुआ। सरोवरों का जल स्वच्छ हुआ। कमल विकसित हुए। सरोवरों की शोभा बढ़ने लगी। आम्र के वृक्षों पर प्यारे भौरे आ गए। कोकिलाओं की सुन्दर कंठध्वनि होने लगी। ऐसे सुखपूर्ण दिनों में श्रीकृष्ण अपने अंतःपुर सहित वन

क्रीड़ा करने को गए और श्री नेमिनाथ को भी साथ ले गए। वन में श्री कृष्ण के सेवकों ने पहले ही पहुँच कर केशर और चन्दनादि उत्तम-उत्तम सुगन्धित वस्तुओं से छोटी-छोटी बावड़ी भर दी थी और सुगन्धित वृक्षों के पराग से मिली हुई गुलाल भी बहुतसी पहुँचा दी गई थी। चारों तरफ उत्तम-उत्तम सुगन्धित पुष्पों की बाड़ियाँ लगी हुई थी। जिनके देखते ही स्त्री पुरुषों के चित्त में आनन्द की लहरे उठने लगती थी।

श्री कृष्ण नेमिनाथ को लिए हुए वहीं पहुँचे और जल क्रीड़ा करने लगे। श्री कृष्ण की बहुत सी स्त्रियाँ उनके ऊपर बार-बार जल फेंकने लगी और भी नाना प्रकार से जैसा उन्हें सूझा वे श्री कृष्ण के साथ कौतुक (खेल) करने लगी। श्री कृष्ण भी जैसी-जैसी उनकी उत्कंठा होती थी उसी प्रकार पूर्ण करते करते जाते थे। इसी प्रकार बहुत देर तक खेल खिला कर श्री कृष्ण तो जल के बाहर निकल कर कहीं चले गए। तब कृष्ण के जाते ही उन्होंने नेमिनाथ के साथ खेलना आरम्भ किया। वे नाना प्रकार की हंसी करने लगी; केशर डालने लगी, पिचकारियाँ मारने लगी और विवाह न करने पर बड़े-बड़े ताने मारने लगी। क्रीड़ा समाप्त हो जाने पर सब स्त्रियाँ जल से बाहर निकली। नेमिनाथ भी बाहर पा गए। अपने गीले वस्त्रों को प्रथक करके सत्यभामा की ओर फेंक कर बोले हमारे वस्त्रों की निचोड़ दो। सत्यभामा यह सुनकर बहुत रुष्ट हुई और बोली—‘यह काम अपनी स्त्री से करवाइए। मुझ से यह नहीं हो सकता। तुम जानते हो—जो सुदर्शन चक्र चला सकता हो, नाग शय्या पर सोने की जिसमें शक्ति हो, जो पाँच्यजन्य शंख फूंक सकता हो जो सारंग धनुष पर ज्या, चढ़ा सके वही मुझे आज्ञा दे सकता है न कि तुम। इसलिए दूसरों का काम मैं नहीं कर सकती।’ सब है मनुष्य अभिमान के वश होकर योग्य, अयोग्य, हित, अहित के विचार से शून्य होकर एक पूज्य पुरुष के शासन की अवज्ञा कर डालता है।

गीता छन्द :—

जो जिनेन्द्र नरेन्द्र इन्द्रा करि सदा पूजत सही,
हैं जगत के गुरु देव देवन तासु के पद छंद ही।
रज शीघ्र बंदन करन तैं अघ जाल ताप हरंत हैं,
तिनकी करि आज्ञा अनूपम सो तो शरम करंत हैं॥

दोहा—

बाँछा सेवा की सदा, रखत इन्द्र मन साथ।
सिन का कारण पुण्य विन, निधियत् कैसे पाय॥

अर्थात् जिन आनन्द कन्द जिनेन्द्र चन्द्र के आज्ञा की इन्द्रादिक देव प्रतीक्षा करते रहते हैं और हाथ जोड़ कर निवेदन करते हैं। पुण्य पुरुष हम आपके दास हैं। हमारे लिए कुछ आज्ञा कीजिए जिससे आज्ञा पालन कर हम अपने जीवन को कुतार्थ करें। ऐसे नेमिनाथ भगवान् के शासन की सत्यभामा ने अवज्ञा की जो ठीक भी है क्योंकि जिन भगवान् के आदेश का पालन करने का सीमाध्य भी तो किसी परम प्रकर्ष पुण्योदयी मनुष्य को प्राप्त होता है साधारण को नहीं। सत्यभामा के ऐसे उदन्डता से भरे हुए वचन सुन कर नेमिनाथ उसी समय वहाँ से चल पड़े और श्री कृष्ण की युद्धशाला में पहुँचे। वहाँ उन्होंने सुदर्शन चक्र को पाँच के अँगूठे से घुमाया। नाग शय्या पर शयन किया। धनुष पर ज्या चढ़ाई और पाँच्यजन्य शंख भी उन्होंने पूरा दिया। धनुष की टंकार और शंख का नाद होते ही बड़ा भारी कोलाहल मच गया। लोग भयभीत होकर प्रलय काल की कल्पना करने लगे। श्री कृष्ण एक

यम घबरा कर बोले.....क्या कोई दैत्य तो नहीं आ गया। तब उनके किसी सेवक ने श्री कृष्ण से कहा—

चीपाई...

हे स्वामी मुग्धा सतभाम, नहीं जने पुनवारय नाम ।
स्नान तनो पट धी जिन दियो, ताको नहीं मोचोरन कियो ॥
और गर्व कर कहती भई, हे कुमार तुम सुनिए सही ।
धनुष शंख अहि शय्या तीन, क्या तुमने साधन कीन ॥
जो मैं पोत निचोड़ूँ एष, इस विधि वच सुन जिन धर देव ।
रोष धर सिख करहि आए, था दिव्य सेवक ने बच गए ॥

सुनते ही श्री कृष्ण उसी समय युद्ध शाला में आए और ऊपर से कुछ हँस कर भाई नेमिनाथ से बोले—‘विभी ! आप के किंवदन्ती क्रोध से बेचारे लोग विह्वल हुए जाते हैं। अतएव केवल स्त्रियों के वचनों पर आपको ऐसा करना उचित नहीं जान पड़ता। आप क्रोध का परित्याग करें। क्योंकि यह उत्तम पुरुषों के लिए आदरणीय नहीं है।’ भगवान् को सन्तुष्ट कर श्री कृष्ण उनसे मिले। और उन्हें साथ ले अपने घर चले गए। नेमिनाथ के इस अनुपम पराक्रम को देखकर श्री कृष्ण मानसिक व्यथा से बहुत दुखी हुए। तदनंतर श्री कृष्ण बलदेव के पास पहुंचे और कहा कि ‘नेमिनाथ बड़े बलवान हैं। सम्भव है कि वे कभी भी मेरा राज्य छीन लें। अतलाइए क्या उपाय करना चाहिए। मेरा राज्य सुरक्षित रह सके।’ तब बलदेव ने कहा—‘भाई ! वे धर्म शरीर के धारी, जगद्गुरु व त्रिलोक पूज्य हैं। उन्हें इस महा अवकारी राज्य संपदा से क्या प्रयोजन। वह तो इसे तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। जहां कोई उन्हें हिंसा का कारण दिखाई पड़ेगा तो वे तत्काल संसार से विरक्त हो दीक्षा ले लेंगे।’ बलदेव के इस प्रकार के वचन सुनकर कृष्ण भी उसी तरह के उपाय के योजना की विन्ता में लग गए।

अन्त में दूसरा कोई उपाय न देखकर उग्रसेन की नगरी में पहुंचे। उग्रसेन से कुशलवार्ता के अनन्तर श्री कृष्ण ने नेमिनाथ के साथ राजीमती के विवाह होने की बात छेड़ी। उग्रसेन ने श्री कृष्ण का कहना स्वीकार कर अपनी पुत्री का विवाह नेमिनाथ से करना निश्चित कर दिया। श्री कृष्ण लभ्नादि का निश्चय कर आये और जूनागढ़ में जीव वध के विषय की भी गुप्त मंत्रणा कर आये थे। इतने में वर्षा काल आ गया। उन्हीं दिनों में नेमिनाथ का विवाह सम्बन्धी कार्य आरम्भ किया गया। सगे सम्बन्धी जन निमन्त्रण पत्र भेज कर बुलवाए गये। आये हुए पाहनों का भोजनादि से खूब सत्कार किया जाने लगा।

थोड़े ही दिनों में नेमिनाथ की बरात खूब सजधज कर बड़े समारोह और वैभव के साथ जूनागढ़ में पहुंची वहां पर एक संकीर्ण स्थान में मृगादिक अनेक प्रकार के बहुत से पशु बंधे हुए थे और वे बेचारे घोर आपत्ति में फँस कर कृष्णाजनक शब्द कह रहे थे। उन्हें कष्ट से व्याकुल देखकर नेमिनाथ को बड़ी दया आई। तब उन्होंने अपने सारथी से पूछा—‘ये पशु क्यों बिलविला रहे हैं और क्यों इकट्ठे किए गये हैं।’ सारथी ने उत्तर में निवेदन किया—‘महाराज ! आपके विवाह में जो मांसाहारी राजा पाहुने आये हैं उनके भोजन के लिए इनका वध किया जाएगा। इसी प्रयोजन से एकत्रित करके ये यहां बांध गए हैं।’

सारथी के यह वचन सुनकर अनाथ पशुओं के ऊपर इसप्रकार का अत्याचार होने की बातों से भगवान् के हृदय पर बड़ी चोट लगी। वे उसी समय लोगों के देखते-देखते रथ को लौटा ले गए। रथ के लौटाते ही लोगों में हाहाकार मच गया। लोगों ने भगवान् को रोवाने का बहुत कुछ उपाय किया परन्तु वे किसी तरह से न रुके। लोगों ने वापस लौटने का कारण पूछा तो भगवान् बोले कि 'एक मेरे सुख के लिए इन हजारों जीवों का घात किया जाएगा। अधिकार है ऐसे सुख को। मुझे ऐसा सुख नहीं चाहिए। मैं अपने इस इन्द्रिय जनित सुखाभास सुख पर लात मारता हूँ और उस मार्ग को ग्रहण करता हूँ जिस पर चलकर मैं ऐसे अगणित जीवों के दुःख निवारण का प्रयत्न कर सकूँ और अनादि काल से पीछा किए हुए इन आत्म शत्रुओं का विध्वंस कर निबन्ध अवस्था को प्राप्त होकर निराकुलित, स्वाधीन, बचनातीत, अनन्तकाल स्थाई, निजादमीक सच्चा सुख लाभ कर सकूँ।' इस प्रकार लोगों के प्रति प्रत्युत्तर देकर वे तत्काल ही रथ से उतर पड़े और विवाह का सारा शृंगार शरीर पर से उतार कर अपने बंधु जनों से विषय भोगों से, परिजनों से और साथ ही उपसेन महाराज को राजकुमारी राजीमती से सम्बन्ध छोड़ कर वहाँ से चल दिए और जूनागढ़ के निकटस्थ नाना प्रकार के छायादार वृक्षों से सुशोभित गिरनार पर्वत पर जा पहुँचे। उस समय लौकांतिक देव भी अवधिज्ञान से भगवान् का दीक्षा समय जानकर तत्काल वहाँ आए तथा भगवान् को सभक्ति नमस्कार करने के अनन्तर उनके वैराग्य की प्रशंसा कर अपना वियोग पूरा करके निज स्थान पर चले गए। इनके चले जाने के पश्चात् ।

तब ही इन्द्रादिक अमर, लेखरेभ्यः करियुक्त ।

आकर प्रभु के पवन में, जंजं धोवण उक्त ॥

इन्द्रादिक देव आए और भगवान् को स्वर्णमयी रत्न जड़ित देव कुठ नामक पालकी में बैठाकर उन्हें गिरनार पर्वत के सहस्राभवन में लिवा ले गए। भगवान् ने सब वस्त्राभूषणों का परित्याग कर अपने सिर के केशों का लोच किया। केशों को ले जाकर इन्द्र ने समुद्र में क्षेपण किया। पश्चात् भगवान् ने बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर और सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर अविनश्वर मोक्ष महल के देने वाली जैनेन्द्री दीक्षा स्वीकार कर ली। दीक्षा लेकर भगवान् दो दिन तक ध्यान में लीन रहे। तदनन्तर तीसरे दिन अहीरपुर में धनदत्त सेठ के यहाँ भगवान् का पारणा हुआ। छप्पन दिन के उपरान्त शुक्ल ध्यान द्वारा कर्मों का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया। उस दिन आश्विन शुक्ल प्रतिपदा और प्रातः काल का समय था। केवल ज्ञान होते ही इन्द्र ने आकर गिरनार पर्वत पर बारह कोठों से विभूषित दो योजन प्रमाण समवशरण रत्ना। भगवान् द्वादश सभाओं के मध्य सिंहासन पर चतुरांगुल अन्तरीक्ष विराजे। देवगण उनके ऊपर चमर दुलाने लगे। भगवान् के ग्यारह गणधर हुए। उन सब में मुख्य गणधर का नाम वरदत्त था। समस्त चार प्रकार के संघ की संख्या—८००। चौवह पुर्व के पाठी—चार सौ। वादियों की संख्या—आठ सौ। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—त्याह हजार। अर्वाधि ज्ञानी मुनियों की संख्या—पन्द्रह सौ। केवल ज्ञानियों की संख्या—पन्द्रह सौ। विज्ञानाद्विधारी मुनियों की संख्या—ग्यारह सौ। मनः पर्यय ज्ञानियों की संख्या—१०००। वादित्राद्विधारी मुनियों की संख्या—१००००। समस्त मुनियों की संख्या १८०००। आर्यिकाओं की—४००००।

मुख्य आर्यिका का नाम—यशदिना। आर्यकों की संख्या—१०००००। आर्यिकाओं की

संख्या—तीन लाख । समवशरण काल—५६ दिन कम सात सौ वर्ष । मोक्ष जाने से तीस दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—आषाढ़ शुक्ल सप्तमी । निर्वाण नक्षत्र—चित्रा । मोक्ष जाने का समय—रात्रि । मोक्ष जाने के समय का आसन—काथोत्सर्ग । भगवान् के साथ नौ हजार छह सौ मुनि मोक्ष गए । मोक्ष स्थान—गिरनार । समवशरण से समस्त पांच सौ छप्पन मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में चार केवली और हुए ।

इति श्रीद्वारिचतम नेमिनाथ तीर्थंकरस्य गर्भागमन से मोक्ष गमन पर्यंत विवरण समाप्तः ।

अथ श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारंभः ॥

श्री नेमिनाथ भगवान् के निर्वाण होने के अनन्तर ८३७५० वर्ष व्यतीत होने पर आनन्द कंद श्री पार्श्वनाथ भगवान् ने जन्म लिया । अब यहाँ प्रथम ही भगवान् को ध्यानारूढ़ देखकर संवर नामक ज्योतिषी देव ने अपना शत्रु जानकर जो धोर उपसर्ग किया था उसका कारण सहित संक्षिप्त वृत्तांत इस प्रकार है :—

इसी सुप्रसिद्ध और विशाल जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सुरम्य देश के अन्तर्गत पोदनपुर नामक एक मनोहर नगर था । उस समय वह अपनी श्रेष्ठ सम्पदा और ऐश्वर्य से ऐसा जान पड़ता था, मानो सारे संसार की लक्ष्मी यहाँ आकर एकत्रित हो गई हो । वह सुख देने वाले उपवनों, प्राकृतिक सुन्दर पर्वतों और सरोवरों की शोभा से स्वर्गों के देवों तक का भी मन मुग्ध कर लेता था । यहाँ के स्त्री पुरुष सुन्दरता में अपनी तुलना में किसी को न देखते थे । यहाँ के सब लोग सुखी थे, भाग्यशाली थे और पुण्यवान थे ।

जिस समय का यह वर्णन है उस समय उसके राजा अरविंद थे । अरविंद प्रजा के सच्चे हितैषी नीतिज्ञ और बुद्धिमान थे । इनके यहाँ विश्व भूति नाम का विप्रमंत्री था । विश्वभूति की स्त्री का नाम अनुंधरी था । अनुंधरी के दो पुत्र हुए । उनके नाम कमठ और मरुभूत थे । कमठ तो व्यसनी, कुल को कलंकित करने वाला था । और लघुपुत्र मरुभूत सदाचारी और बुद्धिमान था । इनमें कमठ की स्त्री का नाम वरुणा और मरुभूत की स्त्री का नाम वसुन्धरी था । एक दिन विश्वभूति ने अपने मस्तक में जरा के दूत श्वेत रोम को देखा उसके देखने मात्र से उन्हें वैराग्य हुआ ।

अपने लघु पुत्र मरुभूत को राजा की सेवा में छोड़कर उन्होंने उसी समय सब मायाजाल छोड़ आत्म हित का पथ जिन दीक्षा ग्रहण कर ली । राजा अरविंद मरुभूत को सौम्य प्राकृति और आलस्य, ईर्ष्या, मत्सरता आदि दुर्गणों से रहित देखकर उससे बहुत प्रसन्न रहते थे । एक समय राजा अरविंद ने मंत्री सहित सेना को लेकर राजा बज्रवीर्य के देश पर चढ़ाई की । उनके पोदनपुर से प्रयाण करते ही कमठ की पीछे बन आई । उसने अपनी इच्छा का दुरुपयोग करना आरम्भ किया । व्यभिचार की ओर उसकी दृष्टि गई । मरुभूत की स्त्री वसुन्धरी बड़ी खूबसूरत थी ।

एक दिन उसे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित देख लिया । बस फिर क्या था ? देखते ही उसका हृदय काम के बाणों से बिंध गया । एक दिन कमठ बन क्रीड़ा के लिए गया हुआ था कि उसके मुख कमल को चिन्तातुर देखकर उसके मित्र कलहंस ने दुराग्रह करके चिन्तातुर होने का कारण पूछा । तब उसने लज्जा त्यागकर अपना अभीष्ट कह सुनाया । सुनकर कलहंस ने उसे शिक्षाप्रद वचनों से बहुत कुछ समझाया पर उस चिकने घड़े पर शिक्षा रूपी निर्मल जल कहीं प्रभाव डाल सकता था ? उल्टा उत्तर में कहा :—

बोला तब पापी कमठ, सुनो मित्र निरधार ।

जो नहि मिले बसुन्धरी, तो मुझ मरण विचार ॥

कलहंस को मित्र के दुराग्रह पर बाधित होकर इस दुष्कृत के अभियोग में कटिबद्ध होना पड़ा । कलहंस बसुन्धरी के पास पहुंचा और कहा—'बसुन्धरे ! आज कमठ वन में व्यथा से पीड़ित हूँ अतएव तुम जाकर उसकी खबर लो ।' बसुन्धरी उसके हृदयगत कष्ट को न जानकर सरलचित्त से कमठ के पास गई । बस फिर क्या था ? उसने उससे बलात्कार कर अपनी नीच मनोवृत्ति की तृप्ति की । कुछ समय के अनन्तर जब राजा विजय लक्ष्मी प्राप्त कर वापिस आए और जब उन्हें कमठ के इस दुराचार का पता लगा, तो उन्होंने उसे गधे पर चढ़ाकर नगर से निकाल दिया । कमठ अपमान स्वरूप अग्नि से दहा हुआ भूताचल पर्वत पर जहाँ तापसियों का आश्रम है, वहाँ गया और उनसे दीक्षा लेकर हाथों पर शिला लिए हुए निर्विवेक कायक्लेश जप करने लगा । एक समय मरुभूत को जब कमठ का भूताचल शैल पर तप करने का अनुसंधान लगा तो वह मिलने के लिए भाई के पास गया और बोला—'भाई ! मेरा अपराध क्षमा करना मैंने तो राजा को बहुत समझाया था पर महाराज ने मेरा कहना न माना और तुम्हें इतना कष्ट दिया ।'

ऐसा कहता हुआ मरुभूत भाई से क्षमा माँगने को उसके पैरों पर गिर पड़ा । परन्तु उस दुष्कर्मी कमठ ने उसे निर्दोषी होने पर भी क्षमा करने के बदले अपमान कराने वाला समझकर क्रोधाग्नि से जलते हुए उसके मस्तक पर शिला डाल दी । जिससे वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और रुधिर धारा बहने लगी । थोड़े ही समय के अनन्तर अपने प्राण भी विसर्जन कर दिए और सलकी वन में बज्रघोष नामक हाथी की पर्याय धारण की । उधर जब तापसियों को कमठ की इस दुष्टता का पता लगा तो उन्होंने उसे अपने आश्रम से निकाल दिया । तब वह वहाँ से भी अपमानित होकर भीलों के समुदाय में जा मिला और चोर कर्म करने लगा ।

एक समय इसी दुष्कृत में पकड़ा गया और उसे अपने कर्तव्य कर्म के फल से मारनपीड़नादि विविध प्रकार के दुःख भोगने पड़े अन्त में बुध्दान से मरण कर उसी सलकी वन में कुक्कुट नामक सर्प हुआ । अथानन्तर एक दिन महाराज अरविद अपने महल पर बैठे हुए प्रकृति की सुन्दरता को देख रहे थे कि इतने में उन्होंने एक बड़ा भारी बादल का टुकड़ा गगन मंडल में देखा जो बहुत दूर होने से परम सुन्दर प्रतीत होता था । उसकी मनोहरता पर महाराज अरविद मुग्ध होकर लेखनी व रंगों को मंगाकर उसी प्रकार चित्र खींचने के अभियोगी हुए कि इतने में ही वायु के चलने से बादल छिन्न-भिन्न होकर देखते-देखते न मालूम कहा अन्तर्हित हो गया । बादलों की इस क्षण लक्ष्यता का महाराज अरविद के चित्त पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा । वे विचारने लगे 'कि जिस प्रकार ये बादल आँखों के देखते-देखते नष्ट हो गए उसी प्रकार ये संसार भी तो क्षण भंगुर है । यह पुत्र, पौत्र, स्त्री तथा और बंधुजनो का जितना समुदाय है वह सब दुःख का देने वाला है । और यह शरीर भी तो जिससे प्यार करते हैं, वह भी व्याधियों से ग्रसित दुःखमय और देखते-देखते नष्ट होने वाला है । इन्हीं के मोह में फँसकर यह जीव नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है ।

जिन उत्तम पुरुषों ने अपनी आत्मा को इस मोह जाल से निकालकर जिन दीक्षा ग्रहण की है वे ही इस दुस्तर संसार समुद्र से पार होकर शिव सुख के भाँगने वाले हुए हैं । मैं कितना मूर्ख हूँ जो अब तक अपने हित को न शोध सका । अतएव अब मुझको उचित है कि पुत्र, बंधु तथा घनादि का सम्बन्ध छोड़कर आरम हित का पथ जैतेन्द्री दीक्षा ग्रहण करूँ ।

तदनन्तर अपने विचारानुसार महाराज अरविंद ने पुत्र को राज्य भार देकर शिव सुख की साधक जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् अरविंद मुनिराज बहुत से देशों और नगरों में भ्रमण कर अनेक भव्यजनो को आत्महित की ओर लगाते हुए सम्मेलन शिखर की यात्रा के विचार से विहार करते हुये संध सहित सल्लकी वन में आकर ठहरे। संध्या का समय होने पर मुनिराज प्रतिमायोग धारण कर ध्यान करने लगे कि इतने में मरुभूत मंत्री का जीव ब्रजघोष नामक हाथी भयानक गर्जना करता हुआ संघ की ओर आया। परन्तु साधू मेरु समान स्थिरता से ध्यान करते रहे। पण्डित जनों का उसकी घोर गर्जना सुनकर आवागमन बंद हो गया। कितने ही जो गज के धक्के से गिर पड़े थे उनका प्राणोत्थ हो गया। जब वह हाथी अरविंद मुनि के पास आया तो उनके हृदयगत श्रीवत्स लक्षण को देखकर उसे जातिस्मरण हो गया। तब वह तत्काल शांत चित्त होकर मुनिराज के चरणों में बारम्बार शीश नमस्कार नमस्कार करने लगा। अरविंद मुनिराज उसके हृदयगत अभिप्राय को जानकर कहने लगे :—

मज्जानी पशु ! तुझे मालूम नहीं कि पाप का परिणाम बहुत बुरा होता है। देख पाप के ही फल से तुझे इस हाथी पर्याय में आना पड़ा। फिर भी तू पाप करने से मुंह न मोड़कर अनेक जीवों को खूदता हुआ भदोन्मत्त विहार करता है। यह कितने आश्चर्य की बात है। देख तूने जिन धर्म को न ग्रहण कर आज कितना दुःख उठाया। पर अब तेरे लिए बहुत अच्छा समय उपस्थित है।

अतएव तू आत्म हित का मार्ग ग्रहण कर। हस्ती की होनहार अच्छी थी या उसकी काललब्धि आ गई थी। यही कारण था कि मुनि के उपदेश को सुनकर उसके परिणामों में विलक्षण परिवर्तन हो गया। उसे अपने कृत कर्म पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। मुनिराज के उपदेशानुसार सम्यक्त्वपूर्वक उसने व्रत ग्रहण किए।

तदनन्तर मुनिराज तो उस गगन्द के लिए अहिंसामयी पवित्र जिन शासन का उपदेश देकर विहार कर गए। हाथी अपने ग्रहण किए व्रतों का पूर्णतया पालन करने लगा। उसे जो कुछ थोड़ा बहुत घुष्क पत्तलवादि पवित्र आहार मिल जाता था उसी को खाकर रह जाता था और पंचपरमेष्ठी के चरणों का स्मरण करता रहता था।

इस प्रकार कभी खाने की मिलने और कभी न मिलने के कारण वह हाथी बहुत कृश हो गया। ऐसी दशा में एक दिन उसे बहुत जोर की व्यास लगी। तब वह वेगवती नामक नदी के किनारे पर जल पीने को गया दुर्भाग्य से वहाँ पर बहुत दलदल हो रही थी। जब वह किनारे पर जलपान करने के अभिप्राय से पहुँचा तो यह उस दलदल में धंस गया। उससे इसने निकलने की कोशिश की पर दलदल से बाहर न निकल सका कारण कि कभी आहार मिलने और कभी न मिलने से वह पहले ही बहुत अशक्त हो गया था।

अंत में अपने को दलदल से निकलने में असमर्थ समझकर वहीं वह संसार समुद्र से पार करने वाले समाधिमरण को धारण कर पंच परमेष्ठी का स्मरण चिंतन करने लगा। इसी समय इसके पूर्वभक्त का भ्राता कमठ का जीव मरकर जो इसी वन में कुक्कुट नामक सर्प हुआ था, इस ओर आ निकला। उसकी जैसे ही इस पर नजर पड़ी जैसे ही उसे अपने पूर्व वैर की याद आ गई।

उसने क्रोध से अंधे होकर ब्रजघोष हाथी को डस लिया। पर ब्रजघोष हाथी ने कुक्कुट अहंकृत कष्ट को बड़ी शान्ति के साथ सहकर आयु के अन्त में साम्य भाव के फल से द्वादशम स्वर्ग लोक प्राप्त किया।

वहाँ मनचाहा दिव्य सुख भोग सोलह सागर की आयु पूर्ण होने पर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध लोकोत्तमपुर नगर के राजा विद्युतगति के यहाँ जन्म लिया और अग्निदेव के नाम से संसार में प्रख्यात हुआ। अग्निदेव पुण्योदय से जो राज्यविभूति प्राप्त हुई उसे सुखपूर्वक भोगने लगा। उसके दिन आनन्द उत्सव के साथ व्यतीत होने लगे। एक दिन पुण्योदय से अग्निदेव मुनिराज के दर्शनार्थ गए।

उनकी भक्ति से पूजा स्तुति कर उनसे धर्म का पवित्र उपदेश सुना उपदेश उन्हें बहुत रचा और उसका प्रभाव भी उस पर बहुत पड़ा। वह उसी समय संसार और विषय भोगों से विरक्त हो गया और बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्यागकर मुनिराज के पास आत्महित की साधक जिन वीक्षा ग्रहण कर ली और महा तप तपने लगे।

एक दिन इसी तरह वे हिमगिर की गुफा में ध्यानावृद्ध हो रहे थे कि इतने में ही इनसे शत्रुता रखने वाला कमठ का जीव जिसने कि पूर्व भव में कुवकुट नामक अहिपर्याय से वज्रघोष को उसने के पाप के फल से पंचम नरक में अवतार ले वहाँ छेदन भेदनादि अनेक प्रकार के दुखभोग आयु के अन्त में मरण कर अजगर पर्याय धारण की इस और आ निकला और उन्हें ध्यान में खड़े हुए देखकर उसे अपने बैरी पर बड़ा क्रोध आया। अपने बैर का बदला लेने के अभिप्राय से उसने मुनिराज को इस लिया। अग्निदेव मुनिराज ने धैर्य से विचलित न होकर इस कष्ट को बड़ी शान्ति के साथ सह्य। अन्त में समाधि से मरण कर पुण्य के फल से षोडशम् स्वर्गलोक प्राप्त किया। तप के प्रभाव से एक अमृत-मुहूर्त्त में आँखों में चकाचौंध लाने वाले दिव्य तेजस्वी और अनुपम सौंदर्ययुक्त तीन हाथ प्रमाण शरीर और दाईस सागर आयु के धारक देव हुए और कमठ का जीव अजगर पाप के फल से मरण कर भूमप्रभा नामक पाँचवीं पाताल का निवासी हुआ।

अथानंतर वह देव आयु के अन्त में अच्युत स्वर्ग से चयकर जंबूद्वीप के पश्चिम विदेह में पण्यदेश के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध अश्वपुर नामक नगर के राजा वज्रवीरज की रानी विजया के गर्भ में अवतरित हुआ। एक दिन रानी विजया अपने शयनागार में कोमल शय्या पर सोई थी कि उसे रात्रि के अन्तिम पहर में मेष-चन्द्रमा-सूर्य-सजलसरोवर और समुद्र ये पाँच बातें स्वप्न में दीख पड़ी। उन्हें देखकर वह जाग उठी और प्रातःकाल होते ही उसने अपने प्राणनाथ से स्वप्नों का वृत्तान्त ज्यों का त्यों कह सुनाया। सुनकर महाराज वज्रवीरज ने उनके फल के सम्बन्ध में यों कहा कि 'प्रिये ये स्वप्न तुमने बड़े ही सुन्दर देखे हैं। इनके देखने से सूचित होता है कि तुम्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी और वह सबसे प्रधान क्षत्रिय वीर प्रजारूपी कमलवन को प्रफुल्लित करने वाला होगा। उसके शासन से प्रजा बहुत समुष्ट होगी।' अपने स्वामी के मुखारविन्द द्वारा स्वप्नों का फल सुनकर विजया रानी को परमानन्द हुआ। ठीक ही कहा है पुत्र प्राप्ति से किसे प्रसन्नता नहीं होती। आनन्दपूर्वक कुछ समय बीतने पर विजया रानी ने शुभ लक्षणों से युक्त प्रतापी, सुन्दर पुत्ररत्न प्रसन्न किया। पुत्र प्राप्ति से दम्पति को आनन्द हुआ।

तत्पश्चात् राजा वज्रवीरज ने पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में खूब आनन्द उत्सव किया। दुखी अनाथ याचकों को यथेच्छित दान दिया। पूजा प्रभावना की। बंधुबंधियों ने बहुत आनन्द मनाया।

सच है—कुल दीपक पुत्र की प्राप्ति से कौन खुशी नहीं मनाता ! राजा ने पुत्र का नाम अपने नाम से सम्बन्ध रखते हुए बज्जनाभि रख दिया । बाल कुमार शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनों दिन बढ़ने लगा ।

बंधु वर्ग रूपी कमल उसे देखकर प्रफुल्लित होते थे । जब उनकी पठन करने के योग्य उमर हुई तब महाराज बज्जवीरज ने अच्छे-अच्छे विद्वान अध्यापकों को रख कर उन्हें पढ़ाया । इनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी दूसरे इन पर गुरुओं की कृपा हो गई । इससे थोड़े ही दिनों में पढ़ लिखकर अच्छे धर्मज्ञ और नीति निपुण विद्वान बन गए ।

कुछ दिनों पश्चात् राजा बज्जवीरज ने पुत्र को यौवन सम्पन्न होते देखकर इनका विवाह समारंभ किया । उसमें उन्होंने खूब द्रव्य व्यय कर बड़े वैभव के साथ अनेक सुन्दर राजकुमारियों से उनका विवाह कर दिया । और कुछ समय के अनन्तर इनको राज्याधिकार भी दे दिया गया । बज्जनाभि अब राजा हो गये ।

प्रजा का शासन ये भी अपने पिता की भांति न्याय नीति पूर्वक प्रेम के साथ करने लगे । कुछ समय के पश्चात् इनके यहां परम प्रकर्ष पुण्योदय से आयुधशाला में चक्ररत्न प्राप्त हो गया जो सब सुखों का कारण माना जाता है सबदोष एक तथा सबविधि भी इनके यहाँ प्रकट हो गयी थी । अतः उन्होंने अनेक देशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया और निष्कण्टक होकर षट्खंड का राज्य करने लगे जिससे बज्जनाभि के नाम से संसार में प्रख्यात हो गए । एक दिन बज्जनाभि क्षेमंकर चक्रवर्ती मुनिराज के दर्शनार्थ गए ।

उनकी भक्ति से पूजा स्तुति कर उनसे धर्म का पवित्र उपदेश सुना । मुनिराज के वैराग्य पूर्ण उपदेश का उनके हृदय पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा । वे उसी समय संसार के विषय भोगों से विरक्त हो गये और राज्यभार को छोड़कर बहुत से राजाओं के साथ आत्मवित्त की साधक जैनेंद्री वीक्षा ग्रहण कर ली और महातप तपने लगे । एक दिन वन में खड़े कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे कि इसी समय इनसे जन्मान्तर शत्रुता रखने वाला कमठ का भील जो कि पहले अजगर की पर्याय को छोड़कर छठे नरक का वासी हुआ था स्थिति पर्यन्त अनेक प्रकार के कष्ट भोगकर वहाँ से निकल कर इसी वन में महाविक-
राल भयानक रूप का धारक भील हुआ और शिकार के लिए अनुषाण लेकर भ्रमण करता हुआ इस ओर आ निकला जहाँ मुनिराज ध्यान में निमग्न थे । उसने दिगम्बर मुनिराज को देखकर पूर्व जन्म की शत्रुता के संस्कार वश शिकार मिलने के लिए उन्हें विध्य रूप समझकर उनके शरीर को तीरों से वेध दिया ।

मुनिराज को बड़ा दुस्सह कष्ट हुआ पर उसे उन्होंने बड़ी धीरता से सह्य । सच है—जिनका शरीर से रस्ती भर मोह नहीं उनके लिए तो कष्ट कोई भीज ही नहीं । अन्त में समाधि से मरण कर मध्य त्रैवेयक में ग्रहमित्र हुए और वह भील मुनि-हिंसा रूपी पाप के फल से सप्तम सरक में गया । सच है—पापियों को कहीं स्थान नहीं मिलता । एक तरक ही की उन पर कृपा दृष्टि होती है जो उनको रहने के लिये स्थान प्रदान कर देता है । पश्चात् वह वेव मध्यम त्रैवेयक में सत्ताईस सागर पर्यन्त उत्तमोत्तम सुख भोग आयुपूर्ण हुए वहाँ से चयकर जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में कौशल देश के अन्तर्गत अयोध्या नाम की नगरी में तस्याधिपति इक्ष्वाकु वंशोद्भव राजा बज्जबाहु की रानी प्रभाकरी के गर्भ से आनन्द कुमार नामक राजपुत्र हुआ ।

बड़े होने पर महाराज ने अपना राज्य का सब भार इनके आधीन कर दिया। अब आनन्द कुमार राज्य सिंहासन की अलंकृत करने लगे। ये अभी अपनी प्रजा का शासन प्रेम और नीति के साथ करने लगे। अपनी संतानवत् इनका प्रजा पर प्रेम था। इस कारण प्रजा भी इनके साथ बहुत संतुष्ट रहती थी।

इस प्रकार प्रजा का पालन करते हुए इनका बहुत सुख पूर्वक समय बीतता था। एक दिन की बात है कि आनन्द कुमार अपने निकटवर्ती मनुष्यों सहित सभा में बैठे हुए दर्पण में अपने मुखमंडल की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे कि उन्हें एकाएक मस्तक में एक द्योतक केश दृष्टिगत हुआ। उसके देखते ही क्षणमात्र में उनके हृदय में वैराग्य का अंकुर उत्पन्न हो आया। वे विचारने लगे कि काल के धर का दूत अब आ पहुँचा है। अतएव इन विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अपने वश में कर लूँ। मैं बड़ा मूर्ख हूँ।

जो आज तक विषयों में फँसा रहा और कभी अपने आत्महित की ओर ध्यान नहीं दिया। यह राज्यभार और स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु आदि का स्नेह केवल संसार का बढ़ाने वाला है और इसी के मोह में फँसकर यह जीव नाना प्रकार के दुखों को भोगता है। जिन पुरुषों ने इस मोहजाल को तोड़कर अविनश्वर मोक्ष सुख के देने वाली जिन दीक्षा स्वीकार की है वे ही इस संसार सागर से पार होकर निजात्मीक अक्षयानंत शिव सुख के भोक्ता हुए हैं। इस प्रकार दृढ़ विचार करके महाराज आनन्दकुमार ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्यभार सौंपकर सागरदत्त मुनिराज के निकट मोक्ष सुख की साधक जिन दीक्षा ग्रहण कर ली और अनादिकाल से पीछा करने वाले आत्म शत्रु कर्मों का नाश करने के लिए दुस्सह तप-व्रत करना आरम्भ किया।

तदनन्तरषोडशभावनाओं के द्वारा पूज्य तीर्थकर नाम प्रकृति का बंध किया। जिससे आनन्द कुमार मुनिराज निर्जन वन में आतापन योग धारण किए थे कि उसी वन में वह जन्मान्तर से शत्रुता रखने वाला कमठ का जीव सप्तम नरक से निकलकर विकराल-भयंकर रूप का धारक पंचानन अर्थात् सिंह हुआ, और देव से प्रेरित हो इस ओर आ निकला। ध्यान में निमग्न मुनिराज को देखते ही इसमें पूर्व शत्रुता के संस्कार जाग्रत हो आए। बस फिर क्या था? उसने क्रोधांध होकर अपने तीखे-नखों और विकराल नुकीली डाढ़ों से मुनिराज के शरीर को विदीर्ण कर डाला। सच है—जो पापी होते हैं वे लोग भयंकर से भयंकर पाप करने में किञ्चिन्मात्र नहीं हिचकते।

बाहे फिर उस पाप के फल से उन्हें जन्म-जन्म में भी क्यों न कष्ट सहना पड़े। मुनिराज को बड़ा ही कष्ट हुआ। पर उन्होंने इस दुस्सह उपसर्ग को बड़ी स्थिरता और शान्ति से सहकर प्राणों को विसर्जन कर त्रयोदशम् स्वर्ग में इन्द्र पद प्राप्त किया। अजानंतर जम्बूद्वीप के अन्तर्गत बाराणसी नामक मनोहर नगर था। उसके राजा थे विश्वसेन। इनका जन्म कुरुवंश और काश्यप गोत्र में हुआ था। विश्वसेन धर्मज्ञ, नीति निपुण, दानी और सम्यग्दृष्टि थे। उनकी रानी का नाम था—वामादेवी। जो बहुत सुन्दरी, विदुषी और धर्म परायण थी। इन दोनों दम्पतियों के पुण्योदय से प्राप्त हुई राज्य विभूति को भोगते हुए आनन्द और उत्सव के साथ दिन व्यतीत होते थे जिससे ये काल की गति को भी न जान सके। एक दिन वामादेवी अपने शयनागार में सुख पूर्वक कोमल शय्या पर शयन किये हुए थी कि उन्हें रात्री के पश्चिम भाग में तीर्थराज के अवतार सूचक गजराज, वृषभ, केशरी आदि सोलह स्वप्न हुए और अन्त में हाथी को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा। स्वप्न देखकर देवी जागृत हो गई।

प्रभात होने पर प्रातः काल सम्बन्धी क्रियाओं से निवृत्त हो राजसभा में महाराज विश्वसेन के पास गईं। महाराज ने राणी को धांस देखकर अत्यंत अर्द्धासन छोड़ दिया और वार्दी और बैठाकर कहा— प्रिये! आज क्या विचार कर आई हो?

महारानी बोली—‘नाथ! आज रात्रि के अन्तिम समय सोलह स्वप्न देखे हैं। उका फल भ्रवण करने की इच्छा से आप के पास आई हूँ।’ यह कहकर देखे हुए स्वप्न ज्यों के त्यों कह सुनाये। सुनकर राजा ने कहा कि ये स्वप्न तुमने बहुत अच्छे देखे हैं। इनका फल सूचित करता है कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर जन्म लेंगे। जिनकी आज्ञा का इद्रादिक बड़े बड़े देवता तक सम्मान करते हैं, उन स्वप्नों का उत्तम फल वामादेवी अपने पति के मुख से सुनकर बहुत हर्षित हुई।

पश्चात् सखियों के साथ निज मंदिर में वापिस घली गई। इन्द्र की आज्ञा से भेजी हुई रुचिक नामक त्रयोदशम् द्वीप के मध्य स्थित बलयाकार चौरासी हजार योजन उन्नत और इतने ही योजन विस्तार वाले रुचिक संज्ञक पर्वत के शिखर पर कूटों में निवास करने वाली दिवकुमारि देवीयों आकर जिनमाता की नाना प्रकार से भक्ति सेवा करने लगी। भगवान् वैशाख मास कृष्णपक्ष की दोषण के दिन विशाखा नक्षत्र का योग होने पर आनन्द नामक त्रयोदशम स्वर्ग को छोड़कर वामादेवी के गर्भ में आ विराजे। कुछ दिनों पश्चात् गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उनके भार से वामादेवी को किसी प्रकार की बाधा नहीं होती थी जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब के पड़ने से किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है।

ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब सों। भारी कहो न जाए।

त्यों जिन पति के गर्भ सों। खेव न जाने माय ॥१॥

अर्थात् गर्भ पूर्ण दिनों का हुआ तब पौष मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन जबकि विशाखा नक्षत्र का योग था तब वामादेवी ने नवमें महीने के शुभ लक्षणों से युक्त त्रिभुवनमहतीय सुन्दर पुत्ररत्न प्रसव किया। पुत्र के उत्पन्न होते ही नगर भर में आनन्दोत्सव होने लगा। देवों के आसन चलायमान हुए। मुकुट नमने लगे। चतुर्विध देवों के निलयों में स्वमेव पृथक् प्रकार के वादिशों का शब्द होने लगा। सब भरत क्षेत्र में तीर्थ राज का अवतार जानकर बड़े समारोह के साथ स्वर्ग के देवों ने बनारस नगरी में आकर बहुत उत्सव किया।

पश्चात् भगवान् को ऐरावत हाथी पर बैठाकर सुमेरु पर्वत ले गए और जाकर क्षीर समुद्र के स्फटिक से उज्ज्वल और निर्मल पवित्र जल से भगवान् का अभिषेक कराया। न्हुवन क्रीड़ा समाप्त होने पर उन्हें ऐरावत गगन्द पर बैठा पूर्व जैसे महोत्सव के साथ बनारस नगरी में ले आये और प्रसूति गृह में माता के निकट इन्द्राणी द्वारा विराजमान कराए। तदनन्तर भगवान् के माता-पिता की पूजा स्तुति कर उनका यशोगान करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले गए। भगवान् निजवय प्रमाण देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनों-दिन बढ़ने लगे।

इनका समय देवकुमारों के साथ हंसी विनोद करते हुए बहुत सुख से बीतता था। जब भगवान् युवावस्था में पदार्पण करते हुए सोलह वर्ष के हुए, तब एक समय सभा में बैठे हुए महाराज विश्वसेन ने अवसर पाकर भगवान् से कहा—कि प्रियपुत्र! अब तुम योग्य अवस्था के हो गए हो। अतएव एक राज्य कन्या से पाणिग्रहण करने की स्वीकारता प्रदान कर हमारी कामना पूर्ण करो जिस प्रकार प्रथम अवतार ऋषभदेव ने नाभिराय की मनोकामना पूर्ण की थी। क्योंकि ऐसा करने से ही कुल की रक्षा हो सकेगी और तुम्हें कुल की रक्षा करनी चाहिए।

यह सुनकर भगवान ने उत्तर में निवेदन किया—‘पिता जी ! आपने जो कहा सो ठीक है परन्तु मैं ऋषभदेव के समान नहीं । कारण कि उनकी आयु तो ४८ लाख पूर्व की थी और मेरी आयु केवल सो वर्ष की है । जिसमें भी सोलह वर्ष तो आत्म्य अवस्था में ही व्यतीत हो चुके हैं और तीसवें वर्ष में संयम समय है । अतएव—

अल्पकाल तिथि अल्पसुख । अल्प प्रयोजन काज ।
 कौन उपद्रव संग्रहे । समस्त वैष्णव नरराज ॥१॥
 सुर नरेन्द्र लोचन भरे । रहे वदम विलसाय ।
 पुत्र वयाह वर्जित वचन । किसे नहीं दुखदाय ॥२॥

इस प्रकार संसार की विषय वासनाओं से विरक्त चित्त पार्श्वनाथ भगवान निजात्मिक सुख प्राप्त करने की साधन जिन दीक्षा के समय की प्रतीक्षा करते हुए आनन्द पूर्वक दिन व्यतीत करने लगे ।

वह पवित्र पूर्व कसठ का जीव पुत्रि हिंसा के पाप के फल से पंचम नरक में गया वहाँ उसने सत्रह सगर पर्यन्त छेदनभेदन यंत्रों के द्वारा पिलना आदि कठिन से कठिन दुःख भोगे और वहाँ से निकलकर सत्रह सागर पर्यन्त असंस्थावर जीवों की पर्यायें धारण की और वहाँ भी बहुत दुःख भोगे । तीन सागर के पश्चात् अबकी बार कुछ पाप का भार हल्का हो जाने से यह महीपालपुर के राजा के यहाँ पुत्र हुआ और कुछ समय के अनन्तर योग्य अवस्था होने पर पिता के पद को प्राप्त हो गया अर्थात् राजा हो गया । प्रजा का नीति पूर्वक राज करते हुए कुछ समय बीतने पर इनके एक पुत्री हुई । उसका नाम रखा गया—वामा देवी । जब वह यौवन अवस्था में पदार्पण करने लगी तब महाराज महीपाल ने उसका विवाह महाराज विश्वसेन के साथ कर दिया ।

अरित्र नायक पार्श्वनाथ भगवान इन्हीं के पुत्र हुए थे । इस सम्बन्ध से महीपाल भगवान पार्श्वनाथ के नाना हुए । कुछ समय के उपरान्त दैव के दुर्विपाक से महाराज महीपाल की प्रिय पटरानी का देहान्त हो गया । इसके वियोग से इनको बड़ा खेद हुआ । दुःख का उद्वेग बहुत बढ़ा । अन्त में वे सहन न कर सके प्रिय पटरानी का असह्य शोक उनके हृदय के मध्य लहरें लेने लगा । कुछ समय पश्चात् किसी तरह हृदय में वैर्य धारण कर एक पल भी फिर वहाँ न ठहरकर घर से निकल पड़े और तापसी भेष धारण कर समस्त अंग में भस्म रमाकर मृग छाला बिछाए हुए बन में पंचाग्नि तप तपने लगे । यहाँ से फिर अनेक देश, नगर, ग्रामों में विहार कर तपस्या करते हुए बनारस नगरी के कानन में आकर ठहरे । इसी अवसर में एक दिन श्री पार्श्वनाथ भगवान अपने सखाओं के साथ बन क्रीड़ा करने को गए । क्रीड़ा समाप्त होने पर जब बनारस की ओर आ रहे थे कि उन्हें मार्ग में निज जननी के पिता महीपाल पंचाग्नि तप तपते हुए दृष्टिगत हुए ।

उस समय महीपाल भगवान को निकटवर्ती आए हुए भी विनय प्रणाम करने से रहित देखकर अपने मन में विचारने लगे कि यह कुमार बड़ा मानी अहंकारी है । जो प्रथम तो मैं जननी पिता हूँ, दूसरे मैं तापसी हूँ, दोनों प्रकार से इनके मेरे प्रति पूज्य भाव होने चाहिए । परन्तु इसमें विनीत नम्रता का लेशमात्र भी नहीं । महीपाल भगवान के विनय प्रणाम न करने से सिर से पाँव तक जल उठे । क्रोध की आग उसके रोम-रोम में प्रवेश कर गई । पर वह उनका कुछ करने-घरने को लाचार थे । अन्त में अपने मन ही मन में क्रोधित हो हाथ में परसी लेकर जलाने के लिए लकड़ी चोरने को तत्पर हुए ।

तब भगवान ने काण्ठ के मध्य अवधिशान द्वारा सर्प युगल जानकर हित मित प्रिय वाणी से कहा—‘ओ तापस ! इस काण्ठ को मत विदारण करो, कारण कि इसमें सर्प सपिणो का युगल बँठा हुआ है उसका घात हो जाएगा । परन्तु उसने न माना और उल्टे क्रोधित होकर कहा—‘ओ बालक ! क्या ।’

चौपाई :—

हरिहर ब्रह्मा तुम ही भए । सकल चराचर जाता ठये ।

मन करत उद्धत अविचार । चौरयो काठ न लाई बार ॥१॥

काण्ठ के चीरते ही तत्र स्थित युगल सर्पों के खंड हो गए । तब पुनः भगवान ने कहा—‘ओ तापसी ! तुम क्यों वृथा गर्व कर रहे हो । मान के बशीभूत होकर बारम्बार कहने पर भी न माना । अब इन निरपराध जीवों की हत्या करके क्या लाभ उठाया ? भला कहो तो सही । इन बेचारों ने तुम्हारा क्या नुकसान किया था ? बड़े आश्चर्य की बात है कि मनुष्य होकर भी तुम्हारे में दया का अंकुर तक नहीं दीख पड़ता ।’ तब वह तापसी क्रोधित होकर बोला—‘ओ कुमार ! देखो ! प्रथम तो मैं तुम्हारी जननी का पिता, दूसरे पंचाग्नि तप तपने वाला तापसी । तुम्हें दोनों संबंधों से मेरे प्रति पूज्य भाव होकर विनय प्रणाम करना चाहिए था । किन्तु तुम उसके प्रतिकूल मेरा मान खंडन कर रहे हो । क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि मैं एक पाद द्वारा खड़े होकर ऊपर बाहें किए हुए क्षुधा, तृषा की वेदना सहता हुआ नित्य पंचाग्नि तप साधन करता हूँ और जो कुछ थोड़ा-बहुत शुष्क फल, पत्र आदि आहार मिल जाता है उसी को सन्तोष वृत्ति से ग्रहण कर रह जाता हूँ । तब भी तुम मेरे इस दुःसह तपश्चरण को ज्ञान शून्य अज्ञान तप बतलाकर निंदा कर रहे हो ।’ तब उसे भगवान ने फिर कहा—‘ओ तापसी ! देखो ! तुम्हारे पंचाग्नि तप तपने में नित्य प्रति कितने पदकाय के जीवों की हिंसा होती है और जहाँ हिंसा होती है वहाँ नियम कर के पाप का बन्ध होता है और आप यह खूब अच्छी तरह जानते हैं कि - पाप के फल से जीवों को नरकादि दुर्भितियों में ये असह्य कष्ट भोगने पड़ते हैं ।

इस कारण तुम्हारा तपश्चरण करना अज्ञान तप है । बिना उद्देश्यों के समझे बूझे व्रतादि धारण करना अंधे की दीड़ के समान व्यर्थ अथवा अल्प (निरतिशय) पुण्य बन्ध का कारण होता है ज्ञान के बिना अज्ञानी जीव सैकड़ों जन्मों में दुस्सह कायक्लेश तप करके जितने कर्मों का क्षय करते हैं । उतने कर्मों को ज्ञानी जीव एक क्षण मात्र में नाश कर देते हैं । देखो ! यद्यपि अज्ञानी जीव कायक्लेश तप करके नव प्रवेद्यक पर्यन्त (१६ स्वर्गों) के ऊपर नव प्रवेद्यक विमान हैं यहाँ तक मिथ्या दृष्टि जा सकता है । भागे नहीं जाते हैं परन्तु आत्मा के स्वभाव विभाग के ज्ञान श्रद्धान (दृढ़ निश्चय) बिना कर्तव्या-कर्तव्य की यथार्थ प्रवृत्ति न होने से निजात्मीक सुख अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते । अतएव निर्दोष भगवान के द्वारा उपदेशित पवित्र अहिंसामयी जिन धर्म का आश्रय ग्रहण कर जो धर्म दुखों का नाश कर सुखों का देने वाला है । देखो ! जो अष्टादश दोगों से रहित और चराचर के देखने वाले (सर्वज्ञ) हैं वे देव कहाते हैं । ऐसे निर्दोष देव द्वारा निरूपण किए हुए मोक्षमार्ग ही धर्म कहलाते हैं । धर्म का सामान्य लक्षण ये है कि—जो ‘संसार दुःखतः सत्त्वान यो धरत्युत्तमे “सुखे”—संसार के दुःखों से छुटकारा पाकर जीवों को उत्तम सुख में पहुँचा दे वही धर्म है । जो परिग्रह रहित, बीतरागी, तपस्वी, मोक्ष साधन में तत्पर हों और संसार के दुःखी जीवों को आत्महित के मार्ग पर लगाने में कटिबद्ध हों । वे ही सच्चे गुरु हैं । इन तीनों पर अचल दृढ़ विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं । ये सम्यग्दर्शन मोक्ष महल पर पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है । इनके बिना ज्ञान और चारित्र्य अंक के बिना शून्यवत् निष्फल हैं । सम्यक्त्व

के प्राप्त होने पर ही चारित्र्य का धारण करना कार्यकारी हो अन्यथा ब्रतादि धारण करने का प्रयास करना धान्यतुष खंडनवत् व्यर्थ है। अतएव उन पुरुषों को जो सुख प्राप्त होने की इच्छा रखते हैं उन्हें मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व चारित्र्य धारण करना चाहिए। विश्वास है कि तुम भी अपने हित के लिए इसे ग्रहण करने का यत्न करोगे। इतना कहकर भगवान ने कहा कि—

“मैं तुम वचन कहे हितकार। तू अपने उर देख विचार।

भलो लगे सोई कर मिल। बुरा मलीन करे मत छित ॥१॥”

इतना कहकर भगवान वहाँ से चल दिए और निज राजसभा में आ विराजे। उधर वह सर्प युगल जो खंड-खंड हो गये थे वे अभी कुछ जीवित थे। उनकी हीनहार अच्छी थी या कालनविध आ गई थी। यही कारण था कि उन्होंने तापसी के प्रति दिया हुआ भगवान का सदुपदेश सुन उसके वचनों पर विश्वास कर मिथ्यात्व के परित्यागपूर्वक जिन धर्म के ध्यान करने में जो लगाया और इन्हीं शुद्ध परिणामों के साथ दोनों ने प्राण विसर्जन कर दिए जिसके प्रभाव से सर्प युगल धरणेन्द्र, पद्मावती हुए। कालान्तर में वह तापसी भी आयु के अन्त मरण कर अज्ञान तप के प्रभाव से संवर नामक ज्योतिषी देव हुआ।

जीपाई

देखो जगत् में तप प्रभाव। ज्ञान बिना बांधी सुरभाव।

जे नर करें जैन तप सार। तिन्हें कहां बुलै संसार ॥१॥

अथानन्तर श्री पार्श्वनाथ भगवान रोग, शोक, चिंता, भय आदि दोषों से रहित राज्य विभूति जनित सुखों का अनुभव करते हुए आनन्द उत्सव के साथ दिन व्यतीत करने लगे। भगवान जब तीस वर्ष के हुए कि इसी अवसर में एक दिन अयोध्यापति महाराजा जयसेन ने भगवान की अनन्य भक्ति और प्रेम से बाधित होकर उनकी सेवा में उत्तम-उत्तम बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट देने के लिए देकर अपने एक दूत को बनारस नगरी में भेजा। दूत बनारस में पहुँचकर द्वारपाल की आज्ञा से राजसभा में गया जहाँ भगवान पार्श्वनाथ सुवर्णमय सिंहासन पर अधिष्ठित थे।

भगवान के देखते ही दूत के रोमांस हो आए उसने सानन्द भक्ति पूर्वक उनके चरणारविंदों को बारम्बार नमस्कार किया। पश्चात् अपने स्वामी द्वारा भेजी हुई वस्तुओं को भगवान की भेंट करके कहा-पूज्यपाद मेरे स्वामी अयोध्यापुरि के महाराज जयसेन ने आपकी भक्ति और प्रेम से बाधित होकर आपकी पवित्र सेवा में अपने अनेकानेक विनयप्रणाम के अन्तर से उत्तमोत्तम वस्तुएँ भेंट करने के लिए भुके भेजा है आप इन्हें स्वीकार कर योग्य सेवा से उनके हृदय को पावन कीजिए।

भगवान जयसेन की सेवा से बहुत संतुष्ट हुए। कुशल प्रश्न के अनन्तर दूत से पूछा—प्रच्छा ये बताओ कि अयोध्या कैसी संपत्तिशाली और सुन्दर नगरी है? तब दूत विनीत भाव पूर्वक बोला—‘महाराज! अयोध्या कौशल देश के अन्तर्गत नाना प्रकार की सर्वश्रेष्ठ संपदाओं से परिपूर्ण बड़े-बड़े ऊँचे विशाल मनोहर गृहों तथा जिन भिन्दरों से सुशोभित ऐसी मुरम्य जात पड़ती है कि मानों निराधार स्वर्ग का एक खंड टूटकर गिर गया हो। जहाँ उपवनों और सरोवरों की अनुपम सुन्दरता को देखकर देवों का मन मुग्ध होता है। इनके अतिरिक्त विशेषता यह है कि इसमें अनेक तीर्थंकरों का जन्म हुआ है और अनेकानेक मुनि केवल ज्ञान प्राप्त कर परम धाम मोक्ष पथारे हैं। इसलिए यह महान गवित्र है जिसके दर्शन स्मरण करने से पापों का क्षय होता है।’

इस प्रकार दूत के मुख से भगवान ने जब तीर्थंकरों के जन्म और मुनिराज के मोक्ष पधारने का वृत्तान्त सुना, तब ही उन्हें बैराग्य हो आया। वे विचारने लगे कि—'धन्य हैं कि वे जीव जो इस मोह जाल को तोड़कर आत्महित की साधक जैनेन्द्री दीक्षा के द्वारा अविनश्वर मोक्ष महल के भोक्ता हुए हैं। मैंने भी अद्यावधिसंसार की लीला से परिचित होते हुए जनसाधारणवत् शरीर इन्द्रियों को संतुष्ट किया और कभी अपने हित की ओर ध्यान नहीं दिया। पर खैर जो हुआ। अब भी मुझे अपना कर्तव्य पालन करने के लिए बहुत समय है जिस प्रकार मैंने विषय सुख भोगा उसी प्रकार अब कठिन तपश्चरण कर इनको विषयों की ओर से हटाकर उन्हें आत्मशक्ति के बढ़ाने में सहायक बनाऊँ। यदि इनकी अब भी उपेक्षा न की गई तो नियम करके संसार भ्रमण करना पड़ेगा। अतएव अब इन विषयों के जाल से अपने आत्मा को छुटाकर अविनाशी सुख के देने वाली जिन दीक्षा ग्रहण कर पंचाचार आदि मुनिव्रतों का निरतिचार पालन करूँ।'

इस प्रकार सांसारिक विषय कषायों से विरक्त होकर भगवान बैराग्योत्पादक वारह भावना का चितवन करने लगे। तत्समय ही पंचम स्वर्ग के अन्त में रहने वाले लौकास्तिक देवों ने आकर भगवान के बैराग्य की प्रशंसाकर अपना नियोग पूरा किया। तदन्तर स्वर्गों के देवों ने आकर भगवान को क्षीरोदधि के जल से भरे हुए सुवर्णमय कलशों से स्नान कराया और चन्दनादि उत्तम सुगंधित वस्तुओं का शरीर में विलेपन कर अनेक प्रकार के दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित किया। तदन्तर देवों द्वारा लाई हुई विमला नामक पालकी में भगवान को आरुढ़ कर पहले तो सात पैँड भूमि गोचरी लेकर चले। पश्चात् सात ही पैँड विद्याधर तदन्तर इन्द्रादिक देव लेकर उन्हें काशी के अश्वनामक वन में ले गए। भगवान ने वहाँ वटवृक्ष के नीचे सब वस्त्राभूषणों का परित्याग कर अपने मस्तक के केशों का लोच किया। उन केशों को लेकर ले जाकर इन्द्र ने क्षीर समुद्र में जा क्षेपण किया।

पश्चात् भगवान के बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर सिद्ध भगवान को नमस्कार करके आत्महित की साधक पावन जिन दीक्षा स्वीकार की। उनके साथ और भी ६०६ मुकुट बद्ध राजाओं ने जिन दीक्षा को स्वीकार किया। उस दिन पौष कृष्ण ११ और प्रातःकाल का समय था। दीक्षा लेने से तीन दिवस पर्यन्त भगवान ध्यानारुढ़ रहे। पश्चात् काश्यपकृत पुर में ब्रह्मदत्त राजा के यहाँ निर्दोष निरंतराय प्राशुक आहार किया। अनन्तर वन में जाकर पंचाचार आदि मुनिव्रतों का निरतिचार पालन करते हुए कठिन तपश्चरण करने लगे। न उन्हें शीत की बाधा होती थी और न आतप की। और न क्षुधा तृषा की ही। यदि किंचित होती भी तो वे उसकी कुछ उपेक्षा न रखकर सदा आत्मध्यान में लीन रहते। इस प्रकार शीतोष्मादि जनित बाधा को सहते हुए भगवान योग निरोध कर चार मास पर्यन्त धर्म ध्यान में लीन रहे। एक दिन की बात है कि वे निज तपोवन (जहाँ दीक्षा ली थी उसी वन) में खड़े हुए ध्यान कर रहे थे कि उसी समय वह कमठ का जीव जो भगवान का नाता होकर आयु के अंत में गत प्राण हो संवर नामक ज्योतिषी देव हुआ था, आकाशमार्ग से उधर होकर निकला पर भगवान के प्रभाव से विमान अटक गया। अर्थात् भगवान के प्रभाव से उनको उल्लंघन कर आगे न जा सका और ऊपर छत्र वत् स्थिर हो गया। अकस्मात् दिना कारण विमान को रुका देखकर उसने अवधिज्ञान के बल से जान लिया कि यह वही मेरे पूर्वजन्म का अपमान करने वाला शत्रु है जिसने पंचाग्नि तप तपते हुए विनय प्रमाण करने के प्रतिकूल मेरे तप को अज्ञान तप कह कर निन्दा की थी और अब भी मेरे विमान के चलने में ये ही प्रतिबंधक है। यह समझकर उन पर नाना प्रकार के उपद्रव

करने आरम्भ कर दिए। उससे जहाँ तक बन सका उसने उन्हें खूब कष्ट पहुँचाया। अपनी विक्रिया शक्ति से अमावस्या की अर्द्ध रात्रि के समान धीरे अंधकार करके मूसलोपमधारा से मेघ वर्षा को। बादलों की गरज और विद्युत की लड़क से भयंकर शब्द होने लगे।

प्रचंड वेग से भंभावात (बरसाती शीतल पवन) चलने लगी। असीम वर्षा के जल से समस्त बन समुद्रवत् जलमय मालूम होने लगा। परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ उन उपद्रवों से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। वे जिस प्रकार ध्यान में स्थित थे उसी प्रकार से अजन्त गिरि के समान स्थित रहे। यह ठीक ही है—यदि प्रचंड प्रकाल के लय समान वायु भी क्यों न चले पर क्या वह मेरु पर्वत को चलायमान कर सकती है, कदापि नहीं। इसके अतिरिक्त उसने और भी अनेक प्रकार के उपद्रव किए। यथा :—

छप्पय

किलकलंत वैताल काल कञ्जल छविछञ्जहि ।
भौ कराल विकराल भाल मव गल जिमगञ्जहि ।
मुँड माल गल धरे लाल लोचन निडरहि जन ।
मुख फुलिग फुँकरहि निरदय धुनि हन हन ।
इस विधि अनेक दुरमेष धर कमठ जीव उपसर्ग किय ।
तिहुँ लोक बंद जिन चन्द्र प्रतिधूल डाल निज शीश लिय ॥१॥
इत्यादि उत्पात सब। बुधा भए प्रति घोर ।
जैसे मानक बीपको । तर्ग न पबनहु कोर ॥२॥

उनके तप के प्रभाव से जिन भक्त धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ अबधिल से भगवान् पर उपसर्ग हुआ जान वह तत्काल पद्मावती सहित वहाँ आए, जहाँ भगवान् ध्यानारुढ़ स्थित थे। धरणेन्द्र ने आकाश से भीषण मेघ आते हुए देख भगवान् के ऊपर अपना फण मंडप छत्रवत् छा लिया जिससे वर्षा कृत बाधा दूर हुई। पद्मावती पूर्वजन्म कृत उपकार को स्मरण कर सभक्ति प्रदक्षिणा दे उनके चरणार्विंदों को बारम्बार नमस्कार करने लगीं। नागराज को आया हुआ जान वह ज्योतिषी देव अपनी माया का संकोच कर व्यग्र चित्त हो भय के मारे तत्काल वहाँ से भाग गया। सच है—बलवान् के सामने से भाग जाने में ही कुशलता है। अब सब उपद्रव शान्त हो गए। भगवान् पार्श्वनाथ ने शुक्ल ध्यान के बल से बारहवें गुण स्थान में पहुँच दूसरे शुक्ल ध्यान के प्रभाव से धातियां कर्मों का अभाव कर लोका-लोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया।

भगवान् को केवलज्ञान हुआ जान तत्क्षण इन्द्र ने आकर बारह सभाओं से सुशोभित संवा योजन प्रमाण समवधारण रचा। भगवान् द्वादश सभाओं के मध्य चतुरांगुल अंतरीक्ष सुवर्णमय सिंहासन पर बिराजे। देवगण उनके ऊपर चमर ढोलने लगे। भगवान् के दक्ष गणधर हुए। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त किया सुनकर विद्याधर, चक्रवर्ती, राजे, महाराजे, स्वर्ग के देव आदि बड़े-बड़े महापुरुष तथा सर्वसाधारण जनसमूह उनके दर्शन-पूजन को आने लगे।

भगवान का सभक्ति पूजन-स्तवन कर पश्चात् स्वयंभू आदि ग्यारह महर्षियों को नमस्कार कर अपने-अपने स्थान पर बैठे गए। प्रगट रहे कि समवशरण में निरन्तराय आना जाना लगा रहता है। कोई आता है कोई जाता है, कोई धर्मोपदेश श्रवण करता है। भगवान के समवशरण में यह अतिशय है कि समवशरण में रात्रि दिन का भेद ज्ञात नहीं होता अर्थात् निरन्तर कल्पवृक्षों और भासंडल के प्रभाव से कोटि सूर्य में भी अधिक प्रकाश रहता है। सूर्य का तेज प्रकाश तो संतापकारक होता है परन्तु वह प्रकाश संतापहर्ता है और वहाँ चाहे कितने ही देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आ जावें परन्तु समवशरण में सब समा जाते हैं। स्थान संकीर्णता कभी नहीं होती और समवशरण में स्थित प्राणियों को मोह, भय, द्वेष, विषयों की अभिलाषा, रति, विजिगमिषा (दूसरे को नीचा दिखाने की इच्छा) निद्रा, तंद्रा (आलस्य) छींक, जम्हाई, रोग, शोक, चिंता, क्षुधा, तृषा आदि कोई भी अकल्याण व विघ्नकारक कारण उपस्थित नहीं होते हैं।

परस्पर जाति विरोधी जीव भी एक स्थान में बैठे निष्कंक हो धर्मोपदेश श्रवण करते हैं और भगवान के धर्मोपदेश रूपी अमृत वर्षा के प्यासे युगल कर जोड़े उनके मुख की ओर देखते हुए समय की प्रतीक्षा करने लगे जिस प्रकार मेघों को देखकर चातक वर्षा होने की प्रतीक्षा करता है तब गणधरों में तिलकसम श्री स्वयंभूगणधर ने सानन्द भक्ति पूर्वक नमस्कार करके भगवान से निवेदन किया 'प्रभो ! यह जीव अनादिकाल से जड़कर्म के वशीभूत हो अपने-अपने स्वाभाविक भावों को भूलकर चतुर्गति सम्बन्धी घोर दुःखों से व्याकुल चित्त इस अपार संसार रूप कानन में सिंह से भयभीत भृगी की नाई इतस्ततः परिभ्रमण करता फिरता है। सो यह जीव इस उत्तार में क्यों दुःख भोग रहा है और इस दुःख से छूटने का उपाय क्या है ? इस बात को आपके श्री मुख से मेरी और उपस्थित मंडल के सुनने की बहुत उत्कंठा है। कृपा कर कहिए।' तब भगवान गणधर महाराज के प्रश्न के उत्तर में अपनी मेघ के समान निरक्षरी दिव्य ध्वनि द्वारा कहने लगे; मुनेश ! संसार के दुःखों का कारण और उससे छूटने का उपाय जो तुमने पूछा सो बहुत अच्छा किया।

अब इसी विषय को कहता हूँ समस्त संसारी जीवों को जन्म मरण की परिपाटी का कारण संसार, संसार के कारणों, मोक्ष, मोक्ष के कारणों को न जानकर पंचेंद्रिय जनित विषय सुखों में लोलुपता और क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषाय व मोह के वशीभूत हो अहीत, अग्रहीत मिथ्यात्व रूप प्रवृत्ति है इसीलिए ये दोष न्यूनाधिक्यता से सभी संसारी जीवों में पाए जाते हैं और इन्हीं के वश वे नाना प्रकार की शुभाशुभ क्रियाएँ करते हुए उनके उदयकाल में तज्जनित सुख दुःखों का अनुभव करते हुए विकराल अपार संसार सागर में भ्रमण करते रहते हैं। यद्यपि संसार में समस्त प्राणी सदाकाल ये चाहते हैं कि हमको अविनश्वर शाश्वत सुख प्राप्त हों तथा उसके प्राप्त करने के लिए उपाय भी करते रहते हैं परन्तु सच्चे सुख दुःख के स्वरूप को भली भाँति जानकर दुःख के मूल कारण कषाय का अभाव नहीं करते।

अतएव सच्चे निराकुलित सुख से वंचित रहकर संसार में ही भ्रमण रहते हैं। जिन जीवों के मोहादिकर्मों का तीव्र उदय रहता है वे तो सदा विषमविष समान विषय भोगों में ही तल्लीनता के कारण आत्मकल्याण से सर्वथा विमुख रहते हैं। उनकी आत्महित की ओर स्वप्न में भी रुचि नहीं होती। जिनके कदाचित् दैवयोग से मोहादि कर्मों का मंद उदय हो जाता है तब उन्हें कुछ आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्ति होती है। इतना होने पर भी बहुत से भोले जीव संसार में प्रचलित अनेक मिथ्यामागों में

फंसकर अपने अभीष्ट फल को प्राप्त नहीं होते। अतएव मुमुक्षु जनों को उचित है कि प्रथम वीतराग निर्दोष आप्तोपदिष्ट वीतरागता एवं विज्ञानता के प्ररूपक शास्त्रों द्वारा तथा तदनुसार प्रवर्तने वाले गुरुओं द्वारा मोक्षमार्ग सम्बन्धी तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करें।

संसार, संसार के कारण तथा मोक्ष, मोक्ष के कारणों का यथार्थस्वरूप जान श्रद्धान करके तदनुसार दुरभिनिवेश (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय) रहित जाने और तदनुसार ही कर्मजनित विभावके दूर करने और निज स्वभाव के प्रगट करने के लिए प्रवृत्ति करें (इसी को रत्नत्रय कहते हैं।) जब यथार्थ प्रवृत्ति होगी तो परभावराग द्वेषादि का प्रादुर्भाव ही न होगा। जब राग द्वेषादि विकृत परिणाम ही न होंगे तब कारण का अभाव होने से पुन बंध कैसा बंध तो आत्मा के निज भावों से च्युत होकर राग द्वेषादि स्वभावरूप परिणमन से ही होता है।

जब बंध के कारण विकृत परिणमन का अभाव हा गया तो पुनः कदापि बंध नहीं होगा। जिस प्रकार जब धान पर से छिनका उतार दिया जाता है तो वह चावल के समान पक्का करने पर भी नहीं आ सकता, उसी प्रकार जीव के भी अनादिकाल से बीज वृक्षवत् विकृत भावों से कर्म बंध और कर्म के उदय से विकृत भाव होते चले आए हैं परन्तु जब छिनका रूपी विकृत भाव आत्मा से पृथक हो जाता है तो फिर चावल रूपी शुद्ध जीव के अंकुरोत्पत्ति रूपी कर्म बंध नहीं होता। इसी रत्नत्रय रूपी अद्भुत रसायन के बल से अनेकानेक भव्यात्मा निर्वन्ध अवस्था को प्राप्त होकर वचनातीत अक्षयानत स्वाधीन सुख के भोक्ता हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। यह रत्नत्रय धर्म दो प्रकार के हैं— एक तो निश्चय रूप जो कि ठीक —यथार्थ रूप है। दूसरा व्यवहार रूप—जो निश्चयरूप के प्राप्ति होने का कारण है। दूसरे द्रव्यों से आत्मा को पृथक जानकर उसमें हवि (विश्वास) रखना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है। निजात्मस्वरूप को विशेष रूप से जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है। निजात्म स्वरूप में विकल्प रहित तन्मय हो जाना ही सम्यक (निश्चय) चरित्र है। अब इस निश्चय मोक्ष पद के प्राप्त होने का कारण मोक्ष व्यवहार मार्ग कहते हैं।

जीव—अजीव—आश्रय—बंध—संवर—निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों का जो यथार्थ स्वरूप है उसका उसी रूप श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है इसको २५ दोष रहित और आठ गुण सहित धारण करना चाहिए। जीवादि पदार्थों के स्वरूप को संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित यथातथ्य (जैसा का तैसा) जानना सम्यग्ज्ञान है। तीसरा रत्न चरित्र सकल अर्थात् महाव्रतरूप साधुधर्म और विकल अर्थात् अणुव्रत रूप ग्रहस्थ धर्म ऐसे दो प्रकार का है। मुनि धर्म तो उन लोगों के लिये है कि जिनकी आत्मा पूर्ण वलिष्ठ और सहनशील है और गृहस्थ धर्म उसके प्राप्त करने की नसैनी है। जिसप्रकार एकदम सो पचास सीढ़िया नहीं चढ़ी जा सकती उसीप्रकार प्रत्येक व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं होती कि एकदम मुनिधर्म ग्रहण कर सकें। उसके अभ्यास में क्रमशः बढ़ते हुए उनमें मुनिधर्म के धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाए अतएव उन्हें प्रथम ग्रहस्थ धर्म धारण करना चाहिए। मुनि का धर्म (चरित्र)। पंच महाव्रत ५। पंचसमिति ५। और तीन गुति रूप तेरह प्रकार का है और ग्रहस्थ धर्म पांच अणुव्रत ५। तीन गुणव्रत ३। और चार शिक्षाव्रत ४। रूप बारह प्रकार का है। मुनिधर्म और गृहस्थधर्म में सबसे बड़ा भेद यह है कि मुनिधर्म तो साक्षात् मोक्ष का कारण है और ग्रहस्थ धर्म परम्परा से। परन्तु ये भी नियम नहीं है कि समस्त मुनि उसी भव से मोक्ष चले जाते

हैं। ये सब भावों पर निर्भर है। ज्यों-ज्यों राग द्वेषादिक प्रभावों की मंदता होती जाएगी, त्यों-त्यों अपने स्वभाव की प्राप्ति होकर अन्तिम साध्य मोक्ष के निकट पहुंचता जाएगा, परन्तु यह भी पूर्णध्यान में रखना चाहिए कि मोक्ष लाभ होगा मुनि धर्म से ही ग्रहस्थ धर्म से नहीं।

इसके अतिरिक्त गणधर देव ने भगवान से तीर्थंकर, वलदेव, ऋषवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव होने की बात पूछी अर्थात् ये उच्च पद कैसे प्राप्त कर सकते हैं और ऐसे कौन से कर्म हैं कि जिनके द्वारा आत्मा को गहन संसार बन् में दुर्गतियों के दुख सहने पड़ते हैं। भगवान ने सब प्रश्नों का यथोचित सविस्तार वृत्तांत कह सुनाया। इस प्रकार भगवान का सदुपदेश सुनकर कितने ही भव्यों ने महाज्ञत ग्रहण किये। बहुतों ने षण्मुखा धारण किये। कितनों ने केवल सम्यक्त्व स्वीकार किया और कितनों ने भगवान के पूजन करने की ही प्रतिज्ञा की। कमठ के जीव ज्योतिषी देव ने भी भगवान के धर्मोपदेशामृत का पान कर मिथ्यात्व के परित्यागपूर्वक सम्यक्त्व स्वीकार किया। और भी वहाँ निकटस्थ पंचाग्नि तप तपने वाले सात सौ तापसियों ने भगवान के अतिशय से समवधारण में आ मिथ्यात्व तज सम्यक्त्व ग्रहण किया। इस प्रकार अनेक जीवों का उद्धार कर भगवान दूसरे देशों में विहार कर गए। भगवान के समवधारण में स्वयंभू प्रमुख दशगणधर। चौदह पूर्व के पाठी ३५०। आचरांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि १०६००। अवधिज्ञानी मुनि १४००। केवलज्ञानी १०००। विप्रिया ऋद्धिधारी मुनि १०००। मनःपर्ययज्ञानी मुनि ५०। बाद विजयी मुनि ६००। इस प्रकार समस्त १६००० मुनि हुए। और छत्तीस हजार अजिका, एक लाख श्राविक और पुण्य चूड़ा प्रमुख तीन लाख श्राविकाएं हुई और असंख्यात देव देवगाना तथा संख्यात पशु सम्यक्त्वो हुए। इस प्रकार द्वादश सभा सहित विहार करते भगवान सम्मेद शिखर पर आए। वहां एक महीने का योग निरोधकर अयोग गुणस्थान को प्राप्त हो श्रावण शुक्ल ७ की रात्रि के समय कायोत्सर्गसिन द्वारा सम्मेद शिखर सुवर्णभद्र कूट से परमधम मोक्ष पधारे। इनके मुक्ति गमन समय और भी ६२०० मुनि साथ मोक्ष गए। समवधारण से समस्त पांच सौ छत्तीस मुनि मोक्ष गए।

॥ इति श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् ॥

अथ सम्मेद शिखर वर्णन

श्री सम्मेद शिखर पर्वत पर सबसे ऊँची टोंक पूर्व दिशा में श्री चन्द्रप्रभु भगवान की है और पश्चिम दिशा में सबसे ऊँची टोंक श्री पार्श्वनाथ की है। इस पर्वत से बीस तीर्थंकर और असंख्यात केवली परमधम मोक्ष सिधारे हैं। इस पर्वत पर चौबीस तीर्थंकरों की चौबीस ही टोंक हैं। यद्यपि आदि धर्मोपदेशक श्री आदिनाथ भगवान का निर्वाण क्षेत्र कैलाश पर्वत, श्री वासुपूज्य भगवान का चंपापुरी वन अन्तर्गत चंपालालतट, मदनविजयी श्री नेमनाथ भगवान का गिरनार पर्वत, अन्तिम तीर्थंकर सिद्धार्थ नन्दन अर्थात् महावीर स्वामी का पावापुर वन अन्तर्गत पद्म सरोवर तट निर्वाण क्षेत्र हैं और अवशेष बीस तीर्थंकरों का निर्वाण क्षेत्र सम्मेद शिखर है परन्तु यहाँ से तीर्थंकर मोक्ष होने पर चौबीस तीर्थंकरों की चौबीस टोंक होने का कारण यह है कि...इस भरत क्षेत्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नाम के दो काल उन्नति, अवनति के कारण एक मास में ही शुक्ल कृष्ण पक्षवत् प्रवर्तते रहते हैं जिनमें निरन्तर जीवों के शरीर की ऊंचाई और आयु में न्यूनाधिकता हुआ करती है।

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की स्थिति पृथक्-पृथक् वस कोड़ाकोड़ी सागर की होती है और दोनों की स्थिति के काल को अर्थात् बीस कोड़ाकोड़ी सागर के समय को एक कल्प काल कहते हैं अतः जितने अनन्तानन्त कल्पकाल व्यतीत हो चुके हैं उनमें सिवाय इस अवसर्पिणी काल के जो प्रवर्तमान हो रहा है प्रत्येक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के चौबीसों तीर्थकर इसी पर्वत से मोक्ष गए हैं। दूसरे प्रलय काल के पश्चात् और पर्वतों का यह नियम नहीं कि जहाँ पहले था वहीं बने परन्तु श्री सम्मेद शिखर प्रलय काल के पश्चात् यहीं बनता है और चौबीसों तीर्थकर यहीं से मोक्ष जाते हैं। इस कारण बीस तीर्थकरों के निर्वाण क्षेत्र वत् उक्त अन्य स्थानों में मोक्ष जाने वाले तीर्थकरों की चार टोंक सर्वथा पूज्य और बंदनीय हैं। इस सम्मेद शिखर के सिद्धवर कूट से श्री अजितनाथ, धवलकूट से श्री संभवनाथ, आनन्व कूट से अभिनन्दन, अविचल कूट से श्री सुमतिनाथ, मोहन कूट से श्री पद्मप्रभु, प्रभासकूट से श्री सुपाश्वनाथ, ललितकूट से श्री चन्द्रप्रभु, सुप्रभटकूट से श्री पुष्पदन्त, द्युतवर कूट से श्री शीतलनाथ, संकल्पकूट से श्री श्रेयांसनाथ, शालकूट से श्री विमलनाथ, स्वयंभूकूट से श्री अनन्तनाथ, सुदत्तवरकूट से श्री धर्मनाथ, शान्तिप्रद कूट से श्री शान्तिनाथ, ज्ञानधर कूट से श्री कुशनाथ, नाटककूट से श्री अरहनाथ, शांकूल कूट से श्री मल्लिनाथ, निर्जराकूट से श्री मुनिसुव्रतनाथ, मित्रधर कूट से श्री नमिनाथ और सुवर्णभद्र कूट से श्री पाश्वनाथ भगवान मोक्ष गए हैं।

इति सम्मेद शिखर वर्णनम्

प्रथम श्री महावीर तीर्थकरस्य विवरण प्रारम्भ :—

श्री पाश्वनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर दो सौ पचास वर्ष व्यतीत होने पर अश्व्युत नामक सोलहवें स्वर्ग से चयकर भारत वर्ष के सुप्रसिद्ध, मनोहर और विशाल कुंडलपुर (यह स्थान मगध देश में पावापुर के समीप कुंडलपुर के नाम से प्रसिद्ध है) के अधिपति राजा सिद्धार्थ की प्रियकारिणी (त्रिशला) रानी के गर्भ से अन्तिम तीर्थकर श्री महावीर भगवान ने जन्म लिया। इनका वंश—इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—आषाढ़ शुक्ल ६। जन्मतिथि—चैत्र शुक्ल १३। जन्म नक्षत्र—उत्तरा फाल्गुनि। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिह्न—सिंह। शरीर प्रमाण—साठ हाथ। आयु प्रमाण—बृहत्तरवर्ष। समकालीन प्रधान राजा श्रेणिकराय। इन्होंने भी श्रीपाश्वनाथ भगवान की तरह तीस वर्ष की आयु में कुमारवस्था में ही जातिस्मरण का कारण पाकर संसार से उदासीन हो मार्गशीर्ष कृष्णादशमी को अपराह्न काल के समय तीन सौ मुकुट बद्ध राजाओं के साथ जिन दीक्षा ले ली। भगवान के गमन समय की पालकी का नाम—चन्द्रप्रभा। कुंडलपुर के मनोहर वन में शालि वृक्ष के नीचे बाह्याभ्यंतर परिग्रह का श्राग कर जिन दीक्षा ले ली। दीक्षित हो एक बेला करने के पश्चात् कुंडलपुर में नकुलराय के यहाँ प्रथम पारणा किया। तदनन्तर बारह वर्ष घोर तपस्या करके के जुकूटा नाम की नदी के तट पर वैशाख शुक्ला दशमी (१०वीं) को अपराह्न काल घातिधनुष्य का अभाव करके केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त करली, उनके केवल ज्ञान रूप दिवाकर के उदय होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने बारह कोठों से सुशोभित एक योजन प्रमाण समवशरण (समोशरण) नामक सभा की रचना की, भगवान द्वावश सभाओं के मध्य रत्नजडित सुवर्णसय सिंहासन पर चतुरांगुल अधर विराजे; उस महासभा में देव मनुष्य, मुनि, तिर्यंच आदि सबका समूह एकत्रित था, तब भी त्रिजगत गुरु वर्द्धमान भगवान को दिव्य-ध्वनि ६६ दिन तक निःसृत नहीं हुई। यह देखकर जब इन्द्र ने विचार किया, तो उसे विदित हुआ कि गणधर देव का अभाव ही दिव्यध्वनि न होने का कारण है अतएव गणधर देव की शोध के लिए वह इन्द्र

गौतम ग्राम को गया, वहाँ एक ब्राह्मणशाला में इन्द्रभूति नाम का पंडित अपने पाँच सौ शिष्यों के सम्मुख व्याख्यान दे रहा था। इन्द्रभूति अखिल वेदांग शास्त्रों का विद्वान् था और विद्या के मद में खूर हो रहा था। इन्द्र छात्र का वेष धारण करके उस पाठशाला में एक ओर जाकर खड़े हो गये और उसके व्याख्यान को सुनने लगे। इन्द्रभूति ने थोड़ी देर में विद्या लेते हुए जब कहा कि “क्यों तुम्हारी समझ में आया” और छात्रवृन्द जब कहने लगे कि “हाँ आया”, तब इन्द्र ने नाशिका का अग्रभाग सिकोड़कर इस प्रकार से अरुचि प्रकट की कि वह छात्रों की दृष्टि में आ गई, उन्होंने तत्काल ही उस भाव को गुरु महाराज से निवेदन किया। इन्द्रभूति ब्राह्मण इस अपूर्व छात्र से बोला कि “समस्त शास्त्रों को मैं हृषेली पर रखे हुए आँवले के समान देखता हूँ और अन्याय वादीगणों का दुष्टमव मेरे सम्मुख आते ही नष्ट हो जाता है फिर कहो किस कारण से मेरा व्याख्यान तुम्हें रुचिकर नहीं हुआ?” इन्द्र ने उत्तर दिया — “यदि आप सम्पूर्ण शास्त्रों का तत्व जानते हैं तो मेरी इस आर्या का अर्थ लगा लीजिए और यह आर्या उसी समय पढ़के सुनाई—

आर्या—“पञ्च द्रव्य नव पदार्थ त्रिकाल, पञ्चास्तिकाय षट्कारयान् ।

विबुधांवरः सण्वहि, यो जानाति प्रमाणं तयः ॥”

इस अश्रुतपूर्व और अत्यन्त विषम अर्थ वाली आर्या को सुनकर इन्द्रभूति कुछ भी नहीं कह सका, अर्थात् कुछ भी नहीं समझा। यद्यपि आर्या के शब्दों का अर्थ कुछ कठिन नहीं है अपितु सरल व सुगम है कि जो पञ्चद्रव्य नव पदार्थ, तीन काल, पञ्चास्तिकाय और छहकार्यों को प्रमाण तय पूर्वक जानता है वही पुरुष विद्वान् में श्रेष्ठ है, परन्तु इसमें जिन पदार्थों की संख्या बतलाई है वह किसी भी दर्शन में नहीं मानी गई है इसीलिए इन्द्रभूति उसका अभिप्राय प्रगट न कर सका था। इसीलिए वह बोला, “तुम किसके विद्यार्थी हो?” इन्द्र ने उत्तर दिया—“मैं जगद्गुरु श्री वर्द्धमान भट्टारक का छात्र हूँ।” तब इन्द्रभूति ने कहा “ओह! क्या तुम उसी सिद्धार्थ नन्दन के छात्र हो जो महाइन्द्रजाल विद्या का जानने वाला है और जो लोगों को आकाशमार्ग में देवों को आते दिखलाता है अच्छा तो मैं उसी के साथ शास्त्रार्थ करूँगा, तेरे साथ क्या करूँ। तुम्हारे जैसे छात्रों के साथ विवाद करने से गौरव की हानि होती है। चलो चलें उससे शास्त्रार्थ करने के लिए”—ऐसा कहकर इन्द्रभूति इन्द्र को भागे करके अपने भाई अग्निभूति और वायुभूति के साथ समोशरण की ओर चला।

वहाँ पहुँचने पर ज्यों ही मानस्तम्भ के दर्शन हुए त्यों ही उन तीनों का गर्व गलित हो गया, पश्चात् जिनेन्द्र भगवान् को देखकर उनके हृदय में भक्ति का संसार हो गया अतएव उन्होंने तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया, स्तुतिपाठ पढ़ा और उसी समय समस्त परिग्रह का त्याग करके जिन दीक्षा ले ली। इन्द्रभूति को तत्काल ही सप्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई और अन्त में वे भगवान् के चार ज्ञान के भारी प्रथम गणधर हो गए। समोशरण में उन इन्द्रभूति गणधर ने भगवान् से ‘जीव अस्तिरूप है, अयथा नास्तिरूप है, उसके क्या-क्या लक्षण हैं, वह कैसा,’—इत्यादि सात हजार प्रश्न किए। उत्तर में—जीव अस्तिरूप है, अनादि-तिघन है, शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता है, प्राप्त हुए शरीर का आकार है, उत्पाद ध्वय धौध्य लक्षण विशिष्ट है, स्वयं वेदनग्राह्य है, अनादि प्राप्त कर्मों के सम्बन्ध से लोकर्मरूप पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ, छोड़ता हुआ, भव- भव में अमण करने वाला और उक्त कर्मों के लय होने से मुक्त होने वाला है—इस प्रकार से अनेक भेदों से जीवादि वस्तुओं का सद्भाव भगवान् ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा प्रस्तुत किया। पश्चात् श्रावण मास की प्रतिपदा को सूर्योदय के समय रौद्र मुहूर्त में जब कि चन्द्रमा अभि-

जित नक्षत्र पर था, गुरु के तीर्थ की (दिव्य-ध्वनि की अथवा दिव्यध्वनि द्वारा संसार समुद्र से तिरने में कारण भूत यथार्थ मोक्ष मार्ग के उपदेश) उत्पन्नता हुई ।

श्रीइन्द्रभूति गणधर ने भगवान की वाणी को तत्त्वपूर्वक जानकर उसी दिन सायंकाल को अंग और पूर्वों की रचना युगपत् की और फिर उसे अपने सहधर्मी सुधर्मी स्वामी को पढ़ाया । इसके अनन्तर सुधर्माचार्य ने अपने सहधर्मी अम्बूस्वामी को और उन्होंने अन्य मुनिवरों को वह श्रुत पढ़ाया । अथानन्तर—जब भव्य जीव जन्म-जरा-मृत्यु रूप रोग को दूर करने वाले भगवान के धर्मोपदेश रूप अमृत का पान कर परमानन्द सागर में निमग्न थे उस समय सुरेश ने खड़े होकर अवधिज्ञान द्वारा भगवान का विहार समय जानकर ये विनती करी —

हे भगवान् ! हे दया सागर ! आप संसार के पालक हो, प्राणीमात्र के निस्वार्थ बन्धु हो, दुःखों के नाश करने वाले हो और सब प्रकार सुखों के देने वाले हो अतएव हे जगदीश ! यह विहार समय है सो कृपा करके विहार कर मोहरूपी अन्धकार से आत्मकल्याण के मार्ग से अज्ञात भव्य जीवों को अपने उपदेश रूपी किरणों से मिथ्यात्व रूपी घोर अंधकार को नष्ट कर उनके हृदय में यथार्थ मोक्ष मार्ग का प्रकाश कीजिए । इस प्रकार इन्द्र के द्वारा प्रार्थना करते पर भव्य जीवों के परम प्रकर्ष पुन्योदय से भगवान का अनिच्छक गमन होता हुआ भगवान जिस मार्ग द्वारा गमन करें उस मार्ग की भूमि को पवनकुमार जाति के देव कंटक रहित करते जाते हैं, और वह एक योजन तक तृण रज्ज्वादि रहित दर्पणवत् निर्मल हो जाती है । मेघकुमार जाति के देव सुगंधित जल के कण मोती के समान बरसाते जाते हैं । पवनकुमार संज्ञक देव मंद, सुगंधित व शीतल पवन बहाते जाते हैं, उस मार्ग में भगवान तो समवशरण की जैसाई प्रमाण आकाश में गमन करते हैं और भक्ति से प्रेरित देव उनके चरण कमल के नीचे सुवर्णमयी पन्द्रह-पन्द्रह कमलों की पन्द्रह पंक्ति अर्थात् दो सौ पच्चीस कमलों का समुदाय एक स्थल रखते हैं, उनमें सबसे मध्य के कमल पर चार अंगुल अन्तर से अन्तरिक्ष में चरण रखते मनुष्यवत् डग भरते हुए । भगवान विहार करते जाते हैं और मुनि, अयिका, आवक, आविकाओं का चार प्रकार का संघ का विहार भूमि में होता है, कैसी है वह भूमिकोट—वह संयुक्त बीधी रूप है और देव, विद्याधर, चारण मुनि, सामान्य केवली ये भी आकाश में गमन करते हैं । भगवान के केवल ज्ञान के प्रतिशय के प्रभाव से न तो शरीर की छाया पड़ती है भी न नख, केश बढ़ते हैं और उनका एक मुख होते हुए चारों दिशावर्ती जीवों को अतुमुंक्ष से दर्शन होते हैं ।

भगवान के आगे-आगे सूर्य चन्द्र के प्रकाश को मंद करने वाले सहस्र और से संयुक्त बलयाकार धर्मचक्र जला जाता है, देव मनुष्यगण जय-जयकार करते चले जाते हैं,—इत्यादि वैभव से संयुक्त विहार करते भगवान जहाँ जाकर विराजेंगे वहाँ इन्द्र की आज्ञा से प्रथम धनाधिपादिक देव जाकर समो-धारण रचना पूर्ववत् रखते हैं तब भगवान विहार कर जाकर विराजते हैं । इस प्रकार जगत्पूज्य श्री सन्मतिनाथ अनेक निकट भव्यरूपी सस्यों को (धान्य को) धर्मामृत-रूपी वर्षा के सिंचन से परमानंदित करते हुए तीस वर्ष तक अनेक देशों में विहार करते हुए कमलों के वन से प्रतिशय शोभायमान पाषाणुर के उद्यान में पहुंचे । भगवान के गण में इन्द्रभूति प्रमुख व्यास (११) गणधर वादविजयी मुनि चार सौ (४००), चौवह पूर्व के पाठी तीन सौ, आचार्य भूत के पाठी शिष्य मुनि ६६०० अवधिज्ञानी तेरह सौ, केवलज्ञानी ७००, विप्रिया श्रद्धि के चारी ६००, मन्त्र पर्वयज्ञाओं पांच सौ (५००) थे ।

अथ द्वादश चक्रवर्ती विवरण प्रारम्भ :—

आदि वृषोपदेशक श्री ऋषभ देव के समय में उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए। उनके शरीर का प्रमाण-५०० धनुष, आयु-चौरासी लाख पूर्व, उसमें कुमारकाल-सत्तर लाख पूर्व, महामंडलेश्वर पदस्थ राज्यकाल-हजार वर्ष पश्चात् आयुषशाला में चक्र रत्न प्रगट होने के अनन्तर दिग्विजय किया उसका काल-साठ हजार वर्ष, राज्यकाल-एक लाख पूर्व कम छह लाख पूर्व, संयम काल—अंतर्मुहुर्त्त, पश्चात् शुक्ल ध्यान द्वारा घातिचतुष्क का अभावकर लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर किंचित न्यून एक लाख पूर्व पर्यन्त केवलज्ञान द्वारा मोहरूप अन्धकार को नष्ट कर अनेक भव्यजनों को आत्महित मार्ग पर लगाया और अन्त में अघातिचतुष्क का भी नाश कर परम-धाम मोक्ष सिधारे वे ऋषभदेव के सुत भरतमुनिराज मुझे भी आत्महित मार्ग पर लगावें।

द्वितीय सागर नाम के चक्रवर्तिन श्री अजितनाथ भगवान के समय में हुए, इनका शरीर प्रमाण—चार सौ पचास धनुष, आयु प्रमाण-बहुत्तर लाख पूर्व था, उसमें पचास हजार लाख पूर्व तक तो वे कुमार और मंडलीक रहे। तीस हजार वर्ष पर्यन्त दिग्विजय किया। उनहत्तर लाख सत्तर हजार-पूर्व, निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे-पूर्वाए, तिरासी लाख वर्ष पर्यन्त राज्य किया और एक लाख पूर्व काल तक संयमी रहे अन्त में केवल ज्ञान को प्राप्ति कर अनन्त अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी के स्वामी हुए। तीसरे भगवान नाम के चक्रवर्ती श्री धर्मनाथ और शान्तिनाथ भगवान के अन्तराल के अर्थात् धर्मनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर और शान्तिनाथ के अवतार से पहले मध्य के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण ४२३ धनुष, आयु प्रमाण—लाख वर्ष, उसमें कुमार काल—पच्चीस हजार वर्ष, महामंडलेश्वर पद का राज्य काल पच्चीस वर्ष, पश्चात् चक्रलाभ होने के अनन्तर दिग्विजय काल—दस हजार वर्ष, तदनन्तर राज्यकाल—तीन लाख नब्बे हजार वर्ष, संयम काल—पचास हजार वर्ष, पश्चात् साम्यभाव से मृत्यु लाभ कर स्वर्ग लोक प्राप्त किया ॥ ३ ॥

चौथे सनत्कुमार नाम के चक्रवर्ति थे, ये भी श्री धर्मनाथ और शान्तिनाथ भगवान के अन्तराल समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण ४१३ धनुष, आयु प्रमाण—तीन लाख वर्ष, उस में कुमार काल—पचास हजार वर्ष, महामंडलेश्वर पद पचास हजार वर्ष पश्चात् चक्रलाभ होने के अनन्तर दिग्विजय काल—दस हजार वर्ष तदनन्तर राज्यकाल—नब्बे हजार वर्ष, संयम—काल एक लाख वर्ष, तदनन्तर आयु के अन्त में शांति से मृत्यु लाभ कर स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥४॥ और पाँचवे चक्रवर्ति श्री शांतिनाथ तीर्थंकर हुए। इनका शरीर प्रमाण—४५ धनुष, आयु प्रमाण—एक लाख वर्ष, इसमें कुमारकाल—पच्चीस हजार वर्ष महामंडलेश्वर पद—पच्चीस हजार वर्ष, दिग्विजय काल—आठ सौ वर्ष, चक्रवर्ती पद—चीबीस हजार दो सौ वर्ष, संयम (तपश्चरण) काल—सोलह वर्ष; तदनन्तर शुक्ल ध्यान द्वारा घातिया कर्मों का नाशकर लोकालोक का प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया और देव इन्द्र विद्याधर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के द्वारा पूजित हो समोशरणादि विभूति सहित अनेक देश, नगर, ग्रामों में बिहार करते हुए संसार ताप को नाश करने वाले परम पवित्र उपदेशामृत से अनेक जीवों को संसार दुख से छुटाकर सुखी बनाया, अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अक्षयानंत मोक्ष सुख प्राप्त किया, ये शांतिनाथ स्वामी मुझे शांति प्रदान करे ॥ ५ ॥

छठे चक्रवर्ति श्री कुंथनाथ हुए। इनका शरीर प्रमाण—पिचानवे हजार वर्ष इसमें कुमारकाल—तेईस हजार सातसौ पचास वर्ष, महामंडलेश्वर पद—पीने चौबीस हजार वर्ष, दिग्विजय काल—छह सौ वर्ष,

चक्रवर्ती पद-तेईस हजार डेढ़ सौ वर्ष, संयम काल सोलह वर्ष । तदनंतर घातिया कर्मों के नाश द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त कर सोलह वर्ष कम पौने चौबीस हजार वर्ष पर्यंत केवलज्ञानी होकर अनेक जीवों को धर्मोपदेश देते हुए अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर परम धाम पद को सिधारे ॥ ६ ॥

सातवें चक्रवर्ती श्री अरहनाथ तीर्थंकर हुए, इनका शरीर प्रमाण—३० धनुष, आयु प्रमाण—चौरासी हजार वर्ष, इसमें कुमार काल—२१ हजार वर्ष, महामंडलेश्वर पद—२१००० वर्ष, दिग्विजय—चारसौ वर्ष, संयमकाल—सोलह वर्ष, पश्चात् केवल ज्ञान प्राप्त कर सोलह वर्ष कम इक्कीस हजार वर्ष पर्यन्त दुर्गति के दुखों का नाश करने वाले पवित्र जैन धर्म का उपदेश देकर अनेक जीवों को आत्महित साधक पवित्र मार्ग पर लगाया और अन्त में अघातिया कर्मों का नाश कर अनन्त काल स्थायी निज आत्मिक सुख को प्राप्त किया ॥ ७ ॥

आठवें सुभूम नाम के चक्रवर्ती श्री अरहनाथ और मल्लिनाथ भगवान के अन्तराल में हुए । इनका शरीर प्रमाण—२८ धनुष, आयु प्रमाण—अड़सठ हजार वर्ष, इसमें कुमार काल—पांच हजार वर्ष, दिग्विजय काल—पांच सौ वर्ष, चक्रवर्ती पद—बासठ हजार पाँच सौ वर्ष । ये परशुराम के भय से सन्यासियों के शास्त्रम में गोप्य रहे, इससे संसार शरीर भोगों से विरक्त नहीं हुए और इसी अवस्था में आर्त्तध्यान से मरण कर महात्म नाम सप्तम पाताल भूमि के निवासी हुए ॥ ८ ॥

नवमें महापद्म नाम के चक्रवर्ती श्री मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ के अन्तराल में हुए । इनका शरीर प्रमाण—बाईस धनुष, आयु प्रमाण—तीस हजार वर्ष, उसमें कुमार काल—पांच सौ वर्ष, महामण्डलेश्वर पद—पाँच सौ वर्ष, दिग्विजय—तीन सौ वर्ष, चक्रवर्ती पद—अठारह हजार सात सौ वर्ष, संयम काल—दश हजार वर्ष । पश्चात् केवल ज्ञान प्राप्त कर कुछ समय के अनन्तर अघातिया कर्मों का अभाव कर मोक्षगामी हुए ॥ ९ ॥

दशवें सुषेणनाम के चक्रवर्ती श्री मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथ भगवान के अन्तराल में हुए । इनका शरीर प्रमाण—बीस धनुष, आयु प्रमाण—छब्बीस हजार वर्ष, उसमें कुमार काल—सवा तीन सौ वर्ष, दिग्विजय—डेढ़ सौ वर्ष, चक्रवर्ती पद—पच्चीस हजार एक सौ पच्चीस वर्ष, संयम काल—साढ़े तीन सौ वर्ष । पश्चात् केवल ज्ञानी हो अन्त में अघातिया कर्मों का अभावकर परमधाम सिधारे । ग्यारहवें जयसेन नाम के चक्रवर्ती श्री नमिनाथ और नेमि नाथ भगवान के अन्तराल में हुए । इनका शरीर प्रमाण—१४ धनुष, आयु प्रमाण—चौबीस सौ वर्ष, उसमें कुमार काल—सौ वर्ष, दिग्विजय काल—सौ वर्ष, चक्रवर्ती पद—अठारह सौ वर्ष, संयम काल—केवल ज्ञान समय प्रमाण चार सौ वर्ष । अन्त में अघातिया कर्मों का नाश कर निर्वाण गामी हुए ॥ ११ ॥ बारहवें ब्रह्मदत्त नाम के चक्रवर्ती श्रीनेमनाथ और पार्श्वनाथ भगवान के अन्तराल में हुए, इनका शरीर प्रमाण—सात धनुष, आयु प्रमाण—सात सौ वर्ष, इसमें कुमार काल—अठाईस वर्ष । महामंडलेश्वर—छप्पन वर्ष, दिग्विजय काल—सोलह वर्ष, चक्रवर्ती राज्य काल—छह सौ वर्ष । इस प्रकार सात सौ वर्ष राज्य में ही पूर्ण कर अंत में आर्त्तध्यान से मरण प्राप्त कर सप्तम पाताल धरा पधारे । इस प्रकार बारह चक्रवर्तियों के आयु का प्रमाण कहा । ये सब चक्रवर्ति षट्खंड के अधिपति और समान वैभव के धारक होते हैं, उनकी विभूति का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है ।

श्रीपाई

सहस्र बत्तीस सात सौ देश, धन कन कंथन भरे विशेष ।

विपुल बाढ़ बेड़े चहुं ओर, ते सब गाँव छियानवे कोर ॥ १ ॥

कोढ़-बोट दरवाजे चार, ऐसे पुर छब्बीस हजार ।

जिन को लगे पाँच सौ गाँव, ते अठंब चढ़ सहस्र सुठाम ॥ २ ॥

पर्वत और नदी के पेट, सोलह सहस्र कहे बेखेट ।
 करवट नाम सहस्र चौबीस, केवल बेड़े गिरवर दीस ॥ ३ ॥
 पट्टन अड़तालीस हजार, रतन जहाँ उपजै अतिसार ।
 एक लाख द्रौणाभुख वीर, सहस्र घाट सागर के तीर ॥ ४ ॥
 गिरि ऊपर संवाहन जान, चौदह सहस्र मनोहर थान ।
 अठार्वीस हजार अशेष, दुर्ग जहाँ रिपु को न प्रवेश ॥ ५ ॥
 उपसमुद्र के मध्य महान, अन्तर्द्वीप छप्पन परमान ।
 रत्नाकर छब्बीस हजार, बहुविध सार वस्तु भण्डार ॥ ६ ॥
 रतन कुक्षि सुन्दर सात से, रतनधारा थानक जहाँ लसै ।
 ये पुर सुव्रत राजें खरें, जैन धाम साधर्मि जन भरें ॥ ७ ॥
 वरगण्ड चौरासी लाख, इतने ही रथ आगम साख ।
 तेज तुरंग अठारह कोर, जे पद चरें पवन के जोर ॥ ८ ॥
 पुनि चौरासी कोड प्रमान, पायक संच महाबलवान ।
 सहस्र छियागर्वे वनिता मेह, तिनको प्रव विवरण सुन लेह ॥ ९ ॥
 आरजखंड बसें नरईस, तिनकी कन्या सहस्र बतीस ।
 इतनी ही अतिरूप रसाल, विद्याधर पुत्री गुणमाल ॥ १० ॥
 फुनि मलेश भूपन की जान, राजकुमारी तावतमान् ।
 नाटक गण बतीस हजार, चक्री नृप का सुख दातार ॥ ११ ॥
 आदि शरीर आदि संठान, पुष्प कथित तन लक्षण जान ।
 बहुविध व्यंजन सहित मनोग, हेम वरन तन सहज निरोम ॥ १२ ॥
 छहों खंड भूपति बलरास, तिन सों अधिक देह बल जास ।
 सहस्र बत्तीस चरण तल रमें, मुकुट बद्ध राजा नित नमें ॥ १३ ॥
 भूप मलेश छोड़ अभिमान, सहस्र अठारह माने आन ।
 फुनि गन्न बद्ध बखाने देव, सोलह सहस्र करें नृप सेव ॥ १४ ॥
 कोट थाल कंचन निर्मान, लाख कोड़ हल सहस्र किसान ।
 नाना वरन गऊ कुल भरे, तीन कोट ब्रज आगम धरे ॥ १५ ॥
 मुख्य संपदा को विरतंत, आगे और सुनो मतिवंत ।
 सिंह वाहिनी सेज मनोग, सिंहारुद्ध चक्क बैजोग ॥ १६ ॥
 आसन तुंग अनुत्तर नाम, मानक जाल जटिल अभिराम ।
 अनुपमनामा चमर अनूप, गंगा तरल तरंग सरूप ॥ १७ ॥
 विद्युत द्युति मणि कुंडल जोट, छिपें और दुति जिनकी ओट ।
 कवच अभेद अभेद महान, जामें भिदें न बैरी बान ॥ १८ ॥
 विषमोचनी पादुका होय, पर पद सों विष मूँचे सोय ।
 अजितंजय रथ महारवन्न, जल पै थलवत् करें गवन्न ॥ १९ ॥
 ब्रजकांडधक्री नृप चाप, जाहि चढ़ावें नरपति आप ।
 बाण अमोघ जबै कर लेत, रण में सदा विजय कर देत ॥ २० ॥

विकट बज्र तुंडा अभिधान, शत्रु खंडनी शक्ति जान ।
 सिंहाटक बरछी विकराज, रतन दंड लायी रिपुकाज ॥ २१ ॥
 लोह बाहिनी तीक्ष्ण छुरी, जिमं धमकै चपला दुति भरी ।
 ये सब वस्तु जात भूमहि, चक्री छट और घर नाहि ॥ २२ ॥
 आनन्द मेरी दश अरु दोय, बारह योजन लों धुनि होय ।
 बज्र घोष फुनि जिन को नाम, बारह पटह नृपति के घाम ॥ २३ ॥
 वस्त्र गभीरावतं गरीस, शोभन रुख शंख चीवीस ।
 नाना वरन ध्वजा रमनीय, अड़तालोस कोट मितकीय ॥ २४ ॥
 इत्यादिक बहु वस्तु अपार, वर्णन करत लगै बहुवार ।
 महल तनी रचना असमान, जिनमत कही सु लीजो जान ॥ २५ ॥

—इत्यादि अनेक प्रकार की विभूति सहित चक्रवर्ती होते हैं । प्रगट रहे कि चक्रवर्ति के छिया-नवें हजार रानियां होती हैं, जिनमें चक्रवर्ती तो केवल एक स्त्री से ही संभोग करता है, अवशेष स्त्रियों से चक्रवर्ति की विक्रिया शक्ति से प्रादुर्भूत रानियों की संख्या के समान कृत्रिम पुतले संभोग करते हैं । वे पुतले चक्रवर्ती की आकृति के समान ही होते हैं, जिससे रानियों को पुतले और चक्रवर्ती में भेद ज्ञान नहीं होता है । दूसरे ये भी प्रगट रहे कि चक्रवर्ती के षट् प्रकार की सेना होती है और सामान्य राजाओं के चार प्रकार की होती है । उनके देव विद्याधर नहीं होते हैं । ये छह प्रकार की सेना इस प्रकार होती है—(१) समस्त दोनों श्रेणी के विद्याधरों की सेना (२) भरतक्षेत्र सम्बन्धी देवों की सेना । (३) पयादों की सेना । (४) रथ सेना चौरासी लाख । (५) हाथी सेना चौरासी लाख । (६) घोटक सेना, पठारह करोड़ । ऐसे सेना संख्या बतलाकर आगे पठखण्डाधिपति चक्रवर्ति के पुण्य के महात्म्य से चौदह रत्न होते हैं उनके नाम और गुण लिखते हैं ।

चौपाई :— प्रथम सुदर्शन चक्रपसछ, छहों खंड साधन समरछ ।
 चंडवेग दिवदंड दुतीय, जिस बल खुले गुफा गिरकीय ॥१॥
 चर्मरतन सों तृतीय निवेद, महाबज्र मय नीर अभेव ।
 चतुर्थचुड़ामणि मणिरेन, अंधकार नाशक सुख दैन ॥२॥
 पंचम रतन कांकनी जान, चितामणि जाको अभिधान ।
 इन दोनों तें गुफा संभार, शशि सूरज लखिए निरधार ॥३॥
 सूरज प्रभशुभ क्षत्र महान, सो अति जगमगायज्यों भान ।
 सो नंदक अति अधिक प्रचंड, डरे देश शत्रु बलवंड ॥४॥
 पुनि अजोध सेनापति सूर, जो दिग्विजय करै बलभूर ।
 बुधि सागर प्राहित परवीन, बुद्धि निधान विद्यागुणलोन ॥५॥
 धपतिभद्रमुख नाम महंत, शिल्पकला को विदगुणवंत ।
 कामवृद्धि गृहपति विख्यात, सब ग्रह काज करै दिनरात ॥६॥
 व्याल विजय गिर अति अभिराम, तुरंग तेज पवनजय नाम ।
 वनिता नाम समुद्रा कही, चूरै ब्रजपान सों सही ॥७॥
 महादेव बल भारें सोय, जा पटतर तिया और न कोय ।
 मुख्य रतन ये चौदह जान, और रतन को कौन प्रमाण ॥८॥

बोझा :....

राज अंग चौदह रत्न, विविध भांति सुखकार ।
जिनकी मुर सेवा करें, पुन्य सरोवर डार ॥६॥
चक्र छत्र असि दंड मणि, चर्मकाकिनी नाम ।
सात रत्न निरजीव से, चक्रवर्ति के घाम ॥१०॥
सेनपतिग्रहपति थपत, प्रोहित नाम तुरंग ।
बनिता मिल सातो रत्न, ये सजीव सरबंग ॥११॥
चक्र छत्र असि दंड ए, उपजें आयुध थान ।
चर्म कांकिनी मिल रत्न, श्री ग्रह उपपति जान ॥१२॥
गज तुरंगतिय हीन ए, रूपाचल पै होत ।
चार रत्न बाकी विमल, निज पुर लहें उद्योत ॥१३॥

प्रर्थ :-

सुदर्शनचक्र (१), चंडवेग नामक दंड (२), चर्मरत्न (३), चूड़ामणिरत्न (४), कांकणी रत्न (५), सूरजप्रभनामक छत्र (६), नंदक नामक असिरत्न (७), अजोधनाम सेनापति रत्न (८), बुद्धि सागर नामक...प्रोहित रत्न (९), स्थापितभद्रमुख शिल्पि रत्न (१०), काम वृद्धि गृहपतिरत्न (११), विजयार्ध गिरनायक हस्ती रत्न (१२), पवनंजय नामक, अश्व (१३), सुभद्रा नामक स्त्री रत्न (१४), इस प्रकार चौदह रत्न हैं इन एक-एक रत्नों की एक-एक हजार देव सेवा करते हैं । अब इन रत्नों से क्या-क्या कार्य सिद्ध होती है वह कहते हैं—

चक्रवर्ती जिस पर अपना शासन करने की अभिलाषा करता है, उसके निकट चक्र के रक्षक देव जाकर चक्रवर्ती की आज्ञा करते हैं ये चक्ररत्न का कार्य है । १। विजयार्ध पर्वत के गुफा के कपाटों का खोलना—ये चंडवेग नामक रत्न का कार्य है । २। सेना सहित चक्रवर्ति को प्रयाण करते हुए मार्ग में कहीं पर नदी सरोवरादिक का अगाध जलाशय आ जाए तो वहां पर चर्मरत्न बिछा देने से थल के समान हो जाता है जिससे समस्त कटक पार हो जाता है, ये चर्मरत्न का कार्य है । ३। विजयार्धपर्वत की गुफा पचास योजन लम्बी है, इस कारण उसमें महाअंधकार है ।

चक्रवर्ति जब उसमें प्रवेश करता है तो चूड़ामणि के उद्योत से सूर्यवत् प्रकाश हो जाता है, जिससे चक्रवर्ति निःखेद गुफा के पार चला जाता है, ये चूड़ामणि रत्न का कार्य है ॥४॥

चक्रवर्ति जब वृषभाचल पर्वत पर जाता है तब कांकणी रत्न से उस पर लिखे हुए पूर्व चक्रवर्ति का नाम मिटा कर अपना नाम लिख देता है, और इसके उद्योत से भी गुफा में १२ योजन पर्यंत प्रकाश हो जाता है ये कांकणी रत्न का गुण है ॥५॥ चक्रवर्ति के कटक पर जब मेघ वर्षा होती है तब छत्र रत्न के छा लेने से मेघ वर्षा कृत बाधा नहीं होती ये छत्र रत्न का गुण है ॥६॥ जिसके तेज के दर्शन मात्र से शत्रुओं का हृदय कांप जाए और अपने तेज शत्रुओं को आज्ञानुवर्ती करने वाला ऐसा नंदक नामक असिरत्न का गुण है ॥७॥ ये सात रत्न अचेतन जानने चाहिए ।

समस्त आर्य मलेच्छ खंड के राजाओं को जीत कर चक्रवर्ति के शासनानुवर्ती चरण सेवक बनाए ये अजोधनाम सेनापति रत्न का गुण है ॥८॥ चक्रवर्ति की प्रजा को सुख और आनंद की दायक, यश प्रगट करने वाली, शत्रुवशीकारक सम्मति देना—सो बुद्धि सागर प्रोहित रत्न का कार्य है ॥९॥ चक्रवर्ति की इच्छानुसार शासन करते ही सत्क्षण अनेक क्षण के चित्रामादि संयुक्त महा मनोहर महल तैयार

करना (बनाना) स्थापित भद्रमुख नामक शिल्पिरत्न का कार्य है । १०। चक्रवर्ती के गृह सम्बन्धी कार्य का सावधानी पूर्वक प्रबन्ध करना रक्षा करना—कामवृद्धि नामक गृहपति रत्न का कार्य है । ११। चक्रवर्ती को मन की इच्छानुसार सुन्दर गति से सवारी देना—विजयार्द्ध गिर नामक हस्तीरत्न का कार्य है । १२। चक्रवर्ती के चित्त को सुखदायक पवन के समान शीघ्रगामी मनोहर गति से सवारी देना पवनंजय नामक अश्वरत्न का कार्य है । १३।

सुकुमार व सुगन्धित शरीर वाली स्वर्ग की देवांगनाओं से अधिक सुन्दर बुद्धिमती चतुर चक्रवर्ती की आशाकारिणी, सती विदुषी अपने कर कमलों से रत्न चूर्ण करने वाला महाबलवान चौदहवां सुभद्रा नामक स्त्री रत्न है । १४।

ये सात रत्न चेतन जानने चाहिए । सब चेतन-अचेतन मिलाकर चौदह रत्न हुए । अब इनका उत्पत्ति स्थान लिखते हैं ।

चक्र, छत्र, असि और दंड—ये चार आयुधशाला में, चरम कांक्षणी और चूड़ामणि ये तीन श्रीगृह में, हस्ती, घोटक और स्त्री—ये तीन विजयार्थ पर्वत पर और शिल्पि, प्रोहित, सेनापति तथा गृहपति—ये चार निज-निज नगरी में उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार चौदह रत्नों का सामान्य स्वरूप कहा ।

अब आगे नवनिधियों के नाम और गुण कहते हैं : -

चौपाई

प्रथम काल निधि शुभ आकार से अनेक पुस्तक दातार ।
महाकाल निधि दूजी कही, याकी महिमा सुनियो सही ॥
असि मसि आदिक साधन जोग, सामग्री सब देय मनोग ।
तीजी निधि नैसर्ग महान, नाना विधि भोजन की खान ॥
पांडुक नाम चतुर्थी होय, सब एस धान समर पै सोय ।
पदम पंचमी सुकृती पेट, बंछित बसन निरंतर देत ॥
मानव छठी है निधि जेह, आयुध जात जनम भुवतेह ।
सप्तम सुभग पिंगला नाम, बहु भूषण आपे अभिराम ॥
शंख निधान आठमी गिनी, सब वाजिप्र भूमि का बनी ।
सर्व रत्न नौमि निधि सार, सो नित सर्व रत्न भंडार ॥

बोहा

ए नवनिधि चक्रेश के, शकटाकृति संठान ।
आठ चक्र संयुक्त शुभ, चौधूटी सब जान ॥
योजन आठ उत्तंग अति, नव योजन विस्तार ।
बाहर मित दीरघ सकल, बसैं गगन निरधार ॥
एक-एक के सहस्र मित, रषवाले जषि देव ।
ए निधि उपजे पुन्य सों, सुखदायक स्वयमेव ॥

इत्यादि अनेक प्रकार की विभूति संयुक्त बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं पर शासन करते हुए षट्संखंड का निष्कर्षक होकर राज्य करते हैं । उनमें जो तप करते हैं वे तो स्वर्ग या मोक्ष में जाते हैं और जो राज भोग में ही आसक्त होकर मरण करते हैं वे अवश्य नरकगामी होते हैं ।

सूचना :—ये सब नव निधियाँ चक्रवर्ती के पुण्य के प्रभाव से स्वतः उत्पन्न होती हैं। ये सब आठ चक्र संयुक्त, गाड़ी के आकार धौखूटी, आठ योजन ऊँची, नव योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी आकाश में निराधार रहती हैं।

इस प्रकार वर्तमान काल के बारह चक्रवर्तियों का वर्णन किया।

आगे नव नारायणों का वर्णन लिखते हैं :—

ये चक्रवर्ती से अर्द्ध वैभव के धारी होते हैं। इनके अठारह हजार प्रमाण रानियाँ होती हैं और एक आर्यखंड एवं दो म्लेच्छ खंड—ऐसे तीन खंडों का ये निष्कण्टक नीतिपूर्वक राज्य करते हैं। चक्रवर्ती के चक्र तो आयुधशाला में उत्पन्न होता है परन्तु नारायण के यहाँ नहीं। यह चक्र प्रतिनारायण की आयुधशाला में प्रादुर्भूत होता है। जब इनका विशेष कारण पाकर परस्पर संग्राम होता है तब प्रतिनारायण युद्ध के समय नारायण को मारने का और कुछ उपाय न देखकर उस पर चक्र चलाता है परन्तु पुण्य के प्रभाव से चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आ जाता है और पुण्य के विचित्र प्रभाव से उन्हीं का आशाकारी हो जाता है। फिर नारायण उसी चक्र को अपने प्रतिनारायण पर चलाता है तो वह उसको धाराशायी करके उल्टा नारायण के हाथ में आ उपस्थित होता है। इस चक्र रत्न के साथ और भी जो छह रत्न होते हैं वे भी इन्हीं को प्राप्त हो जाते हैं और इनका ही उन पर स्वामित्व हो जाता है। इस प्रकार नियम से ही प्रतिनारायण की मृत्यु नारायण के द्वारा ही होती है और राज भोग में ही लवलीन होकर आर्त्तध्यान से मरण करने से प्रतिनारायण और नारायण दोनों नियम से नरकगामी होते हैं।

इस वर्तमान काल में जो नारायण हुए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ—ये श्री श्रेयांस नाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण—अस्सी धनुष। आयु प्रमाण—चौरासी लाख वर्ष। उसमें कुमार काल—पच्चीस हजार वर्ष। दिग्विजयी काल—एक हजार वर्ष। त्रिखंड राज्य काल—२३ लाख ७४ हजार वर्ष आयु के अन्त में आर्त्तध्यान से मरणकर तमाप्रभा वा मधवी नामक छठी नरक में गए।

(२) दूसरे नारायण द्विपृष्ठ—ये श्री वासुपूज्य भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण—सत्तर धनुष। आयु प्रमाण—बहत्तर लाख वर्ष, उसमें कुमार काल—पच्चीस हजार वर्ष। महामंडलेश्वर पद राज्य काल—पच्चीस हजार वर्ष। दिग्विजय काल—सी वर्ष। अर्द्ध चक्रीपद राज्य काल—इकहत्तर लाख उन्नचास हजार नव सौ वर्ष एवं बहत्तर लाख वर्ष आयु के अन्त में मरकर छठवें नरकगामी हुए।

(३) तीसरे नारायण स्वयंभू—ये श्री विमलनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण—साठ धनुष। आयु प्रमाण—साठ लाख वर्ष, उसमें कुमार काल—पच्चीस सौ वर्ष। महामंडलेश्वर पद राज्य काल—पच्चीस सौ वर्ष दिग्विजय काल—नब्बे वर्ष। त्रिखंड राज्यकाल—५६६४१० वर्ष एवं साठ लाख वर्ष की आयु के अन्त में मरकर छठे नरकगामी हुए।

(४) चौथे नारायण पुरुषोत्तम—श्री अनन्तनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण—पचपन धनुष। आयु प्रमाण—तीस लाख वर्ष, उसमें कुमारकाल—सात सौ वर्ष। महामंडलेश्वर पद राज्य काल—तेरह सौ वर्ष। दिग्विजय काल—अस्सी वर्ष। त्रिखंड राज्यकाल—२६६७६२० वर्ष एवं तीस लाख वर्ष की आयु के अन्त में मरण कर छठे नरकगामी हुए।

(५) पाँचवें नारायण पुरु सिह—ये श्री धर्मनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण—बालीस धनुष। आयु प्रमाण—दस लाख वर्ष उसमें कुमार काल—तीन सौ वर्ष। मंडलीक

पद—सौ वर्ष । दिग्विजय काल—सत्तर वर्ष । चक्री पद—६६६५३० वर्ष एवं दस लाख वर्ष की आयु के अन्त में मरणकर छठे नरकगामी हुए ।

(६) छठे नारायण पुण्डरीक—ये श्री अरहनाथ भगवान से पीछे और श्री मल्लिनाथ भगवान से पहले हुए । इनका शरीर प्रमाण—छब्बीस धनुष । आयु प्रमाण—पैंसठ हजार वर्ष, इसमें कुमार काल—दो सौ पचास वर्ष । दिग्विजय काल—साठ वर्ष । त्रिखंड राज्य काल—६४४४० वर्ष एवं पैंसठ हजार वर्ष की आयु के अन्त में मरणकर छठे नरकगामी हुए ।

(७) सातवें नारायण पुरुषदत्त—ये श्री मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ भगवान के अन्तराल में हुए । इनका शरीर प्रमाण—बाईस धनुष । आयु प्रमाण—बत्तीस हजार वर्ष, इसमें कुमार काल—दो सौ वर्ष । मंडलेश्वर पद राज्य काल—पचास वर्ष । दिग्विजय काल—पचास वर्ष । तीन खंड राज्य काल—३१७०० वर्ष एवं बत्तीस हजार वर्ष की आयु के अन्त में मरणकर तीसरे नरकगामी हुए ।

(८) आठवें नारायण लक्ष्मण—ये श्री मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथ भगवान के अन्तराल में हुए । इनका शरीर प्रमाण—सोलह धनुष । आयु प्रमाण—बारह हजार वर्ष । कुमार काल—सौ वर्ष । दिग्विजय काल—चालीस वर्ष । अर्द्ध चक्री राज्य काल—ग्यारह हजार आठ सौ साठ वर्ष एवं बारह हजार वर्ष की आयु के अन्त में मरण कर मेधा नामक तीसरे नरकगामी हुए ।

(९) नवमें नारायण श्री कृष्ण—ये श्री नेमनाथ भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण—दस धनुष । आयु प्रमाण एक हजार वर्ष उसमें कुमार काल—सोलह वर्ष । मंडलेश्वर राज्य पद—छप्पन वर्ष । दिग्विजय—आठ वर्ष । अर्द्ध चक्री पद राज्य काल—नौ सौ बीस वर्ष एवं एक हजार वर्ष शरीर की आयु के अन्त में मरणकर बालुकाप्रभा नामक तीसरे नरकगामी हुए ।

ये सब नारायण महाविभूति संयुक्त, विद्याधर, भूमिगोचरी तथा बड़े-बड़े राजा महाराजाओं द्वारा माननीय और त्रिखंडाधिपति होते हैं । इनही के द्वारा निश्चय से प्रतिनारायण की मृत्यु होती है । इस प्रकार वर्तमान काल के नव नारायणों का संक्षिप्त वर्णन समाप्त हुआ ।

बलभद्र वर्णन

आगे इनके ज्येष्ठ भ्राता जो बलभद्र होते हैं उनका वर्णन लिखते हैं—

ये भी नव ही होते हैं । ये सब धर्मज्ञ, उदारमना, परोपकारी, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी, दानी, विचारशील और पवित्र हृदयी होते हैं । इनकी दो ही गति होती है—स्वर्ग या मोक्ष । इस वर्तमान काल में जो नव बलभद्र हुए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रथम बलभद्र अचल विजय—इसका शरीर प्रमाण अस्सी धनुष और आयु प्रमाण सत्तासी लाख वर्ष था ।

(२) दूसरे बलभद्र अचल—इनका शरीर प्रमाण सत्तर धनुष और आयु प्रमाण सत्तर लाख वर्ष था ।

(३) तीसरे बलभद्र सुधर्म—इनका शरीर प्रमाण साठ धनुष और आयु प्रमाण पैंसठ लाख वर्ष था ।

(४) चौथे बलभद्र सुप्रभ—इनका शरीर प्रमाण पचास धनुष और आयु प्रमाण बत्तीस लाख वर्ष था ।

(५) पांचवें बलभद्र सुदर्शन—इनका शरीर प्रमाण चालीस धनुष और आयु प्रमाण कुछ अधिक दस लाख वर्ष था ।

(६) छठे बलभद्र नंदि—इनका शरीर प्रमाण उनतालिस धनुष और आयु प्रमाण पैंसठ हजार वर्ष था ।

(७) सातवें बलभद्र नंदिमित्र—इनका शरीर प्रमाण बाईस धनुष और आयु प्रमाण बत्तीस हजार वर्ष था ।

(८) आठवें बलभद्र रामचन्द्र—इनका शरीर प्रमाण सोलह धनुष और आयु प्रमाण सत्रह हजार वर्ष था ।

ये आठ बलभद्र तो अंतावस्था में संसार को अस्थिर, विषय भोगों को रोग के समान, संपत्ति को बिजली की तरह चंचल, शरीर को मांस, मल, रुधिर आदि अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ, दुःखों का देने वाला धिनौनी और नाश होने वाला जानकर सबसे उदासीन हो राज्यलक्ष्मी को तृणवत् त्यागकर जिन दीक्षा ले मुनि हो गए और घोर तपश्चरण करने लगे । अन्त में शुक्ल ध्यान द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया । पश्चात् अघातिया कर्मों का नाशकर परम धाम मोक्ष सिधारे ।

(९) नवमें बलभद्र बलदेव—इनका शरीर प्रमाण दस धनुष और आयु प्रमाण बारह सौ वर्ष था ।

ये भी संसार विषय भोगों से बिरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहणकर दुस्सह तपश्चरण करते हुए आयु के सन्त में साम्यभान से सरणकर एतन्न स्नान में महाऋद्धिधारी देव हुए । वहाँ से चयकर मोक्ष-गामी होंगे ।

अथ प्रतिनारायण वर्णनम्

अब आगे नारायण के प्रतिपक्षी जो प्रतिनारायण होते हैं उनका वर्णन लिखिते हैं—

प्रतिनारायण नारायण के समान संपदाधारी होते हैं । इनको नारायण मारकर इनका साधा हुआ तीन खण्ड (एक आर्य खण्ड और दो म्लेच्छ खण्ड) का राज्य आप करते हैं । विजयार्थ के उत्तर में नहीं जाते हैं । इस अवसर्पिणी काल में जो नव प्रतिनारायण हुए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रतिनारायण अश्वग्रीव—इनका शरीर प्रमाण अस्सी धनुष और आयु प्रमाण चौरासी लाख वर्ष था ।

दूसरे प्रतिनारायण तारक—इनका शरीर प्रमाण सत्तर धनुष और आयु प्रमाण बहत्तर लाख वर्ष था ।

तीसरे प्रतिनारायण मेरुक—इनका शरीर प्रमाण साठ धनुष और आयु प्रमाण साठ लाख वर्ष था ।

चौथे प्रतिनारायण निशुभ—इनका शरीर प्रमाण पचास धनुष और आयु प्रमाण तीस लाख वर्ष था ।

पाँचवें प्रतिनारायण मधुकैटभ—इनका शरीर प्रमाण पैंतालीस धनुष और आयु प्रमाण दस लाख वर्ष था ।

छठे प्रतिनारायण बली—इनका शरीर प्रमाण उनतालीस धनुष और आयु प्रमाण पैंसठ हजार वर्ष था ।

सातवें प्रतिनारायण प्रहरण—इनका शरीर प्रमाण बाईस धनुष और आयु प्रमाण बत्तीस हजार वर्ष था ।

आठवें प्रतिनारायण रावण—इनका शरीर प्रमाण सोलह धनुष और आयु प्रमाण बारह हजार वर्ष था ।

नवमें प्रतिनारायण जरासिन्ध—इनका शरीर प्रमाण दस धनुष और आयु प्रमाण एक हजार वर्ष था ।

ये नव प्रतिनारायण वर्तमान काल में हुए हैं ।

अथ नव नारद वर्णनम्

अब आगे इनके समय में होने वाले नव नारदों का वर्णन लिखते हैं—

ये सब ब्रह्मचारी और अनेक ऋद्धियों सहित होते हैं । इनके मान कषाय भी विशेष होता है । कलह अतिप्रिय विशिष्ट होती है । इस कारण दो लोगों को परस्पर भिड़ा देते हैं । कलह कराने में अति चतुर होते हैं । अपना मान बढ़ाई बहुत चाहते हैं । जो कोई भी इनका अनादर करता है ये तत्काल ही उसका अनादर करने का प्रयत्न करते हैं जैसे सरयभामा का विशाखा कायका, सती सीता के रूप की प्रशंसा उसके भाई भामंडल से करके उसको पाणिग्रहण करने पर उद्धत किया । अन्त में भेद खुलने पर अति खेद और संताप हुआ स्वमणी का विवाह श्रीकृष्ण से कराया । इस प्रकार इनके सदैव कलहप्रिय भाव रहते हैं । इस कारण ये सब ही नियम से नरकगामी होते हैं । इस वर्तमान काल में जो नव नारद हुए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) रुद्र, (४) महारुद्र, (५) काल, (६) महाकाल, (७) दुर्मुख, (८) तर्कमुख और (९) अधोमुख ।

ये नव नारद नव नारायणों के रूप में क्रम से पृथक-पृथक हुए हैं । इनका काय-प्रमाण तथा आयु प्रमाण नारायण के समान ही जानना चाहिए ।

अथ रुद्र वर्णनम्

अब आगे रुद्रों का वर्णन लिखते हैं—

कामदेव के वशीभूत होकर मुनि और अजिका जब अष्ट हो जाते हैं तब उनके परस्पर समागम से इनकी उत्पत्ति होती है ये स्वभाव से ही बड़े पराक्रमी होते हैं और अनेक प्रकार का तपश्चरण आदि करके अनेक विद्या सिद्ध करते हैं । तदनन्तर ये भी कामदेव के वशीभूत हो अपने आचरण से अष्ट होकर निश्च आचरण करने लगते हैं जिससे आयु के अन्त में मरण कर ये भी नरकगामी ही होते हैं । इस वर्तमान चौथे काल में जो ग्यारह रुद्र हुए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

पहले रुद्र भीमवली—ये आदिनाथ भगवान के समय में हुए हैं । इनका शरीर प्रमाण पांच सौ धनुष और आयु प्रमाण तिरासी लाख पूर्व था । १।

दूसरे रुद्र जितशत्रु—ये अजितनाथ भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण चार सौ पचास धनुष और आयु प्रमाण इकहत्तर लाख पूर्व था । २।

तीसरे रुद्र रुद्र—ये श्री पुष्पदन्त भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण सौ धनुष और आयु प्रमाण दो लाख पूर्व था । ३।

चौथे रुद्र विश्वानल—ये श्री शीतलनाथ भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण नब्बे धनुष और आयु प्रमाण एक लाख पूर्व था । ४।

पांचवें रुद्र सुप्रतिष्ठ—ये श्री श्रेयांमनाथ भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण अस्सी धनुष और आयु प्रमाण चौरसी लाख वर्ष था । १५।

छठे रुद्र अचल—ये श्री वासुपूज्य भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण सत्तर धनुष और आयु प्रमाण साठ लाख वर्ष था । १६।

सातवें रुद्र पुंडरीक—ये श्री विमलनाथ भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण साठ धनुष और आयु प्रमाण पचास लाख वर्ष था । १७।

आठवें रुद्र अजितधर—ये श्री अनन्तनाथ भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण पचास धनुष और आयु प्रमाण बालीस लाख वर्ष था । १८।

नवें रुद्र श्री अजितनाभि—ये श्री धर्मनाथ भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण अठाईस धनुष और आयु प्रमाण बीस लाख वर्ष पूर्व था । १९।

दसवें रुद्र पीठ—ये श्री शान्तिनाथ भगवान के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण चौबीस धनुष और आयु प्रमाण एक लाख वर्ष था । २०।

ग्यारहवें रुद्र सात्यकी—श्री महावीर स्वामी के समय में हुए । इनका शरीर प्रमाण सात हाथ और आयु प्रमाण उनहत्तर वर्ष था । २१।

ये सर्व रुद्र ग्यारह अंग और दस पूर्व के पाटी होते हैं । इस प्रकार अवसर्पिणी काल के ग्यारह रुद्रों का आयु कायादि वर्णन किया ।

अथ चतुर्विंशति कामदेव वर्णनम्

अब आगे चौबीस कामदेवों का वर्णन लिखते हैं—

इस वर्तमान चौथे काल में जो चौबीस कामदेव हुए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) बाहुबली, (२) अमिततेज, (३) श्रीधर, (४) यशद्वभ, (५) प्रसेनजित, (६) चन्द्रवर्ण, (७) अग्निमुक्ति, (८) सनत्कुमार (चक्रवर्ती), (९) वत्सराज, (१०) कनकप्रभ, (११) सिद्धवर्ण, (१२) शान्तिनाथ (तीर्थकर), (१३) कुंथनाथ (तीर्थकर), (१४) अरहनाथ (तीर्थकर), (१५) विजय राजा, (१६) श्रीचन्द्र, (१७) राजानल, (१८) हनुमानजी, (१९) बलगजा, (२०) वसुदेव, (२१) प्रद्युम्न, (२२) नागकुमार, (२३) श्रीपाल और, (२४) जम्बूस्वामी—ये चौबीस कामदेव बल, विद्या और रूप में अत्यन्त श्रेष्ठ होते हैं । इनके रूप को देखकर सर्व स्त्री पुरुष मोहित हो जाते हैं ।

इस प्रकार चौथेकाल में प्रत्येक चौबीस तीर्थकर बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण, नव बलभद्र (ये त्रैलोक्य शलाकापुरुष कहलाते हैं), नव नारद, ग्यारह रुद्र, चौबीस कामदेव और चौदह कुलकर—सब मिलाकर एक सौ इक्कीस तो यह और प्रत्येक तीर्थकर के माता-पिता अर्थात् चौबीस तीर्थकरों के अड़तालीस माता-पिता—ये सर्व एक सौ उनहत्तर १६६ पुण्य पुरुष होते हैं अर्थात् जितने पुण्यवान् पुरुष हुए हैं उनमें ये मुख्य गिने जाते हैं । इनमें से कितने तो उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं और कितने कुछ काल संसार में भ्रमण करके मोक्ष चले जाते हैं अर्थात् ये सर्व ही मोक्षगामी होते हैं । इनके अतिरिक्त और भी असंख्यात जीव कर्मों का नाशकर सिद्धगति प्राप्त करते हैं । इनमें नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और नारद—ये चार तो एक ही समय में उत्पन्न होते हैं । एक पद के धारक की उपस्थिति में उसी पदवी का धारक दूसरा उत्पन्न नहीं हो सकता जैसे कि एक तीर्थकर की स्थिति जब तक रहती है तब तक दूसरे तीर्थकर की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु प्रतिनारायण की स्थिति में नारायण

उत्पन्न हो जाता है। पहले तो प्रतिनारायण अर्द्धचक्री होता है। यावत् प्रतिनारायण अर्द्ध चक्रवर्ती रहता है तावत् नारायण अर्द्धचक्री नहीं हो सकता। जब संग्राम में वह प्रतिनारायण को मारकर चक्ररत्न पर स्वामित्व प्राप्त कर लेता है और उसके साथे हुए तीन खंडों पर अधिकार कर लेता है तब वह अर्द्धचक्री होता है और प्रत्येक चौथे काल में एक ही पदवी के धारक को दूसरी पदवी भी नहीं होती है। यद्यपि श्री शांतिनाथ जी, श्री कुंभनाथ जी और श्री अरहनाथ जी—तीर्थकर पदवी के धारक थे और चक्रवर्ती तथा कामदेव पदवी के धारक भी हुए ऐसे तीन-तीन पदवी के धारक हुए परन्तु यह हंडा अवसर्पिणी काल के प्रभाव से बहुत सी बातें विपरीत होती हैं जैसे प्रत्येक चौथे काल में चौबीस तीर्थकर नियम से सम्मेलन शिखर से ही मोक्ष जाते हैं परन्तु अब के हंडा अवसर्पिणी काल के प्रभाव से श्री आदिनाथ भगवान् कलाशपर्वत से, श्री नेमिनाथ जी गिरनार पर्वत से, श्री वासुपूज्य जी चंपापुरी से और अन्तिम तीर्थकर श्री महावीर जी पावापुर से परमधाम मोक्ष सिधारे। अवशेष बीस तीर्थकर श्री सम्मेलन शिखर जी से मोक्ष गए।

दूसरी बात यह है कि सब तीर्थकर चौथे काल में ही उत्पन्न होते हैं परन्तु अब की बार प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव जी चौथेकाल के चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष और साढ़े आठ महीने पहले ही उत्पन्न हो गए थे और चौथेकाल के तीन वर्ष आठ महीने पहले ही मोक्ष चले गए। यह केवल कालदोष से ही ऐसा हुआ नहीं तो सब चतुर्थ काल में ही मोक्ष जाते हैं, तृतीय में नहीं।

तीसरे अतुल बल के स्वामी श्री पार्श्वनाथ भगवान् को सुरकृत उपसर्ग हुआ—यह भी केवल काल का ही प्रभाव है नहीं तो त्रिलोकपूज्य और अतुलबल के स्वामी तीर्थकर भगवान् को उपसर्ग कैसा? इत्यादि हंडा अवसर्पिणी काल के प्रभाव से अनेक प्रतिकूल वार्त्ता होती हैं। इन्हीं प्रतिकूल वार्त्ताओं की शंका निवारण करने के लिए यति भूधरदास जी पार्श्व पुराण में लिखते हैं—

चौपाई

अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल, होय अनन्तानन्त विशाल ।
भरत तथा ऐरावत माहि, रहट घटीवत् आवें जाहि ॥१॥
जब ए असंख्यात परमान, दीते जुगम खेत भूधान ।
तब हंडा अवसर्पिणी एक, परें करें विपरीत अनेक ॥२॥
ताकी रीत सुनो भतिवत, सुखम दुखम काल के अन्त ।
वरषादिक की कारण पाय, विकलत्रय उपजें बहुभाय ॥३॥
कलपवृक्ष बिनशैं तिहवार, वरतै करम भूमि को व्योहार ।
प्रथम जिनेन्द्र प्रथम चक्रेश, ताहि समय होय इह देश ॥४॥
विजय भंग चक्री की होय, थोड़े शिद्य जाय शिव लोय ।
चक्रवर्ती विकल्प विस्तरै, ब्रह्मवंश की उत्पत्ति करै ॥५॥
पुरुष शलाका चौथे काल, अट्टावन उपजें गुणमाल ।
नवम आदि सोलह पर्यन्त, सात तीर्थ में धर्म नशंत ॥६॥
ग्यारह रुद्र जनम जहाँ धरें, नौ कलहप्रिय नारद अवतरें ।
सप्तम ते बीसम गुण वर्ग, धरम जिनेश्वर को उपसर्ग ॥७॥

तीजे चौथे काल मझार, पंचम में दीसे बड़वार ।
 विविध कुदेव कुलिगी लोग, उत्तम धर्म नाश के जोग ॥८॥
 सयर विलाल भील बंडाल, नाहलादि कुल में विकराल ।
 कलकी उपकलकी कलिमाहि, बयालीस ह्वं मिथ्या नाहि ॥९॥
 अनावृष्टि अतिवृष्टि दिख्यात, भूमि बृद्ध बज्रांगन पात ।
 ईत भीति इत्यादिक दोष, काल प्रभाव होय दुष कोष ॥१०॥

बोहा

यों त्रिलोक प्रज्ञित में, कथन किया बुधराज ।
 सो भविजन अब धारियों, संशय भेटन काज ॥

इस प्रकार संक्षेप में चौथे काल का वर्णन किया ।

चौथे काल के पीछे जो दुःखमा काल आता है उसको पंचमकाल भी कहते हैं । इस काल के आने से पहले ही तीर्थंकर आदि मोक्ष को पधार जाते हैं । इस कलिकाल में मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति नहीं रहती और धर्म सम्बन्धी रुचि का भी दिनोंदिन ह्रास होता चला जाता है । आयु, काय, बल, विद्या और पराक्रम भी दिनोंदिन घटते जाते हैं । इस काल के आरम्भ में समुण्डो की आयु एक सौ बीस वर्ष उत्कृष्ट होती है और शरीर सान हाथ प्रमाण होता है । इस काल के आदि में सिद्धार्थ नन्दन भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण होने के अनन्तर बासठ वर्ष तक तो केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय बना रहा, बाद में केवलज्ञान रूपी दिवाकर के अस्त होने से श्रुतकेवली रूप दिनपति का प्रकाश रहा । तदनन्तर इसका भी अभाव होकर श्री बीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पीछे तक अंगज्ञान की प्रवृत्ति रही । उपरान्त इस विकराल काल दोष से वह भी लुप्त हो गई । इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है—इस दुःखम पंचम काल के आगमन से तीन वर्ष साढ़े आठ महीने पहले ही कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को महावीर स्वामी परमधाम मोक्ष पधारे । भगवान् के निर्वाण गमन के साथ ही श्री इन्द्रभूति अर्थात् गौतम गणधर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और वे बारह वर्ष तक बिहार करके पंचमगति अनन्तकाल स्थाई मोक्ष को प्राप्त हुए । उनके निर्वाण होते ही श्री सुधर्माचार्य को लोकालोक के प्रकाशक केवलज्ञान का उदय हुआ सो उन्होंने भी बारह वर्ष बिहार कर अन्तिम गति पाई और तत्काल अन्तिम केवली श्री जम्बू स्वामी को केवलज्ञान सूर्य का उदय हुआ । उन्होंने अड़तीस वर्ष बिहार करके संसार के ताप से सन्तप्त अनेक भूय जीवों को परम पवित्र धर्मोपदेशामृत की वर्षा से शान्त कर संसार के दुःखों से छुटाकर सुखी बनाया और अन्त में मोक्ष महल को प्रयाण किया ।

इन तीनों मुनियों ने अनुक्रम से केवलज्ञान रूप दिवाकर का उदय बना रहा परन्तु इनके निर्वाण गमन के पश्चात् ही उसका अस्त हो गया । जम्बू स्वामी के निर्वाण के अनन्तर श्री विष्णु मुनि सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के पारगामी श्रुतकेवली (द्वादशांग के धारक) हुए और इसी प्रकार से नन्दिमित्र अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये चार महामुनि भी अशेष श्रुतसागर के पारगामी हुए । उक्त पाँचों श्रुतकेवली सौ वर्ष के अन्तराल में हुए अर्थात् भगवान् की मुक्ति के पश्चात् बासठ वर्ष में तीन केवली और तदनन्तर सौ वर्ष के अन्तराल में पाँच श्रुत केवली हुए । इनके भी परलोक निवास करने पर विशाखदत्त, प्रौष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजयसेन, बुद्धिमान, गंगदेव और

धर्मसेन—ये ग्यारह अंग और दस पूर्व के पाठी ग्यारह महात्मा हुए। इतने में १८३ वर्ष का समय व्यतीत हो गया। पश्चात् दो सौ बीस वर्ष में नक्षत्र, जयपाल, पांडु, द्रुमसेन और कसाचार्य—ये पांच मुनि ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए। पश्चात् एक सौ अठारह वर्ष में सुभद्र, अभयभद्र, जयवाहु और लोहाचार्य—ये चार मुनीश्वर आचार्य शास्त्र के परम विद्वान् हुए। यहां तक अर्थात् श्री वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पीछे तक अंग ज्ञान की प्रवृत्ति रही। तदन्तर काल दोष से वह भी लुप्त हो गई। लोहाचार्य के पश्चात् विनयधर, श्रीयत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त ये चार आरातीय मुनि अंग पूर्व देश के अर्थात् अंग पूर्व ज्ञान के कुछ अंश के ज्ञाता हुए और फिर पूर्व देश के पुण्ड्रवर्द्धनपुर में श्री अर्हदबलि मुनि अवतीर्ण हुए जो अंग पूर्व देश के भी एक देश के जानने वाले थे, प्रसारणा, धारणा विशुद्धि आदि उत्तम क्रियाओं में निरन्तर तत्पर रहते थे, अष्टांग निमित्तज्ञान के ज्ञाता थे और मुनि संघ का निग्रह अनुग्रहपूर्वक शासन करने में समर्थ थे। इसके अतिरिक्त वे प्रत्येक पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन क्षेत्र के अन्तर्गत निवास करने वाले मुनियों के समूह को एकत्र करके युग प्रतिक्रमण कराते थे।

एक बार उक्त भगवान् अर्हदबलि आचार्य ने भुज प्रतिक्रमण के समय मुनिजनों के समूह से पूछा 'कथा सब यति आये।' उत्तर में उन मुनियों ने कहा—भगवन् हम सब अपने-अपने संघ सहित आये। इस वाक्य में अपने-अपने संघ के प्रति मुनियों की निजत्व बुद्धि (पक्ष बुद्धि) प्रकट होती थी अतएव तत्काल ही आचार्य भगवान् ने निश्चय कर लिया कि इस कलिकाल में आगे यह जैन धर्म भिन्न-भिन्न गणों के पक्षपात से ठहर सकेगा, उदासीन भाव से नहीं अर्थात् आगे के मुनि अपने अपने संघ का, गण का और गच्छ का पक्ष धारण करेंगे। सब को एकरूप समझकर मार्ग की प्रवृत्ति नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार विचार करके उन्होंने जो मुनिगण गुफा में से आए थे उनमें से किसी-किसी की नंदि और किसी किसी की वीर संज्ञा रखी, जो अशोक वाट से आये थे उनमें से किसी-किसी की अपराजित और किसी की देव संज्ञा रखी। जो पंचस्तूपों का निवास छोड़कर आए थे उनमें से किसी को सेन और किसी-किसी को भद्र बना दिया। जो महाशाल्मली (सैमर) वृक्षों के नीचे से आए थे उनमें से किसी की गणधर और किसी की गुप्त संज्ञा रखी और जो खंड केशर (बकुल) वृक्षों के नीचे से आए थे उनमें से किसी की सिंह और किसी की चन्द्र संज्ञा रखी।

कथाश्रोतः—

आयातौ संधि वीरो प्रगट् गिरि गुहा वासतोऽशोक वाटा,
देवाश्चान्योपपादिजित इति यति पौसेनभद्राह्वया च।
पंचस्तूप्यात्सगुप्तो गुणधर वृषभः शाल्मली वृक्षमूला,
निर्यातो सिंह चंद्रो प्रथित गुणगणो केशरात्खंड पूर्वात् ॥

अनेक आचार्यों का ऐसा मत है—

गुहायां वासितो ज्येष्ठो, द्वितीयोऽशोक वाटिकात्।
निर्यातो नंदि देवाभि, धाना वाधानुक्रमात् ॥
पंचस्तूप्यास्तु सेनानां, वीराणां शाल्मलिद्रुमः।
खंड केशर नामाच भद्रः संघस्य सम्मतः ॥

अर्थ—गुफा से निकलने वाले नंदि, अशोक वन से निकलने वाले देव, पंचस्तूपों से आने वाले सेन, भारी शाल्मलि वृक्ष के नीचे निवास करने वाले वीर और खंड केशर वृक्ष के नीचे रहने वाले भद्रसंज्ञा से प्रसिद्ध किए गए थे।

इस प्रकार से मुनिजनों के संघ प्रवर्तन करने वाले उक्त श्री अर्हद्वलि आचार्य के वे सब मुनीन्द्र शिष्य कहलाए। उनके पश्चात् एक श्री माधनंदि नामक मुनि पुँगव हुए और वे भी अंग पूर्व देश का भली भाँति प्रकाश करके स्वर्ग लोक को पधारे। तदनन्तर सौराष्ट्र देश के अन्तर्गत गिरनगर के समीप उर्जयंत गिर (गिरनार) की चन्द्र नामक गुफा में निवास वाले महातपस्वी श्री धरसेन आचार्य हुए। उन्हें अग्रायणी पूर्व के अन्तर्गत पंचम वस्तु के चतुर्थ महाकर्म प्राभुत का ज्ञान था। अपने निर्मल ज्ञान में उन्हें आभास हुआ—‘कि अब मेरी आयु थोड़ी ही शेष रह गई है और अब मुझे जो शास्त्र का ज्ञान है वही संसार में अलम् होगा अर्थात् इससे अधिक शास्त्रज्ञ आगे कोई नहीं होगा और यदि कोई प्रयत्न नहीं किया जायगा तो श्रुत का विच्छेद हो जाएगा ऐसा विचारक निपुण मति वाले श्री धरसेन महर्षि ने देशेन्द्र देश के वेणाकतटाकपुर में निवास करने वाले महामहिमाशाली मुनियों के निकट एक ब्रह्मचारी के द्वारा पत्र भेजा। ब्रह्मचारी ने पत्र ले जाकर उक्त मुनियों के हाथ में दे दिया। उन्होंने पत्र खोलकर पढ़ा। उसमें यह लिखा हुआ था—स्वस्ति श्री वेणाकतटवासी यतिवरों को उर्जयंत तट निकटस्थ चन्द्रगुहा निवासी यतिवर धरसेन गणि अभिवंदना करके यह सूचित करते हैं—‘मेरी आयु अत्यंत स्वल्प रह गई है जिससे मेरे हृदयस्थ शास्त्र की व्युच्छिति हो जाने की संभावना है अतएव उसकी रक्षा करने के लिए आप लोग दो ऐसे यतीश्वरों को भेज दीजिए जो शास्त्र ज्ञान के ग्रहण व धारण करने में समर्थ और तीक्ष्ण बुद्धि हों।’

सब मुनिगण पत्र को पढ़कर बहुत प्रसन्न हुए। उनके हृदयगत आशय को भली-भाँति समझकर अपने संघ में उन मुनियों ने भी दो बुद्धिशाली मुनियों का अन्वेषण करके तत्काल ही भेज दिया। जिस दिन वे दोनों मुनि उर्जयंत गिर पर आचार्य के पास पहुँचने वाले थे उसकी पहली रात्रि को भी धरसेन मुनि ने स्वप्न में दो हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर शरीर वाले श्वेत वर्ण के बैलों को अपने चरणों में पड़ते हुए देखा। इस उत्तम स्वप्न को देखने के अनन्तर ज्यों ही वे ‘जयतु श्रुतदेवता’ अर्थात् सब संदेहों को नाश करने वाली श्रुतदेवी जिनवाणी सदाकाल इस संसार में जयलाम करे—ऐसा कहते हुए जाग्रत होकर खड़े हुए त्यों ही उन्होंने देखा कि वेणाकतटाकपुर से आए हुए दो मुनि सन्मुख खड़े हुए हैं। उन्होंने आचार्य के चरणारविंदों को नमस्कार कर सभक्ति स्तुति की और अन्त में अपने आने का कारण निवेदन किया। तब उन्हें श्री धरसेनाचार्य ने आशीर्वाद दिया—‘तुम चिरायु होकर महावीर भगवान के पवित्र शासन की सेवा करो। अज्ञान और विषयों के दास बने हुए संसारी जीवों को ज्ञान दान देकर उन्हें अपने कर्त्तव्य की ओर लगाओ।’ इसके पश्चात् यथायोग्य प्रतिधि-सत्कार कर उन्हें फिर मार्ग परिश्रम समन करने के लिए तीन दिन तक विश्राम करने दिया।

तत्पश्चात् यह विचार कर ‘सुपरीक्षा चित्त को शान्ति देने वाली हो’ अर्थात् जिस विषय की भली-भाँति परीक्षा कर ली जाती है उसमें फिर किसी प्रकार की शंका नहीं रहती है—उन्होंने उन दोनों को दो विद्याएँ साधन करने के लिए दीं जिसमें से एक विद्या में अक्षर कम थे और दूसरी में अधिक थे। आचार्य की आज्ञानुसार उक्त दोनों मुनि इसी गिरनार पर्वत के एक पवित्र एकांत भाग में भगवान नेमिनाथ की निर्वाण शिला पर पवित्र और एकाङ्गचित्त से विधिपूर्वक विद्यासाधन करने को बैठे। मंत्रसाधन की अवधि पूरी होने पर जो अक्षरहीन विद्या साध रहा था उसके आगे एक अश्व काली देवी और अधिक अक्षर वाली विद्या साधने वाले के सन्मुख बड़े दांत वाली देवी आकर खड़ी हो गई। इनके ऐसे असुन्दर रूप को देखकर मुनियों ने सोचा—‘देवी का तो ऐसा रूप होता नहीं फिर यह ऐसा क्यों

हुआ ? ज्ञात होता है कि अवश्य ही हमारी साधना में कोई भूल हुई है ।' तब उन्होंने मन्त्र व्याकरण की विधि से न्यूनाधिक वर्णों के क्षेपने और अपचय करने के विधान से मंत्रों को शुद्ध करके फिर जपा । उस वार दो देवियों ने केयूर (भुजा पर पहनने का आभरण), हार, नूपुर (विछुरे), कटक (ककण) और कटिसूत्र (करधनी) से सुसज्जित है दिव्य रूप धारण करके दर्शन दिया और समक्ष उपस्थित होकर कहा—'काहिए किस कार्य के लिए हमें आज्ञा है ?' यह सुनकर मुनियों ने कहा—'हमारा ऐहिक और पारलो-किक ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिसे तुम सिद्ध कर सको । हमने तो केवल गुरुदेव की आज्ञा से मंत्रों की सिद्धि की है ।' मुनियों का अभीष्ट सुनकर देवियाँ उसी समय अपने स्थान को चली गई ।

इस प्रकार से विद्यासाधन करके संतुष्ट होकर उन दोनों मुनियों ने गुरुदेव के समीप जाकर अपना समस्त वृत्तान्त यथातथ्य निवेदन किया । उसे सुनकर श्री धरसेनाचार्य ने उन्हें अतिशय योग्य और अप्रतिम बुद्धिशाली समझकर शुभ तिथि, नक्षत्र और शुभ समय में ग्रन्थ का व्याख्यान करना प्रारम्भ किया और वे मुनि भी आलस्य छोड़कर गुरु विनय तथा ज्ञान विनय की पालना करते हुए अध्ययन करने लगे । कुछ दिन के अनन्तर आपाढ़ शुक्ल ग्यारस को विधिपूर्वक ग्रन्थ समाप्त हुआ । उस दिन देवों ने प्रसन्न होकर प्रथम मुनि की दंतपत्ति को जो विषम रूप थी कुन्द के पुष्पों सरीखा कर दिया और उनका पुष्पदंत यह सार्थक नाम रख दिया । इसी प्रकार से भूतजाति के देवों ने द्वितीय मुनि की भूयैनाद जयघोष तथा गंध, माल्य, धूप आदि से पूजा करके उनका भी सार्थक नाम भूतपति रख दिया । दूसरे दिन गुरु ने यह सोचकर कि—मेरी मृत्यु का समय निकट है अतः यदि वे मेरे समीप रहेंगे तो मुझे होंगे—उन दोनों को कुरीश्वर भेज दिया । तब वे ती दिन चलकर उस नगर में पहुँच गए । वहाँ आपाढ़ कृष्ण पंचमी को (दक्षिण देश में पहले शुक्ल पक्ष और पीछे कृष्ण पक्ष आता है) योग ग्रहण करके उन्होंने वर्षाकाल समाप्त किया और पश्चात् दक्षिण की ओर विहार किया ।

कुछ दिन पश्चात् वे दोनों महात्मा करहाट नगर में पहुँचे । वहाँ श्री पुष्पदंत मुनि ने अपने जिनपालित नाम भानजे को देखा और उसे जिनदीक्षा देकर वे अपने साथ में लेकर अन्यान्य देश में जा पहुँचे । इधर भूतपति द्रविड़ देश के मथुरा नगर में पहुँच गए । करहाट नगर से ही उक्त दोनों मुनियों का साथ छूट गया । श्री पुष्पदंत मुनि ने जिनपालित को पढ़ाने के लिए विचार किया कि कर्म प्रकृति प्राभृत की छह खंडों में उपसंहार करके ग्रन्थ रूप रचना करनी चाहिए और इसीलिए उन्होंने प्रथम ही जीवस्थानाधिकार की जिसमें गुणस्थान, जीव समास आदि बीस प्ररूपणाओं का वर्णन है, बहुत उत्तमता के साथ रचना की फिर उस शिष्य को सौ सूत्र पढ़ाकर श्री भूतबलि मुनि के पास उनका अभिप्राय जानने के लिए अर्थात् यह जानने के लिए कि वे इस कार्य के करने में सहमत हैं अथवा नहीं, और यदि हैं तो जिस रूप में रचना हुई है, उसके विषय में उनकी क्या सम्मति है—भेज दिया । उसने भूतबलि महर्षि (भूतबलि भूतपति महर्षि का ही अपर नाम था) के समीप जाकर वे प्ररूपणा सूत्र सुना दिए जिन्हें सुनकर उन्होंने श्री पुष्पदंत मुनि का षट्खंड रूप आगम रचना का अभिप्राय जान लिया और अब लोग दिनोंदिन अल्पायु और अल्पमति होते जाते हैं—ऐसा विचार कर उन्होंने स्वयं पाँच खंडों में पूर्व सूत्रों सहित छह हजार श्लोक विशिष्ट द्रव्य प्ररूपणाधिकार की रचना की और उसके पश्चात् महाबंधनामक छठे खंड को तीस हजार सूत्रों में समाप्त किया । पहले पाँच खंडों के नाम ये हैं—

- (१) जीवस्थान, (२) क्षुल्लकबंध, (३) बंधन्वाभित्व, (४) भाव वेदना और (५) वर्णना ।
- श्री भूतबलि मुनि ने इस प्रकार षट्खंडागम की रचना करके उसे असद्भाव स्थापना के द्वारा

पुस्तकों में आरोपण किया अर्थात् लिपिबद्ध किया और उसकी ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी की चतुर्विध संघ सहित वेष्टनादि उपकरणों के द्वारा क्रियापूर्वक पूजा की। उसी दिन से यह ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी संसार में 'श्रुतपंचमी' के नाम से प्रख्यात हो गई। इस दिन श्रुत का अवतार हुआ है इसीलिए अद्यपर्यन्त समस्त जैनी उक्त तिथि को श्रुतपूजा करते हैं।

कुछ दिन के पश्चात् भूतबलि आचार्य ने षट्खंड आगम का अध्ययन करके जिनपालित शिष्य को उक्त पुस्तक देकर श्री पुष्पदंत गुरु के समीप भेज दिया। जिनपालित के हाथ षट्खंड आगम देखकर और अपना चितवन किया हुआ कार्य पूर्ण हुआ जानकर श्री पुष्पदंताचार्य का समस्त शरीर प्रगाढ़ श्रुतानुराग में तन्मय हो गया और तब अतिशय आनन्दित होकर उन्होंने भी चतुर्विध संघ के साथ श्रुत पंचमी को गंध, अक्षत, माल्य, वस्त्र, वितान, घंटा, ध्वजा आदि द्रव्यों से पूर्ववत् सिद्धान्त ग्रन्थ की महापूजा की।

इस प्रकार षट्खंडआगम की उत्पत्ति का वर्णन करके अब कषाय प्राभृत सूत्रों की उत्पत्ति का कथन करते हैं—बहुत कठिनता से श्री षरसेनाचार्य के समय में एक श्री गुणधर नाम के आचार्य हुए। उन्हें पाँचवें ज्ञान प्रवाह पूर्व के दशम दर्स्तु के तृतीय कषाय प्राभृत का ज्ञान था। उन्हें भी वर्तमान पुरुषों की शक्ति का विचार करके कषाय प्राभृत आगम को जिसे दोष प्राभृत भी कहते हैं, एक सौ तिरासी मूलगाथा और तिरेपन विवरण रूप गाथाओं में बनाया। फिर पन्द्रह महाधिकारों में विभाजित करके श्री नागहस्ती और आर्यमंक्षु मुनियों के लिए उसका व्याख्यान किया। पश्चात् उक्त दोनों मुनियों के समीप शास्त्र निपुण श्री यतिवृषभ नामक मुनि ने दोष प्राभृत के उक्त सूत्रों का अध्ययन करके पीछे उनकी सूत्र रूप पूर्ण वृत्ति छह हजार श्लोक प्रमाण बताई। अनन्तर उन सूत्रों का मली-भांति अध्ययन करके श्री उच्चारणाचार्य ने बारह हजार श्लोक प्रमाण, उच्चारणाचार्य नाम की टीका बनाई। इस प्रकार से गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य ने कषाय प्राभृत का गाथा चूर्ण और उच्चारण वृत्ति में उपसंहार किया। इस प्रकार से उक्त दोनों कर्म प्राभृत और कषाय प्राभृत सिद्धान्तों का ज्ञान द्रव्य भाव रूप पुस्तकों से (लिखित ताड़पत्र वा कागज आदि की पुस्तकों को द्रव्य पुस्तक और उसके कथन को भाव पुस्तक कहते हैं) और गुरु परम्परा से कुडकुदपुर में ग्रंथ परिकर्म (चूलिका सूत्र) के कर्त्ता श्री पद्ममुनि को प्राप्त हुआ सो उन्होंने भी छह खंडों में से पहले तीन खंडों की बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका रची। कुछ काल बीतने पर श्री श्यामकुंड आचार्य ने सम्पूर्ण दोनों आगमों को पढ़कर केवल एक छोटे महाबंध खंड को छोड़कर शेष दोनों ही प्राभृतों की बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका बनाई। इन्हीं आचार्य ने प्राकृत, संस्कृत और कर्णाटक भाषा की उत्कृष्ट पद्धति (ग्रन्थ परिशिष्ट) की रचना की।

कालांतर में तार्किक सूर्य श्री समन्तभद्र स्वामी का उदय हुआ। तब उन्होंने भी दोनों प्राभृतों का अध्ययन करके प्रथम पाँच खंडों की अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका अत्यन्त सुन्दर और सुकोमल संस्कृत भाषा में बनाई। पीछे उन्होंने द्वितीय सिद्धान्त की व्याख्या लिखनी भी प्रारम्भ की थी परन्तु द्रव्यादि शुद्धिकरण प्रयत्नों के अभाव से उनके एक साधर्मी मुनि ने निषेध कर दिया जिससे वह नहीं लिखी गई। इस प्रकार व्याख्यान क्रम (टीकादि) से तथा गुरु परम्परा से उक्त दोनों सिद्धान्तों का बोध अतिशय तीक्ष्ण बुद्धिशाली श्री शुभतंदि और विनंदि मुनि को प्राप्त हुआ। ये दोनों महामुनि भीमरथी और कृष्णमेणा नदियों के मध्य में बसे हुए रमणीय उत्कलिका ग्राम के समीप सुप्रसिद्ध अगणबल्ला ग्राम में उपस्थित थे। उनके समीप रहकर श्री वप्पदेव गुरु ने दोनों सिद्धान्तों का श्रवण किया और फिर तज्जन्य ज्ञान से उन्होंने महाबंध खंड छोड़कर शेष पाँच खंडों पर व्याख्या प्रकृति नाम

की व्याख्या बनाई। उसमें महाबंध का संक्षेप भी सम्मिलित कर दिया। पश्चात् कषाय प्राभृत पर प्राकृत भाषा में साठ हजार और केवल महाबंध खंड पर आठ हजार पांच श्लोक प्रमाण दो व्याख्याएँ रचीं। कुछ समय पीछे चित्रकूटपुर निवासी श्रीमान् एलाचार्य सिद्धान्त तत्वों के ज्ञाता हुए। उनके समीप वीरसेनाचार्य ने समस्त सिद्धान्त का अध्ययन किया और उपरितम (प्रथम के) निबंधनादि साठ अधिकारों को लिखा। पश्चात् गुरु भगवान् की आज्ञा से चित्रकूट छोड़कर देवाट ग्राम में पहुँचे। वहाँ आनतेन्द्र के बनाए हुए जिनमंदिर में बैठकर उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति देखकर पूर्व के छह खंडों में से उपरितम बंधनादिक अठारह अधिकारों में सत्कर्मनाम का ग्रन्थ बनाया और छह खंडों पर बहत्तर हजार श्लोकों में संस्कृत प्राकृत भाषा मिश्रित धवल नाम की टीका बनाई। फिर कषाय प्राभृत की चारों विभक्तियों (भेदों) पर जयधवल नाम की बीस हजार श्लोक परिमित टीका लिखकर स्वर्गलोक को पधारे। उनके पश्चात् उनके प्रिय शिष्य श्री जयसेन गुरु ने चालीस हजार श्लोक और बनाकर जयधवल टीका को पूर्ण किया। जयधवल टीका सब मिलाकर साठ हजार श्लोकों में पूर्ण हुई। इस प्रकार श्रुतोत्पत्ति का विवरण लिखकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

यह स्मरण करने योग्य है कि ये उन्हीं परोपकारी महात्माओं के परिश्रम का फल है जो उनके द्वारा निर्मित सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रभाव से आज संसार में हमारे जैनधर्म का अस्तित्व पाया जाता है जिनमें से असंख्य ग्रन्थों का तो अन्यायी राजाओं के शासन काल में तथा अन्याय मर्तों के विकास समय में प्रायः लोप हो गया। अगणित ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी अब भी ऐसे-ऐसे संस्कृत व प्राकृत भाषा के काव्य कोष व्याकरणादि न्याय तथा तत्त्वज्ञान के ग्रंथक अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ रत्न उपलब्ध होते हैं जिनके ज्ञाता विद्वान् वर्तमान समय में विरले अर्थात् इने-गिने ही पाए जाते हैं। हमें अपने उन पूर्वज महा परोपकारी ऋषि महर्षियों का कृतज्ञतापूर्वक भक्ति व श्रद्धा के साथ भजन, स्तवन तथा गुणानुवाद करना चाहिए।

भारतवर्ष में एक मान्यखेट नाम का नगर था। उसके राजा शुभतुंग थे और उनके मंत्री का नाम पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तम की गृहणी परमावती थी। उसके दो पुत्र हुए, उनके नाम थे, अकलंक और निकलंक। वे दोनों भाई बड़े बुद्धिमान और गुणी थे। एक दिन की बात है कि अष्टान्हिका पर्व की अष्टमी के दिन पुरुषोत्तम और उसकी पत्नी बड़ी विभूति के साथ चित्रगुप्त मुनिराज की वन्दना करने को गए। साथ में दानों भाई भी गए। मुनिराज की वन्दना करके इनके माता-पिता ने आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिया और साथ में विनोद वश अपने दोनों पुत्रों को भी दिलवा दिया। कभी-कभी सत्पुरुषों का विलास भी सत्यमार्ग का प्रदर्शक बन जाता है। अकलंक और निकलंक के चित्त पर भी पुरुषोत्तम के दिलवाए गए व्रत का ऐसा ही प्रभाव पड़ा। जब ये दोनों भाई युवावस्था में पदार्पण करने लगे तब कुछ दिनों के पश्चात् पुरुषोत्तम ने अपने पुत्रों के व्याह की आयोजना की तब दोनों भाइयों ने मिलकर अपने पिता से निवेदन किया—“पिता जी ! इतना भारी आयोजन और इतना परिश्रम आप किस लिए कर रहे हैं ?” अपने भोले-भाले पुत्रों का मधुर संभाषण सुनकर पुरुषोत्तम ने कहा—“ये सब आयोजन तुम्हारे व्याह के लिए हैं।” पिता का उत्तर सुनकर दोनों भाइयों ने फिर कहा—“पिता जी ! अब हमारा व्याह कैसा ? आपने तो हमें ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया था।” पिता जी ने कहा—“नहीं। वह तो केवल विनोद से दिया गया था।” तब उन बुद्धिमान भाइयों ने कहा ‘पिता जी ! धर्म और व्रत में विनोद कैसा, यह हमारी समझ में नहीं आया। अच्छा आपने विनोद से ही दिया सही तो अब उसके पालन करने भी हमें

लज्जा कैसी ? पुरुषोत्तम ने फिर कहा—‘अस्तु । जैसा तुम कहते हो वैसा ही सही परन्तु तब तो केवल आठ ही दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत दिया था, न कि आयु पर्यन्त ।’ तब दोनों भाइयों ने कहा—‘पिता जी ! हम मानते हैं कि आपने अपने भावों से हमें आठ ही दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत दिलवाया होगा, परन्तु न तो आपने उस समय इसका खुलासा कहा था और न मुनिराज ने ही । तब हम कैसे समझें कि व्रत आठ ही दिन के लिए था । अतएव हम तो अब उसका आजन्म पालन करेंगे । ऐसी हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है । हम सब विवाह नहीं करेंगे । पुरुषों की बातों को सुनकर उनके पिता को बड़ी निराशा हुई पर वे कर भी क्या सकते थे । यह कहकर दोनों भाइयों ने गृहकार्य से सम्बन्ध छोड़कर अपना चित्त शास्त्राभ्यास की ओर लगाया । थोड़े ही दिनों में ये अच्छे विद्वान बन गए । इनके समय में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार था अतएव उन्हें उसके तत्व को जानने की जिज्ञासा हुई । उस समय मान्यखेट में ऐसा कोई विद्वान नहीं था जिससे ये बौद्ध धर्म का अभ्यास करते इसलिए ये एक अज्ञविद्यार्थी का भेष बनाकर महाबोधि नामक स्थान में बौद्धधर्माचार्य के पास गए । आचार्य ने इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके कहा कि कहीं ये छली तो नहीं है । जब उन्हें इनकी तरफ से दृढ़ विश्वास हो गया तब वे और शिष्यों के साथ-साथ उन्हें भी पढ़ाने लगे । ये अन्तरंग में तो पक्के जिनधर्मी और बाहर एक महामूर्ख बनकर स्वयं-ज्ञान सीखने लगे । निरन्तर बौद्धधर्म श्रवण करते रहने से अकलंक देव की बुद्धि बड़ी विलक्षण हो गई । उन्हें एक ही बार के सुनने से कठिन बात भी याद होने लगी और निकलंक को दो बार के सुनने से अर्थात् अकलंक एक संस्थ और निकलंक दो संस्थ हो गए । इस प्रकार वहाँ रहते-रहते दोनों भाइयों का बहुत समय बीत गया । एक दिन की बात है कि बौद्ध गुरु अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे उस समय जैनधर्म के सप्तभंगी न्याय सिद्धान्त का प्रकरण था । वहाँ कोई ऐसा अशुद्ध पाठ आ गया जो बौद्ध गुरु की समझ में न आया तब वे अपने व्याख्यान को वहीं समाप्त कर कुछ समय के लिए बाहर चले आये । अकलंक बड़े बुद्धिमान थे वे बौद्ध गुरु के अभिप्राय को समझ गये । इसीलिए उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी के साथ उस पाठ को शुद्ध कर दिया और उसकी खबर किसी को न होने दी । इतने में पीछे बौद्ध गुरु आये उन्होंने अपना व्याख्यान आरम्भ किया । जो पाठ अशुद्ध था वह अब देखते ही उनकी समझ में आ गया ।

वह देखकर उन्हें सन्देह हुआ कि अवश्य इस जगह कोई जिनधर्म रूप समुद्र का बढ़ाने वाला चन्द्रमा है और वह हमारे धर्म को नष्ट करने की इच्छा से बौद्ध भेष धारण करके बौद्ध शास्त्र का अभ्यास कर रहा है । उसको शीघ्र ही खोज लगाकर मरवा डालना चाहिए । इस विचार के साथ बौद्ध गुरु ने सब विद्यार्थियों को शपथ प्रतिज्ञा आदि देकर पूछा पर जैनधर्मी का पता उन्हें नहीं लगा तब उन्होंने जैन प्रतिमा मंगाकर उसको लांघ जाने के लिए सब को कहा ! सब विद्यार्थी तो लांघ गये पर अब अकलंक की बारी आई । उन्होंने अपने कपड़े में से एक सूत का धागा निकाल कर उसे प्रतिमा पर डाल दिया और उसे परिग्रही समझकर वे उसे लांघ गये । यह कार्य इतनी जल्दी किया कि किसी को समझ में न आया । बौद्ध गुरु इस कार्य में भी जब कृतकार्य न हुए तब उन्होंने एक और नवीन युक्ति की । उन्होंने बहुत से कांसी के बर्तन एकत्रित करवाये और उन्हें एक बड़ी भारी गौन में भरकर वह बहुत गुप्त रीति से विद्यार्थियों के सोने की जगह के पास रखवा दी और विद्यार्थियों की देख-रेख के लिए अपना एक गुप्तचर रख दिया । आधी रात के समय जब सब विद्यार्थी निडर होकर निद्रा देवी की गोद में सुख का अनुभव कर रहे थे, किसी को कुछ मालूम न था कि हमारे लिए क्या गडयन्त्र रचे जा रहे हैं । एकाएक बड़ा विकराल शब्द हुआ मानों आकाश में विद्युत्पात हुआ हो । सब विद्यार्थी उस भयंकर शब्द से थरथरा उठे वे अपना जीवन बहुत थोड़े समय के लिए समझकर अपने उपास्य परमात्मा का

स्मरण कर उठे और अकलंक भी पंचनमस्कार मंत्र का ध्यान करने लगे। पास ही बौद्ध गुरु का गुप्त-चर खड़ा हुआ था वह उन्हें बुद्ध भगवान का स्मरण करने की जगह जिन भगवान का स्मरण करते देखकर बौद्ध गुरु के पास ले गया और गुरु से उसने प्रार्थना की—‘प्रभो ! आज्ञा दीजिये कि इन दोनों धूर्तों का क्या किया जाए। ये ही जैद्वी हैं।’

यह सुनकर वह दुष्ट बौद्ध गुरु बोला—‘इस समय रात बहुत है अतएव इन्हें ले जाकर कारागार में बन्द कर दो। अर्द्धरात्रि व्यतीत हो जाने पर इनका धराशयी बना देना अर्थात् मार डालना उस गुप्तचर ने इन दोनों भाइयों को ले जाकर कारावास में बन्द करवा दिया। अपने पर एक महाविपत्ति आई हुई देखकर निकलंक ने बड़े भाई से कहा—‘भैया ! हम दोनों ने इतना कष्ट उठा कर तो विद्या प्राप्त की, पर बड़े दुःख की बात है कि उसके द्वारा हम कुछ भी जिनधर्म की सेवा न कर सकें और एकाएक हमें मृत्यु का सामना करना पड़ा।’ भाई की दुःखभरी बात को सुनकर महावीर वीर अकलंक ने कहा—‘प्रिय भ्राता ! तुम बुद्धिमान हो, तुम्हें भय करना उचित नहीं। घबराओ नहीं। अब भी हम अपने जीवन को रक्षा कर सकेंगे। देखो मेरे पास यह छद्म हूँ इसके द्वारा अपने को छिगाकर हम लोग यहाँ से निकल चलते हैं और शीघ्र ही अपने स्थान पर जा पहुँचते हैं।’

यह विचार कर वे दोनों भाई वहाँ से गुप्तरीति से निकल गये और पवन के समान तीव्र गति से गमन करने लगे। इधर जब अर्द्धरात्रि व्यतीत हो चुकी और बौद्ध गुरु की आज्ञानुसार जब इन दोनों भाइयों के मारने का समय आया तब उन्हें पकड़ लाने के लिए सेवक लोग भेजे गये पर जब वे बन्दीगृह में जाकर उन्हें देखते हैं तो वहाँ उनका पता ही नहीं था। उन्हें उनके एकाएक लुप्त हो जाने से बड़ा विस्मय हुआ। पर वे क्या कर सकते थे। उन्हें उनके कहीं आस-पास ही छुपे रहने का संदेह हुआ उन्होंने आस-पास, वन, उपवन, खण्डर, वापिका, कूप, पर्वत, गुफा, वृक्षों के कोठर आदि सब एक-एक करके ढूँढ डाले। परन्तु उनका कहीं पता न चला। उन पापियों को तब भी तो संतोष नहीं हुआ। तब उनके मारने की इच्छा से अश्वारूढ़ होकर उन दुष्टों ने यात्रा की। उनकी दयारूपी वेग क्रोध रूपी दावानलाग्नि से खूब भुलस गई थी इसीलिये उन्हें ऐसा दुष्कर्म करने को बाध्य होना पड़ा। दोनों भाई भागते जाते थे और पीछे फिर-फिर कर देखते जाते थे कि कहीं किसी ने हमारा पीछा तो नहीं किया पर उनका सन्देह ठीक निकला। निकलंक ने दूर तक देखा तो उसे आकाश में धूल उड़ती हुई दीख पड़ी। उसने बड़े भाई से कहा—‘भैया हम लोग जितना कुछ करने हैं, वह सब निष्फल हो जाता है। जान पड़ता है देव ने हम से पूर्ण शत्रुता वांछी है। खेद है कि परम पवित्र जिन शासन की हम लोग कुछ भी सेवा न कर सकें और मृत्यु ने बीच ही में आकर हमको धर दवाया। भैया ! देखो तो पापी लोग हमें मारने के लिए पीछा किये चले आ रहे हैं। अब रक्षा होना असम्भव है। हाँ, मुझे एक उपाय सूझ पड़ा है और उसे आप करेंगे तो जैन धर्म का बड़ा उपकार होगा। आप बुद्धिमान हैं एक संस्थ हैं। आपके द्वारा जिन धर्म का खूब प्रकाश होगा। देखते हैं वह सरोवर है उसमें बहुत से कमल हैं। आप जल्दी जाइये और तालाब में उतरकर कमलों में अपने को छूपा लीजिये। जाइये, शीघ्रता कीजिये। देरी का काम नहीं है। शत्रु पास पहुँचे आ रहे हैं आप मेरी चिंता न कीजिये। मैं भी जहाँ तक बन सकेगा जीवन की रक्षा करूँगा और यदि मुझे अपना जीवन भी देना पड़े तो मुझे उसकी कुछ उपेक्षा नहीं जबकि मेरे प्यारे भाई जीवित रहकर पवित्र जिनशासन की भरपूर सेवा करेंगे। आप जाइये। मैं भी अब यहाँ से भागता हूँ।’ अकलंक के नेत्रों से भाई की दुःखभरी बात सुनकर अश्रुधारा बहने लगी। उनका हृदय आतृ प्रेम से भर आया। वे भाई से एक अक्षर तक भी न कह सके कि निकलंक वहाँ से

भाग खड़ा हुआ। लाचार होकर अकलंक को अपने जीवन की नहीं अपितु पवित्र जिनशासन की रक्षा के लिए कमलों में छुपना पड़ा उनके लिए कमलों का आश्रय केवल दिखावा था। वास्तव में तो उन्होंने जिसके धराबर संसार का कोई आश्रय नहीं हो सकता उस जिनशासन का आश्रय लिया था। निकलंक भाई से विदा लेकर तेजी से भाग रहा था कि मार्ग में उसे एक धोबी कपड़े धोता हुआ मिला। धोबी ने आकाश में धूल की छटा छाई हुई देखकर निकलंक से पूछा—“यह क्या हो रहा है और तुम ऐसे जी छोड़कर क्यों भागे जा रहे हो?” निकलंक ने कहा—“पोछे शत्रुओं की सेना आ रही है, उसे जो मिलता है उसे ही वह मारती है इसीलिए मैं भागा जा रहा हूँ।” यह सुनते ही धोबी अपने कपड़े वगैरह सब छोड़कर निकलंक के साथ भाग निकला वे दोनों बहुत भागे पर कहीं तक भाग सकते थे।

अन्त में सवारों ने उन्हें आ ही पकड़ा और उसी समय अपनी धमचमाती हुई तलवार से दोनों का मस्तक काटकर उन्हें वे अपने स्वामी के पास ले गए। सच है पवित्र जिनधर्म, अहिंसाधर्म से रहित मिथ्यात्व को अपनाये हुए उन पापी लोगों के लिए ऐसा कौन-सा महापाप बाकी रह जाता है जिसे वे नहीं करते जिनके हृदय में जीव मात्र को सुख पहुंचाने वाले जिनधर्म का लेश मात्र भी नहीं है उन्हें दूसरों पर दया भी कैसे आ सकती है उधर शत्रु भी अपना काम कर वापिस लौटे और इधर अकलंक अपने को सुरक्षित समझकर सरोवर से निकले और निडर होकर आगे बढ़े। वहाँ से चलते-चलते वे कुछ दिन के अनन्तर कलिंग देशांतर्गत रत्नसंचयपुर नामक नगर में पहुँचे। उस समय वहाँ के राजा हिम-शीतल थे। उनकी रानी का नाम मदनसुन्दरी था। वह जिन भगवान की बड़ी भक्त थी। उसने मोक्ष, स्वर्ग और सुख के देने वाले पवित्र जिनधर्म की प्रभावना के लिए अपने बनवाये हुए जिनमन्दिर में फाल्गुण शुक्ल अष्टमी के दिन से रथयात्रोत्सव का आरम्भ करवाया था। उसमें उसने बहुत द्रव्य व्यय किया वहाँ संघश्री नामक बौद्धों का प्रधान आचार्य रहता था। उसे महारानी का कार्य सहन नहीं हुआ। उसने महाराज से कहकर रथयात्रा उत्सव रूकवा दिया और साथ ही वहाँ जिनधर्म का प्रचार न देखकर शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन भी निकाल दिया। महाराज ने अपनी महारानी से कहा—“प्रिय ! जब तक कोई जैन विद्वान बौद्ध गुरु के साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्म का प्रभाव न फैलावेगा तब तक तुम्हारा उत्सव होता कठिन है।” महाराज की बातें सुनकर रानी को बड़ा दुःख हुआ पर कर ही क्या सकती थी? उस समय कौन उसकी आशा पूरी कर सकता था? वह उसी समय जिन मन्दिर गई और वहाँ मुनियों को नमस्कार करके पूछने लगी—“प्रभो ! बौद्ध गुरु ने मेरी रथयात्रा को रूकवा दिया है। वह कहता है कि पहले मुझसे शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लो फिर रथोत्सव करना। बिना ऐसा किये उत्सव न हो सकेगा इसीलिये मैं आपके पास आई हूँ।

बतलाईये कि जैन दर्शन का अच्छा विद्वान कौन है जो बौद्ध गुरु को पराजित कर मेरी इच्छा पूर्ण करे।” यह सुनकर मुनि बोले—“इधर आस-पास तो कोई ऐसा विद्वान नहीं दिखता जो बौद्ध गुरु के सम्मुख शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त कर सके परन्तु मान्यदेष्ट नगर में ऐसे विद्वान अवश्य हैं। उनके बुलवाने का आप प्रयत्न करें तो सफलता प्राप्त हो सकती है।” रानी ने कहा—“वाह ! आपने बहुत अच्छी बात कही, सर्प तो शिर के पास फुकार रहा है और आप कहते हैं कि गरुड़ अभी दूर है। भला उससे क्या सिद्धि हो सकती है? अस्तु जान पड़ा कि आप लोग इस महाविपत्ति का सद्यः प्रतीकार नहीं कर सकते देव को जिनधर्म का पतन कराना ही इष्ट मालूम होता है। जब मेरे पवित्र धर्म की दुर्वशा होगी तब मैं ही जीवित रहकर क्या करूँगी?”

यह कहकर महारानी महल से अपना सम्बन्ध छोड़कर जिन मन्दिर गई और उसने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि जब बौद्ध गुरु संघश्री का मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बड़े ठाट-बाट के साथ निकलेगा और जिनधर्म की खूब प्रभावना होगी तब ही मैं भोजन करूँगी। नहीं तो मैं ही निराहार रहकर अपने प्राण विसर्जन करूँगी ! परन्तु अपनी आँखों से परम पूज्य व पवित्र जिनशासन की कुर्दशा न देख सकूँगी अर्थात् कभी नहीं देखूँगी। ऐसा हृदय में दृढ़ निश्चय करके मदनसुन्दरी जिनेन्द्र भगवान के सन्मुख कायोत्सर्ग धारण कर एकचित्त हो पंचनमस्कार मन्त्र की आराधना करने लगी। उस समय उसकी ध्यानारूढ़ निश्चल अवस्था ऐसी प्रतीत होती थी मानों सुमेरु पर्वत की चूलिका हो। 'भव्यों को जिन भक्ति का फल अवश्य ही मिलता है'—इस नीति के अनुसार महारानी भी उससे वंचित नहीं रही महारानी के निश्चल ध्यान के प्रभाव से पद्मावती का आसन कंपित हुआ। वह अर्द्धरात्रि के समय आई महारानी से बोली—'देवी ; जब तुम्हारे हृदय में जिन भगवान के चरण कमल शोभित हैं तब तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। उनके प्रसाद से तुम्हारा मनोरथ नियम से पूर्ण होगा। सुनो ! कल-प्रातः काल ही भगवान अकलंक देव उधर आयेंगे। वे जैन धर्म के बड़े भारी विद्वान हैं। वे ही संघश्री का मद चूर्ण कर जैन धर्म की खूब प्रभावना करेंगे और तुम्हारा रथोत्सव कार्य निर्विघ्न समाप्त करेंगे। उन्हें अपने मनोरथ के पूर्ण करने वाले मूर्तिमान शरीर समझो।'—यह कहकर पद्मावती अपने स्थान पर चली गई। देवी की बात सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। प्रातःकाल होते ही उसने महाभिषेक-पूर्वक पूजा की। तदनन्तर उसने अपने राजकीय प्रतिष्ठित पुरुषों को अकलंक देव को ढूँढ़ने के लिए धारों और दीढ़ाया। उनमें जो पूर्व दिशा की ओर गये वे उन्होंने एक उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे बहुत से शिष्यों के साथ एक महात्मा को बैठे देखा। उनके किसी एक शिष्य से महात्मा का नाम-धाम पूछकर वे अपनी मालकिन के पास आ गए और सब हाल उन्होंने उससे कह सुनाया। यह सुनकर धर्म-वत्सला वह रानी स्नान-पान आदि सब सामग्री लेकर अपने सार्धमियों के साथ बड़े वैभव से महात्मा अकलंक के निकट गई। वहाँ पहुँचकर उसने बड़े प्रेम और भक्ति से उन्हें प्रणाम किया उनके दर्शन से रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ जैसे सूर्य को देखकर कमलिनी की ओर मुनियों का तत्त्व ज्ञान देखकर बुद्धि को आनन्द हुआ करता है। तत्पश्चात् रानी ने धर्म-प्रेम वश होकर अकलंक देव की चंदन, अगर फल, फूल, वस्त्रादि से बड़ी विनय के साथ पूजा की और पुनः प्रणाम कर उनके पास बैठ गई। उसे आशीर्वाद देकर पवित्रात्मा अकलंक बोले—'देवी ! तुम अच्छी तरह तो हो और सब संघ भी अच्छी तरह है ?'

महात्मा के वचन को सुनकर रानी की आँखों में आँसू बह निकले। उसका गला भर आया। वह बड़ी कठिनता से बोली—'प्रभो ! संघ है तो कुशल पर इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है। इसका मुझे बड़ा दुःख है' यह कहकर उसने संघश्री का सब हाल अकलंक देव से निवेदन किया। वह सुनकर पवित्र धर्म का अपमान अकलंक न सह सके। उन्हें क्रोध आ गया। वे बोले—'वह वरक संघश्री मेरे पवित्र धर्म का अपमान करता है पर वह मेरे सामने है कितना, इसकी उसे खबर नहीं है। अच्छा उसके अभिमान को देखूँगा कि वह कितना पांडित्य रखता है। मेरे साथ सास बुद्ध तक तो शास्त्रार्थ करने की हिम्मत नहीं रखता तब वह बेचारा किस गिनती में है।' इस तरह रानी को संतुष्ट करके अकलंक देव ने संघश्री के शास्त्रार्थ के विज्ञापन की स्वीकारता उसके पास भेज दी और आप बड़े उत्सव के साथ जिन मन्दिर में आ पहुँचे। पत्र संघश्री के पास पहुँचा उसे देखकर और लेखन शैली को पढ़कर उसका चित्त शोभित हो उठा। अंत में उसे अपनी वचन पूर्णता करने की शास्त्रार्थ के लिए

तैयार होना ही पड़ा। अकलंक के आने का समाचार महाराज हिमशीतल के पास पहुंचा। उन्होंने उसी समय बड़े आदर के साथ उन्हें राज्यसभा में बुलवाकर संघश्री के साथ उनका शास्त्रार्थ करवाया, संघश्री उनके साथ शास्त्रार्थ करने को तो तैयार हो गया पर जब उसने अकलंक देव के प्रश्नोत्तर करने का पांडित्य देखा और उसने अपनी शक्ति की तुलना की, तब उसे ज्ञात हुआ कि मैं अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने में अशक्त हूँ पर राज्यसभा में ऐसा कहना भी उसने उचित न समझा क्योंकि उससे उसका अपमान होता। तब उसने एक नवीन युक्ति सोचकर राजा से कहा—“महाराज ! यह धार्मिक विषय है इसकी समाप्ति होना कठिन है अतएव मेरी इच्छा है कि यह शास्त्रार्थ सिलसिलेवार तब तक चलना चाहिए जब तक एक पक्ष पूर्ण निरुत्तर न हो जाए” राजा ने अकलंक की अनुमति लेकर संघश्री के कथन को मान लिया।

उस दिन का शास्त्रार्थ बन्द हुआ। राज्यसभा भंग हुई। अपने स्थान पर संघश्री ने जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म के विद्वान रहते थे उनको बुलाने अपने शिष्यों को भेजा और स्वयं रात्रि के समय अपने धर्म की अधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी उपस्थित हुई। संघश्री ने उससे कहा—“देखती हो धर्म पर बड़ा संकट उपस्थित हुआ है। उसे दूरकर आपको धर्म की रक्षा करनी होगी। अकलंक बड़ा विद्वान पंडित है। उसके साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करना असम्भव है इसीलिए मैंने तुम्हें इतना कष्ट दिया है। यह शास्त्रार्थ मेरे द्वारा तुम्हें करना होगा और अकलंक को पराजित कर बौद्ध धर्म की महिमा प्रगट करनी होगी। बोलो क्या कहती हो ?” उत्तर में देवी ने कहा—“हाँ। मैं शास्त्रार्थ करूँगी सही परन्तु खुली सभा में नहीं अपितु परदे के भीतर घड़े में रहकर” “तथास्तु” कहकर संघश्री ने देवी को विसर्जित किया और आप फिर निद्रा देवी की आराधना में जा लगा। प्रातःकाल होने पर शौच, स्नान, देव पूजन आदि नित्य कर्म से निवृत्त होकर संघश्री राज सभा में पहुँचा और राजा से बोला—“महाराज ! हम आज शास्त्रार्थ परदे के भीतर रहकर करेंगे। हम शास्त्रार्थ करते समय किसी का मुख नहीं देखेंगे। आप पूछेंगे क्यों ! उसका उत्तर अभी न देकर शास्त्रार्थ के अन्त में दिया जायगा।” राजा संघश्री के कपट जाल को कुछ न समझ सके (उसने जैसा कहा वैसा उन्होंने स्वीकार कर उसी समय वहाँ एक परदा डलवा दिया। संघश्री ने उसके भीतर जाकर बुद्ध भगवान की पूजा की और देवी की पूजा कर उसका एक घड़े में आह्वान किया। धूर्त लोग बहुत कुछ छल-कपट करते हैं पर अन्त में उसका फल अच्छा न होकर बुरा ही होता है। तदनन्तर घड़े की देवी अपने में जितनी शक्ति थी उसे प्रगट कर अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने लगी। इधर अकलंक देव भी देवी के प्रतिपादन किये हुए विषय का अपनी भारती द्वारा दिव्य खण्डन और अपने पक्ष का समर्थन तथा विपक्ष का खण्डन करने वाले परम पवित्र अनेकान्त स्याद्वाद मत का समर्थन बड़े ही पांडित्य के साथ निडर होकर करने लगे। इस प्रकार शास्त्रार्थ होते होते छः महीने बीत गए पर किसी की विजय न होने पाई।

यह देखकर अकलंक देव को बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा कि संघश्री साधारण पढ़ा लिखा और जो पहले ही दिन मेरे सम्मुख थोड़ी देर भी न ठहर सका था वह आज बराबर छः महीने से शास्त्रार्थ करता चला आ रहा है। इसका क्या कारण है वह नहीं जान पड़ता। उन्हें इसकी चिन्ता हुई पर वे कर ही क्या सकते थे ? एक दिन वे इसी चिन्ता में डूबे हुए थे कि इतने में जिन शासन की अधिष्ठात्री चक्रेश्वरी देवी आ गई और अकलंक देव से बोली—“प्रभो ! आपके साथ शास्त्रार्थ करने को मनुष्य मात्र में शक्ति नहीं है और बेचारा संघश्री भी तो मनुष्य है तब उसकी क्या मजाल जो आपसे शास्त्रार्थ कर सके। पर यहाँ तो बात कुछ और ही है। आपके साथ जो शास्त्रार्थ करता है वह संघश्री

नहीं है। किन्तु बुद्ध धर्म को अधिष्ठात्री देवी तारा है। इतने दिनों से वही शास्त्रार्थ कर रही है। संघश्री ने उसकी आराधना कर उसे यहाँ बुलाया है। अतएव कल जब शास्त्रार्थ होने लगे और देवी उस समय जो कुछ प्रतिपादन करे तब आप उससे उसी विषय का फिर से प्रतिपादन करने के लिए कहिये। वह उसे फिर न कह सकेगी तब उसे अवश्य ही नीचा देखना पड़ेगा"—यह कहकर देवी अपने स्थान पर चली गई। अकलंक देव की चिंता दूर हुई। वे बड़े प्रसन्न हुए। प्रातःकाल हुआ। अकलंक देव अपने नित्य काम से मुक्त होकर जिन मन्दिर में गए। पूर्ण भक्ति भाव से उन्होंने भगवान की स्तुति की। तत्पश्चात् वे वहाँ से सीधे राज सभा में आए उन्होंने महाराज शुभ तृण को सम्बोधन करके कहा—“राजन् इतने दिनों तक मैंने शास्त्रार्थ किया।

उत्तम यह प्रयोग नहीं था कि मैं संघश्री को पराजित नहीं कर सका परन्तु ऐसा करने से मेरा अभिप्राय जिनधर्म के बतलाने का था। वह मैंने बतलाया पर मैं अब इस संवाद का अन्त करना चाहता हूँ। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि मैं आज इस संवाद की समाप्ति करके ही भोजन करूँगा”—ऐसा कहकर उन्होंने परदे की ओर देखकर कहा—“क्या जैन धर्म के सम्बन्ध में कुछ और कहना बाकी है या मैं शास्त्रार्थ समाप्त करूँ?” यह कहकर जैसे ही वे चुप हुए कि परदे की ओर स फिर वक्तव्य आरम्भ हुआ। देवी अपना पक्ष समर्थन कर जैसे ही चुप हुई अकलंक देव ने उसी समय कहा—“जो विषय अभी कहा गया है उसे फिर कहो वह मुझे ठीक नहीं सुनाई पड़ा।” आज अकलंक देव का नया ही प्रश्न सुनकर देवी का साहस एक साथ ही न जाने कहाँ चला गया। देवता जो कुछ कहते हैं वह एक ही बार कहते हैं। उसी बात को वह पुनः नहीं कहते। तारा देवी का भी यही हाल हुआ। वह अकलंक देव के प्रश्न का उत्तर न दे सकी अतः उसे अपमानित होकर भाग जाना पड़ा जैसे सूर्योदय स रात्रि भाग जाती है। तत्पश्चात् अकलंक देव उठे और परदे को फाड़कर उसके भीतर घुस गये वहाँ जिस वृक्ष में देवी का आश्रय किया गया था वह उन्होंने पांव की ठोकर से फोड़ डाला। संघश्री सरोक्ष जिनशासन के शत्रुओं मिथ्यात्वियों का अभिमान चूर्ण किया। अकलंक के इस विजय और जिन धर्म की प्रभावना ने मदनसुन्दरी और सर्वसाधारण को बड़ा आनन्द हुआ। अकलंक ने सब लोगों के सामने जोर देकर कहा—“सज्जनों! मैंने इस धर्मशून्य संघश्री को तो पहले ही दिन पराजित कर दिया था किन्तु इतने दिन जो मैंने देवी के साथ शास्त्रार्थ किया वह केवल जिनधर्म का महात्म्य प्रगट करने के लिए और सम्यग्ज्ञान का लोगों के हृदय पर प्रकाश डालने के लिए था”—यह कह कर अकलंक देव ने इस श्लोक को पढ़ा—

माहंकार वशीकृते न मनसा, न द्वेषिणा केवलं ।

नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यतिजने, कारुण्यं बुद्धयामया ॥

राज्ञः श्री हिमशीतलस्य, सदस्य प्रायोविदग्धात्मनो ।

बौद्धोद्धान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेनविस्फालितः ॥

महाराज हिमशीतल की सभा में मैंने सब बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत को ठुकराया। यह न तो अभिमान के वश होकर किया गया और न किसी प्रकार के द्वेष भाव से, किन्तु नास्तिक बनकर तष्ट होते हुए जनों पर मुझे बड़ी दया आ गई इसीलिए उनकी दया से बाध्य होकर मुझे ऐसा करना पड़ा। उस दिन से बौद्धों का राजा और प्रजा के द्वारा चारों ओर अपमान होने लगा, किसी की बौद्ध धर्म पर श्रद्धा नहीं रही, सब उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है कि बौद्ध लोग यहाँ से भाग कर विदेशों में जा बसे। महाराज हिमशीतल और प्रजा के लोग जिनशासन की प्रभावना देखकर

बड़े खुश हुए। सबने मिथ्यात्व मत छोड़कर जिन धर्म स्वीकार किया और अकलंक देव का सोने, रत्न आदि अलंकारों से खूब आदर सत्कार किया, खूब उनकी प्रशंसा की। सच बात है—'जिन भगवान के पवित्र सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से कौन सत्कार का पात्र नहीं होता। अकलंक देव के प्रभाव से जिन घासन का उपद्रव टला देखकर महारानी मदन सुन्दरी ने पहले से कई गुणे उत्साह के साथ रथ निकलवाया। रथ बड़ी सुन्दरता के साथ सजाया गया था उसकी शोभा देखते ही बन पड़ती थी वह वेशकीमती वस्त्रों से सुशोभित था। छोटी-छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लगी हुई थी। उसकी मधुर आवाज एक बड़े घंटे की आवाज से मिलकर जो कि उन घंटियों के बीच में था बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी। उस पर रत्नों और मोतियों की मालायें अपूर्व शोभा दे रही थीं। उसके ठीक बीच में रत्नमयी सिंहासन पर जिन भगवान की बहुत सुन्दर प्रतिमा शोभित थी। वह मौलिक, छत्र, चमर भामंडल आदि से अलंकृत थी। रथ चलता जाता था और उसके आगे आगे भव्य पुरुष बड़ी शक्ति के साथ जिन भगवान की जय बोलते हुए और भगवान के अनेक प्रकार के पुष्पों की जिनकी सुगन्ध से सब दिशाएँ सुगन्धित होती थीं, वर्षा करते चले जाते थे। चारण लोग भगवान की स्तुति पढ़ते जाते थे। वस्त्र, आभूषणों से सुसज्जित कुल कामिनियाँ सुन्दर-सुन्दर मधुर स्वर से गीत गाती चली जाती थीं। नर्तकियाँ नृत्य करती जाती थीं। अनेक प्रकार के बाजों का सुन्दर शब्द दर्शकों के मन को अपनी ओर आकर्षित करता था। इन सब शोभाओं से रथ ऐसा जान पड़ता था मानों पुण्यरूपी रत्नों को उत्पन्न करने को चलने वाला वह एक दूसरा रोहण पर्वत उत्पन्न हुआ है।

उस समय जो याचकों को दान दिया जाता था, वस्त्राभूषण वितीर्ण किये जाते थे उससे रथ की शोभा एक चलते हुए कल्पवृक्ष की सी जान पड़ती थी। हम रथ की शोभा का कहाँ तक वर्णन करें? आप इसी से अनुमान कर लीजिये कि जिसकी शोभा को देखकर ही बहुत से अन्य धर्मी लोगों ने जब सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया तब उसकी सुन्दरता का क्या ठिकाना है? इत्यादि दर्शनीय वस्तुओं से सजाकर रथ निकाला गया उसे देखकर यही जान पड़ता था मानों महादेवी मदन सुन्दरी की यशोराशि ही चल रही है। वह रथ भव्य पुरुषों के लिए सुख देने वाला था। उस सुन्दर रथ की हम प्रतिदिन भावना करते हैं। उसका ध्यान करते हैं। वह हमें सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी प्रदान करें। जिस प्रकार अकलंक देव ने सम्यग्ज्ञान की प्रभावना की। उसका महत्त्व सर्व साधारण लोगों के हृदय पर अंकित कर दिया उसी प्रकार और-और भव्य पुरुषों को भी उचित है कि वे भी अपने में जिस तरह बन पड़े जिन धर्म की प्रभावना करें। जैन धर्म के प्रति उनका जो कर्तव्य है उसे वे पूरा करें।

इति ज्ञानोद्योतक श्रीमद अकलंकदेवाख्यानं समाप्तम् ।

अथ श्री कुंदकुंदाचार्यं मुनिराख्यान प्रारम्भः—

जम्बूद्वीप के भारत क्षेत्र में मालव देश के अन्तर्गत बूंदीकोटे के निकटवर्ती वाशुपुर नामक एक नगर था। जिस समय का यह आख्यान है उस समय उसके राजा कुमुदचन्द्र थे। कुमुदचन्द्र धर्मज्ञ, नीति परायण, और प्रजा हितैषी थे। उनकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। वह भी बड़े सरल स्वभाव की और सुशीला थी। यहाँ पर विशेष करके श्रीमान धनाढ्य व्यापारीगण निवास करते थे जिनमें एक कुंद नाम के श्रेष्ठी अति धनाढ्य, धर्मात्मा और धर्म प्रेमी थे। इनके कुंदलता नाम की सहचारिणी स्त्री थी। दोनों की ही जैन धर्म पर अखंड प्रीति थी। हमारे चरित्र नामक की कुंद-कुंद उन्हीं के पुण्य के फल थे। उनका जन्म वीर सम्वत् ४६७ विक्रमी सम्वत् ५ में हुआ था। उनके जन्म के उपलक्ष्य में कुंद श्रेष्ठी ने बहुत उत्सव किया, दान दिया। श्री शांतिनाथ स्वामी के मन्दिर में पूजन विधान कराया। यशोध्वजा

फहरायी। मन्दिर के शिखर पर सुवर्णमय कलश चढ़ाये और भी अनेक प्रकार की पूजा प्रभावना की। माता-पिता के नाम की सादृश्यता देखकर बंधु बांधवों ने इनका नाम कुंद कुंद रख दिया। अपनी वय समान श्रेष्ठी कुमारों के साथ धाल क्रीड़ा करते शुक्ल द्वितीय चन्द्रमा की तरह वे दिनोदिन बढ़ने लगे। जब ये पाँच वर्ष के हुए तब इनके पिता को इन्हें धार्मिक विद्या के अध्ययन कराने की रूचि उत्पन्न हुई क्योंकि उस समय विशेष करके आध्यात्मिक विद्या ही सर्वमान्य और उन्नति के शिखर पर थी दूसरे कुन्द श्रेष्ठी स्वतः प्रचुर धनी और प्रतिष्ठित व्यापारी थे इस कारण विशेष आर्थिक इच्छा न होने से व्यापारिक व क्षत्रिय (राजकीय) विद्या पठन कराना इष्ट न जान कर तत्सामयिक आध्यात्मिक विद्या का प्रतिशेष प्रचार होने से ब्रह्म विद्या का ही पठन कराना रुचि कर हुआ। एक दिन कुन्दकुन्द कुमार अपने सखाओं सहित विनोद क्रीड़ा करते तथा प्रकृति की सुन्दरता को देखते हुए निज नगर के वन में गये। वहाँ एक नग्न दिगम्बर शांत और क्षमावान् मुनि दृष्टिगोचर हुए। वे साधारण नियम है कि जहाँ कोई आचार्य मुनि अथवा साधु आये हों, वहाँ उनकी वन्दना के लिए आये हुए श्रावक जन भक्ति सहित नमस्कार कर उनकी पूजा करें। इस नियमान्वित वहाँ बहुत से श्रावक बैठे हुए थे। कितने ही पूजन कर रहे थे।

इस प्रकार परम शान्त मूर्ति मुनिराज को अवलोकन कर उनके मित्र वरों के हृदय कमल भुकुलित हो गए परन्तु इस समय कुंदकुंद कुमार के मन की और ही अवस्था हुई। मुनिराज को देखते ही उनके मन में स्फुरण हुआ कि धन्य है आपको परम शान्त चित्त मुनिराज ! जिस मनुष्य को जगत में आप जैसे पूज्य होने की इच्छा हो तो उसे निश्चय करके आपके शांत गम्भीर उदार एवं सर्वहितकारी सगुणों का अनुकरण करना चाहिए। संसार में उस समय निजात्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में सृष्टि पहुँचाने वाले व्यक्ति तो बहुत थे परन्तु स्वात्म कल्याण साधते हुए पर हित करने वाले आप जैसे व्यक्ति नियम करके विरले ही हैं अतः आपको इस जगत में धन्यवाद है। ऐसा विचार कर वह कुंद-कुंद कुमार अन्य सखाओं के साथ घर न जाकर कितने ही मित्रों सहित जो कि उनकी घर चलने की प्रतीक्षा करते हुए मार्ग में खड़े हुए थे उनको साथ लेकर मुनिराज के निकट गये वहाँ मुनिराज का तप ध्यान तथा भाव से बना हुआ शांत और गम्भीर रूप अवलोकन करने तथा मुनिराज के मुख द्वारा प्रादुर्भूत धर्मोपदेश श्रवण से कुंद-कुंद कुमार का चित्त विरक्त हो गया। उनके चित्तरूपी सरोवर में धर्मोपदेशक रूपी वायु से विविक्त कल्पना रूप अनेक प्रकार की तरंगे उठने लगीं। वे विचारने लगे कि ये सब संसार बदली गर्भवत असार है ये जीव अनादि बद्ध जड़ कर्म के बशीभूत हो माता-पिता, पुत्र, भाई, बन्धु, धन, धान्य, धरती आदि जितने भी पदार्थ दृष्टि गोचर होते हैं उनमें से स्वेच्छानुकूल परिणमते पदार्थों में राग और प्रतिकूल परिणमते पदार्थों में द्वेष कर इन्हीं के बश हो नाना प्रकार की शुभाशुभ क्रियाएँ करते हुए उन क्रियाओं के परिपाक से जन्म मरण की परिपाटी में पड़ निज स्वरूप का बिल्कुल विस्मरण कर देते हैं अर्थात् इसे अपने स्वरूप का ध्यान कभी स्वप्न में भी नहीं आता है। निजात्म स्वरूप को प्राप्ति के साधन प्रथम तो निगोदादिक विकल चतुष्क मनोज्ञान शून्य प्राणियों को तो प्राप्त ही नहीं होते। रहे जो अवशेष संज्ञी पंचेन्द्रिय, मनुष्य, नारकी और उनमें भी निजात्म स्वरूप के साधन पूर्णतया प्राप्त नहीं होते। एक मनुष्य भव ही संसार समुद्र का किनारा है जिसे पाकर यदि हम प्रयत्नशील होकर अथाह भव सागर से पार होना चाहें तो अल्प परिश्रम से अपना अभीष्ट निर्वाण पद प्राप्त करते हैं।

इस तरह जन्म का पाना संसार में बहुत दुर्लभ है और जिसमें भी सद्धर्म प्राप्ति दुर्लभ है अतः

एक काकताली न्यायवत मिले हुए नर जन्म को पाकर विषयों के सेवन में ही बिताया तो फिर अनन्त काल में भी इसका पाना दुर्लभ है जैसे समुद्र में गिरी हुई राई का दाना फिर हाथ लगना कठिन है और यह दुर्लभ सम्मार्ग का साधन सिवाय मनुष्य जन्म के अन्य देव, नर्क, पशु आदि गतियों से मिल नहीं सकता अतएव यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर पछतावा रह जायगा। जैसे कोई अज्ञानी चिन्तामणि को पाकर उसे काग उड़ाने के लिए फेंककर पछताता है इसलिए अपूर्व लब्ध मनुष्य जन्म को पाकर परमात्मा स्वरूप में तल्लीन हो रत्नत्रय का आराधन कर इस शरीर से आत्म कल्याण किया जाय तब ही मनुष्य जन्म का पाना सफल है। ये उन मनुष्यों का वक्तव्य बहुत ठीक है। स्वतः इस विचार पर प्रमाण आचरण करने पर तो माता-पिता को बहुत दुख होगा परन्तु साथ में यह विचार हुआ कि माता पिता, भाई, बन्धु आदि कौन किसका है जिनका जितना सम्बन्ध है सो सब शरीर के साथ में है आत्मा के साथ नहीं। जो इस भाव से माता, पिता, भ्राता होते हैं वे ही भवान्तर में पुत्र हो जाते हैं। जब तक उस शरीर में आत्मा का अस्तित्व है तब तक इससे सब प्रेम पूर्वक वार्त्तालाप करते हैं। जहाँ इस आत्मा का शरीर में वियोग हुआ वहाँ उसी समय ही उससे सम्बन्ध एवं सगापन छूट जाता है। जिस सुकोमल शरीर की वस्त्र भूषणों से सुसज्जित सुन्दर-सुन्दर व उत्तम-उत्तम स्वादिष्ट पदार्थों से पोषण किया जाता है उस शरीर का भी अन्त में नाश हो जाता है।

अतएव यह सर्व संसार असार है इसलिए विषमिश्रित मिष्टानवत इन्द्रिय जनित सुखों को परित्याग कर क्रोध, मान, माया, लोभ रूप निजात्मीक सम्पदा के लूटने वाले संस्कारों को जीतना चाहिए। इसके अतिरिक्त आत्मोन्नति का और कोई दूसरा उत्तम उपाय नहीं। अस्तु जो हुआ सो हुआ अब भी मुझ अपने कर्त्तव्य के लिए बहुत समय है। अब मैं इन सज्जन परोपकारी मुनिराजों की सत्संगति को कदापि न छोड़ूंगा। इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके कुन्दकुन्द कुमार मुनिराज के पास गये। ये मुनिराज अपनी ५६ वर्ष की अवस्था में अपने गुरु भाषनन्दि द्वारा विक्रम संवत् ४० में पट्टाधिकार पाने वाले जिन चन्द्र मुनि थे। कुन्दकुन्द कुमार उनको श्रद्धापूर्वक नमस्कार कर उनके निकट जा बैठे और अवसर पाकर उनसे विनीत भाव से ज्ञानामृत पान करने की जिज्ञासा प्रगट की। इस समय कुन्दकुन्द कुमार की आयु ग्यारह वर्ष की थी। जिन चन्द्र स्वामी ने इनको विनीत और मुमुक्षु जान धर्मोपदेश देना और जिन सिद्धान्त अध्ययन कराना आरम्भ कर दिया। अन्त में कुन्दकुन्द कुमार ने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया और उनके संघ के साथ साथ ज्ञानामृत पान करते विहार करने लगे। जब इनके माता पिता को जिनचन्द्र मुनिवर के निकट शिष्यत्व स्वीकार करने का वृत्तान्त विदित हुआ तब एक बात तो उन्हें अपने प्रिय पुत्र का वियोग दुःखकर हुआ परन्तु साथ ही उन्हें एक दृष्टि से हर्ष भी हुआ कि पुत्र सुपथ (आत्म कल्याण) मार्गी ही हुआ है, कुपथ मार्गी नहीं। इस प्रकार विचार दृष्टि द्वारा अपने मन का स्वतः समाधान कर लिया। कुन्दकुन्द कुमार ने थोड़े ही समय द्वारा सिद्धान्त शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया और बहुत ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। गुरु इनकी बुद्धि, विद्वता, तर्क शक्ति और सर्वोपरि इनकी स्वाभाविक प्रतिभा देखकर बहुत ही संतुष्ट हुए। दूसरे ये सांसारिक विषय भोगों से पूर्ण विरक्त थे इसी कारण ये जिनचन्द्राचार्य के शिष्यों में पट्टशिष्य हुए। इनको आचार्य महाराज ने पट्टशिष्याधिकार पूर्ण शास्त्रज्ञ होने से नहीं किन्तु इनकी सांसारिक विषय सुखों से पूर्ण विरक्ति देखकर दिया था।

कुन्दकुन्द कुमार ने अपनी तेतीस वर्ष की आयु में गुरु जिनचन्द्राचार्य के पास बाह्याभ्यन्तर परिसह का त्याग कर जिसेन्दी दीक्षा ग्रहण कर ली। जिनचन्द्राचार्य स्वतः अवधिशानी थे। अपना अन्त

काल निकट आया जानकर निजपट्ट शिष्य कुन्दकुन्द मुनि को पट्टाभिषेक पूर्वक पौष वदी अष्टमी वीर निर्वाण सम्बत् ५३६ को पट्ट परस्थापन कर आप ध्यानस्थ (समाधिस्थ) हो गये। इनका पट्ट उज्जनी में था। कुन्दकुन्द मुनिराज पट्टाधीश होने के उपरान्त पट्टाचार्य कहलाए इनके बहुत शिष्य थे। उनमें से मुख्य शिष्य स्याग उमास्थानी को दिया हुआ था। कुन्द-कुन्दाचार्य के अनन्तर ये ही पट्टाधीश हुए थे। जिनचन्द्राचार्य के स्वर्गवास होने के पश्चात् कुन्द-कुन्दाचार्य ने उत्तम प्रकार से अपने पद का कर्तव्य पालन किया। धर्मोपदेश और जिनधर्म के प्रचार के लिए अपने शिष्यों को चारों दिशाओं में भेजा जिन्होंने जिनधर्म का पुष्कल प्रसार किया और आप स्वतन्त्र आत्म कल्याण के लिये दुद्धर तपस्वरण करने लगे। आत्मोन्नति के सोपान पर चढ़ते हुए उन्होंने अपनी अनेक कल्पित शंकाओं का समाधान स्वतः आत्म निश्चय से किया। उस समय उन्हें शंकाओं के समाधान के लिए विशेष श्रम उठाना पड़ा क्योंकि उस समय अंगपूर्व के ज्ञाता मुनियों का तो बिल्कुल अभाव था और तत्समय न अवधिज्ञानी मुनियों का ही संघ था अतएव अवशेष हृदयगत शंकाओं के निवारण करने के लिए उन्हें कोई साधन न पाकर बड़ा कष्ट हुआ पर साथ ही उन्हें एक युक्ति सूझी कि विदेह क्षेत्र में श्री मन्दिर स्वामी शाश्वत केवली है, उनके निकट जाकर अपनी स्वतन्त्र शंकाओं का निवारण करूँ परन्तु साथ ही यह चिन्ता हुई कि उस क्षेत्र में अपना गमन कैसे हो। किसी विद्याधर के विमान की सहायता बिना वहाँ पहुँचना कठिन व असम्भव था—ऐसा विचार कर वहाँ जाने में निरुपाय हो गुरु के द्वारा कही क्रियाओं के अनुसार पंचमहाव्रतादि का उत्तम रीति से पालन करने लगे। उसके बाद कुछ दिनों के अन्तर श्री कुन्द-कुन्दाचार्य अकेले विहार करते-करते वारापुरी के बहिरुद्यान में आकर ठहरे और वहाँ दृढ़ चित्त से पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार के ध्यान करने लगे। ध्यानस्थ समय उन्होंने अपने मन में श्री सीमंधर स्वामी का समवशरण रचकर त्रिकरण धृष्टि से उनको नमस्कार किया। उसके साथ ही पूर्ण ध्यान की प्राबल्यता से ये चमत्कार हुआ कि विदेह क्षेत्रागत स्थित श्री सीमंधर स्वामी ने कुन्द-कुन्दाचार्य को वहाँ से समवशरण में संभार नाद से दिव्य ध्वनि द्वारा 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' ऐसा आशीर्वाद दिया।

उस समय समवशरण में विदेह क्षेत्र के चक्रवर्ती पद्मरथ बैठे हुए थे। उन्होंने एकाएक भगवान के द्वारा आशीर्वाद दिया हुआ देखकर विस्मित होकर भगवान से सविनय पूछा—“भो भगवान ! यहाँ कोई इस समय नवीन मनुष्य आया नहीं, फिर आपने किसके वास्ते आशीर्वाद दिया ?” तब भगवान ने अपनी दिव्य ध्वनि से उत्तर दिया—“हे राजन ! इस द्वीप के दक्षिण में भरत क्षेत्र है, वहाँ इस समय विकराल पंचम काल प्रवर्तमान है। उस क्षेत्र की वारापुरी नगरी के बहिरुद्यान में स्थित श्री कुन्दकुन्द कुमार मुनिराज ने ध्यानस्थ हो मुझे नमस्कार किया था। वहाँ कलिकाल (पंचमकाल) प्रवर्तमान होने से अधर्मी, पाखंडी, व्यसनी, हिंसक आदि दुष्ट मनोवृत्ति वाले व्यक्ति तो बहुत हैं, संयमी जिन धर्मायी मुनि बहुत बिरले हैं, कुलिंगी बहुत हैं। धर्म का दिनों दिन हास होता चला जाता है। अंग पूर्व के पाठी व अवधि ज्ञानियों का अभाव है अतएव कुन्दकुन्द मुनिराज ने जब अपनी बहुत सी शंकाओं का समाधान कठिन जाना तब उन्हें एक युक्ति सूझी कि विदेह क्षेत्र में शाश्वत केवली है, वहाँ जाकर अपनी शंकाओं का समाधान किया जाए परन्तु विमानादिक की सहायता बिना यहाँ जाने में अशक्त हो वहीं ध्यान द्वारा स्मरण कर मुझे नमस्कार किया, उससे मैंने उन्हें आशीर्वाद दिया था।”

जिस समय कुन्द-कुन्दाचार्य का उपरोक्त वृत्तान्त श्री मन्दिर मुनि पद्मरथ चक्रवर्ति से कह रहे थे उस समय वहाँ पर श्री कुन्दकुन्द मुनि के पूर्वभव के युगल भ्राता जो कि परम प्रकर्ष पुण्योदय से आयु

के अन्तमरण कर उस क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे उपस्थित थे। दोनों भ्राता अपने पूर्व भव के सहोदर कुन्द-कुन्द मुनिराज का उक्त वृत्तान्त सुनकर उसी समय वहीं से उठकर विमानारूढ़ हो भरत क्षेत्र में वारा पुर के वहिर्द्वान में आये जहाँ पर कुन्द-कुन्दाचार्य तप कर रहे थे। उन्होंने मुनि को देखते ही सभक्ति साष्टांग नमस्कार किया। वे उस समय ध्यानारूढ़ थे दूसरे रात्रि का समय था, इस कारण मुनिराज शांत रहे बोले नहीं। उस समय कुन्दकुन्द मुनिराज के निकट एक गृहस्थ स्थित था। उससे उन्होंने कहा—“हम इन मुनिराज के पूर्व भव के बन्धु हैं अतः भ्रातृ प्रेम वश इनसे मिलने और उन्हें विदेह क्षेत्र में ले जाने के लिए आये हैं पर मुनिराज ध्यानस्थ हैं इसलिए हम जा रहे हैं” इतना कह वे पुनः विमानारूढ़ हो विदेह क्षेत्र में चले गये। प्रातः काल होते पर जब ये वृत्तान्त कुन्दकुन्द मुनिराज को विदित हुआ तब उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक श्री सीमंघर स्वामी का साक्षात् दर्शन न होगा तब तक आहार का त्याग है—ऐसा दृढ़ नियम करके पुनः पूर्ववत् ध्यानारूढ़ हो गये। फिर विदेह क्षेत्र के मध्य समवशरण में श्री सीमंघर स्वामी ने उनके प्रति ‘सद्धर्मवृद्धिरस्तु’ ऐसा आशीर्वाद दिया। तब फिर पञ्चरथ चक्रवर्ती ने आशीर्वाद प्रदान करने का कारण पूछा तो श्री सीमंघर स्वामी ने अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा कहा—“मैंने जो पूर्व कुन्दकुन्द मुनिराज का वर्णन तुमसे कहा था उसे कुन्दकुन्द के पूर्व भव के भ्राता भी बैठे हुए सुन रहे थे। वे तत्काल ही विमानारूढ़ हो उन्हें लेने के लिए भरत क्षेत्र में गये। उस समय वे ध्यानस्थ थे दूसरे रात्रि का समय था अतएव वे मौनानीन रहे। तब वे उन्हें मौन देखकर वहीं स्थित एक गृहस्थ से अपने आगमन का वृत्तान्त कहकर पीछे लौट आये।

जब ये वृत्तान्त प्रातःकाल कुन्दकुन्द मुनिराज को विदित हुआ तब उन्हें सुनकर परम आनन्द हुआ और जब तक उन्हें हमारा दर्शन न हो तब तक भोजन का त्याग है ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा कर पुनः पूर्ववत् ध्यानारूढ़ हो मुझे नमस्कार किया है इससे मैंने उन्हीं को आशीर्वाद दिया—ये वृत्तान्त सुनकर वहीं स्थित कुन्दकुन्द मुनिराज के दोनों भाई तत्काल पुनः विमानारूढ़ हुए और जहाँ कुन्दकुन्द मुनि तप कर रहे थे वहाँ आकर उनको साष्टांग नमस्कार किया। उसके बाद विदेह क्षेत्र में चलने की प्रार्थना की। यह सुनकर मुनिराज को विशेष आनन्द हुआ और विमानारूढ़ हो विदेह क्षेत्र की ओर प्रयाण किया। कुन्दकुन्द मुनिराज ने प्रयाण करते समय शीघ्र का उपकरण कमण्डल और दया का उपकरण मयूर पिच्छ को भी साथ ले लिए थे। शीघ्रगति से मयूर पिच्छ मार्ग में किसी स्थान पर गिर पड़ी। जब उन्हें मालूम हुआ तब विमान को रोककर यत्र-तत्र बहुत कुछ अन्वेषण किया पर कहीं पता न लगा। तब पिच्छ के बिना तो अनुचित क्रिया जानी जाती इस कारण वे मानसरोवर पर गये। वहाँ गिद्धपक्षी की पड़ी हुई कोमल-कोमल पंखों की एक पिच्छ बनाई और तदनंतर विदेह क्षेत्र की ओर प्रयाण किया। मार्ग में हरि क्षेत्र, नाभिगिरी, मेरु आदि पर्वतों को उलांघते हुए विदेह क्षेत्र में जाकर अयोध्यापुरी नगरी के उद्यान में श्री सीमंघर स्वामी के समवशरण के निकट जा उतरे। उस नगरी के अवलोकन करने के पश्चात् कुन्दकुन्द मुनिराज से उन देवों ने कहा—“इस स्थान पर से देव चौथा काल प्रवर्तता रहता है। यहाँ पर कोई प्राणी दुःख का नाम भी अनुभव नहीं करते किन्तु सब सुख रूप रहते हैं। ये अचल क्षेत्र है”—इस प्रकार वहाँ का संक्षिप्त माहात्म्य वर्णन कर मुनिराज सहित समवशरण के पास गये। कुन्द-कुन्द मुनिराज ईर्यापथ शोधते समवशरण की ओर दृष्टि करते चले तब उन देवों को एक बड़ी भारी चिंता हुई—‘इस जगह सर्व मनुष्य पाँच सौ धनुष ऊँची काय वाले हैं और इनका शरीर चार हाथ का है इससे इनकी कहाँ स्थिति करें? यदि इन्हें कहीं बैठा ही दिया तो फिर इन पाँच सौ धनुष

कायवाले मनुष्यों में इनका पता लगना कठिन है—ऐसा विचार करते हुए उन्हें एक युक्ति सूझी और उस में वे कृतकृत्य भी हुए, उन्होंने एकदम कुन्दकुन्द मुनिराज को ले जाकर श्री सीमन्धर स्वामी के निकट मुख्यपीठ पर जा स्थित किया।

पश्चात् कुन्द-कुन्द मुनिराज श्री सीमन्धर स्वामी को नमस्कार कर तीन प्रदक्षिणा करके उबक अग्रभाग में बैठ गये। कुछ समय में अनन्तर विदेह के सार्वभौम राजा पद्मरथ वहाँ आए और श्री सीमन्धर स्वामी को नमस्कार कर वहाँ महापीठ पर बैठे वामन मूर्ति मुनिराज को अवलोकन कर उन्हें कोमल कर कमलों द्वारा धीरे से उठकर हथेली पर बैठाकर श्री सीमन्धर स्वामी से सविनय बोले—“भगवान् ! ये अपूर्व दृष्टि वामन मूर्ति कौन है, यह आप कृपाकर कहिए।” तब शाश्वत तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामी ने अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा उत्तर दिया—“जिन मुनि के विषय में मैंने तुमसे कुछ वृत्तान्त कहा था तथा जिसको “सद्धर्मवृद्धिरस्तु” ऐसा आशीर्वाद दिया था ये वो ही भरत क्षेत्र के वर्तमानकाल के धर्माध्यक्ष कुन्दकुन्द मुनि राज है। इन्हें उनके पूर्व भव के भ्राता दो देवों ने यहाँ लाकर बैठाया है।” पश्चात् कुन्दकुन्द मुनिराज स्वतः उठे और जो-जो हृदयगत शंकायें थीं उन सबको कह सुनाया। तीर्थंकर भगवान् ने उन सब शंकाओं का ठीक-ठीक समाधान कर दिया। सुनकर उनका सब सन्देह दूर हो गया। कुन्दकुन्द मुनिराज से आहार लेने के लिए निवेदन किया। सुनकर मुनिराज ने उत्तर में कहा—“राजन् ! हमारा क्षेत्र पृथक् है तब हम पर क्षेत्र में आहार किस प्रकार ले सकते हैं ? ये मुनिक्रिया के अनुचित है।”

ये उत्तर सुनकर महाराज पद्मरथ ने उनकी स्तुति करते हुए कहा—“खड्गधारा की अपेक्षा मुनि क्रिया तीक्ष्ण है और उसे आप हार्दिक दृढ़ता से पालन करते हैं अतएव आप कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं।” वहाँ पर कुन्दकुन्द मुनिराज ने चार युग और चार अनुयोगों का सर्व वृत्तान्त जाना। उसके बाद सर्व शंका रहित हो विशेष ज्ञान प्राप्त कर कुन्दकुन्द मुनि पूर्ववत् श्री सीमन्धर स्वामी को नमस्कार कर सबसे सहमत हो भरत क्षेत्र में आने के लिए उन दोनों देवों के साथ विमानारूढ़ हुए। गमन करते समय उन मुनि ने उन्हें एक धर्म सिद्धान्त पुस्तक दी। उसे लेकर कुन्दकुन्द मुनि और वे दोनों देव विमानारूढ़ हो भरत क्षेत्र की ओर आने लगे। आते हुये मार्ग में मेरु पर्वत पर उतरे। वहाँ अकृत्रिम चैत्यालय जिन भगवान् के दर्शन कर पश्चात् विजयार्थ पर्वत पर दर्शनार्थ गये। वहाँ दर्शन कर कैलाश गिरि सम्मेद शिखर आदि तीर्थ क्षेत्रों के दर्शन करते चले आते थे कि कहीं मार्ग में मुनि द्वारा प्राप्त वह धर्म सिद्धान्त पुस्तक गिर पड़ी। मालूम होने पर बहुत कुछ अन्वेषण किया पर कहीं पता नहीं लगा। अस्तु वे दोनों देव और मुनि तीनों तत्काल विमानारूढ़ हो भरत क्षेत्र में आये और वारापुरी के बाह्योद्यान में कुन्दकुन्द मुनिराज को ला विराजमान किया और वहाँ पर उन देवों ने कुन्दकुन्द मुनिराज के ऊपर पुष्प वर्षा करके उनकी पूजा की। पश्चात् मार्ग प्रदाण किया।

विदेह क्षेत्र में जाते हुए मयूर निच्छिका खो जाने पर गृध्र पक्षी के पंखों की पिच्छ बनाने से गृध्रपिच्छाचार्य और विदेह में जाने से ये एलाचार्य कहलाये। विदेह क्षेत्र में से श्री कुन्द-कुन्द स्वामी के अनन्तर उनके दर्शनार्थ वारापुरी के राजा कुमुचन्द्र उनके माता-पिता, कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठी और बहुत से श्रावक-श्राविका आदि हजारों मनुष्य आये। पूछने पर उन्होंने विदेह गमन का वृत्तान्त सुनकर पश्चात् धर्मोपदेश दिया जिसे सुनकर सब सन्तुष्ट हुए। तत्पश्चात् उन्होंने नगर के बाह्य प्रदेश में रहकर जैन धर्म और मुनि धर्म का विस्तृत स्वरूप, श्रावक तथा अन्य सर्वसाधारण को समझाया। कितने की

श्रीमान्, और कितने ही सर्वसाधारण मनुष्यों ने इस संसार को असार जानकर मोह जाल तोड़ इनके निकट दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। उन सबकी संख्या सात सौ थी ये सब कुन्द कुन्दाचार्य के शिष्य कहलाये। बहुत-सी स्त्रियों ने आश्रिकाओं के व्रतों की दीक्षा ली। कितनों ने अणुव्रत ग्रहण किये। इस प्रकार से जिन धर्मोपदेश द्वारा उस नगरी में उन्होंने उत्तम प्रकार से धर्म प्रभावना प्रगट की। नित्य अनशन युक्त तप करके धारणा करने लगे जिससे चारों दिशाओं में प्रख्यात हो गये।

पश्चात् श्री कुन्दकुन्द स्वामी अपने शिष्यों को साथ लेकर धर्मोपदेश और जैनधर्म के प्रचार के लिए विहार करने लगे जिससे वे चारों दिशाओं में प्रख्यात हो गये। उन्होंने बहुधा भारतवर्ष के बहुत से प्रदेशों में विहार करके धर्मोपदेश दिया और बहुतों को आत्महित साधक पवित्र मार्ग पर लगाया और दुर्गति के दुःखों का नाश करने के लिये पवित्र जैन धर्म का प्रचार सब ओर किया। इस प्रकार धर्म प्रभावना करते हुये कितने ही स्थानों पर पट्टस्थापना किये जिससे उन प्रान्तों में सनत धर्मोपदेश मिलने से धर्म अखण्डित रीति से बढ़ता रहे। जैन दर्शन में चार संघ हैं (१) मूलसंघ, (२) सिंहसंघ (३) नंदि संघ और (४) काष्ठा संघ। इनमें से काष्ठा संघ का तो कुन्दकुन्दाचार्य से पूर्ववर्ती होने वाले ऋषभसेनाचार्य ने स्थापन किया था और शेष श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने स्थापित किये। इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुये उज्जैनी नगरी में आये। वहाँ उन दिनों श्वेताम्बर मत का बहुत प्रचार था। जब श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे जिनसिंह केशरी ने चौतरफा दिगम्बरी मत का डंका बजाया तब बहुत से लोगों के मन में ऐसी भ्रांति उत्पन्न हुई कि दिगम्बर और श्वेताम्बर मत एक हैं परन्तु श्वेताम्बर बीजरूप होने से पूर्व है और श्वेताम्बर मत के बाद दिगम्बर मत की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार परस्पर लोगों में असन्तोषजनक चर्चा होने से उसके निर्णय के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य के निकट आये और सत्य धर्म की स्थापना तथा मिथ्याधर्म के खण्डन करने के लिये प्रार्थना की। तदनन्तर उभय धर्मावलम्बी श्री नैमनाथ भगवान के निर्वाण क्षेत्र गिरनार पर्वत पर वाद-विवाद होने का निश्चय कर दिगम्बरी श्री कुन्दकुन्दाचार्य के नेतृत्व में और श्वेताम्बरी जिनचन्द्राचार्य के नेतृत्व में पर्वत पर पहुँचे और पृथक्-पृथक् स्थानों में निवास कर अपने-अपने धर्म का महत्व प्रगट करने लगे। वाद-विवाद का दिवस निश्चित होने पर शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। श्वेताम्बरियों का कथन था कि वस्त्र बिना कदाचित् भी जीव की मुक्ति नहीं होती और दिगम्बरियों का पक्ष था कि जीव की उत्पत्ति ही नग्नावस्था में होती है और मरण समय में भी जीव नग्नावस्था में जगत का परित्याग करता है इसीलिए दिगम्बर अवस्था ही जीव को कार्यकारी होने से मान्य रूप है। इस प्रकार बहुत काल पर्यन्त वाद-विवाद रहा परन्तु परस्पर एक-दूसरे के पक्ष को कोई भी स्वीकार नहीं करता था।

दिगम्बर मत के प्रधानाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य की जैसे अनेक सुविधायें सहाई थी उसी प्रकार श्वेताम्बर संघ के अधिष्ठाता जिनचन्द्र तथा महिचन्द्र की अनेक सुविधायें सहाई थी। विद्या के प्रभाव से परस्पर एक-दूसरे के गहन प्रश्नों का तत्क्षण निवारण कर देने से एकदम हार-जित का निर्णय होना असम्भव-सा हो गया तब दोनों पक्ष के लोग मन में खेद विन्न हो गये। तदनन्तर एक दिवस श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मन में ऐसा दृढ़ निश्चय किया कि आज मैं प्रतिपक्षी को यथार्थ निश्चय पर लाये बिना सभा से बाहर नहीं जाऊँगा ऐसी प्रतिज्ञा करके वे सभा में आये। उनके आते ही श्वेताम्बरी लोगों ने उनका उपहास किया। आशय यह है कि श्वेताम्बरी साधुओं ने एक छोटा सा मत्स्य कर्मण्डल में रखकर मुख बन्द करके श्री कुन्दकुन्दाचार्य से पूछा—'इस जलमात्र में क्या है?' तब तत्काल उत्तर दिया—

‘इसमें कमल पुष्प हैं’—ऐसे कहकर सबको कमल पुष्प दिखा दिया तब श्वेताम्बरी लोग बहुत लज्जित हुये और कहने लगे—‘आज का यह प्रसंग याग्य नहीं’—ऐसा कहकर वाद आरम्भ हुआ तब श्वेताम्बरियों ने जैनान्नाय से विरुद्ध वीर, भैरव क लिका देवी इत्यादि कुदेवों का आह्वान किया और कहा—‘श्वेताम्बरी मत प्रथम है कि दिगम्बरी, इस विषय का कोई प्रबल प्रमाण दो’—तब कुन्दकुन्दाचार्य ने मूल-मंत्र के द्वारा कुदेवों का आगमन बन्द कर दिया । तब श्वेताम्बर तेज रहित स्तब्ध हो गये ।

तदनन्तर कुन्द कुन्दाचार्य दोनों संघों को साथ लेकर गिरनार पर्वत पर गये और वहाँ श्री नेमि नाथ जी के निर्वाण क्षेत्र का दर्शन कर विदेह क्षेत्र स्थित शाश्वत तीर्थकर श्री सोमधर स्वामी का स्मरण किया और पंच परमेष्ठि का स्मरण कर उभय संघ के समक्ष इस प्रकार से उच्च स्वर से प्रार्थना की—कि “श्वेताम्बरी धर्म को स्थापना पहले हुई या दिगम्बरी की । इसके निर्णय के लिए कोई प्रमाण या प्रबल चमत्कार हो” ऐसा कहते ही “दिगम्बरी धर्म को स्थापना प्रथम हुई” ऐसी गम्भीर नाद से थोड़ी देर तक आकाशवाणी होती रही, तब श्रवण मात्र से ही श्वेताम्बरी संघ मदगलित हो वहाँ से भाग गया । तब दिगम्बर संघ के लोग श्री कुन्दकुन्दाचार्य मुनि को प्रतिष्ठा तथा आदर पूर्वक अपने संघ में ले गये वहाँ बहुत से श्वेताम्बरियों ने दिगम्बरी धर्म स्वीकार किया बहुत से लोगों ने मताभिमान के गर्व से दिगम्बरी मत का निषेध किया और गुजरात देश में जाकर श्वेताम्बर मत की पुष्टि की । अस्तु इस प्रकार श्वेताम्बर मत का महत्व खण्डन होने पर दिगम्बरी लोगों ने वहाँ एक जिन मंदिर को स्थापना कर उसको प्रतिष्ठा श्री कुन्दकुन्दाचार्य के कमलों से कराई । तदनन्तर सर्व लोक श्री कुन्दकुन्दाचार्य के साथ वाराणसी में गये वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य ने एक पट्ट को स्थापना की और वहाँ एक विद्वान् शिष्य योजना कर स्वयं तत्त्व अनु-चित्तन करते हुये समय व्यतीत करने लगे । इनके सब शिष्यों में उमास्वामी (जिन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र नामक दशाध्यायी ग्रंथ रचा है) मुख्य थे । उन्होंने अपनी प्रबल विद्या के गर्व से अपनी उन्नीस वर्ष की आयु में श्री कुन्द-कुन्दाचार्य से शास्त्रार्थ किया परन्तु पराजित हुये तब निरभिमान हो श्री कुन्द-कुन्दाचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया और पच्चीसवें वर्ष उसने दीक्षा ले मुनि हो गये । श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने अनुप्रक्षा-ओं का चितवन करते हुये सन्यास मरण पूर्वक शरीर तज स्वर्ग लोक प्राप्त किया । वीर संवत् ५८५ विक्रम संवत् १०१ और ईस्वी सन् ६३ में स्वर्ग लोक प्राप्त किया । इनके परलोक गमन के अनन्तर श्री उमास्वामी ही पट्टाधिकारी हुये ।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्य चरित्र गुजराती भाषानुवाद समाप्तम् ॥

इस प्रकार जगत्पूज्य श्री सन्मतिनाथ महावीर स्वामी के निर्वाणान्तर होने वाले केवली, श्रुत केवली, अंगपूर्व के ज्ञाता ऋषि, महर्षि व जैन धर्म का भूमंडल पर अस्तित्व रखने में कारण भूत ऐसे घरसेन, कुन्द-कुन्दाचार्य व अकलंक देव का संक्षिप्त वर्णन किया । अब आगे इस दुःखम काल में होने वाले इक्कीस कल्की व इक्कीस उपकल्कियों का वर्णन है—

इस विकराल दुःखम काल में प्रत्येक हजार वर्ष की अवधि में इक्कीस कल्की और उनके प्रथम हजार वर्ष पहले अंतराल के समय में इक्कीस उपकल्की एवं बयालीस धर्मनाशक राजा उत्पन्न होते हैं । चौबीसवें तीर्थंकर के निर्वाणान्त से छह सौ पाँच वर्ष पीछे विक्रम शक (उपनाम शालि बाहन) राजा हुआ जिसका संवत्सर प्रवर्तमान है । पश्चात् तीन सौ तिराणवं वर्ष और सात मास व्यतीत होने पर अनेक राजाओं द्वारा सेवनीय जिनधर्म से बहिर्मुख उन्मार्गचारी चतुर्मुख नामक कल्की हुआ, जिसकी आयु सत्तर वर्ष प्रमाण थी । अहिंसामय सद्धर्म से पराङ्मुख मिथ्यात्वियों में शिरोमणि होकर चालीस

वर्ष परिमित राज्य को भोगते हुए उसने एक समय अपने स्थान मंडप में बैठे हुए मंत्रियों से पूछा—'भो मंत्रियो ! कहो कि इस समय सर्व मनुष्य मेरे आधीन हैं अर्थात् वशीभूत हैं । मेरी आज्ञा से रहित स्वतंत्र तो कोई नहीं है ना ?'

तब मंत्रियों ने कहा—'हे नाथ ! इस समय सर्व मनुष्य आपकी आज्ञा का प्रतिपालन करते हैं, एक जैन दिगम्बर मुनि ही ऐसे हैं जो आपके शासन-पालन से विहीन हैं ।'

तब कल्की ने कहा—'वह नग्न दिगम्बर मुनि कैसे हैं, कहाँ रहते हैं और क्या करते हैं ?'

यह सुनकर मंत्रीगण प्रधान ने कहा—'महाराज ! वे मुनि वन में वास करते हैं । धन, धान्य, वस्त्र, आभूषण आदि से रहित हैं । समस्त संसार सम्पदा को तृणवत् तुच्छ समझते हैं । यहाँ तक कि अपने शरीर से भी निष्प्रेय हैं । भोजन के समय आँवकी के धर शास्त्रोक्त निदावृत्ति के अनुसार निरन्तर प्राणुक आहार ग्रहण कर लेते हैं । वे किसी के शासन में नहीं रहते केवल जिन शासन के ही प्रतिपालक होते हैं ।' यह सुनकर राजा ने अपने मंत्रियों से कहा—'मैं उनकी इस स्वतंत्रता को सहन करने में असमर्थ हूँ अतएव आज ही से उन निर्ग्रन्थों के पाणिपात्र में दिया हुआ प्रथम ग्रास शुल्क अर्थात् कर रूप में लिया जाया करे ।'

मंत्रियों सहित राजा के ऐसा नियम नियत करने पर उनके नियोगी मुनिराजों के आहार के समय ऐसा ही करने लगे । तब मुनिराज भोजन में अन्तराय जानकर वन में वापिस लौट गए । तब असुरकुमारों के स्वामी चमरेन्द्र ने इस कल्कीकृत मुनियों के भोजन समय अन्तराय करना आदि अत्याचार जानकर उसके सहन करने में असमर्थ होकर कल्की (चतुर्मुख राजा) को मस्तक रहित कर दिया अतः वह अपध्यान से मर कर प्रथम नरक में एक सागर आयु का धारक नारकी हुआ । तदनन्तर कल्की का पुत्र अजितजय असुरेन्द्र के भय से अपनी स्त्री चेलका का साथ लेकर चमरेन्द्र की शरणागत को प्राप्त हुआ और उसका नाना प्रकार से विनय अनुनय किया । जिनधर्म का अतिशय माहात्म्य देखकर अपने हृदय को मिथ्यात्व के परित्यागपूर्वक सम्यक्स्वरूप रत्न से विभूषित किया । इस प्रकार प्रति हजार वर्ष एक कल्की और उनके अवान्तर एक-एक उपकल्की ऐसे इक्कीस हजार वर्ष परिमित पंचमकाल में बीस कल्की और इक्कीस उपकल्कियों के हो चुकने पर पंचम काल के अन्त में सद्धर्म का नारक अन्तिम (इक्कीसवाँ) जलमय नामक कल्की होगा । तत्समय चतुर्विध संघ में से इन्द्रराज नामक आचार्य के शिष्य—१. वीरांगद मुनि, २. सर्व श्री आर्यिका, ३. अग्निना नामक आर्यक और ४. फाल्गुसेना आर्यिका—इन चारों का सद्भाव रहेगा । इनकी स्थिति साकेत नगरी होगी ।

ये मुनि आदि चारों दुःखम काल के तीन वर्ष साढ़े आठ महीने अवशेष रहने पर कार्तिक कृष्ण अमावस्या के पूर्वार्द्ध समय में स्वाति नक्षत्र का योग होने पर पूर्वोक्त प्रकार से मुनि को पहला ग्रास ग्रहण न करने देने पर तीन दिन का सन्यास धारण कर पहले वीरांगद मुनि तत्पश्चात् अग्निना आर्यक; सर्व श्री आर्यिका और फाल्गुसेना नामक आर्यिका ये चारों साम्यभाव पूर्वक प्राण विसर्जन कर समीचीन जिनधर्म के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में जाएंगे । वहाँ मुनिराज तो एक सागर आयु के धारक और अवशेष आर्यिका, आर्यक, आर्यिका साधिक अल्प आयु के धारक होंगे । उसी दिन के आदि, मध्य, अन्त काल में क्रम से धर्मराजा और अग्नि से भरत क्षेत्र से अभाव होगा । सर्व मनुष्य धर्म, देश, कुल तथा राजनीति मर्यादा रहित हो जाएंगे और वस्त्रादि रहित कपिवत् नग्न हुए फल-फूल आदि से क्षुधा शान्त करेंगे क्योंकि धर्म के आधारभूत मुनि, आर्यक के अभाव से धर्म का असुरकुमारेन्द्र द्वारा नृपति का धात होने

से राजा का और कालदोष के पुद्गल द्रव्य के अतिरुक्षरूप परिणमन होने से अग्नि का लोप हो जाएगा इसीलिए अग्नि द्वारा बने पदार्थों का समाप्त होगा जिससे उस समय के जीव फल आदि से क्षुधा शान्त करेंगे। इस काल के आदि में मनुष्यों का शरीर साढ़े तीन विलस्त और परमायु बीस वर्ष प्रमाण होगी। दिनों-दिन बल, काम, आयु का ह्रास होते रहने से दुःखम काल के अन्त में किंचित् न्यून एक हाथ का शरीर और सोलह वर्ष परमायु रह जाएगी। इस काल में जो जीव उत्पन्न होंगे वे नरक तथा तिर्यच गति से ही आएंगे और निरन्तर अशुभ कर्म ही करेंगे और फिर उन अशुभ क्रियाओं के परिपाक से भविष्य में नरक या तिर्यच गति को ही प्राप्त होंगे। कालांतर में कम वृष्टि तथा अनावृष्टि होने से भूमि रुक्ष और विषम हो जाएगी जिससे भूमि सम्बन्धी उपज नष्ट होगी। तब क्षुधा से पीड़ित हुए मनुष्य मत्स्य आदि जलचर जीवों का आहार कर क्षुधा पूर्ण करेंगे।

इस प्रकार महा दुःखकर दुःखमा दुःखमा काल के व्यतीत होने पर अन्त में पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि को चूर्ण करती हुई संवर्तक नामक पवन अपने तीव्र वेग से स्वक्षेत्र अपेक्षा दिशाओं के अन्तर्पथन्त परिभ्रमण करेगी जिसके प्रभाव से सर्वप्राणी मूर्च्छित होकर मरण को प्राप्त होंगे। उस समय गंगा, सिन्धु नदी की बेदी, क्षुद्र विल और विजयार्ध पर्वत की गुफाओं में उनके निकटवर्ती मनुष्य आदि पवन के भय से स्वतः प्रवेश करेंगे।

तत्पश्चात् उन प्रविष्ट हुए मनुष्य युगल प्रभृति पुष्कल (बहुत से) जीवों को दयावान् विद्याधर अथवा देव निविघ्न बाधारहित स्थान में पहुँचा देंगे जिससे वे अपनी जीवनलीला को सुख से व्योतित कर सकें। अथानन्तर यहाँ पर (१) पवन, (२) अत्यन्त शीत, (३) क्षाररस, (४) विष, (५) कठोर अग्नि, (६) रज, (७) धूम (धुआँ) इस प्रकार सात रूप परिणमन पुद्गलों की वर्षा सात-सात दिन अर्थात् समस्त (४९) दिन पर्यन्त होगी जिससे अवशेष रहे जीव भी नष्ट हो जाएंगे। विष, अग्नि की वर्षा से एक योजन पर्यन्त नीचे की पृथ्वी चूर्ण हो जाएगी। तत्पश्चात् नीचे से और चित्रा नामक समभूमि प्रगट होगी। इस प्रकार दस कोड़ाकोड़ी सागर की अवधि वाले अवसर्पिणी काल के व्यतीत होने के पश्चात् उत्सर्पिणी के अति दुःखमा नामक काल का प्रारम्भ होता है। उसको आदि में प्रजा की वृद्धि के लिए जल दुग्ध, घृत, अमृत, रस आदि शांतिदायक पदार्थों की सात-सात दिन तक पूर्वोक्त प्रकार से वर्षा होती है जिससे अग्नि आदि जनित आतप व रुक्षता को तजकर पृथ्वी सचिवकणता धारण करती है। तब बेल, लता, गुल्म, तृण आदि उत्पन्न होते हैं। धान्य आदि की उत्पत्ति भी होने लगती है। तब गंगा, सिन्धु नदियों के तीर विल आदि में तथा विजयार्ध की गुफाओं में जो जीव पहले चले गए थे वे अब वहाँ से निकलकर पृथ्वी के शीतल सुगंध रूप दूत के द्वारा बुलाए हुए भरत क्षेत्र में आकर निवास करते हैं और फिर क्रम से जीवों के आयु, काल, बल, वीर्य आदि की और प्रजा की वृद्धि होने लगती है।

दुःखमा काल के प्रारम्भ होते हुए मनुष्यों की आयु बीस वर्ष और साढ़े तीन विलस्त ऊँचा शरीर होगा। इक्कीस हजार वर्ष परिमित छोटे काल (उत्सर्पिणी के प्रथम काल) के व्यतीत होने के अनन्तर पाँचवें काल के बीस हजार वर्ष व्यतीत होकर एक हजार वर्ष व्यतीत होकर एक हजार वर्ष शेष रह जाने पर प्रकर्ष बुद्धि, बल, वीर्य के धारक अनुक्रम से (१) कनक, (२) कनकप्रभ, (३) कनकराज (४) कनकध्वज (५) कनकपुंगव (इन पाँच का वर्ण सुवर्णसम होगा) (६) नलिन (७) नलिनप्रभ, (८) नलिन राज, (९) नलिनध्वज, (१०) नलिन पुंगव, (११) पद्म, (१२) पद्मप्रभ, (१३) पद्म राज, (१४) पद्मध्वज, (१५) पद्म पुंगव और (१६) महापद्म ऐसे नामधारक सोलह कुलकर महान् धर्मात्मा, नीति निपुण, प्रजाहितैषी क्षत्रिय आदि कुलों के आचार के प्ररूपक तथा अग्नि के द्वारा अन्न

आदि पकाने के विधान के विधेता होंगे। इनके समय में परस्पर मैत्री, लज्जा, सत्य, दया, समय आदि उत्तम गुणों की प्रवृत्ति और सर्व धान्य, फल, पुष्प आदि और मनुष्य की संतति की वृद्धि होगी। इनमें से प्रथम कुलकर का शरीर कुछ कम चार विलस्त प्रमाण और अन्तिम कुलकर का सात हाथ परिमित होगा। इस प्रकार पंचम (उत्सर्पिणी के दूसरे) काल के समाप्त होने और ब्यालीस हजार तीन वर्ष एक कोटा कोटी वर्ष परिमित चौथे काल के आरम्भ होने पर जिस प्रकार अवसर्पिणी काल के चतुर्थ काल में श्री ऋषभ आदि तीर्थंकरों ने अवतरित होकर भरत क्षेत्र में अपने तीर्थ की प्रवृत्ति की उसी प्रकार चतुर्विंशति तीर्थंकर आविर्भूत होकर पुनः भरत क्षेत्र में अपने तीर्थ की प्रवृत्ति करेंगे। उनके नाम इस प्रकार होंगे—

(१) आदि में श्रेणिक का जीव महापद्म (२) सुराश्व का जीव सुरदेव, (३) तीसरे उदक-संज्ञक का जीव सुपाश्व, (४) प्रौष्ठलाख्य का जीव स्वयं प्रभ, (५) कटशु का जीव सर्वात्मभूत, (६) क्षत्रिय का जीव देव पुत्र, (७) श्रेष्ठसंज्ञक का जीव कुलपुत्र, (८) शंख का जीव उदक, (९) नन्दन का जीव प्रौष्ठिन, (१०) सुन्दवाक् का जीव जयकीर्ति, (११) शशांक का जीव मुनिमुव्रत, (१२) सेवक का जीव अरसंज्ञक, (१३) प्रेमक का जीव निःपाप, (१४) संज्ञक का जीव निष्कषाय, (१५) रोचन का जीव विपुल, (१६) वासुदेवाख्य (कृष्ण) का जीव निर्मल, (१७) बलदेव का जीव चित्रगुप्त, (१८) भगलि का जीव समाधि गुप्त, (१९) विगलि का स्वयंभूर, (२०) द्वीपायन का जीव अनिवर्तक, (२१) कनक संज्ञक का जीव विजय, (२२) नारदगद का जीव विमल, (२३) चारुपाद का जीव देवपाल और (२४) सात्यकितनय का जीव अनन्तवीर्य नामक चौबीसवां तीर्थंकर होंगे। प्रथम तीर्थंकर का शरीर पाँच सौ धनुष उन्नत और एक कोटि पूर्व की आयु होगी।

उनका भी अवसर्पिणी काल के तीर्थंकरों के समान चतुर्निकाय देव, इन्द्र आदि गर्भ, जन्म, तपः ज्ञान और निर्वाणोत्पन्न करेंगे। इसी प्रकार समवशरण आदि की रचना की जाएगी। इतना विशेष जरूर होगा कि अवसर्पिणी काल के तीर्थंकरों का तो समवशरण प्रमाण प्रथम तीर्थंकर के समवशरण से चौबीसवें तीर्थंकर तक घटता चला जाता है परन्तु उत्सर्पिणी में इसके प्रतिकूल होता है अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के प्रमाण से चौबीसवें तीर्थंकर के समवशरण तक बढ़ता चला जाएगा। भविष्य में तीर्थंकरों के समयवर्ती जो बारह चक्रवर्ती होंगे उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) भरत, (२) दीर्घदंत, (३) मुक्तिदंत, (४) गूढदंत, (५) श्रीधेण, (६) श्रीभूति, (७) श्रीकांत, (८) पद्म, (९) महापद्म, (१०) चित्र वाहन, (११) विमल वाहन, (१२) अरिष्ठसेन—ये बारह चक्रवर्ती पहले चक्रवर्तियों के समान नवनिधि, चौदह रत्न, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ, मठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छयानवें हजार रानियाँ, सदा सेवा में तत्पर रहने वाले बत्तीस हजार बड़े-बड़े राजा और संसार श्रेष्ठ संपत्तियुक्त देव व विद्याधरों द्वारा सेव्य होंगे।

आगामी काल में नारायण के ज्येष्ठ भ्राता जो नव बलभद्र होते हैं उनके नाम इस प्रकार होंगे—

(१) चन्द्र, (२) महाचन्द्र, (३) चन्द्रधर, (४) हरिचन्द्र, (५) सिंहचन्द्र, (६) वरचन्द्र, (७) पूर्णचन्द्र, (८) शुभचन्द्र, (९) श्रीचन्द्र—ये नव बलभद्र केशवों द्वारा पूजित होंगे।

भविष्य में (१) नंदि, (२) नंदिमित्र, (३) नंदिषेण, (४) नंदिभूति, (५) अचल, (६) महाबल, (७) अतिबल, (८) त्रिपृष्ठ और (९) द्विपृष्ठ—ये नव नारायण होंगे जो पूर्वज केशवों के समान त्रिखंडेय होंगे और आगामी काल में इनके प्रतिशत्रु जो प्रतिनारायण होंगे उनके नाम होंगे—

(१) श्रीकंठ, (२) हरिकंठ, (३) नीलकंठ, (४) अश्वकंठ, (५) सुकंठ (६) शिखिकंठ, (७) अश्वग्रीव, (८) अश्वग्रीव और (९) मयूरग्रीव । इनका मरण नियम के अनुसार नारायण द्वारा ही होगा ।

भविष्य में जो ग्यारह रुद्र होंगे उनके नाम इस प्रकार होंगे—(१) प्रमद, (२) सम्मद, (३) हरष, (४) प्रकाम, (५) कामद, (६) भव, (७) हरि, (८) मनोभव, (९) भार (१०) काम और (११) श्रंगज ।

इस प्रकार उत्सर्पिणी काल के तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण प्रतिनारायण और बलभद्र आदि प्रधान पुरुषों के नामों का वर्णन किया । ये सब अनागत चौथे काल में उत्पन्न होंगे । पश्चात् तृतीय काल का आरम्भ होगा । तब पुनः क्रम से तीसरे, दूसरे, प्रथम काल में जघन्य मध्यम और उत्तम भोग भूमि की रचना होगी । उन तीनों भोगभूमियों में क्रमशः एक पत्य, दो पत्य तथा तीन पत्य पर्यन्त आयु के धारक होते हैं तथा कांतियुक्त एक कोश, दो कोश और तीन कोश ऊँचे और क्रमशः सुवर्णसम इन्दुसम, तथा हरित वर्ण के धारक होते हैं । उन भोगभूमियों में भोजनांग, वस्त्रांग, माल्यांग, ज्योतिरांग, भूषणांग और पानांग आदि दश प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त हुए मनोभिलषित अनेक प्रकार के उत्तम-उत्तम भोगों को भोगकर तदनन्तर शेष बचे पुण्य से स्वर्ग में जाकर सुख भोगते हैं । इस प्रकार उत्सर्पिणी काल के समाप्त होने पर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारम्भ होगा । ऐसे ही अनादि काल से उत्सर्पिणी के पीछे अपसर्पिणी काल का धारा प्रवाह रूप से चक्र चला आ रहा है और ऐसे ही अनादि काल तक चला जाएगा ।

इति मध्य लोक वर्णनम् ।

अथ उर्ध्व लोक वर्णनम् :—

उर्ध्व लोक के सामान्यतः दो भेद हैं—एक कल्प और दूसरा कल्पातीत । इन दोनों में वैमानिक देव रहते हैं । अब प्रथम देवों की वैमानिक संज्ञा जानने के लिए इनके प्रकारों का वर्णन करते हैं—

देवों के मुख्य भेद चार हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक । इन वैमानिक पर्यन्त चार प्रकार देवों के क्रम से दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं अर्थात् दस प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के व्यन्तर, पाँच प्रकार के ज्योतिष और बारह प्रकार के वैमानिक देव होते हैं । जिनमें रहने से विशेष पुण्यवान माने जाएँ उन्हें विमान और उनमें रहने वालों को वैमानिक कहते हैं । वे स्थान भेद से दो प्रकार के हैं—एक कल्पोपपन्न, दूसरे कल्पातीत । सौधर्म आदि सोलह स्वर्गों के विमानों में इन्द्र आदि की कल्पना होती है इस कारण उनको कल्प संज्ञा है और उसमें निवास करने वालों को कल्पोपपन्न वा कल्पवासी कहते हैं । इन्हीं के बारह भेद हैं, कल्पानीतों के नहीं । जिन विमानों में इन्द्र आदि की कल्पना नहीं है, ऐसे प्रैवेक आदि को कल्पातीत कहते हैं और उसमें निवास करने वालों की अहमिन्द्र संज्ञा है । पूर्वोक्त भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों में (१) इन्द्र (२) अत्येन्द्र (३) लोक पाल, (४) अत्यस्त्रिंश, (५) सामानिक, (६) अंगरक्षक (७) पारिषद, (८) अनीक, (९) प्रकीर्णक, (१०) औभयोग्य व (११) कित्तिवपक ऐसे ग्यारह भेद होते हैं ।

अब यहां पर प्रसंगवश इन्द्र आदि दश प्रकार के देवों का उदाहरण सहित लक्षण लिखते हैं—

अन्य देवों में न पाए जा सकने वाले अणिमा, महिमा आदि गुणों से जो परम ऐश्वर्य को प्राप्त हों उसे इन्द्र कहते हैं । १।

जो शासन ऐश्वर्य रहित इन्द्र के समान ऐश्वर्य धारण करने वाले हों उन्हें प्रत्येन्द्र कहते हैं । २।

कोटपाल के समान जो स्वर्ग लोक की रक्षा करने वाले हों उन्हें लोकपाल कहते हैं । ३।

इन्द्रों के मन्त्री पुरोहित के समान जो शिक्षा देने वाले हों उन्हें प्रायस्त्रिंश कहते हैं । ४।

जिनके आज्ञा और एश्वर्य रहित स्थान, आयु, परिवार, भोग आदि इन्द्र के समान हों उन्हें सामानिक जाति के देव कहते हैं । इन्द्र इनको मातापिता व उपाध्याय के समान गिनता है और अन्य देव इनका इन्द्र के समान आदर सत्कार करते हैं । ५।

जो इन्द्र की सभा में अंगरक्षक के समान हाथों में शस्त्र लिए हुए इन्द्र के पास खड़े रहते हैं उन्हें अंग रक्षक कहते हैं । ६।

इन्द्र की सभा में जो प्रधान हों उन्हें पारिषद कहते हैं । ७।

जो गज अश्व आदि सात प्रकार की सेना के रूपों को धारण करने वाले देव होते हैं उन्हें प्राणीक जाति के देव कहते हैं । ८।

प्रजा के समान विमानों में रहने वाले जो साधारण देव होते हैं उन्हें प्रकीर्णक देव कहते हैं । ९।

जो सेवकों के समान इन्द्र आदि की सेवा कर्म करते हैं उन्हें अभियोग्य जाति के देव कहते हैं । १०।

जो चांडालों के समान नगर के बाहर रहने वाले इन्द्र आदि देवों के सम्मान आदि के अनधिकारी देव होते हैं उन्हें किल्बिषिक जाति के देव कहते हैं । ११।

इस प्रकार के प्रत्येक निकाय के देवों में उपरोक्त इन्द्र, सामानिक आदि ग्यारह भेद होते हैं परन्तु व्यन्तर और ज्योतिष जाति के देवों में प्रायस्त्रिंश और लोक पाल जाति के देव नहीं होते ।

भावार्थ :—व्यन्तर और ज्योतिष जाति के देवों में आठ-आठ भेद ही होते हैं :

अब देवों के प्रकारों के कहे हुए प्रथम भवनवासी देव के दस भेदों को कहते हैं—

भवनवासी देवों के (१) असुर कुमार, (२) नाग कुमार, (३) सुपर्ण कुमार, (४) द्वीप-कुमार, (५) उदधि कुमार, (६) विद्युत कुमार, (७) स्तनित कुमार, (८) दिक्कुमार, (९) अग्निकुमार, और (१०) वात कुमार ऐसे दस भेद हैं । इनमें एक-एक कुल में दो-दो इन्द्र हैं । असुर कुल में चमर और वैरोचन, नाग कुमार कुल में भूतानन्द और धरणानन्द, सुपर्ण कुमार कुल में वेणु और वेणुधारी, द्वीप कुमार कुल में पूर्ण और वशिष्ठ, उदधि कुमार कुल में जलप्रभ और जलकांत, विद्युत कुमार कुल में घोष और महाघोष, स्तनित कुमार कुल में हरिषेण और हरिवाहन, दिक्कुमार कुल में अमित गति और अमित वाहन, अग्नि कुमार कुल में अग्निशिखी और अग्निवाहन वात कुमार कुल में वल्लभ और प्रभञ्जन—इस प्रकार भवनवासियों के प्रत्येक कुल में दो-दो इन्द्र और प्रत्येक इन्द्र के एक-एक प्रत्येन्द्र होता है । बीस इन्द्र और इतने ही प्रत्येन्द्र ऐसे भवनवासियों के समस्त चालीस इन्द्र हैं । असुर कुमार से लेकर वात कुमार पर्यन्त दस प्रकार के भवनवासी देवों के मुकुटों में क्रम से (१) चूड़ा-मणि रत्न (२) सर्प, (३) गरुड़, (४) गज, (५) मत्स्य, (६) स्वस्तिक (सांथिया), (७) बज्र (८) सिंह, (९) कलश और (१०) अश्व—ये दस चिन्ह होते हैं अथवा इनके अतिरिक्त पृथक-पृथक प्रकार के चैत्य वृक्ष और ध्वजा में भी इनके चिन्ह होते हैं । इन दशविध भवनवासी देवों के अनुक्रम से (१) अश्वत्थ वृक्ष, (२) सप्तपर्ण वृक्ष, (३) शाल्मली वृक्ष, (४) जंबू वृक्ष, (५) चैतस वृक्ष, (६) कदम्ब वृक्ष, (७) प्रियंग वृक्ष, (८) शिरस वृक्ष, (९) पलाश वृक्ष तथा (१०) राजद्रुम अर्थात् किरमाला वृक्ष ये दस चैत्य वृक्ष होते हैं । इन प्रत्येक प्रकार के वृक्षों के नीचे मूलभाग में एक एक दिशा में भवनवासी

देवों के द्वारा परिपूज्य पर्यंकासन जिन चैत्य (प्रतिमा) विराजमान हैं इसी कारण इनको चैत्यवृक्ष कहते हैं। इन प्रत्येक प्रतिमाओं के अनुभाग में एक-एक मानस्तम्भ स्थित है और उन मानस्तम्भों के ऊपर प्रत्येक दिशा में सात-सात जिन बिम्ब विराजमान हैं।

अब आगे भवनवासो इन्द्रों के भवनों की संख्या कहते हैं—पहले एक-एक कुल में जो दो-दो इन्द्र कहे थे उनमें जिनका नाम प्रथम है वे दक्षिणेन्द्र और जिनका नाम पीछे है वे उत्तरेन्द्र जानने चाहिए। दक्षिण दिशस्थ भवनों में रहने वाले इन्द्रों को दक्षिणेन्द्र और उत्तर दिशस्थ भवनों में रहने वालों इन्द्रों को उत्तरेन्द्र कहते हैं। वहां असुर कुमार कुल के दक्षिणेन्द्र के चौतीस लाख और उत्तरेन्द्र के तीस लाख भवन हैं। नागकुमार कुल के दक्षिण के चवालीस लाख और उत्तरेन्द्र के चालीस लाख भवन हैं। सुपर्ण-कुमार कुल के दक्षिण के अड़तालीस लाख और उत्तरेन्द्र के चौतीस लाख भवन हैं। द्वीप कुमार उदधि कुमार, विद्युत कुमार, स्तनित कुमार, दिक्कुमार और अग्नि कुमार इन छह कुलों के प्रत्येक दक्षिणेन्द्र के चालीस-चालीस लाख और उत्तरेन्द्र के छत्तीस-छत्तीस लाख भवन और हैं वात कुमार कुल के दक्षिणेन्द्र के पांच लाख और उत्तरेन्द्र के छयालीस लाख भवन हैं।

इस प्रकार दसों कुल के इन्द्रों के समस्त भवन सात करोड़ बहत्तर लाख हैं। इन सर्व भवनों में एक एक चैत्यालय है इस कारण इतने ही चैत्यालय हुए। उन चैत्यालयस्थ जिनबिम्बों को त्रिकरण-शुद्धिपूर्वक भेरा नमस्कार हो। ये भवन माना प्रकार के उत्तमोत्तम पुष्पों की गन्ध से सुगन्धित रत्नमय भूमि व भित्तिका संयुक्त सदैव प्रकाशमान भूमिगृह (तहखाना) की उपमा को धारण करने वाले जघन्य संख्यात कोटि योजन और उत्कृष्ट असंख्यात कोटि योजन परिमित विस्तार आयाम वाले अर्थात् चौकोर हैं। तीन सौ योजन बाहुल्य अर्थात् ऊँचाई वाले उन प्रत्येक भवनों के मध्य में सौ-सौ योजन ऊँचा एक पर्वत होता है इसी पर भगवान का चैत्यालय होता है। आगे इन भवनों के स्थान को कहते हैं कि ये कहीं पर स्थित हैं—रत्नप्रभा पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। उसके तीन विभाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अन्वहुलभाग। इनमें से सोलह हजार योजन मोटा पतला खरभाग है। उसमें चित्रा, वज्रा, वैडूर्य आदि एक एक हजार योजन की मोटी सोलह पृथ्वियाँ हैं। इनमें से एक-एक हजार योजन मोटी एक नीचे की और एक ऊपर की ऐसी दो पृथ्वियों को छोड़कर एक एक राज्ञू सम्बन्धी चौड़ी शेष चौदह भूमियों में चित्रा पृथ्वी से एक एक हजार योजन नीचे जाकर (१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) भूत और (७) पिशाच—इन सात प्रकार के व्यन्तर देवों के साथ और दो हजार योजन नीचे जाकर (नाग कुमार), (२) विद्युत कुमार, (३) सुपर्ण कुमार, (४) अग्नि कुमार (५) वात कुमार, (६) स्तनित कुमार, (७) उदधि कुमार, (८) द्वीप कुमार और (९) दिक्कुमार इन नव प्रकार के भवनवासी देवों के निवास स्थान हैं।

खरभाग के नीचे चौरासी हजार योजन मोटा पंक भाग है। उनमें असुरों कुमार और रासकों के स्थान हैं और पंकभाग के नीचे अस्सी योजन मोटे अन्वहुल भाग में प्रथम नरक है। उसमें नारकियों के त्रिल अर्थात् निवासस्थान हैं।

अब भवनवासो इन्द्रों के सामानिक आदि देवों की संख्या कहते हैं—पूर्व आदि दिशाओं के सोम, यम, वरुण और कुबेर नामक चार लोकपाल तथा तैंतीस त्रायस्त्रिंशद देव ये सब तो इन्द्रों के समान ही होते हैं और सामानिक आदि में विशेषता होती है। जम्बरेन्द्र के सामानिक देव चौंसठ हजार, तनुरक्षक दो लाख छप्पन हजार, अन्तः पारिषद् अठाईस हजार, मध्य पारिषद् तीस हजार और बाह्य

पारिषद् बत्तीस हजार होते हैं। भूतानन्द के सामानिक छप्पन हजार, तनुरक्षक दो लाख छप्पन हजार, अन्तः पारिषद् छह हजार, मध्य पारिषद् आठ हजार और बाह्य पारिषद् दस हजार होते हैं। अवशेष धरणानन्द प्रमुख प्रभञ्जन पर्यन्त सत्रह इन्द्रों के प्रत्येक सामानिक पचास-पचास हजार, तनुरक्षक दो लाख अन्तः पारिषद् चार हजार, मध्य पारिषद् छह हजार और बाह्य पारिषद् आठ हजार होते हैं। बीसों इन्द्रों की अन्तः पारिषद् समिता, मध्यम पारिषद् चन्द्रा और बाह्य पारिषद् यतु—ऐसी संज्ञाओं से युक्त हैं।

अब आनीक के भेद और आनीक की संख्या कहते हैं—

भैंसे, घोड़े, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और तर्तकी—ये सात प्रकार आनीक अर्थात् सेना है। एक-एक आनीक में सात-सात कक्ष अर्थात् फौज हैं तथा प्रथम आनीक के प्रथम कक्ष का प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवों की संख्या के समान है फिर आगे-आगे के कक्षों में उससे द्विगुणा-द्विगुणा प्रमाण जानना चाहिए। जैसे चमरेन्द्र के चौसठ हजार भैंसे प्रथम कक्ष में हैं और सात कक्ष हैं तो प्रथम कक्ष के भैंसों की संख्या को द्विगुण-द्विगुण करने पर दूसरे कक्ष में एक लाख अठाईस हजार, तीसरे में दो लाख छप्पन हजार, चौथे में पाँच लाख बारह हजार, पाँचवें में दस लाख चौबीस हजार, छठे में बीस लाख अड़तालीस हजार और सातवें में चालीस लाख छयाणवें हजार हुए। सातों कक्षों का जोड़ लगाने पर सब इक्यासी लाख, अठाईस हजार हुए इसी प्रकार इतने-इतने घोटक आदि जानने चाहिए। सातों प्रकार के समस्त आनीक देव पाँच करोड़, अड़सठ लाख, छयाणवें हजार चमरेन्द्र के हैं। इसी प्रकार वैरोचन आदि के भी यथासम्भव प्रमाण जान लेना चाहिए। असुरकुमारों के तो भैंसा आदि सात प्रकार आनीक हैं परन्तु अवशेष नव कुलेन्द्रों के प्रथम आनीक भैंसे की जगह क्रम से (१) नाव, (२) गरुड़, (३) हाथी, (४) माँछला, (५) ऊँट, (६) मूर, (७) सिंघ, (८) पालकी और (९) घोड़े जानने चाहिए। अवशेष छह आनीक असुरकुमारों वत् होती है। भवनवासी देव असंख्यात हैं। इस कारण शेष भेद जो प्रकीर्णक आदि हैं वे असंख्यात जानने चाहिए।

अब आगे असुरकुमारों की देवांगनाओं का प्रमाण कहते हैं—

असुरकुमारों के इन्द्रों के छप्पन हजार देवांगनाएँ हैं उनमें सोलह हजार वल्लभा, पाँच महादेवी और पाँच कम चालीस हजार परिवार देवी हैं। नागकुमार के इन्द्रों के पचास हजार देवांगनाएँ हैं उनमें दस हजार वल्लभा, पाँच महादेवी और पाँच कम चालीस हजार परिवार देवी हैं। सुपर्ण कुमारों के इन्द्रों के चालीस हजार देवांगनाएँ हैं उनमें चार हजार वल्लभा, पाँच महादेवी और पाँच कम चालीस हजार परिवार देवी हैं अवशेष जो द्वीपककुमार आदि सात प्रकार के भवनवासी देव हैं उनके बत्तीस-बत्तीस हजार देवांगनाएँ हैं उनमें दो-दो हजार वल्लभा, पाँच-पाँच महादेवी और पाँच कम तीस-तीस हजार परिवार देवी हैं। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार—इनकी एक-एक महादेवी (पटरानी) विक्रिया करें तो मूल शरीर सहित आठ हजार देवांगना रूप हो जाती हैं शेष बचे हुए द्वीपकुमार आदि सात प्रकार के जो देव हैं यदि उनकी एक ज्येष्ठ देवी विक्रिया करें तो मूल शरीर सहित छह हजार देवांगना रूप हो जाती हैं। प्रत्येन्द्र, लोकपाल, त्रायस्त्रिंशत और सामानिक इन चार के इन्द्र के समान ही देवांगना होती हैं इस कारण इनकी देवांगनाओं का पृथक् प्रमाण न कहकर पारिषदों की देवगनाओं का प्रमाण कहते हैं—

चमरेन्द्र के अन्तः पारिषदों के अढ़ाई सौ, मध्य पारिषदों के दो सौ और बाह्य पारिषदों के

डेढ़ सौ देवांगनाएँ हैं। वैरोचनेन्द्र के अन्तः पारिषदों के तीन सौ, मध्यम पारिषदों के अढ़ाई सौ और बाह्य पारिषदों के दो सौ देवांगना हैं। नागकुमार कुलेन्द्रों के अन्तः पारिषदों के दो सौ, मध्यम पारिषदों के एक सौ आठ और बाह्य पारिषदों के एक सौ चालीस देवांगनाएँ हैं। गरुड़ कुमार कुलेन्द्रों के अन्तः पारिषदों के एक सौ आठ, मध्यम पारिषदों के एक सौ चालीस और बाह्य पारिषदों के एक सौ तीस देवांगनाएँ हैं। अवशेष कुलेन्द्रों के अन्तः पारिषदों के एक सौ चालीस, मध्य पारिषदों के एक सौ बीस और बाह्य पारिषदों के सौ देवांगनाएँ हैं। सेना के महत्तर अर्थात् प्रधान देवों और अंगरक्षक देवों के सौ-सौ देवांगनाएँ हैं। आनीक जाति के देवों के पचास-पचास देवांगनाएँ और अवशेष निकृष्ट जाति के देवों के बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ हैं। देवों के न्यून से न्यून बत्तीस देवांगनाएँ होती हैं बत्तीस से कम नहीं होती हैं।

अब आगे भवनवासी देवों की उत्कृष्ट व जघन्य आयु कहते हैं—

असुरकुमारों की एक लाख वर्ष, नागकुमारों की तीन पल्य, सुपर्ण कुमारों की अढ़ाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य और अवशेष छह प्रकार के भवनवासी देवों की डेढ़ पल्य उत्कृष्ट आयु है। इन सबकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है। इतना विशेष है कि दक्षिणेन्द्र की अपेक्षा उत्तरेन्द्र की आयु किंचित् अधिक होती है। यथा—असुरकुमारों में चमरेन्द्र की आयु एक सागर है तो वैरोचन इन्द्र की किंचित् अधिक एक सागर आयु होती है इसी प्रकार सब इन्द्रों की जानना चाहिए। प्रत्येन्द्र, लोकपाल, आयस्त्रिंशत् और सामानिक इन चारों की उत्कृष्ट व जघन्य आयु इन्द्र के समान ही होती है। आयु, परिवार, ऋद्धि, विक्रिया आदि में प्रत्येन्द्र, लोकपाल, आयस्त्रिंशत् और सामानिक ये चारों इन्द्र के समान ही होते हैं इस कारण छत्र आदि से युक्त होते हैं।

आगे चमर आदि इन्द्रों की देवांगनाओं की आयु कहते हैं—चमरेन्द्र की देवांगनाओं की आयु अढ़ाई पल्य, वैरोचनेन्द्र की देवांगनाओं की आयु तीन पल्य, नागेन्द्र की देवांगनाओं की आयु पल्य का अष्टमांश, गरुड़ेन्द्र की देवांगनाओं की आयु तीन कोटि पूर्व वर्ष प्रमाण और अवशेष इन्द्रों की देवांगनाओं की आयु तीन कोटि वर्ष प्रमाण है। चमरेन्द्र के अंगरक्षक, सेना प्रधानों की आयु एक पल्य, आनीक सहित वाहनों की आयु अर्द्ध पल्य है। चमरेन्द्र के अंगरक्षक आदि की आयु की अपेक्षा वैरोचनेन्द्र के अंगरक्षकों आदि की आयु किंचित् अधिक जाननी चाहिए। नागकुमारेन्द्रों के अंगरक्षक सेनाप्रधानों की आयु एक कोटि पूर्व वर्ष और आनीक सहित वाहनों की एक लाख वर्ष है। अवशेष सात कुलेन्द्रों के अंगरक्षक सेना महत्तरों की आयु एक लाख वर्ष है और आनीक सहित वाहनों की पचास हजार वर्ष है। चमरेन्द्र के अन्तः पारिषदों की आयु अढ़ाई पल्य, मध्य पारिषदों की दो पल्य और बाह्य पारिषदों की डेढ़ पल्य है। वैरोचनेन्द्र के अन्तः पारिषदों की आयु तीन पल्य, मध्य पारिषदों की अढ़ाई पल्य और बाह्य पारिषदों की दो पल्य है। नागकुमारेन्द्र के अन्तः पारिषदों की आयु पल्य का अष्टमांश, मध्य पारिषदों की पल्य का षोडशांश और बाह्य पारिषदों की पल्य का बत्तीसवां भाग होती है। गरुड़ कुमारेन्द्रों की आयु तीन कोटि पूर्ववर्ष, मध्य पारिषदों की आयु दो कोटि पूर्व वर्ष और बाह्य पारिषदों की एक कोटि पूर्व वर्ष है। अवशेष कुलेन्द्रों के अन्तः पारिषदों की आयु तीन कोटि वर्ष, मध्यम पारिषदों की आयु दो कोटि वर्ष बाह्य पारिषदों की आयु एक कोटि वर्ष जाननी चाहिए। अब आगे असुरकुमार आदि के उच्छवास और आहार का क्रम कहते हैं—

असुरकुमारों के एक पक्ष व्यतीत होने पर उच्छवास और एक हजार वर्ष बीतने पर आहार होता है। नागकुमार और सुपर्णकुमार और द्वीपकुमारों के साढ़े बारह सुहर्त के साढ़े बारहवां भाग के

पश्चात् उच्छ्वास और दिन के साढ़े बारहवें भाग के पश्चात् आहार होता है। उदधि कुमार और स्तनित कुमारों के बारह मुहूर्त के बारहवें भाग बीतने पर उच्छ्वास और दिन के बारहवें भाग बीतने पर आहार होता है। दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमारों के साढ़े सातवें भाग पर उच्छ्वास और दिन के सातवें भाग के पश्चात् आहार होता है। आगे इनके शरीर की ऊँचाई कहते हैं—

असुरकुमारों के शरीर की ऊँचाई पच्चीस धनुष, अवशेष नागकुमार प्रमुख वातकुमार पर्यन्त तब प्रकार के भवनवासियों की ऊँचाई दस धनुष होती है। व्यन्तर देवों की भी दस धनुष तथा ज्योतिषी देवों की सात धनुष होती है।

इति भवनवासी देव वर्णनम् ।

अथ व्यन्तर देव वर्णन प्रारम्भः :—

व्यन्तर देव (१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत और (८) पिशाच—ऐसे आठ प्रकार के हैं। अब इन आठों प्रकार के व्यन्तर देवों का क्रम से शरीर का वर्ण कहते हैं—किन्नरों के शरीर का वर्ण प्रियंगुफल के सदृश, किंपुरुषों का धवल, महोरगों का श्याम, गन्धर्वों का सुवर्णसम, यक्ष, राक्षस तथा भूत इन तीनों का श्याम वर्ण और पिशाचों का अति कृष्ण वर्ण है। ये सब देव अडगजा इत्यादि लेप और आभूषणों से युक्त होते हैं।

इन किन्नर आदि आठ प्रकार के व्यन्तर देवों के क्रमशः अशोक, चंचा, नागकेशर, बूबकी, बड़, कठतरु, कुतली और कदम्ब नाम के वृक्ष होते हैं। इन प्रत्येक चैत्य वृक्षों के मूल भाग में प्रत्येक धारक आठ दिशा में चार-चार पत्यंकासन जिन प्रतिमा विराजमान हैं और वे प्रतिभाचार तोरणों से संयुक्त हैं इसी कारण इन वृक्षों को चैत्य वृक्ष कहते हैं। उन प्रत्येक प्रतिमाओं के अग्रभाग में पीठ के ऊपर मानस्तम्भ स्थित हैं। उन मानस्तम्भों के तीन-तीन कोट हैं। ये सब मानस्तम्भ मोतियों की माला क्षुद्र घंटिका आदि से सुशोभित हैं। आगे इन व्यन्तर देवों के कुल प्रतिभेद कहते हैं :—किन्नर, किंपुरुष महोरग और गन्धर्व—इन चार कुलों में दस-दस भेद अवांतर हैं। यक्षों में बारह, राक्षसों में सात और पिशाचों में चौदह भेद अवांतर हैं।

जिस प्रकार यहाँ पर मनुष्यों में क्षत्रिय, वैश्य आदि कुलभेद होकर फिर क्षत्रिय कुल में इक्ष्वाकुवंश, सोमवंश आदि प्रभेद होते हैं उसी प्रकार व्यन्तरों में जानने चाहिए। व्यन्तरों के प्रत्येक कुल में दो-दो इन्द्र हैं। अब आगे व्यन्तरों के अस्सी भेदों के नाम व इन्द्रों के नाम कहते हैं—

किन्नर जाति के व्यन्तरों के (१) किंपुरुष, (२) किन्नर, (३) हृदयंगम, (४) रूपपाली, (५) किन्नर-किन्नर, (६) अनिदित, (७) मनोरम, (८) किन्नरोत्तम (९) रतिप्रिय और (१०) ज्येष्ठ ऐसे दस भेद हैं। इन किन्नरों में किंपुरुष और किन्नर दो इन्द्र हैं। इनमें किंपुरुष के अवतंसा और केतुसती और किन्नर के रतिवर्ण और रतिप्रिया नाम की दो-दो वल्लभिका देवांगनाएँ हैं।

किंपुरुष जाति के व्यन्तरों के (१) पुरुष, (२) पुरुषोत्तम, (३) सत्य पुरुष, (४) महापुरुष, (५) पुरुषप्रभ, (६) अतिपुरुष, (७) मरु, (८) मरुदेव, (९) मरुप्रभ और (१०) यशस्वान्—ऐसे दस भेद हैं। किंपुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष नामक दो इन्द्र हैं। इनमें सत्पुरुष के रोहिणी और नवमी और महापुरुष के ह्री और पुष्पवती नाम की दो-दो वल्लभिका देवांगनाएँ हैं। प्रत्येक वल्लभिका देवांगना एक-एक हजार परिवार देवियों से युक्त हैं।

महोरग जाति व्यन्तरो के (१) भुजग, (२) भुजगशाली, (३) महाकाय, (४) अतिकार्यी (५) स्कंधशाली, (६) मनोहर, (७) अरुनिजव, (८) महेश्वर्य, (९) गम्भीर और (१०) प्रियदर्शी, ऐसे दस भेद हैं। इनके महाकाय और अतिकाय दो इन्द्र हैं। महाकाय के भोग और भोगवती एवं अतिकाय के पुष्पगंधी और अनंदिता नाम की दो-दो वल्लभिका देवांगनाएं हैं।

गन्धर्वजाति के व्यन्तरो के (१) हा हा, (२) हू हू, (३) नारद, (४) तुम्बर, (५) कदम्ब, (६) वामव, (७) महाम्बर, (८) गीतरति (९) गीतयश और (१०) देवत ऐसे दस भेद हैं। इनके गीतरति व गीतयश नामक दो इन्द्र हैं। गीतरति के सरस्वती और स्वरसेना एवम् गीतयश के नन्दनी और प्रियदर्शिनना नाम की दो-दो वल्लभिका देवांगनाएं हैं।

यक्ष जाति के व्यन्तरो के (१) माणिभद्र, (२) पूर्णभद्र, (३) शैलभद्र, (४) मनोभद्र, (५) भद्रक, (६) सुभद्र, (७) सर्वभद्र, (८) मानुष, (९) धनपाल, (१०) सुरूप, (११) यक्षोत्तम और (१२) मनोहर ऐसे बारह भेद हैं। इनके माणिभद्र और पूर्णभद्र नाम के दो इन्द्र हैं। माणिभद्र के कुन्दा और बहुपुत्रा एवं पूर्णभद्र के तारा और उत्तमादेवी नाम की दो-दो वल्लभिका देवांगनाएं हैं।

राक्षस जाति के व्यन्तरो के (१) भीम, (२) महाभीम, (३) विघ्न विनायक, (४) उदक, (५) राक्षस, (६) राक्षस-राक्षस और (७) ब्रह्म राक्षस ये सात भेद हैं। इनके भीम और महाभीम के दो इन्द्र हैं। भीम के षड्मा और वसुमित्रा एवं महाभीम के रत्नाद्या और कनकप्रभा नाम की देवी हैं।

भूत जाति के व्यन्तर देवों के (१) स्वरूप, (२) प्रतिरूप, (३) पुरुषोत्तम, (४) प्रतिभूत (५) महाभूत, (६) प्रतिच्छिन्न और (७) आकाशभूत—ये सात भेद हैं। इनके स्वरूप और प्रतिरूप नामक दो इन्द्र हैं स्वरूप के रूपवती और बहुरूपा और प्रतिरूप के सुसीमा और सुमुखा देवी हैं।

विशाच जाति के व्यन्तर देवों के (१) कूष्माण्ड, (२) रक्ष, (३) यक्ष, (४) सम्मोह, (५) तारक, (६) अशुचि, (७) काल, (८) महाकाल, (९) शुचि, (१०) सतालक, (११) देह, (१२) महादेह, (१३) तूनीक और (१४) प्रवचन—ऐसे चौदह भेद हैं। इनके काल और महाकाल नाम के दो इन्द्र हैं। काल के कमला और कमलप्रभा एवं महाकाल के उत्पला और सुदर्शना नामक दो-दो वल्लभा देवियां हैं।

इस प्रकार व्यन्तरो के आठ कुलों के सोलह इन्द्र और प्रत्येक इन्द्र के एक-एक प्रत्येन्द्र ऐसे भवनवासियों के सर्व बत्तीस इन्द्र होते हैं। प्रत्येक इन्द्र के दो-दो गणिका महत्तरी हैं जिस प्रकार यही वेश्या नृत्यकारिणी होती है उसी प्रकार उनके जो नृत्यकारिणी हैं उन्हें गणिका और उनमें जो प्रधान हों उन्हें गणिका महत्तरी कहते हैं। उन सोलह इन्द्र सम्बन्धी बत्तीस गणिका महत्तरियों के नाम क्रम से ये हैं—(१) मधुरा, (२) मधुरालापा, (३) सुस्वरा, (४) मृदुभाषिणी २। (५) पुरुषप्रिया, (६) पुंकाता ३। (७) सौम्या, (८) पुंदशिनी ४। (९) भोगा, (१०) भोगवती ५। (११) भुजंगा, (१२) भुजगप्रिया ६। (१३) सुघोषा, (१४) विमला ७। (१५) सुस्वरा, (१६) अनंदिता ८। (१७) सुमद्रा, (१८) भद्रा, (१९) मालिनी, (२०) पद्ममालिनी १०। (२१) सर्व्वरी, (२२) सर्व्व सेना ११। (२३) रुद्रा, (२४) रुद्रदर्शना १२। (२५) भूतकांता (२६) भूता १३। (२७) भूतदत्ता, (२८) महाभुजा १४। (२९) अम्बा, (३०) कराला १५। (३१) सुलसा और (३२) सुदर्शना १३।

इस प्रकार क्रम से प्रत्येक इन्द्र के दो-दो गणिका महत्तरी होती हैं। इन सबकी आयु आधा-आधा पर्य्य प्रमाण होती है।

आगे इन्द्रों के सामानिक आदि की संख्या कहते हैं :—

व्यन्तर जाति के प्रत्येक देवेन्द्रों के सामानिक चार हजार, अंगरक्षक सोलह हजार, अन्तःपरिषद् आठ सौ, मध्य पारिषद् एक हजार और बाह्य पारिषद् १६ हजार दो सौ होते हैं। व्यन्तर जाति

के देवों के गज, घोटक, पियादा, रथ, गंधर्व, नर्तकी और वृषभ ये सात प्रकार की आनीक अर्थात् सेना है। इन गज आदि सप्तधा आनीकों के क्रम से सुज्येष्ठ, सुग्रीव, विमल, मरुदेव, श्रीदाम, दामश्री और विशाल—ये सात देव सहस्तर अर्थात् प्रधान जानने चाहिए। प्रत्येक आनीक में सात-सात कक्ष अर्थात् फोज है उनमें प्रथम आनीक के प्रथम कक्ष का प्रमाण अठाईस हजार है फिर आगे के कक्षों में उससे द्विगुण-द्विगुण प्रमाण जानना चाहिए जैसे कि पुरुषेन्द्र के अठाईस हजार हाथी प्रथम कक्ष में हैं और सात कक्ष है तो प्रथम कक्ष के हाथियों की संख्या को द्विगुण करने पर दूसरे कक्ष में छप्पन हजार, तीसरे में एक लाख बारह हजार, चौथे में दो लाख चौबीस हजार, पांचवें में चार लाख अड़तालीस हजार, छठे में आठ लाख छयानवें हजार और सातवें में सत्रह लाख बाणवें हजार हुए। सातों कक्षों का जोड़ लगाने पर सब पैंतीस लाख छप्पन हजार हुए इसी प्रकार इतने-इतने घोटक आदि जानने चाहिए। सातों प्रकार के समस्त आनीकों का प्रमाण दो करोड़, अड़तालीस लाख, बाणवें हजार हुआ। सब व्यन्तरेन्द्रों के समान आनीक हैं इस कारण सब व्यन्तरेन्द्रों के इतना ही प्रमाण है और प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्बिषक आदि असंख्यात हैं।

आगे व्यन्तरेन्द्रों के जहाँ पर नगर हैं उन द्वीपों के नाम कहते हैं—

(१) अम्जनक, (२) वज्रधातुक, (३) सुदर्ण, (४) मनः शिलक, (५) वज्र, (६) रजत, (७) हिगुल और (८) हरिताल—इन आठों द्वीपों में क्रम से किन्नर आदि अष्टविध व्यन्तरी के नगर हैं। यथा—अम्जनक द्वीप में किन्नरों के नगर हैं वहाँ जिस इन्द्र का नाम पहले कहा है उसके नगर दक्षिण में और जिसका नाम पीछे कहा है उनके नगर उत्तर में जानने चाहिए। प्रत्येक व्यन्तरेन्द्र के पाँच-पाँच नगर हैं। व्यन्तरेन्द्र के नाम से तो मध्य के नगर का नाम जानना चाहिए और उसके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाओं में इन्द्र के नाम के आगे क्रम से प्रभा, कान्त, आवर्त और मध्य का योग करने पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिमोत्तर दिशस्थ नगरों के नाम जानने चाहिए। यथा—किन्नर नाम के इन्द्र के पाँच नगर हैं तो मध्य के नगर का नाम किन्नरपुर और पूर्व, दक्षिण, पश्चिमोत्तर दिशाओं के नगरों के नाम क्रम से किन्नरप्रभ, किन्नरकान्त, किन्नरावर्त और किन्नर मध्य जानने चाहिए। इसी प्रकार समस्त इन्द्रों के नगरों के नाम जानने चाहिए। ये सब नगर समभूमियों के ऊपर जम्बूद्वीप के समान (लक्ष योजन व्यास वाले) साढ़े सैंतीस योजन ऊँचे, भूमि में साढ़े बारह योजन चौड़े, और ऊपरोंपर क्रमशः न्यून होकर ऊपर अढ़ाई योजन चौड़े प्रकार अर्थात् कोट संयुक्त हैं। उन कोटों के साढ़े बासठ योजन ऊँचे और सवा इक्कीस योजन चौड़े द्वार अर्थात् दरवाजे हैं और उन द्वारों पर पिचहत्तर योजन ऊँचा प्रासाद है जिसे सुधर्मा नामक सभा कहते हैं क्योंकि उसी प्रासाद के मध्य में साढ़े बारह योजन लम्बी, साढ़े छह योजन चौड़ी और नव योजन ऊँची सुधर्मानामक सभा है इसकी अधिष्ठान भूमि एक कोश मोटी है। इस सुधर्मा नामक सभा के द्वार का उदय (ऊँचाई) दो योजन और व्यास (चौड़ाई) एक योजन जाननी चाहिए। इसी प्रकार नगर, प्राकार, द्वार आदि का प्रमाण दक्षिणेन्द्रों के समान ही उत्तरेन्द्रों का जानना चाहिए। उन नगरों के दो-दो हजार योजन परे चारों दिशाओं में एक लम्बे, और पचास हजार योजन चौड़े वन खण्ड अर्थात् बाग हैं। प्रत्येक इन्द्र की गणिका महत्तरियों के नगर अपने इन्द्रों के पुरों के पार्श्वभाग में बीरासी हजार योजन लम्बे और इतने ही चौड़े हैं। अवशेष व्यन्तरी के स्थान नगर अनेक द्वीप समुद्रों में होते हैं। आगे कुल अपेक्षा निलय भेद कहते हैं रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में भूतों के चौदह हजार भवन हैं और पंकभाग में राक्षसों के सौलह हजार भवन हैं। व्यन्तरी के भवनवत् इनके भी भवन भूमि की मोटाई में जानने चाहिए। अवशेष जो वान व्यन्तर देव हैं उनके स्थान भूमि पर होते हैं।

आगे नीचोपपादादिवान् व्यंतर देवों का विशेष वृत्तांत लिखते हैं—पृथ्वी से एक हाथ ऊपर क्षेत्र में नीचोपपाद व्यंतर देव हैं उनके ऊपर दस-दस हजार ऊँचे क्षेत्र में क्रम से (१) दिग्वासी, (२) अंतर-निवासी और (३) कूष्माण्ड जानने चाहिए तथा बीस-बीस हजार हाथ क्षेत्र के अन्तराल से क्रमशः उपरोपरि (१) उत्पन्न, (२) अन्युत्पन्न, (३) प्रमाण, (४) गंध, (५) महागंध, (६) भुजग, (७) प्रीतिक और (८) आकाशोत्पन्न—नामक व्यंतर देव जानने चाहिए। आगे इन नीचोपपादिकों की क्रम से आयु कहते हैं—

नीचोपपादों की दस हजार दिग्वासिकों की बीस हजार, भवनवासियों की तीस हजार, कूष्माण्डों की चालीस हजार, उत्पन्नों की बीस हजार, अनुत्पन्नों की साठ हजार, प्रमाणों की सत्तर हजार, गंधों की अस्सी हजार महागंधों की चौरासी हजार, भुजगों की पत्य का अष्टमांश, प्रीतिकों की पत्य का चतुर्थांश, आकाशोत्पन्नों की अर्द्ध पत्य प्रमाण आयु है।

व्यंतरों के निलय अर्थात् स्थान तीन प्रकार के हैं—(१) भवनपुर, (२) आवास और (३) भवन। उनमें से द्वीप वा समुद्रों में भवनपुर, द्रव्य पर्वत तथा वृक्षों में आवास और चित्रा पृथ्वी में भवन होते हैं। आगे इनका स्वरूप कहते हैं—जो पृथ्वी से ऊँचे स्थान में हों वे आवास, जो पृथ्वी की वाहुल्यता में हों वे भवन और जो मध्य लोक की समभूमि पर हों उन्हें भवनपुर कहते हैं। चित्रा और वज्रा पृथ्वी की मध्य सन्धि से लेकर समस्त तिर्यक लोक के विस्तार और उदय परिमित समस्त क्षेत्र में व्यंतर देव अपने-अपने योग्य स्थान, भवन, भवनपुर वा आवासों में निवास करते हैं। कितने ही व्यंतर देवों के भवन, कितनों के भवन और भवनपुर दोनों और कितनों के भवन, भवनपुर और आवास तीनों ही होते हैं तथा भवन-वासियों में असुरकुमारों के बिना अन्य कुल वाले देवों के भवन, भवनपुर और आवास ये तीनों प्रकार के निलय होते हैं ऐसा श्रीत्रिलोकसार में व्यंतराधिकारान्तर्गत गाथा दो सौ छयाणवें में कहा है। व्यंतर देवों के उत्कृष्ट भवनों का विस्तार बारह हजार योजन, उदय तीन सौ योजन और जघन्य भवनों का विस्तार पच्चीस योजन और उदय पौण योजन जानना चाहिए। उन प्रत्येक भवनों के मध्य अपने-अपने भवन के उदय से तृतीय भाग परिमित ऊँचे कूट हैं जिन पर जिनभगवान के मंदिर बने हुए हैं बलयादि आकार रूप जो व्यन्तरो के पुर हैं उनका उत्कृष्ट विस्तार लक्ष योजन और जघन्य विस्तार एक योजन है। बलयादि आकार रूप जो आवास हैं उनका विस्तार दो सौ अधिक बारह हजार योजन और जघन्य विस्तार पौन योजन है। भवन आवासादिकों में कोटद्वार, नृत्यशाला, गृह आदि सब होते हैं। यहाँ जैसे भूमि में तहखाने होते हैं वैसे वहाँ भवन, जैसे नगर होते हैं वैसे भवनपुर और जैसे नगरों से पृथक स्थानों में मंदिर होते हैं वैसे आवास होते हैं। इन सब व्यंतर देवों के किंचित अधिक पाँच दिन बीतने पर आहार और किंचित अधिक पाँच मुहूर्त बीतने पर उच्छ्वास होता है।

इति व्यन्तर देव वर्णन समाप्तः।

अथ ज्योतिष देव वर्णन प्रारम्भः—

जम्बूद्वीप के मध्य विदेह क्षेत्र के मध्य प्रदेश में एक लाख योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है जिसमें से एक हजार योजन भूमि में और निन्यानवे हजार योजन भूमि के ऊपर है। उस मेरु के भूगत अर्थात् मूल पृथ्वी के ऊपर भद्रशाल वन है। उस भद्रशाल वन के तल से सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई पर नव सौ योजन के उदय पर्यन्त विस्तार में धनोदधि बातबलय का स्पर्श करते हुए ज्योतिष देव स्थित हैं।

भावार्थ—अथः उध्वं अपेक्षा सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई पर एक सौ दस योजन के बाहुल्य में और पूर्व पश्चिम की अपेक्षा विस्तार में धनोदधि वातबलय पर्यन्त ज्योतिष देव स्थित हैं। वे ज्योतिष देव चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे—इस तरह पाँच प्रकार हैं। अब आगे इनका पृथक् पृथक् स्थित व अन्तराल कहते हैं—चित्रा पृथ्वी से सात सौ नब्बे योजन ऊपर क्रमशः प्रकीर्णक तारे हैं। प्रकीर्णकों से दस योजन ऊपर सूर्य, सूर्य से अस्सी योजन ऊपर शशि अर्थात् चन्द्रमा, चन्द्रमा से चार योजन ऊपर ऋक्ष अर्थात् नक्षत्र हैं। नक्षत्रों से चार योजन ऊपर बुध है। बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र है। शुक्र से तीन योजन ऊपर गुरु अर्थात् बृहस्पति है। गुरु से तीन योजन ऊपर अंगार अर्थात् मंगल है। मंगल से तीन योजन ऊपर मंगदति अर्थात् शनिश्चर है। यह अठासी हैं। अतः उनमें से बुध, शुक्र, बृहस्पति शनि और मंगल—इन पाँच ग्रहों के अतिरिक्त अवशेष तिरासी ग्रहों की नगरी चित्राभूमि पर बुध और शनि इन दोनों के अन्तराल में स्थित है। तारे सात सौ नब्बे योजन ऊपर से लगाकर नव सौयोजन पर्यन्त है और सूर्य के चार प्रमाणांगुल नीचे केतु का विमान और चन्द्रमा से चार प्रमाणांगुल नीचे राहु का विमान स्थित है। तारों से तारों के बीच तिर्यक रूप अन्तराल जघन्य एक कोश का सातवाँ भाग मध्यम पचास योजन और उत्कृष्ट एक हजार योजन प्रमाण है। ज्योतिषी देवों के विमान जैसे किसी गोले को बीच में से आधाकार चौड़ाई के भाग को ऊपर की ओर करके लटका दीजिए उसके ही आकार सदृश है। उन विमानों के ऊपर ज्योतिषी देवों के नगर हैं। वे सब नगर जिन मन्दिर संयुक्त महा मनोहर और रमणीक हैं।

आगे उन विमानों का व्यास और बाहुल्य कहते हैं—एक योजन के इकसठ भाग में से छप्पन कला प्रमाण चन्द्रमा के विमान का और अड़तालीस भाग प्रमाण सूर्य के विमान का व्यास है। शुक्र के विमान का एक कोष गुरु का किञ्चित न्यून एक कोश बुध, मंगल और शनिश्चर इन तीनों का आधा कोश प्रमाण व्यास है। तारों के विमान का व्यास जघन्य पात्र कोश, मध्यम आध कोश और उत्कृष्ट व्यास पीण तथा एक कोश है। ऋक्ष अर्थात् नक्षत्र के विमान का व्यास प्रमाण एक कोश है। अन्य सर्व देवों के विमानों के बाहुल्य का प्रमाण अपने अपने विमानों के व्यास से आधा आधा है और राहु केतु के विमानों का किञ्चित न्यून एक योजन होता है।

आगे चन्द्र आदि की किरणों का प्रमाण कहते हैं—

सूर्य के उष्ण किरण बारह हजार, चन्द्रमा के शीत किरण बारह हजार, शुक्र के ठाई हजार और भी शेष ग्रह नक्षत्रों के अड़्ठाई हजार तथा तारों के दो-दो हजार रश्मि हैं। आगे चन्द्र सूर्य आदि के विमानों के बाह्य देवों का प्रमाण कहते हैं—

चन्द्रमा तथा सूर्य के विमान बाह्य देव सोलह सोलह हजार, ग्रहों के आठ आठ हजार, नक्षत्रों के चार-चार हजार और तारों के दो-दो हजार होते हैं। आगे चन्द्रमा के परिवार रूप, ग्रह, नक्षत्र, तथा तारों का प्रमाण कहते हैं—अठासी ग्रह, अठाईस नक्षत्र और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ा कोड़ी तारे—इतना एक चन्द्रमा का परिवार है।

अठासी ग्रहों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) काल विकाल, (२) लोहित, (३) कनक, (४) कनक संस्थान, (५) अतंरद, (६) कचपव, (७) दुन्दुभि, (८) रत्न निभ, (९) रूपनिर्भास, (१०) नील (११) नीलाभास, (१२) अश्व, (१३) अश्वत्थान, (१४) फोस, (१५) कंसवर्ण, (१६) कंस (१७) शंखपरिमाण, (१८) शंखवर्ण

(१६) उदय, (२०) पंचवर्ण, (२१) तिल, (२२) तिलपुष्प, (२३) क्षीरराशि, (२४) घूम, (२५) घूमकेतु, (२६) एक संस्थान, (२७) अज, (२८) कलेर, (२९) विकट, (३०) अभिन्न संधि (३१) ग्रन्थि, (३२) मान (३३) चतुत्पाद, (३४) विद्युज्जिका, (३५) नभ, (३६) सदृश, (३७) निलय, (३८) कालचक्र, (३९) कालकेतु, (४०) अनप, (४१) सिंहायु, (४२) धिगुल, (४३) काल, (४४) महाकाल, (४५) रुद्र, (४६) महारुद्र, (४७) संतान, (४८) सम्भव (४९) सर्वार्थी, (५०) दिश (५१) शक्ति, (५२) वस्तून, (५३) निश्चल, (५४) प्रत्यभ (५५) निर्मित्र (५६) ज्योतिष्मान (५७) स्वयंप्रभ (५८) भासुर (५९) विरज (६०) निदुःख (६१) वीतशोक (६२) सोमंकर (६३) धोमंकर (६४) अभयंकर (६५) विजय (६६) वैजयन्त (६७) जयन्त (६८) अपराजित (६९) विमल (७०) अस्त (७१) विजयष्णु (७२) विकस (७३) करिकाष्ट (७४) एक जटि (७५) अग्नि ज्वाल (७६) जलकेतु (७७) केतु (७८) क्षीरस (७९) अध (८०) श्रवण (८१) राहु (८२) महाग्रह (८३) भावग्रह (८४) मंगल (८५) शनिश्चर (८६) बुध (८७) शुक्र और (८८) बृहस्पति ऐसे अठ्ठासी ग्रह हैं।

अष्टाईस नक्षत्रों के नाम -

(१) कृतिका, (२) रोहिणी, (३) मृगशिर, (४) आर्द्रा, (५) पुनर्वसु, (६) पुष्य, (७) अश्लेषा, (८) मघा, (९) पूर्वाफाल्गुनी, (१०) उत्तराफाल्गुनी, (११) हस्त, (१२) चित्रा, (१३) स्वाति, (१४) विशाखा, (१५) अनुराधा, (१६) ज्येष्ठा, (१७) मूल, (१८) पूर्वाषाढ़, (१९) उत्तराषाढ़, (२०) अमिजित, (२१) श्रवण, (२२) धनिष्ठा, (२३) शतभिषा, (२४) पूर्वाभाद्रपद, (२५) उत्तराभाद्रपद, (२६) रेवती, (२७) अश्विनी और, (२८) भरणी-इस प्रकार अष्टाईस नक्षत्र हैं।

अष्टाईस नक्षत्रों के अधिदेवता :-

(१) अग्नि, (२) प्रजापति, (३) सोम, (४) रुद्र, (५) दिति, (६) देवयंत्री, (७) सूर्य, (८) पिता, (९) भाग, (१०) अर्यमा, (११) दिनकर, (१२) त्वष्ठा, (१३) अनिल, (१४) इंद्राग्नि, (१५) मित्र, (१६) रुद्र, (१७) नैऋत्य, (१८) जल, (१९) विश्व, (२०) ब्रह्मा, (२१) विष्णु, (२२) वसु, (२३) वरुण, (२४) अज, (२५) अभिवृद्धि, (२६) पूषा, (२७) अश्व और, (२८) यम—ये क्रमशः अष्टाईस कृतिका आदि नक्षत्रों के अधिदेवता अर्थात् स्वामी हैं।

कृतिका आदि नक्षत्रों के तारे क्रमशः (१) छह, (२) पाँच, (३) तीन, (४) एक, (५) छह, (६) तीन, (७) छह, (८) चार, (९) दो, (१०) दो, (११) पाँच, (१२) एक, (१३) एक, (१४) चार, (१५) छह, (१६) तीन, (१७) नौ, (१८) चार, (१९) चार, (२०) तीन, (२१) तीन, (२२) पाँच, (२३) एक सौ ग्यारह, (२४) दो, (२५) दो, (२६) बत्तीस, (२७) पाँच (२८) तीन होते हैं।

कृतिका आदि नक्षत्रों के तारे क्रमशः इस-इस आकार वाले होते हैं :- (१) बीजना (२) गाड़े की उदिका, (३) हिरण का मस्तक, (४) दीपक, (५) छत्र, (६) तोरण, (७) बांवी, (८) गौमूत्रवत् मोड़े वाले, (९) शर का युगल, (१०) हाथ (११) कमल, (१२) दीपक, (१३) अहिरण, (१४) उत्कृष्ट हार, (१५) बीणा का शृंग, (१६) बिच्छू, (१७) जीर्ण बाबड़ी (१८) सिंह का कुभस्थल, (१९) हस्ती का कुभस्थल, (२०) मृदंग, (२१) आकाश से गिरता हुआ पक्षी, (२२) सेना, (२३) हस्ती का अलग शरीर, (२४) हस्ती का पिछला शरीर, (२५) नाव, (२६) घोड़े का मस्तक, (२७) चन्द्रमा (२८) पाषाण के समान आकार वाले होते हैं।

आगे कृतिका आदि नक्षत्रों के परिवार रूप तारों का प्रमाण कहते हैं—

कृतिका आदि नक्षत्रों के मूल तारों को एक हजार, एक सौ ग्यारह से गुणा करने पर जो संख्या हो वह कृतिका आदि नक्षत्रों के परिवार रूप तारों की संख्या होती है जैसे कृतिका नक्षत्र के मूल तारे छह हैं उस की संख्या को एक हजार एक सौ ग्यारह से गुणा करने पर छह हजार छह सौ छयासठ कृतिका नक्षत्र के परिवार रूप तारों की संख्या हुई। इसी प्रकार अन्य नक्षत्रों के परिवार रूप तारों की संख्या होती है। एक चन्द्रमा के परिवार रूप समस्त तारे छयासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर हैं अर्थात् एक चन्द्रमा सम्बन्धी एक सूर्य अठ्ठासी ग्रह, अठ्ठाईस नक्षत्र और छयासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोड़ा-कोड़ी तारे हैं। यह सब एक चन्द्रमा का परिवार है। इतना-इतना ही सब चन्द्रमाओं का परिवार जानना चाहिए। इनमें चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रत्येन्द्र होता है। जम्बूद्वीप में दो चन्द्र हैं और दो ही सूर्य हैं, एक सौ पिचहत्तर ग्रह, छप्पन नक्षत्र और एक लाख तैंतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ाकोड़ी तारे जम्बूद्वीप में होते हैं। इनको एक सौ नब्बे का भाग देने पर जो प्रमाण हो उसको भरत आदि क्षेत्र वा कुलाचलों की एक-एक से दुगुनी शलाका जो विदेह पर्यंत है और पश्चात् आधी-आधी है से गुणा करने पर भरत आदि क्षेत्र वा हिमवन् आदि कुलाचलों के तारों का प्रमाण होता है।

भरत क्षेत्र की एक शलाका, हिमवन् कुलाचल की दो शलाका, हैमवत् क्षेत्र की चार शलाका ऐसे क्रमशः द्विगुण-द्विगुण बढ़ते हुए विदेह में चौसठ शलाका हैं पश्चात् आधी-आधी हैं। इन शलाकाओं से तारागणों की एक सौ नब्बे द्वारा विभाजित संख्या को गुणन करने से क्रमशः भरत क्षेत्र में सात सौ पाँच कोड़ा-कोड़ी, हिमवन् पर्वत पर चौदह सौ दस कोड़ा-कोड़ी, महाहिमवान् पर्वत पर छप्पन सौ चालीस कोड़ा-कोड़ी, हरि क्षेत्र में ग्यारह हजार दो सौ अस्सी कोड़ा-कोड़ी, निषिधपर्वत पर बाईस हजार पाँच सौ चालीस कोड़ा-कोड़ी, विदेह क्षेत्र में पैंतालीस हजार एक सौ बीस कोड़ा-कोड़ी, नील पर्वत पर बाईस हजार पाँच सौ साठ कोड़ा-कोड़ी, रम्यक् क्षेत्र में ग्यारह हजार दो सौ अस्सी कोड़ा-कोड़ी, रुक्मि पर्वत पर छप्पन सौ चालीस कोड़ा-कोड़ी, हैरण्यवत् क्षेत्र में अठ्ठाईस सौ बीस कोड़ा-कोड़ी, शिखरी पर्वत पर चौदह सौ दस कोड़ा-कोड़ी, ऐरावत क्षेत्र में सात सौ पाँच कोड़ा-कोड़ी तारे जानने चाहिए। ये सब ज्योतिष देव मेरु पर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस योजन परे-परे प्रदक्षिणा रूप निरन्तर गमन करते हैं।

उनके गमन से समय विभाग अर्थात् घड़ी, पल, दिन, रात्रि आदि का व्यवहार सूचित होता है और उनकी चाल पर गणित करने से प्राणियों के सुख दुःख का बोध करते हैं। मनुष्य लोक के अर्थात् अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों के चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि पाँच प्रकार ज्योतिष देव तो मेरु की प्रदक्षिणा रूप गमन करते हैं और मनुष्य लोक के बाहर जो चन्द्रमा, सूर्य, आदि जो ज्योतिष देव हैं वे गमन नहीं करते अर्थात् जहाँ के तहाँ स्थित रहते हैं। अढ़ाई द्वीप में भी बहुत से तारे ऐसे हैं जो गमन नहीं करते अर्थात् जहाँ के तहाँ स्थित रहते हैं। इसी कारण उन्हें ध्रुवतारे कहते हैं। जो ध्रुवतारे जम्बूद्वीप में छत्तीस, लवण समुद्र में एक सौ उनतालीस, घातकी खंड द्वीप में एक हजार दस, कालोदक समुद्र में इकतालीस हजार एक सौ बीस और पुष्कराद्व द्वीप में तरेपन हजार दो सौ तीस हैं। जम्बू द्वीप में दो लवणसमुद्र में चार, घातकी खंड द्वीप में बारह, कालोदक समुद्र में बयालीस, पुष्कर द्वीप में बहत्तर चन्द्रमा और इतने ही सूर्य हैं।

यहाँ तक अढ़ाई द्वीप है। मानुषोत्तर पर्वत से परे अर्द्ध पुष्कर भाग में एक हजार दो सौ चौसठ चन्द्र हैं और पुष्कर समुद्र में ग्यारह हजार दो सौ चन्द्र हैं उससे आगे-आगे से समुद्र से चौगुणे समुद्रों में

और द्वीप से चौगुने द्वीपों में चन्द्र और सूर्य जानने चाहिए इसी प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्र तक जानना चाहिए जिस द्वीप व समुद्र में अतिथि ज्योतिष देव हैं उनमें आधे ज्योतिष देव हैं उनमें आधे ज्योतिष देव तो एक भाग में और आधे एक भाग में गमन करते हैं। आगे पंच प्रकार ज्योतिष देवों की आयु का प्रमाण कहते हैं—चन्द्रमा की आयु एक लाख वर्ष सहित पल्योपम प्रमाण है, सूर्य की हजार वर्ष सहित पल्य प्रमाण, शुक्र की सौ वर्ष सहित पल्य प्रमाण, गुरु की पीण पल्य, ग्रहों की आध पल्य, प्रकीर्णक तारे और नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु पल्य का चतुर्थांश और जघन्य आयु पल्योपम का अष्टमांश होती है।

चन्द्रमा के चद्राभा, सुसीमा, प्रभंकरा, और आर्यमालिनी—ये चार देवांगनाएँ और सूर्य के द्युति, सूर्यप्रभा, प्रभंकरा अर्चिमालिनी—ये चार पट देवांगनाएँ हैं। ये एक-एक पट देवांगना चार-चार हजार परिवार देवी सहित हैं और यदि एक-एक पट देवांगना विक्रिया करे तो अपनी-अपनी परिवार देवियों की संख्या के समान अर्थात् चार-चार हजार देवांगनारूप हो जाती है। सबसे निकृष्ट देवों के न्यून से न्यून बत्तोर देवांगनाएँ होती हैं। मध्य के देशों में यथायोग्य जानना चाहिए। समस्त ज्योतिष देवांगनाओं की आयु अपने स्वामियों से अर्द्ध प्रमाण होती है। ग्रहों के आठ हजार, नक्षत्रों के चार-चार हजार और तारों के दो-दो हजार देवांगनाएँ होती हैं। समस्त ज्योतिष देवों का काय प्रमाण सात हाथ और साढ़े बारह दिन बीतने पर उच्छ्वास तथा आहार होता है। आगे भवनत्रिकों से उत्पन्न होने वाले जीवों का वर्णन करते हैं—उन्मार्गचारी, जिनोपदिष्ट मार्ग से विपरीत आचरण करने वाले, निदान बंध करने वाले, अग्नि जल पात आदि से प्राण विसर्जन करने वाले, अकाम निर्जरा, बालतप तथा पंचाग्नि तप तपने वाले, सदोष चारित्र्य जीव भवनत्रिक अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते हैं। इन भवनत्रिक देवों के आदि की पीतलेश्या तक अर्थात् कृष्ण, नील कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं। परिणामों की उत्कृष्ट विशुद्धता न होने से पद्म और शुक्ल ये दो लेश्याएँ नहीं होती हैं। अब यहाँ प्रसंगवश लेश्याओं का लक्षण, स्वरूप तथा दृष्टांत द्वारा कर्मों को कहते हैं—

जिसके द्वारा आत्मा स्वयं पुण्य पाप को स्वीकार करता है उसे लेश्या कहते हैं—

भावार्थ—योग प्रवृत्ति और कषाय के संयोग को लेश्या कहते हैं और लेश्या तथा कषाय से ही बंध चतुष्ट होता है। शुभ योग तथा मंद कषाय से शुभ रूप पुण्य प्रकृतियों का और अशुभ तथा तीव्र कषाय से पाप रूप अशुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है तथा बंध होता है। इसी कारण जिसके द्वारा आत्मा अपने आपको पुण्य पाप से लिप्त करते हैं उसे लेश्या कहते हैं—ऐसा कहा है।

वह लेश्या दो प्रकार की है। एक द्रव्य लेश्या और दूसरी भाव लेश्या। वर्ण नामकर्म के उदय से जो जरीर का द्येत, कृष्ण आदि वर्ण होता है उसे द्रव्य लेश्या कहते हैं। यह बाह्य लेश्या आत्मा की कुछ अपकारक व उपकारक नहीं होती है। कषायों से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। इसी लेश्या के द्वारा समस्त संसारी जीव शुभाशुभ कर्म ग्रहण करते हैं। ये दोनों ही प्रकार की लेश्याएँ कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या—ऐसे छह प्रकार की होती हैं तथा प्रत्येक के उत्तर भेद अनेक हैं। वर्ण की अपेक्षा से भ्रमर के समान कृष्ण लेश्या, नील मणि (नीलम) के समान नील लेश्या, कबूतर के समान कापोत लेश्या, सुवर्ण के समान पीत लेश्या, कमल के समान, पद्म लेश्या और शंख के समान शुक्ल लेश्या होती है।

आगे किस गति में कौनसी लेश्या होती है उसका वृत्तान्त कहते हैं—

तरक में सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्ण होते हैं। कल्पवासी देवों के देवों के द्रव्य लेश्या (शरीर-का वर्ण) भाव लेश्या के सदृश होता है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, मनुष्य और तिर्यन्चों के कृष्ण आदि छहों द्रव्य लेश्या होती हैं तथा विक्रिया शक्ति से प्रादुर्भूत शरीर का वर्ण भी छहों में से किसी प्रकार का होता है। उत्तम भोगभूमि वालों का सूर्य समान, मध्य भोग भूमि वालों का चन्द्र समान और जघन्य भोगभूमि वालों का हरित वर्ण शरीर होता है। वादर जलकायिक के शुक्ल और वादर तेजकायिक के पीत द्रव्य लेश्या होती है। वायुकाय के तीन भेद हैं—

घनोदधिवात, घनवात और तनुवात। प्रथम का शरीर गो सूत्र वर्णवत्, दूसरे का शरीर मूंग समान और तीसरे के शरीर का वर्ण अव्यक्त है। सम्पूर्ण सूक्ष्म जीवों का तथा अपनी प्राप्ति के प्रारम्भ समय से शरीर पर्याप्ति पर्यन्त समस्त जीवों का शरीर नियम से कापोत वर्ण का होता है। विग्रहगति में सम्पूर्ण जीवों का शरीर शुक्ल वर्ण का होता है।

षट् लेश्याओं के लक्षण—

अब षट् लेश्याओं के लक्षण कहते हैं—

जो जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों सहित, द्वेषरूपी ग्रह से घिरा हुआ, लड़ाई के स्वभाव वाला, अधर्मी, निर्दयी और कठोर चित्त हो, दुराग्रही हो उसके कृष्ण लेश्या समझनी चाहिए। १।

जो काम करने में मंद हो अथवा स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित हो, कला चातुर्य रहित मूर्ख हो, स्पर्शन आदि पञ्चेन्द्रियों के विषय सेवन करने में लम्पट हो, क्रोधी, भानी, लोभी और मायाधारी हो, आलसी हो, रागी द्वेषी, मोही, शोकी, क्रूर, भयंकर, अति निद्रालु और दूसरों को ठगने में अति दक्ष हो, कृत्य-अकृत्य का विचार न करने वाला, धन-धान्य आदि अधिक परिग्रह रखने वाला और अधिक प्रारम्भ करने वाला हो उसे नील लेश्यावाला समझना चाहिए। २।

जो क्रोध, शोक, भय, मत्सरता, असूया, परनिन्दा आदि करने में तत्पर, सदा अपनी प्रशंसा करने वाला, दूसरों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर हर्ष मानने वाला, अनेक प्रकार से दूसरों को दुःख देने अथवा दूसरों से बैर करने वाला, अपने हानि, लाभ को न समझने वाला, दूसरों के ऐश्वर्य आदि को न सहन करने वाला, दूसरे का तिरस्कार और अपकीर्ति चाहने वाला, युद्ध में मरने तक की इच्छा करने वाला, अहंकार रूपी ग्रह से घिरा हुआ, इच्छानुसार सब क्रियाओं को करने वाला, प्रशंसा करने पर सदा देने वाला और अपने कार्य अकार्य की कुछ भी गणना न करने वाला हो उसे कापोत लेश्या वाला समझना चाहिए। ३।

जो पक्षपात रहित सबको समान देखने वाला (समदर्शी) द्वेष रहित, हित और अहित का विचार करने वाला, कृत्य व अकृत्य, सेव्य व अनुपसेव्य को समझने वाला, दयालु, दानदाता, सत्कार्यों में तत्पर और उदार चित्त वाला, कोमल परिणामी हो उसे पीत लेश्या वाला समझना चाहिए। ४।

जो आचार और मन से शुद्ध, दान देने में तत्पर, शुभ चित्तवन करने वाला, भद्र परिणामी, विनयवान्, सत्कार्य और सज्जन पुरुषों के सत्कार करने में सदा तत्पर, क्षमावान्, न्याय पथ पर चलने वाला, प्रिय वचन वक्ता और मुनि, गुरु आदि की पूजा में प्रीति-युक्त हो उसे पद्म लेश्या वाला समझना चाहिए। ५।

जो निदानरहित, पक्षपात रहित, अहंकार रहित, राग और द्वेष से परान्मुख, स्नेह रहित, और सब जीवों में समदर्शी हो उसे शुक्ल लेश्या वाला समझना चाहिए। ६।

सारांश यह है कि शरीर धारी जीवों के जो तीव्र परिणाम हैं उन्हें कापोत लेश्या, उनसे भी अधिक तीव्र परिणामों को नील लेश्या तथा सबसे तीव्र परिणामों को कृष्ण लेश्या समझना चाहिए। इसी प्रकार मंद परिणामों को पीत लेश्या, उनसे भी मंद परिणामों को पद्म लेश्या और सबसे अधिक मंद परिणामों को शुक्ल लेश्या समझना चाहिए। ये लेश्यायें अप्रशस्त और प्रशस्त भेद से दो प्रकार की हैं। इनमें से आदि को कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्यायें अप्रशस्त हैं। इनका फल निष्कृष्ट है। ये संसार परिभ्रमण की कारण और नरक तिर्यञ्च गति की मूल हैं और अन्त की पीत, पद्म तथा शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्यायें हैं इनका फल उत्तम है। ये सर्व मोक्ष सुख की मूलक हैं। जब आत्मा के उत्तरोत्तर संक्लेश परिणामों की वृद्धि होती है। तब यह आत्मा त्रयशः कापोत, नील, कृष्ण, इन तीन अप्रशस्त लेश्याओं के जघन्य (तीव्र) मध्यम (तीव्रतर) और उत्तम (तीव्रतम) अंशों को प्राप्त होता चला जाता है और जब उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होती है तब यह आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल इन तीन लेश्याओं के मंद, मंदतर और मंदतम अंशों को प्राप्त होता चला जाता है। इन छहों लेश्या वालों के जो कार्य हैं उनका ऐसा दृष्टान्त जानना चाहिए।

कृष्ण आदि छहों लेश्या वाले छह पुरुष देशान्तर को गमन कर रहे थे तो उन्होंने मार्ग में भ्रष्ट होकर वन में प्रवेश किया। वहाँ फलों से पूर्ण किसी एक वृक्ष को देखकर उसके फल भक्षण करने का उपाय अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार विचार करने लगे और अपने-अपने मन के विचारानुसार वचन कहने लगे कृष्ण लेश्या वाला विचारने लगा और कहने लगा—मैं इस वृक्ष को मूल से उखाड़कर पृथ्वी में पटक के इसके फलों का भक्षण करूँगा, नील लेश्या वाला विचारने लगा और कहने लगा—मैं इस वृक्ष को स्कंद से काटकर इसके फल खाऊँगा। पीत लेश्या वाला विचारने लगा और कहने लगा मैं इस वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटकर इसके फलों को खाऊँगा, पीत लेश्यावाला विचारने लगा और कहने लगा—मैं इस वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाओं को काटकर इसके फलों को खाऊँगा। पद्म लेश्या वाला विचारने लगा और कहने लगा—मैं शाखा आदि को न तोड़कर इस वृक्ष के फलों को तोड़कर खाऊँगा। शुक्ल लेश्या वाला विचारने लगा तथा कहने लगा—मैं इस वृक्ष को बाधा न पहुँचाकर वृक्ष से स्वयं टूटकर पड़े हुए फलों को उठाकर खाऊँगा। इस प्रकार जो मन पूर्वक वचन आदि की प्रवृत्ति होती है उसे लेश्या का कम वा कार्य कहते हैं। यहाँ पर यह एक केवल दृष्टान्त दिया गया है अतएव इसी प्रकार से अन्यत्र भी समझना चाहिए।

अब किस-२ गुणस्थान में कौन-२ सी लेश्या होती है यह लिखते हैं—

चतुर्थ गुणस्थान पर्यंत अर्थात् प्रथम के चार गुणस्थानों में प्रत्येक में छह-छह लेश्या हैं। आगे के देशविरत, प्रमत्त, विरत और अप्रमत्त विरत इन तीन गुणस्थानों में पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्या होती हैं। सात से आगे के छह गुणस्थानों में अर्थात् अपूर्वकरण से लेकर सयोगकेवली पर्यंत केवल एक शुक्ल लेश्या ही होती है और अन्त के आयोग केवली गुणस्थान में लेश्या का सर्वथा अभाव है। अकपाय जीवों के जो लेश्या बतलाई है केवल योग के सद्भावापेक्षा कही है।

इति लेश्या वर्णनम् ।

अथ वैमानिक देव वर्णनः—

वैमानिक देवों के कल्पोपपन्न व कल्पातीत ऐसे दो भेद हैं जिनमें इन्द्र आदि दश प्रकार के देवों की कल्पना है ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प और उनमें रहने वालों को कल्पवासी (कल्पोपपन्न) कहते हैं।

जिनमें इंद्रादिकों की कल्पना नहीं है ऐसे ग्रैवेयक आदि देवों को अपने-अपने विषय में दूसरों की अपेक्षा न रखने से ग्रहमिन्द्र कहते हैं। जिनमें से प्रथम कल्प जो स्वर्ग है उनके नाम कहते हैं। वे कल्प संज्ञापेक्षा से—१. सौधर्म, २. ईशान, ३. सनत्कुमार ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्म, ६. ब्रह्मोत्तर, ७. लांतव, ८. कापिष्ठ, ९. शुक, १०. महाशुक ११. सतार, १२. सहस्वार १३. आनत १४. प्राणत १५. आरण और १६. अच्युत—इस प्रकार सोलह हैं। इन सोलहों के जैसे सौधर्म १ और ईशान का युगल एक-२ और दूसरा सनत्कुमार तथा माहेन्द्र का युगल दूसरा-ऐसे दो-दो स्वर्गों के क्रमशः उपरोपरि आठ युगल हैं। आगे इनके ऊपर स्थित कल्पातीत विमानों के नाम कहते हैं आठ युगलों के ऊपर क्रमशः अधस्तन, मध्यम और उपरिम नामक नव ग्रैवेयकों के तीन-तीन त्रिक, नव अनुदिश विमान हैं। इनमें रहने वाला प्रत्येक देव इंद्र के समान मुख के भोगता होने से ग्रहमिन्द्र कहलाते हैं। आगे नव अनुदिश और पंचानुत्तरों के विमानों के नाम कहते हैं।

अचि, अचिनालिनी, वैर और वैरोचन—ये चार विमान तो क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिमोत्तर दिशाओं में और सोम, सोमरूप, अंक तथा रफटिक—ये चार प्रकीर्णक विमान विदिशाओं में और आदित्य नामक उन्मूक विमान मध्य में ऐसे नव अनुदिश विमान हैं। विजय, वैजन्त, जयन्त तथा अपराजित—ये चार श्रेणीयद्ध विमान पूर्वादि दिशाओं में और सर्वार्थसिद्धि नामक विमान मध्य में ऐसे पांच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार कहे हुए कल्प और कल्पातीत विमान के स्थिति स्थान को कहते हैं।

इस चित्रा पृथ्वी से एक लाख योजन ऊँचा तो सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वत की चूलिका से नाभिगिरि (मेरुपर्वत) की उन्नतता विहीन डेढ़ राजू की ऊँचाई तक सौधर्म और ईशान युगल है। सौधर्म, ईशान युगल से डेढ़ राजू की ऊँचाई तक सनत्कुमार, माहेन्द्र युगल है। सनत्कुमार, माहेन्द्र युगल के ऊपर ब्रह्म—ब्रह्मोत्तर १. लांतव—कापिष्ठ २. शुक—महाशुक ३. सतार—सहस्वार ४. आनत—प्राणत ५. आरण—अच्युत ६—ये छह युगल क्रमशः आधे-आधे राजू में हैं। इस प्रकार आठों युगल छह राजू में हैं। उनके ऊपर सातवें योजन के आदि में नव ग्रैवेयक, मध्य में नव अनुदिश और अन्त में पंचानुत्तर विमान हैं। अब आगे सौधर्म आदि कल्प और ग्रैवेयक आदि कल्पातीतों के विमानों की संख्या कहते हैं—सौधर्म स्वर्ग में बत्तीस लाख, ईशान स्वर्ग में अठ्ठाईस लाख, सनत्कुमार में बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में चार लाख, लांतव और कापिष्ठ युगल में पचास हजार, शुक, महाशुक में चालीस हजार, सतार, सहस्वार युगल में छह हजार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत—इनमें सात सौ विमान हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गों में समस्त चौरासी लाख, छयाणवे हजार, सात सौ विमान हैं। आगे इनके ऊपर ग्रैवेयक के अधस्तन त्रिक में एक सौ ग्यारह, मध्यम त्रिक में एक सौ सात, उपरि त्रिक में सत्ताणवे, अनुदिश में नव और अनुत्तर में पाँच विमान जानने चाहिए। इस प्रकार कल्पातीतों के विमानों का संकलन करने पर समस्त चौरासी लाख, सत्ताणवे हजार तेईस विमान हैं इन सब विमानों में एक-एक जिन मंदिर हैं इस कारण इतने ही चैत्रालय हैं उन सब में उत्कृष्ट अवगाहना परिमित जिन प्रतिमा विराजमान हैं उन सबको त्रिकरण शुद्धतापूर्वक मेरा बारम्बार नमस्कर हो।

आगे कल्प और कल्पातीतों की पटल संख्य कहते हैं

सौधर्म ईशान युगल में (१) ऋजु, (२) विमल, (३) चन्द्र, (४) वल्गु, (५) वीर, (६) अरुण, (७) नन्द, (८) नलिन, (९) काँचन, (१०) रोहित, (११) चंचल, (१२) मरुत, (१३) उद्वाँश (१४) वैडूर्य, (१५) रुचक, (१६) रुचि, (१७) अंक, (१८) स्कनिक, (१९) तपनीय, (२०) मेघ, (२१) बभ्र,

(२२) हरिद्र, (२३) पद्म, (२४) लोहित, (२५) नंदावर्त, (२६) प्रभंकर, (२७) पृथक् (२८) गज, (३०) मित्र और (३१) प्रभ—नाम के धारक इकतीस पटल हैं।

सनत्कुमार माहेन्द्र युगल में (१) अंजन, (२) बनमाल (३) नाग, (४) गरुड़ (५) जामल, (६) बलभद्र और (७) चक्र नाम के धारक सात पटल हैं।

ब्रह्म ब्रह्मोत्तर युगल में अरिष्ट, सुरक, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर नाम के चार पटल हैं।

लातव और कापिष्ट युगल में ब्रह्महृदय और लातव नाम के दो पटल हैं।

शुक्र, महाशुक्र युगल में शुक्र नामक एक ही पटल है। सतार और सहस्रार युगल में सतार नामक एक ही पटल है। आनत, प्राणत युगल में आनत प्राणत और पुष्कर नामक तीन पटल हैं।

आरण, अच्युत युगल में सातक, आरण और अयुक्त नामक तीन पटल हैं।

इस प्रकार आठ युगलों के बावन पटल हैं। इनके ऊपर ग्रैवेयक के तीन त्रिकों के सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुध, यशोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस और प्रीतिकर—ये नव पटल हैं। नव अनुदिशों का एक आदित्य नामक एक पटल है। अन्त के पञ्चानुत्तरों में सर्वार्थसिद्धि नामक एक अन्तिम पटल है। इस प्रकार समस्त तरेसठ पटल हैं।

सुदर्शन मेरु की चूलिका के ऊपर बालाग्र प्रमाण अन्तराल छोड़कर तो पहला ऋजुक नामक इन्द्रक पटल है। तदुपरि मध्य में असंख्यात योजन प्रमाण अन्तराल छोड़कर द्वितीय पटल है। इसी प्रकार ऊपरोपरि मध्य में असंख्यात योजन अन्तराल छोड़कर तरेसठ पटल स्थित हैं। अन्त का सर्वार्थ सिद्धि नामक पटल सिद्धक्षेत्र से बारह योजन नीचे है। प्रत्येक पटल के मध्य में जो एक विमान होता है उसको इन्द्रक विमान कहते हैं सो मेरु पर्वत पर तो ऋजुक नामक इन्द्रक विमान है। इस ऋजुक नामक इन्द्रक विमान की सीध में ऊपर ऊपर वाले प्रत्येक पटलों में एक एक इन्द्रक विमान होता है। पटलों के नाम के अनुसार ही इन्द्रक विमानों के नाम हैं। इन इन्द्रक विमानों की पूर्व पश्चिमोत्तर दक्षिण दिशाओं में जो पंकित बद्ध विमान होते हैं उन्हें श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। उन श्रेणीबद्ध विमानों के मध्य के अन्तराल में विदिशाओं में पंकित रहित जहाँ तहाँ फैले हुए बिखरे हुए वर्षा किए पुष्पोक्त जो होते हैं उन्हें प्रकीर्णक विमान कहते हैं। प्रथम पटल के ऋजुक नामक इन्द्रक पटल की चारों दिशाओं में बासठ बासठ श्रेणीबद्ध विमान हैं अतः चारों दिशाओं के समस्त दो सौ अड़तालीस श्रेणीबद्ध विमान हुए। आगे आगे के द्वितीयादि पटलों के इन्द्रकों की प्रत्येक दिशाओं में एक एक श्रेणीबद्ध विमान हीन होने से प्रत्येक पटल में चार चार विमान श्रेणीबद्ध न्यून होते चले गये हैं। यहाँ तक कि बासठवें पटल (नव अनुदिश) में चारों दिशाओं में एक एक अर्थात् समस्त चार श्रेणीबद्ध विमान हैं। इन श्रेणीबद्ध विमानों के अन्तराल में पंकित रहित जहाँ तहाँ फैले हुए तारोंवत् प्रकीर्णक विमान होते हैं। ये प्रकीर्णक विमान संख्या में प्रत्येक कल्प के श्रेणीबद्ध व इन्द्रकों के संकलन को कल्प के समस्त विमान प्रमाण में घटा देने से जो अवशेष रहे उतने ही जानने चाहिए। जैसे सौधर्म स्वर्ग में समस्त बत्तीस लाख विमान हैं। पूर्व दक्षिण पश्चिम—ये तीन दिशा और नैऋत्य, आग्नेय विदिशा के श्रेणीबद्ध तथा प्रकीर्णक और इन्द्रकों पर तो दक्षिणेन्द्र की आज्ञा होती है और उत्तर दिशा वायव्य, ईशान विदिशाओं के श्रेणीबद्ध तथा प्रकीर्णक विमानों पर उत्तरेन्द्र की आज्ञा होती है। जिन विमानों पर दक्षिणेन्द्र की आज्ञा होती है उन विमानों के समुदाय को सौधर्म स्वर्ग और जिन विमानों पर उत्तरेन्द्र की आज्ञा होती है उनके समुदाय को ईशान स्वर्ग कहते हैं जिस प्रकार प्रायः यहाँ पर भी अपने स्वामी के नाम की अपेक्षा बहुत से नगर व ग्रामों के तत्सदृश नाम होते हैं। सनत्कु-

मार-माहेन्द्र आनत-प्राणत और आरण—अच्युत इन युगलों में पूर्वोक्तवत विधान जानना चाहिए और जिन कल्प युगलों में एक एक ही इन्द्र हैं ऐसे जो ब्रह्म—ब्रह्मोत्तर १. लाँतव कापिष्ट २. शुक्र—महाशुक्र ३. और सतार—सहस्वार ४. इन चार युगलों में वसती की अपेक्षा से दो नाम हैं जिस प्रकार यहाँ पर नगर का एक स्वामी होते हुए वसतियों के अलग अलग नाथ होते हैं। उनमें पूर्व दक्षिण और पश्चिम दिशाओं के इकतीस पटलों के चार हजार चार सौ दो श्रेणीबद्ध विमान और इकतीस पटलों के इतने ही इन्द्रक विमान—दोनों के संकल्पन चार हजार चार सौ दो को बत्तीस हजार परिमित विमान संख्या में से घटाने पर सत्ताईस हजार पाँच सौ अठ्ठानवें अवशेष रहें वह भी प्रकीर्णक विमानों की संख्या है इसी प्रकार अन्य कल्पों में जानना चाहिए।

आगे इन्द्रक आदि विमानों का विस्तार कहते हैं—

इन्द्रक विमान सर्व संख्यात योजन श्रेणीबद्ध समस्त असंख्यात योजन और प्रकीर्णक विमान उभय प्रमाण वाले हैं अर्थात् कितने ही संख्यात योजन प्रमाण और कितने ही असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है प्रत्येक कल्प के विमानों की जो संख्या है उस संख्या के पाँचवे भाग प्रमाण संख्यात योजन विस्तार वाले और चार प्रमाण असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। जैसे सौधर्म स्वर्ग में बत्तीस लाख विमान हैं तो बत्तीस लाख का पाँचवा भाग छः लाख चालीस हजार इतने तो संख्यात योजन विस्तार वाले और अवशेष चार भाग पच्चीस लाख साठ हजार विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। अन्य कल्पों में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। कल्पोपरि कल्पातीतों में अधो ग्रैवेयकों में तीन, मध्यम ग्रैवेयक में अठारह, उपरिम ग्रैवेयक में सत्रह, नव अनुत्तरों में एक, पंचानुत्तरों में एक विमान संख्यात योजन विस्तार वाले हैं। आगे विमानों की भूमि की बाहुल्यता कहते हैं।

सौधर्म युगल के विमानों का तल अर्थात् भूमियों की मोटाई एक हजार एक सौ इक्कीस योजन, सनत्कुमार माहेन्द्र का एक हजार बाईस योजन, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर का नौ सौ तेईस योजन, लाँतव कापिष्ट का आठ सौ बीस योजन, शुक्र महाशुक्र का सात सौ पच्चीस योजन, सतार सहस्वार का छह सौ छद्बीस योजन, आनत—प्राणत का पाँच सौ सत्ताईस योजन, आरण अच्युत का भी पाँच सौ सत्ताईस योजन, अधोग्रैवेयक का चार सौ अठ्ठाईस योजन, मध्यम ग्रैवेयक का तीन सौ उनतीस योजन, उर्ध्व ग्रैवेयक का दो सौ तीस योजन, नव अनुदिश का एक सौ इक्कीस योजन और पंचानुत्तर की एक सौ इक्कीस योजन, प्रमाण मोटी भूमि है। इन भूमियों के ऊपर ही नगर मंदिर आदि की रचना है। आगे सौधर्म ईशान के विमानों की रचना कहते हैं—सौधर्म—ईशान के विमान कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत ऐसे पाँचों वर्णों के, सनत्कुमार माहेन्द्र के कृष्ण कम चार वर्ण के, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर आदि कल्प चतुष्टय के कृष्ण, नील वर्जित तीन वर्ण के, शुक्र आदि कल्प चतुष्टय के कृष्ण, नील रक्त वर्जित दो वर्ण के और अवशेष आनत आदि पंचानुत्तर पर्यंत सर्व विमान शुक्ल वर्ण के हैं। आगे विमानों के अधिष्ठान को कहते हैं—

सौधर्म युगल जल के, सनत्कुमार युगल पवन के, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर आदि आठ कल्पों के विमान जल और पवन दोनों के और अवशेष आनत आदि पंचानुत्तर पर्यंत के सब विमान केवल आकाश के आधार पर स्थित हैं। आगे इन्द्र के निवास स्थान का वर्णन करते हैं—छह युगल के छह स्थान और अवशेष कल्प चतुष्टय का एक स्थान ऐसे सात स्थानों में अपने अपने युगल के अन्तिम पटल के इन्द्रक

विमान से लगते हुए श्रेणीबद्ध से अठारहवें श्रेणीबद्ध में तो सौधर्म युगल के युगलेन्द्र निवास करते हैं। अबशेष दो इन्द्र भी दो दो श्रेणीबद्ध घटते हुए इसी प्रकार स्थित जानने चाहिए। इसका खुलासा इस प्रकार है कि सौधर्म युगल के अन्तिम पटल के इन्द्रक विमान से लगते हुए श्रेणीबद्ध से अठारहवें श्रेणीबद्ध में दक्षिण के दक्षिणेन्द्र सौधर्म और उत्तर के अठारहवें श्रेणीबद्ध में उत्तरेन्द्र ईशान निवास करता है। सनत्कुमार युगल के अन्तिम पटल के सोलहवें श्रेणीबद्ध में दक्षिण के दक्षिणेन्द्र सनत्कुमार और उत्तर के सोलहवें श्रेणीबद्ध में उत्तरेन्द्र माहेन्द्र निवास करता है। ब्रह्म युगल के अन्तिम पटल के चौदहवें दक्षिण श्रेणीबद्ध में ब्रह्मेन्द्र लातव युगल के अन्तिम पटल के बारहवें उत्तरेन्द्र के श्रेणीबद्ध में लातवेन्द्र शुक्र युगल के अन्तिम पटल के दशवें दक्षिण के श्रेणीबद्ध में शुकेन्द्र सतार युगल के अन्तिम पटल के आठवें उत्तर श्रेणीबद्ध में सतारेन्द्र, आनत युगल के अन्तिम पटल के छठे दक्षिण श्रेणीबद्ध में आनतेन्द्र और उत्तर के छठे श्रेणीबद्ध में पाणतेन्द्र, आरण युगल के अन्तिम पटल के छठे दक्षिण श्रेणीबद्ध में आरणेन्द्र और उत्तर के श्रेणीबद्ध में अच्युतेन्द्र निवास करता है। जो इन्द्र का नाम होता है वह ही उसके कल्प का नाम और जो कल्प का नाम होता है वह ही इन्द्र स्थित (इन्द्र के रहने के) विमान का नाम होता है। जैसे सौधमेन्द्र कल्प का नाम सौधर्म और उसके रहने के विमान का नाम सौधर्म विमान है—इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिए। दक्षिण दिशास्थ इन्द्रों के विमानों के चारों पूर्वादि दिशाओं में रुचक, मंदर, अशोक, वैडूर्य, रजन, अशोक, मृषत्कसार नाम के सात विमान और उत्तर दिशास्थ इन्द्रों के विमानों की पूर्व आदि चारों दिशाओं में रुचक, मंदर, अशोक और सप्तच्छद संज्ञक चार विमान होते हैं। सौधर्म स्वर्ग से लेकर सहस्रवार पर्यन्त के बारह कल्पों और आनत तथा आरण युगलों के देवों के मुकुटों में क्रम से—(१) सूर (२) हिरण (३) भेंसा (४) मांछला (५) चकवा (६) मेढक (७) अश्व (८) गज (९) चन्द्रमा (१०) सर्प (११) पङ्गी (१२) छेजा (१३) बैल और (१४) कल्प वृक्ष—ये चौदह चिन्ह होते हैं।

आगे इन्द्र के नगर के विस्तार और संस्थान तथा प्राकारादि के उदय आदि का वर्णन लिखते हैं—

इन्द्रों के नगर का विस्तार सौधर्म स्वर्ग में चौरासी हजार, ईशान में अस्सी हजार, सनत्कुमार में बहत्तर हजार, माहेन्द्र में सत्तर हजार, ब्रह्म युगल में साठ हजार, लातव युगल में पचास हजार, शुक्र युगल में चालीस हजार, सतार युगल में तीस हजार, आनत आदि कल्प चतुष्टय में बीस हजार, योजन प्रमाण है। ये सब नगर सम चतुरस्र अर्थात् जितने लम्बे हैं उतने ही चौड़े चौकोर हैं। और चारों तरफ प्राकार अर्थात् कोट है। सौधर्म युगल के प्राकार का गाघ (नीम) पचास योजन, विस्तार पचास योजन और उदय तीन सौ योजन है। सनत्कुमार युगल के नगरों के प्राकार का गाघ पच्चीस योजन विस्तार भी पच्चीस योजन और उदय अढ़ाई सौ योजन है। ब्रह्म युगल के नगरों के प्राकार का गाघ व विस्तार साढ़े बारह बारह योजन और उदय दो सौ योजन है। लातव युगल के प्राकार का गाघ व विस्तार सबा छह योजन और उदय एक सौ पचास योजन है। शुक्र युगल के प्राकार का गाघ व विस्तार चार योजन और उदय एक सौ बीस योजन है। सतार युगल के प्राकार का गाघ व विस्तार तीन तीन योजन और उदय सौ योजन है और आनत चतुष्क के प्राकार का गाघ व विस्तार अढ़ाई योजन और उदय अस्सी योजन प्रमाण हैं सौधर्म युगल के इन्द्र नगरों के प्राकारों की प्रत्येक दिशा में चार चार सौ गोपुर सौ योजन उदय और सौ योजन विस्तार वाले गोपुर अर्थात् दरवाजे हैं।

सनत्कुमार युगल के इन्द्र नगरों के प्राकारों की प्रत्येक दिशा में तीन सौ योजन उदय और सौ योजन विस्तार वाले तीन सौ गोपुर अर्थात् दरवाजे हैं। ब्रह्म युगल के इन्द्र नगर के प्राकार के प्रत्येक दिशा में दो सौ योजन उदय और अस्सी योजन विस्तार वाले दो सौ गोपुर हैं। लांतव नगर के इन्द्र नगर के प्राकार के प्रत्येक दिशा में एक सौ आठ योजन उदय और सत्तर योजन विस्तार वाले एक सौ साठ गोपुर हैं। शुक्र युगल के इन्द्र नगर के प्राकार के प्रत्येक दिशा में एक सौ चालीस योजन उदय और योजन विस्तार वाले एक सौ चालीस गोपुर हैं। सतार युगल के इन्द्र स्थित नगर के प्राकार के दिशा-दिशा प्रति एक सौ बीस योजन उदय और चालीस योजन विस्तार वाले गोपुर हैं और आनत चतुष्क के इन्द्र स्थित नगरों के प्राकारों के दिशा-दिशा प्रति सौ योजन उदय और तीस योजन विस्तार वाले गोपुर हैं।

आगे सामानिक आदि देवों की संख्या कहते हैं—

सौधर्म स्वर्ग में सामानिक चौरासी हजार, ईशान में अस्सी हजार, सनत्कुमार में बहत्तर हजार, माहेन्द्र में सत्तर हजार, ब्रह्म युगल में साठ हजार, लांतव युगल में पचास हजार, शुक्र युगल में चालीस हजार, सतार युगल में तीस हजार, और आनत आदि कल्प चतुष्क में बीस हजार सामानिक देव होते हैं। सामानिकों से चौगुणे अंगरक्षक होते हैं। वृषभ, घोड़ा, रथ, गज, पयादे, गंधर्व और नर्तकी ऐसे सात प्रकार आनीक हैं। प्रत्येक आनीक में सात-सात कक्ष हैं। वहाँ प्रत्येक कक्ष तो अपने अपने सामानिक देवों के प्रमाण के समान है अर्थात् चौरासी हजार आदि जानना चाहिए और द्वितीय तृतीय आदि कक्षों में अन्तिम सप्तम कक्ष पर्यन्त प्रथम कक्ष से द्विगुण द्विगुण वृषभ आदि आनीकों का प्रमाण जानना चाहिए। वृषभ आदि सेनाओं के क्रम से दागयष्टि, हरिदामा, मातलि, ऐरावत, वायु और गरिष्ठयशा—ये छह तो पुरुष वेदी और नर्तकियों में तीलांजना स्त्री प्रधान अर्थात् महत्तर हैं। ये सौधर्म सनत्कुमार आदि दक्षिणेन्द्रों के सेना प्रधानों के नाम हैं। ईशान माहेन्द्र आदि उत्तरेन्द्रों की सात प्रकार की सेना कम से महादामष्टि, अमितगति, रथमंथन, पुष्पदन्त, सलघुपरखवमणी और गीतरति ये छह पुरुष वेदी और नर्तकियों में महासेना नामक स्त्री प्रधान अर्थात् महत्तर है।

आगे इन्द्रों के त्रिविध परिषदों की संख्या कहते हैं —

सौधर्म स्वर्ग में अभ्यन्तर पारिषद बारह हजार, मध्यम पारिषद चौदह हजार और बाह्य पारिषद सोलह हजार हैं।

ईशानेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद दस हजार, मध्यम पारिषद बारह हजार और बाह्य पारिषद चौदह हजार हैं।

सनत्कुमारेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद आठ हजार, मध्यम पारिषद दस हजार और बाह्य पारिषद बारह हजार हैं।

माहेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद छह हजार, मध्यम पारिषद आठ हजार और बाह्य पारिषद दस हजार हैं।

ब्रह्म युगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद बारह हजार, मध्यम पारिषद छह हजार और बाह्य पारिषद आठ हजार हैं।

लांतव युगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद दो हजार, मध्यम पारिषद चार हजार और बाह्य पारिषद छह हजार हैं।

शुक्रयुगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद एक हजार, मध्यम पारिषद दो हजार और बाह्य पारिषद चार हजार हैं।

सतारयुगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद पाँच सौ, मध्यम पारिषद एक हजार और बाह्य पारिषद दो हजार हैं।

आनत, प्राणत तथा आरण, अच्युत युगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिपद अढ़ाई सौ, मध्यम पारिपद पाँच सौ और बाह्य पारिपद एक एक हजार हैं।

प्रथम जो इन्द्रों के नगरों का प्रमाण कहा है उन एक एक नगर के पाँच पाँच कोट हैं। आगे उन नगरों के कोटों का अन्तराल कहते हैं—

पहले दूसरे कोट के बीच अन्तराल तेरह लाख योजन दूसरे तीसरे के बीच तरेगठ लाख योजन, तीसरे चौथे के बीच चौंसठ लाख योजन और पाँचवें के बीच चौरासी लाख योजन अन्तराल हैं प्रथम अन्तराल में सेना के नायक अंगरक्षक देव दूसरे अन्तराल में तीन जाति के पारिपद देव तीसरे अन्तराल में सामानिक देव और चौथे अन्तराल में वृक्ष आदि के ऊपर आरुढ़ होने वाले आरोहक अग्नि योग्य और किल्बिषिक आदि अपने अपने योग्य मन्दिरों में निवास करते हैं। उस पंचम कोट से पंचाम हजार योजन के अन्तराल पर जाकर चारों दिशाओं में महा आनन्दकारी चार भन्दन बन हैं। ये भन्दन बन पद्म द्रव्य समान पचास हजार योजन लम्बे और पाँच सौ योजन चौड़े हैं। उन चारों वनों में अशोक सप्तच्छन्द, चंपक और ताम्र ये चार चैत्य वृक्ष हैं।

उन चैत्य वृक्षों के चारों पार्श्व भागों में पत्यंकासन जिन प्रतिमा विराजमान हैं। उन्हें मेरा वारम्बार नमस्कार हो। उन बन खण्डों में बहुत से योजन परे पूर्वादि दिशाओं में साढ़े चारह लाख योजन प्रमाण विस्तार वाले सोम, यम, वरुण और कुबेर—इन चार लोकपालों के नगर हैं। उन लोकपालों के नगरों के निकटवर्ती आग्नेय आदि विदिशाओं में एक लक्ष योजन प्रमाण लम्बे चौड़े कामा, कामिनी, पद्म संधा और अलंबूषा नाम की धारक चार गणिका महतिरिथों के नगर हैं। इसी प्रकार अन्य कल्पों की भी रचना जाननी चाहिए।

आगे देव तथा देवांगनाओं के मन्दिरों की ऊँचाई लम्बाई तथा चौड़ाई का प्रमाण कहते हैं—
सौधर्म युगल देवों के मन्दिरों का उदय छह सौ योजन और देवियों के मन्दिरों का उदय पाँच सौ योजन, सनत्कुमार युगल के देवों के मन्दिरों का उदय पाँच सौ योजन और देवियों के मन्दिरों का उदय साढ़े चार सौ योजन, ब्रह्मा युगल के देवों के मन्दिरों का उदय साढ़े चार सौ योजन और देवियों के मन्दिरों का उदय चार सौ योजन, तांतव युगल के देवों के मन्दिरों का उदय चार सौ योजन और देवियों के मन्दिरों का उदय साढ़े तीन सौ योजन, शुक्र युगल के देवों के मन्दिरों का उदय साढ़े तीन सौ योजन और देवियों के विमान का उदय तीन सौ योजन, सतार युगल में देवों के मन्दिरों का उदय तीन सौ योजन और देवियों के विमान का उदय अढ़ाई सौ योजन, आनत आदि कल्प चतुष्क में देवों के मन्दिरों का उदय अढ़ाई सौ योजन और देवियों के विमान का उदय दो सौ योजन है। इनकी लम्बाई तथा चौड़ाई अपने अपने विमान के उदय से पाँचवें भाग लम्बाई तथा दसवें भाग का प्रमाण चौड़ाई होती है।

नव ग्रेवैयक के प्रथम त्रिक में देवों के मन्दिर का उदय दो सौ योजन, लम्बाई तीस योजन और चौड़ाई पन्द्रह योजन है। दूसरे त्रिक में देवों के मन्दिरों का उदय डेढ़ सौ योजन, लम्बाई तीस योजन और चौड़ाई दस योजन है और तीसरे त्रिक में देवों के मन्दिरों का उदय सत्त योजन, लम्बाई बीस योजन और चौड़ाई दस योजन है।

नव अनुत्तर के देवों के विमान का उदय पच्चीस योजन, लम्बाई दस योजन और चौड़ाई पाँच योजन है और सर्वार्थसिद्धि के देवों के मन्दिरों का उदय पच्चीस योजन, लम्बाई पच्चीस योजन और चौड़ाई अढ़ाई योजन है। आगे इन्द्रों की देवियों का प्रमाण कहते हैं—

दक्षिणेन्द्रों के शची, पद्मा, शिवा, श्यामा, कालिदी, सुलसा, अञ्जुका और भानुनाम की धारक आठ हैं। उत्तरेन्द्रों के श्रीमती, रामा, सुसीमा, प्रभावती, जयसेना, सुषेणा, बसुमित्रा और वसुंधरा नाम की धारक आठ-आठ महादेवी होती हैं। एक-एक महादेवी सम्बन्धी सौधर्म युगल में सोलह-सोलह हजार, सनत्कुमार युगल में आठ हजार, ब्रह्म युगल में चार हजार, लातव युगल में दो हजार, शुक्र युगल में एक हजार, सतार युगल में पांच सौ और आनत आदि चतुष्क में अठ्ठाई सौ परिवार देवी होती हैं। इन्द्रों की एक-एक महादेवी यदि विविधा शक्ति से नवीन शरीर धारण करे तो मूल शरीर सहित सौधर्म युगल की सोलह हजार, सनत्कुमार युगल की बत्तीस हजार, ब्रह्म युगल की चौंसठ हजार, लातव युगल की एक लाख अठ्ठाईस हजार, शुक्र युगल की दो लाख छप्पन हजार, सतार युगल की पाँच लाख बारह हजार और आनत आदि कल्प चतुष्कों की दस लाख चौबीस हजार देवांगनाओं का रूप धारण कर लेती हैं। परिवार देवियों में से जो देवांगनायें इन्द्र को अति बल्लभ प्रिय होती हैं उन्हें बल्लभिका कहते हैं। ऐसी बल्लभिका देवांगनायें सौधर्म युगलेन्द्रों के बत्तीस हजार, सनत्कुमार युगल में आठ हजार, ब्रह्म युगल में दो हजार, लातव युगल में पाँच सौ, शुक्र युगल में दो सौ पचास, सतार युगल में एक सौ पच्चीस और आनतादि कल्प चतुष्क इन्द्रों के तरेसठ होती हैं। उन बल्लभिका देवियों के मन्दिर अपने-अपने इन्द्र मन्दिर से पूर्व दिशा में स्थित हैं और परिवार देवियों के मन्दिरों की अपने कल्प की ऊँचाई की अपेक्षा इनके मन्दिर बीस-बीस योजन अधिक उदय वाले हैं।

अमरावती नामक इन्द्र का पुर है उसमें रहने के मन्दिर की ईशान विदिशा में सौ योजन लम्बा पिचहत्तर योजन ऊँचा और पचास योजन चौड़ा सुधर्मा नामक आस्थान मंडप (सभास्थान) है। उस आस्थान मंडप के पूर्व, दक्षिण और उत्तर—इन तीन दिशाओं में सोलह योजन ऊँचे और आठ योजन चौड़े तीन द्वार हैं। उस स्थान मंडप के मध्य भाग में इन्द्रक सिंहासन है। उसके आगे अष्ट पट्ट आदि देवियों के सिंहासन हैं उनसे बाह्य पूर्व आदि दिशाओं में सोम, यम, वरुण और कुबेर नामक लोकपालों के चार सिंहासन हैं। इन्द्रासन से आग्नेय तथा नैऋत्यदिशा में बारह हजार सोलह हजार, सोलह हजार, आदि संख्यक अभ्यन्तर, मध्य और बाह्य—इन तीन प्रकार पारिषद् देवों के नैऋत्य दिशा में ही तैंतीस आसन त्रायस्त्रिंशत् देवों के; पश्चिम दिशा में आनीक महत्तर देवों के, वायव्य और ईशान दिशाओं में ब्यालीस हजार सामानिक देवों के और चारों दिशाओं में अंगरक्षक देवों के भद्रासन हैं इस प्रकार सौधर्मन्द्र के एक एकदिश संबंधी चौंसठ हजार आसन समझने चाहिए। उस आस्थान मंडप के आगे एक-एक योजन व्यास रत्नमय वाला छत्तीस योजन ऊँचा पीठ सहित एक-एक कोश के समानान्तर वाली बारह धाराओं संयुक्त मानस्तम्भ हैं। उस मानस्तम्भ के पीछे छह योजन नीचे के और सवा छह योजन ऊपर के भाग को छोड़कर मध्य के चौबीस योजन के अन्तराल में रत्नमय शृंखलाओं से बंधे हुए एक कोश लम्बे और पाँच कोश चौड़े करंडक अर्थात् पिटारेछीकेवत लटके हुए हैं। उनमें तीर्थंकर भगवान् के उपभोग योग्य दिव्य, मनोहर वस्त्राभूषण आदि धरे रहते हैं। उन्हीं करंडकों में से इन्द्र तीर्थंकर भगवान् के जन्म, राज्य, विवाह और तप कल्याणक के समय वस्त्र आभूषण आदि लाता है तथा भेजता है। ये वस्त्राभूषण तीर्थंकर भगवान् के ही भोग्य होते हैं, अन्य के नहीं ये देवकुमारों द्वारा रक्षणीय ज्यों के त्यों रखे रहते हैं। इस प्रकार के ये करंडक सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र—इन चार कल्पों में ही हैं अन्य में नहीं। यहां विशेष यह है कि सौधर्म कल्प स्थित मानस्तम्भ के करंडकों में भरत क्षेत्र सम्बन्धी, ईशान में ऐरावत सम्बन्धी, सनत्कुमार में पूर्व विदेह सम्बन्धी और माहेन्द्र में पश्चिम विदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के वस्त्राभूषण रहते हैं।

आगे इन्द्र की उत्पत्ति ग्रह का स्वरूप कहते हैं—

उस मानस्तम्भ के निकट आठ योजन चौड़ा, इतना ही लम्बा और ऊँचा उपपाद ग्रह में दो रत्न शय्या हैं जिनमें इन्द्र का स्थान होता है। इसके ही उपपाद ग्रह के पास अनेक शिखरों संयुक्त जिन भगवान का बहुत सुन्दर मंदिर है। कल्पवासी देवांगनाएँ सौधर्म, ईशान स्वर्ग में ही उत्पन्न होती हैं, अन्य कल्पों में नहीं। जिसमें केवल देवांगनाओं का ही जन्म होता है ऐसे विमान सौधर्म में छह लाख ईशान ने चार लाख एवं समस्त दस लाख हैं। इन विमानों में देवांगनाओं के उत्पन्न होने के अनन्तर वे जिन देवों की नियोगिनी होती हैं उन्हें ऊपर के कल्पवासी देव अपने स्थान पर ले जाते हैं। अवशेष सौधर्म के छब्बीस लाख और ईशान के चौबीस लाख विमान ऐसे हैं जिनमें देव, देवांगना दोनों ही मिश्र उत्पन्न होते हैं।

आगे देव देवांगनाओं के प्रवीचार का वर्णन लिखते हैं—भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्कों में और सौधर्म तथा ईशान इन दो स्वर्गों के देवों में शरीर से काम सेवन होता है जैसे कि मनुष्यों आदि में होता है। अवशेष सनत्कुमार और माहेन्द्र—इन दो स्वर्गों के देव देवियों की कामवासना परस्पर अंग स्पृश करने से, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ट—इन चार स्वर्गों में स्वाभाविक सुन्दरता और शृंगारयुक्त रूप आदि को देखने से; शुक्र, महाशुक्र, सतार और सहस्वार—इन चार स्वर्गों में प्रेम भरे, मधुर वचना-लाप आदि से और आनत प्राणत, आरण, अच्युत—इन चार स्वर्गों में परस्पर मन में स्मरण करने से ही कामवासना नष्ट हो जाती है। इन सोलह कल्पों से ऊपर नव अवेयक, नव अनुदिश और पंचानुत्तारों में रहने वाले देव कामसेवन से रहित हैं अर्थात् इनके कामवासना होती ही नहीं। ये सदैव धर्म ध्यान में लीन रहते हैं।

आगे वैमानिक देवों की विक्रिया शक्ति और अवधिज्ञान का विषय क्षेत्र कहते हैं—

सौधर्म युगलवासी देव अवधि के द्वारा प्रथम भूमि पर्यन्त देखते हैं। सनत्कुमार युगलवासी देव दूसरी पृथ्वी तक, शुक्र और सतार युगल के देव चौथी भूमि तक, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत कल्पवासी देव पाँचवीं भूमि तक और पंचानुत्तारों के देव सप्तम भूमि से नीचे तनुवातवलय पर्यन्त किञ्चित् न्यून सम्पूर्ण लोक नाड़ी को अवधि द्वारा देखते हैं। विक्रिया शक्ति भी समस्त देवों के अपने अपने अवधि क्षेत्र के समान होती है किन्तु विषयों की उत्कृष्ट वाँछा के न होने से ऊपर-ऊपर के देवों में गमन करने की इच्छा कम होती है इन कल्पवासी देवों का अवधिक्षेत्र चौकोर किन्तु लम्बाई में अधिक और चौड़ाई में थोड़ा होता है और भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी के अवधि का क्षेत्र नीचे-नीचे कम और तिर्यक् रूप से अधिक होता है। शेष मनुष्य, तिर्यन्व और नारकी का अवधि क्षेत्र बराबर धनरूप होता है।

आगे वैमानिक देवों के जन्म-मरण का विरह काल कहते हैं, जितने काल पर्यन्त जहाँ किसी का जन्म न हो उसे जन्मान्तर और जितने काल पर्यन्त मरण न हो उसे भोगान्तर कहते हैं अतः दोनों का उत्कृष्ट काल सौधर्म में सात दिन, सनत्कुमार युगल में एक पक्ष, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ट-कल्प चतुष्कों में एक मास, शुक्र, महाशुक्र, सतार और सहस्वार में दो मास, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत में चार मास और शेष अवेयक आदि में चार मास होता है। इन्द्र, इन्द्र की महादेवी और लोकपाल के मरण के पश्चात् उत्कृष्ट विरहकाल छह मास और त्रायस्त्रिंशत्, अंग रक्षक, सामानिक तथा पारिषद-इनका उत्कृष्ट विरहकाल चार मास जानना चाहिए।

आगे वैमानिक देवों का शरीर प्रमाण कहते हैं, सौधर्म युगल के देवों का शरीर सात हाथ, सनत्कुमार युगल के देवों का छह हाथ, ब्रह्मयुगल के देवों का साढ़े पाँच हाथ, लाँतव युगल के देवों का पाँच हाथ, शुक्र-महाशुक्र का चार हाथ, सतार-सहस्रार के देवों का साढ़े तीन हाथ, आनत, प्राणत और आरण तथा अच्युत स्वर्ग के देवों का तीन हाथ, नव ग्रैवेयक के प्रथम त्रिक के देवों का अठ्ठाई हाथ, दूसरे त्रिक के देवों का दो हाथ, तीसरे त्रिक के देवों का डेढ़ हाथ, नव अनुत्तर देवों का एक हाथ और पंचानुदिशवासी देवों का भी एक हाथ शरीर है।

आगे वैमानिक देवों की आयु प्रमाण कहते हैं—सौधर्म ईशान कल्प के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर, सनत्कुमार, माहेन्द्र के देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर के देवों की उत्कृष्ट आयु दश सागर, लाँतव कापिष्ठ के देवों की चौदह सागर—शुक्र महाशुक्र के देवों की सोलह सागर, सतार और सहस्रार के देवों की अठारह सागर, आनत-प्राणत के देवों की बीस सागर और आरण-अच्युत कल्प के देवों की बाईस सागर उत्कृष्ट आयु है। इससे आगे नवग्रैवेयकों में एक-एक सागर अधिक आयु होती है, नवअनुदिशों में और पंचानुत्तर विमानों में एक-एक सागर बढ़ती आयु है अर्थात् प्रथम ग्रैवेयक में तेईस सागर, दूसरे ग्रैवेयक में चौबीस सागर, तीसरे ग्रैवेयक में पच्चीस सागर, चौथे ग्रैवेयक में छब्बीस सागर, पाँचवें में सत्ताईस सागर, छठे में अठ्ठाईस सागर, सातवें में उनतीस सागर, आठवें में तीस सागर, नवमे में इकतीस सागर, नवअनुदिशों में बत्तीस सागर और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच विमानों में तेतीस सागर आयु है। आगे पूर्वोक्त विमानों में जघन्य आयु कहते हैं—सौधर्म ईशान स्वर्ग में जघन्यायु एक पत्य है सौधर्म युगल से आगे-आगे पहले पहले युगल की उत्कृष्ट आयु अगले-अगले युगलों में जघन्य है जैसे सौधर्म युगल में उत्कृष्ट आयु दो सागर है तो यही दो सागर आयु सनत्कुमार युगल में जघन्य है और सनत्कुमार युगल की सात सागर उत्कृष्टायु ब्रह्मब्रह्मोत्तर के जघन्य है इसी प्रकार अन्य कल्पों में जानना चाहिए।

आचार्यवर्य श्री उमास्वामी कृत तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र में जो सहस्रार पर्यन्त के देवों की आयु कुछ-कुछ अधिक कही है वह घातायुष्क की अपेक्षा कही है। यदि कोई घातायुष्क सम्यग्दृष्टी सहस्रार पर्यन्त के युगलों में उत्पन्न हो तो उसकी अपने-अपने स्वर्ग की पूर्वोक्त उत्कृष्ट आयु से अन्तर्मुहूर्त कम आधे सागर की आयु अधिक हो जाती है जैसे सौधर्म और ईशान स्वर्ग में दो सागर की उत्कृष्ट आयु है और यदि वहां घातायुष्क सम्यग्दृष्टि उत्पन्न हो तो उसकी अन्तर्मुहूर्त कम अठ्ठाई सागर की आयु हो सकती है। इसी तरह घातायुष्क मिथ्यादृष्टि की पत्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण आयु हो सकती है परन्तु यह अधिकता सौधर्म युगल से सतार युगल पर्यन्त के छह युगलों में ही है अन्य में नहीं है क्योंकि आगे के विमानों में घातायुष्क वाले जीव उत्पन्न नहीं होते।

भाषार्थ—जो पहले आयुबंध किया था उसको पश्चात् परिणामों के निमित्त से घटाकर अल्प कर देना घातायुष्क है। वह घातायुष्क दो प्रकार का है—एक अपवर्तन घात, दूसरा कदलीघात। उदय प्राप्त वर्तमान आयु के कम करने को अपवर्तनघात और उद्दीयमान आयु के घटाने को कदलीघात कहते हैं। कदलीघात तो यहां सम्भव नहीं इसीलिए यहां अपवर्तन घात का ही ग्रहण किया है सो ऐसा घातायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव व्यन्तर व ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हो तो आध पत्य और भवनवासी तथा वैमानिकों में हो तो अन्तर्मुहूर्त कम आध सागर, पूर्वोक्त उत्कृष्टायु से अधिक आयु वाला होता है और इसी प्रकार घातायुष्क मिथ्यादृष्टि हो तो उसके भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिकों में सर्वत्र पूर्वोक्त उत्कृष्ट आयु के प्रमाण से पत्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण आयु बढ़ जाती है।

आगे कल्पवासी देवांगनाओं की आयु कहते हैं—

सौधर्म द्विक की देवांगनाओं की जघन्य आयु साधिक एक पत्य और उत्कृष्ट आयु क्रमशः सोलहों स्वर्गों में—पाँच, सात, नव, ग्यारह, तेरह, पन्द्रह, सत्रह, उन्नीस, इक्कीस, तेईस, पच्चीस, सत्ताईस, उनतीस, चौतीस, इकतालीस, अड़तालीस, और पचपन पत्य प्रमाण है।

आगे देवों के उच्छवास और आहार के समय का प्रमाण कहते हैं जहाँ जिस जिस कल्प में जितने-जितने सागर प्रमाण आयु कही है उतने-उतने पक्ष बीतने पर उच्छवास और उतने ही हजार वर्ष बीतने पर मानसिक आहार होता है। जैसे सौधर्मद्विक में आयु दो सागर है वहाँ दो पक्ष के अंतराल से उच्छवास और दो हजार वर्ष के अंतराल से आहार होता है इसी प्रकार अन्य कल्पों में जानना चाहिए।

आगे लोकांतिक देवों का वर्णन लिखते हैं—

जो पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में रहते हैं वे लोकांतिक देव हैं। ये लोकांतिक देव मनुष्य का एक भव धारण करके तद्भव से ही मोक्षभाभी होते हैं। इस कारण जिनके लोक का अर्थात् संसार का अन्त होने वाला है उन्हें लोकांतिक देव कहते हैं। ये लोकांतिक देव कुल भेद करके (१) सारस्वत, (२) आदित्य, (३) वह्नि, (४) अरुण, (५) गर्दतोय, (६) तुषित, (७) अवावाध, और (८) अरिष्ट,—ऐसे आठ प्रकार हैं और क्रमशः संख्या में (१) सात सौ सात, (२) सात सौ सात, (३) सात हजार सात, (४) सात हजार सात, (५) नव हजार नव, (६) नव हजार नव, (७) ग्यारह हजार ग्यारह और (८) ग्यारह हजार ग्यारह हैं। इनमें से सारस्वत आदि सात प्रकार के देव तो ईशान आदि सात दिशा विदिशाओं के प्रकीर्णक विमानों में और अरिष्ट नामक देव उत्तरदिशा के श्रेणीवद्ध विमानों में रहते हैं। इनकी संज्ञा के सदृश ही इनके विमानों के नाम हैं।

आगे सारस्वत आदि अष्टविध देवों के एक-एक अन्तराल में रहने वाले जो सोलह उपकुल हैं उनके नाम और संख्या कहते हैं—सारस्वत आदि देवों के अन्तराल में स्थित जो देव हैं वे (१) अग्न्याभ, (२) सूर्याभ, (३) चन्द्राभ, (४) सत्याभ, (५) श्रेयस्कर, (६) क्षेमकर, (७) वृषभेष्ट, (८) कामधर, (९) निर्माणरजा, (१०) दिगंतरक्षित, (११) आत्मरक्षित, (१२) सर्वरक्षित, (१३) मरुत, (१४) वसु, (१५) अश्व, और (१६) विश्व—ऐसे सोलह प्रकार के हैं और क्रमशः संख्या में (१) सात हजार सात, (२) नव हजार नव, (३) ग्यारह हजार ग्यारह, (४) तेरह हजार तेरह, (५) पन्द्रह हजार पन्द्रह, (६) सत्रह हजार सत्रह, (७) उन्नीस हजार उन्नीस, (८) इक्कीस हजार इक्कीस, (९) तेईस हजार तेईस, (१०) पच्चीस हजार पच्चीस, (११) सत्ताईस हजार सत्ताईस, (१२) उनतीस हजार उनतीस, (१३) इक्कीस हजार इक्कीस, (१४) तेक्कीस हजार तेक्कीस, (१५) पैतीस हजार पैतीस, और (१६) सैंतीस हजार सैंतीस हैं। इन कुलों के युगल क्रमशः सारस्वत आदि देवों के आठ अन्तरालों में रहते हैं जैसे सारस्वत और आदित्य विमानों के बीच अग्न्याभ, सूर्याभ और आदित्य तथा वह्नि के बीच चन्द्राभ और सत्याभ के विमान हैं। इसी प्रकार अन्य अन्तरालों में भी दो-दो कुलों के विमान जानने चाहिए। ये सब लोकांतिक देव परस्पर हीनाधिक्यता रहित (सब समान) विषयों से विरक्त, ब्रह्मचारी, ग्यारह अंग एवं चौदह पूर्व के ज्ञाता उदासीन और अनित्य आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं के चितवन में निमग्न रहते हैं। इसी कारण देवों ऋषियों के समान होने से इन्हें ऋषिदेव भी कहते हैं। अवशेष इन्द्र आदि देवों द्वारा पूज्य होते हैं। ये देव तीर्थकर जगज्जान के तपकल्याणक के आदि में ही आते हैं। तपकल्याणक के सिवाय अन्य उत्सवों

में नहीं आते हैं। इन समस्त ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में रहने वाले लोकांतिक देवों का शरीर प्रमाण साढ़े पांच हाथ और आयु आठ सागर की होती है। लोकांतिक देवों में जघन्य आयु नहीं होती है। इतना विशेष है कि अरिष्ट जाति के देवों की आयु नव सागर प्रमाण है।

इति कल्पातीत देव वर्णनम् ।

इस प्रकार कल्पतीतों का वर्णन करके आगे क्रम प्राप्त सिद्ध क्षेत्र का वर्णन करते हैं—

पंचानुसार विमानों से वारह योजन ऊपर एक राजू चौड़ी, सात राजू लंबी और आठ योजन मोटी उज्ज्वल वर्ण अष्टम ईषत्प्राग्भार नाम की अष्टम पृथ्वी है। उस ईषत्प्राग्भार नाम की अष्टम पृथ्वी मध्य रूपामयि चांशी के समान श्वेत। छत्र के आकार की मनुष्य क्षेत्र के समान पैंतालीस लाख योजन व्यास वाला सिद्ध क्षेत्र है। उस भूमि की मोटाई मध्य में आठ योजन है, पर किनारों पर घटते-घटते क्रमशः कम होती गई है।

अथ श्री श्रीपाल परित्र लिख्यते—

इस जम्बूद्वीप के भारत क्षेत्र में अंगदेश के अस्तर्गत चम्पापुर नामक एक मनोहर नगर था। जिस समय की यह कथा है उस समय उसके राजा अरिदमन थे। इनके छोटे भाई का नाम वीरदमन था। अरिदमन धर्मज्ञ, नीतिपरायण, प्रजाहितैषी और जित भगवान् के सच्चे भक्त थे। इसकी रानी का नाम कुन्दप्रभा था। पुण्य के समान उज्ज्वल गुणों से पूरित, सच्चरित्रा पतिभक्ति परायणा और धर्मात्मा थी। राजा का भी इन पर अत्यन्त प्रेम था। इस दम्पति के पूर्वोपाजित पुण्योदय से प्राप्त हुई राज्य लक्ष्मी को भोगते हुए परमानन्द और उत्सव के साथ दिन व्यतीत होते थे। एक दिन कुन्दप्रभा अपने शयनागार में कोमल शय्या पर सुखपूर्वक सोई हुए थी कि उसने रात्रि के पश्चिम पहर में पुत्र रत्न के सूचक सुवर्णमय विशाल पर्वत और कल्पवृक्ष देखे और तत्समय ही स्वर्ग से एक देव चयकर रानी के गर्भ में आया। स्वप्न देखकर कुन्दप्रभा जाग्रत हो गई।

थोड़े समय में प्रातःकाल हुआ। दिनकर के प्रताप से अंधकार का नाश हो गया जैसे सम्यग्दर्शन के प्रादुर्भूत होने पर अज्ञानांधकार का नाश हो जाता है। तब वह कोमल तन्वी सुशोला रानी प्रातःकाल सम्बन्धी शरीर आदि की नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर मंद-मंद गति से पति के समीप गई। राजा ने प्रिया को आते हुए देखकर अर्द्धासन छोड़ दिया। कुन्दप्रभा पति को योग्य वितयपूर्वक नमस्कार करके बैठी और रात्रि में आए हुए स्वप्नों को मधुरालाप से कहने लगी। सुनकर राजा ने उनके फल के सम्बन्ध में कहा—प्रिये। ये सब स्तन तुमने बहुत ही उत्तम और आनन्ददायक देखे हैं। इनके देखने से सूचित होता है कि तुम्हारे महा तेजस्वी, धीर, वीर, सकल उत्तमोत्तम गुणनिधान और धर्मशरीरी पुत्र रत्न होगा। सुवर्णमय विशाल पर्वत का देखना सूचित करता है कि वह बड़ा पराक्रमी, साहसी, गम्भीर प्रतापी, सबसे प्रधान क्षत्रियवीर तथा सुवर्णसम वर्ण का धारक होगा। कल्पवृक्ष देखने से विदित होता है कि वह बहुत ही उदार चित दीनजन प्रतिपालक, महादानी और धर्म का धारी होगा। तात्पर्य यह है कि तेरे गर्भ से अखिल गुण सम्पन्न और तद्भव मोक्षगामी पुत्ररत्न प्रसव होगा। इस प्रकार अपने पति द्वारा स्वप्न का फल सुनकर कुन्दप्रभा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। ठीक भी है—‘पुत्र प्राप्ति से किसे प्रसन्नता नहीं होती।’

अथानन्तर आज से ये दोनों (दम्पति) अपना समय जिनपूजन, अभिषेक, पात्रदान आदि पुण्य कर्मों में अधिकतर व्यतीत करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे। इस प्रकार आनन्द उत्सव के साथ दस मास बीतने पर कुन्दप्रभा ने शुभ लग्न और शुभ दिन में शुभ लक्षणों से युक्त सुन्दर पुत्र रत्न प्रसव किया।

उसके जन्म लेते ही दुर्जनो व शत्रुओं के घर में उत्पात और स्वजन तथा सज्जनों के आनन्द की सीमा नहीं रही। महाराज अरिदमन ने पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में बहुत उत्सव किया, दान दिया और पूजा प्रभावना की। निमित्तज्ञानियों को बुलवाकर लग्न कुन्डली आदि बनवाई गई और तदनुसार ही उनका नाम श्रीपाल रख दिया गया। बालक दिनोंदिन शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। राजा-रानी बड़े लाड़ प्यार से पुत्र का पालन करने लगे। जब श्रीपाल आठ वर्ष के हुए तब इनका मूजी बंधन तथा उपनयन संस्कार किया गया और विद्याध्ययन काल तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत देकर इनके पिता ने इन्हें पढ़ाने के लिए गृहस्थाचार्य को सौंप दिया। इनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी और दूसरे इन पर गुरु की कृपा हो गई। इससे ये थोड़े ही वर्षों में पढ़ लिखकर अच्छे विद्वान बन गए, कितने ही विषयों में इनको अरोक गति हो गई। गुरुसेवा रूपी नाव द्वारा इन्होंने जाल्य रूपी समुद्र का बहुत सा भाग पार कर लिया तब गुरु की आज्ञा लेकर माता-पिता के समीप आकर उनको योग्य विनयपूर्वक नमस्कार किया। माता-पिता ने भी पुत्र को विद्यालंकृत, जानकर शुभाशीर्वाद दिया। अब श्रीपाल कुमार निश्चयप्रति राज्य सभा में जाने लगे और राज्य कार्यों में विचार करने लगे।

एक दिन की बात है कि महाराज अरिदमन अपनी सभा में बैठे हुए थे कि इतने में श्रीपाल कुमार भी वहाँ आए और योग्य विनय करके बैठ गए। उस समय राजा ने अपनी वृद्धावस्था और श्रीपाल की योग्यता पर विचार कर इनको राजनीतिक कर देने का निश्चय कर लिया और शुभ लग्न में पुत्र को सब राज्य भार सौंपकर आप एकांत स्थान में धर्म ध्यान पूर्वक-कालक्षेपण करने लग। कुछ समय के अनन्तर राजा परलोकगमो हुए जिससे राजा श्रीपाल इनके काका वीरदमन और माता कुन्दप्रभा आदि समस्त स्वजन व पुरजनों को अत्यन्त क्लेश पहुंचा पर उसे दूर करने के लिए प्रतिकार ही क्या हो सकता था? कर्मों की विचित्रता पर ध्यान देकर सबको संतोष करना पड़ा। राजा श्रीपाल अपने पिता की मृत्यु सम्बन्धी क्रिया कर चुकने के अनन्तर पुनः राज्यकार्य में दत्तचित्त हुए। प्रजा को उनके शासन की जैसी आशा थी श्रीपाल ने उससे भी बढ़कर धर्मज्ञता, नीति और प्रजा प्रेम दिखलाया। प्रजा को सुखी बनाने में उन्होंने किसी बात की कमी न रखी। इस प्रकार नीतिपूर्वक अपने पुण्य का फल भोगते हुए वे सुख से समय बिताने लगे।

जिस समय श्रीपाल सुखपूर्वक समय व्यतीत कर रहे थे और प्रजा का न्याय तथा नीति से पालन करते थे उस समय उनका ऐश्वर्य दुष्ट कर्म से सहन नहीं हुआ श्रीपाल जैसे कामदेव के शरीर में कुष्ठ (कोढ़) रोग हो गया। सारा शरीर गलने लगा और शरीर में पीप, रुधिर आदि बहने लगा। समस्त शरीर में असह्य व्यथा होने लगी। यह अवस्था एक राजा श्रीपाल की ही नहीं थी किन्तु उनके निकटवर्ती सात सौ वीरों का भी यही हाल था। मंत्री सेनापति तथा अंगरक्षकों का सबका एक-सा हाल था। प्रजागण राजा श्रीपाल और उनके समीपवर्ती लोगों की यह अवस्था देखकर अत्यन्त दुःखी थे। दूसरे इनके शरीर की दुर्गन्ध से अति व्याकुल और कितने ही इस रोग के ग्रास बन जाते थे। इस बात से भी प्रजा अत्यन्त दुःखी थी परन्तु सब मनुष्य राजा से यह बात कहने में सकुचाते थे। अतएव कितने ही मनुष्य तो अपने-अपने घरों को छोड़कर बाहर चले गए और कितने ही बाहर जाने का उद्यम करने लगे। जब प्रजा के नगर छोड़कर चले जाने का वृत्तान्त शहर के गण्यमान्य पुरुषों के द्वारा श्रीपाल के काका वीरदमन को मालूम हुआ तो उन्होंने तत्काल ही श्रीपाल कुमार के पास जाकर प्रति ही नम्र और विनीत वचनों से प्रजा की सब दुःख भरी कहानी कह सुनाई। तब राजा प्रजा के दुःख को सुनकर

बहुत व्याकुल हुए और प्रजा को इस दुःख से निवृत्त करने का अपने काका वीरदमन से प्रतिकार पूछने लगे ।

वीरदमन बोले—राजन् ! यद्यपि मुझे कहने में संकोच होता है परन्तु आपने मुझसे पूछा है अतएव प्रजा के और आपके हित के लिए जो उपाय मुझे सूझा है उसे कहता हूँ एक आशा है कि आप उस पर पूर्णतया विचार कर कार्य करेंगे वह उपाय यह है कि यावत् आपके शरीर में असाता वेदनीय के उदय जित्त व्याधि वेदना का सद्भाव है तावत् यह राज्य कार्य किसी योग्य पुरुष के आधीन कर नगर के बाह्य उद्यान में निवास करें । जब साता वेदनीय कर्म का उदय आ जाय अर्थात् वह कुष्ठ रोग मिट जाए तब पुनः आकर राज्य कार्य सम्हाल लेंगे ।’

वीरदमन की यह बात सुनकर श्रीपाल ने निष्कपट होकर कहा—‘मुझे यह तुम्हारी सम्मति सब तरह से स्वीकार है एवं मेरा भी यही विचार है । अतएव जब तक मेरे असाता कर्म का उदय है तावत् मैं राज्य का भार आप ही को देता हूँ क्योंकि इस समय राज्य का कार्य सम्हाल लेने के योग्य आप ही हैं । रोगमुक्त होने पर मैं पुनः आकर राज्य सम्हाल लूँगा । तब तक इस राज्य के आप ही अधिकारी हैं इसीलिये मेरे वापिस आने तक प्रजा का न्याय और नीतिपूर्वक पालन-पोषण करते रहना और माता कुन्दप्रभा आदि की भी पूर्ण रूप से रक्षा करना ।’

इतना कहकर राजा श्रीपाल अपने सात सौ-वीरों को साथ लेकर नगर से बहुत दूर बाह्य उद्यान में जाकर रहने लगे ।

आगे इसी कथा से सम्बन्ध रखने वाला मैनासुन्दरी का वृत्तान्त प्रसंग बनाने के लिए लिखते हैं—इसी आर्यखंड में मालव देश के अन्तर्गत उज्जैन नाम की प्रसिद्ध और सुन्दर नगरी है । उस समय उस नगरी में राजा पदुपाल शासन करते थे । इनके निपुण सुन्दरी आदि को लेकर एक से एक सुन्दर अनेक रानियाँ थी । सो निपुणसुन्दरी के गर्भ से दो कन्याएँ हुई । एक का नाम सुरसुन्दरी और दूसरी का नाम मैनासुन्दरी था । सुरसुन्दरी जब यौवन सम्पन्न हुई तब एक समय राजा पदुपाल ने सुरसुन्दरी से पूछा—‘हे पुत्री ! तेरा विवाह कहाँ और किसके साथ होना चाहिए और तुझे कौन-सा वर पसन्द है सो स्पष्ट कह दे ।’ तब सुरसुन्दरी बोली—‘मुझको तो कौशाम्बी नगरी के राजा का पुत्र हरिवाहन पसन्द है क्योंकि वह ही सब गुण सम्पन्न, रूपवान और बलवान मालूम होता है । अतएव मेरा उस ही के साथ सम्बन्ध हो जाना चाहिए ।’ पुत्री की यह आकांक्षा सुनकर महाराजा पदुपाल ने शुभ मुहूर्त में पुत्री का यथेच्छित वर के साथ बड़े समारोहपूर्वक पाणिग्रहण करा दिया ।

अथानन्तर एक दिन जब छोटी पुत्री मैनासुन्दरी चैत्यालय से भगवान् आदीश्वर स्वामी की पूजा कर भगवान् के अभिषेक का जल लिए हुए पिता के पास आई तब राजा ने ‘आओ, ‘आओ ऐसा कहकर बैठने के लिये भंकेन दिया । तब मैनासुन्दरी विनम्र सज्जित बैठ स्वच्छर राजा के सम्मुख सन्नीहक रखकर यथायोग्य स्थान पर बैठ गई । राजा ने गंधोदक सहर्ष मस्तक पर चढ़ाया और पुत्री को भक्ति-युक्त देखकर अति ही प्रेम पूर्वक मधुरालाप से कहने लगा—‘हे पुत्री ! तू अपने मन के अनुसार रूपवान, पराक्रमी वर जो तुझे पसन्द हो सो आज मुझसे कह । सुरसुन्दरी के समान तेरा लग्न भी मैं तेरे इच्छित वर के साथ कर दूँगा ।’ पिता (राजा पदुपाल) का यह वचन मैनासुन्दरी के हृदय में वज्र जैसा ध्वज कर गया । वह सुनकर चुप हो गई । अपने पिता को इस बात का भी उत्तर न देकर मन ही मन में सोचने लगी कि पिताजी ने लज्जा शून्य ऐसे निष्ठुर वचन क्यों कहे ? क्या कुलीन कन्याएँ कभी मुँह से वर

मांगती हैं ? सुशील कन्याएँ तो स्वप्न में भी ऐसा संकल्प नहीं करतीं—इत्यादि विचारों में निमग्न हुई पुत्री लज्जा के सारे अधोमुख करके नीचे की ओर देखती रही तब भी राजा ने इसका हादिक भाव नहीं समझा और पुनः दूसरी तीसरी बार इसी बात को पूछने लगे । अन्त में मैना सुन्दरी ने जब पिता का इसी बात पर विशेष आग्रह देखा तो वह लाचार होकर बोली—

“तात, वचन सुन भ्रम भ्रम, मन में देख विचार, ।

मुख से बर भागे नहीं, जे कुलवन्ति कुमारि ।”

अर्थ—हे पिता ! पुत्री के सम्मुख आपको ऐसे लज्जाशून्य वचन नहीं कहने चाहिए ।’ इस प्रश्न का उत्तर देना हम कुलीन कन्याओं का धर्म नहीं है क्योंकि उच्च वंश की कन्याएँ अविवाहित रहना स्वीकार करती हैं परन्तु कभी भी अपने मुख से बर नहीं मांगती । माता-पिता आदि स्वजन वा गुरुजन जिसके साथ ब्याह देते हैं वह ही वर उनके लिए कामदेव के समान रूपवान और कुबेर के समान धनी होता है चाहे वह ऋणी हो, रंक हो, धनी हो, रोगी हो, निरोगी हो, असुन्दर हो, सुन्दर हो, कुरूप हो, सुरूप हो, पण्डित हो, गुणहीन हो तथा सर्व गुण सम्पन्न हो । परन्तु कुलीन वंशज कन्याओं के लिए वही वर उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य होता है । दूसरे यह सब बात भाग्य से होती है । आपके कहने और करने से ही क्या ? क्योंकि जैसा जिसका सम्बन्ध होता है वैसा इष्ट अनिष्ट वस्तुओं का संयोग कर्म वश स्वयंमेव ही आकर मिल जाता है इसीलिए “हे पिता जी ! आपको अधिकार है चाहे जिसके साथ आप मेरा ब्याह कर दीजिए ।”

पुत्री के ऐसे वचन सुनकर राजा को बहुत क्रोध आया और मन ही मन में क्रोध से विह्वल होकर चित्त में ठान लिया कि पुत्री जो मेरे घर में उत्तमोत्तम भोगोपभोगों को भोगती हुई सबको निज कर्मोदय प्राप्त बतलाकर मेरे उपकार का लोप करते हुए इतने गर्व से युक्त वचन कहती है अतएव मुझे भी अब इसके कर्म की परीक्षा करनी है । मैं भी अब इसे हीनवर के साथ ब्याहूँगा । देखूँ इसका कर्म क्या करता है ?—ऐसा विचार कर कुछ समय पश्चात् महाराज पदुपाल मंत्रियों को साथ लेकर हीन-वर की खोज करने के लिए निकले सो चलते-चलते उसी वन में जा पहुँचे जहाँ महाराज श्रीपाल अपने सात सौ वीरों सहित पूर्वोपाजित अशुभ कर्म का फल भोग रहे थे । श्रीपाल राजा पदुपाल को अपने पास आते हुए देखकर निजासन से उठ खड़े हुए और यथायोग्य स्वागत करके कुशल प्रश्न के अनन्तर अपने पास तक आने का कारण पूछने लगे । राजा पदुपाल ने कहा—‘मैं तो वन कीड़ा के लिए निकल आया हूँ । आपका आगमन यहाँ कैसे हुआ और किस कारण नगर बसाया है ?’ यह सुनकर राजा श्रीपाल ने अपना आद्योपात्त सब वृत्तान्त कह सुनाया । सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—‘मैं तुमसे बहुत संतुष्ट हुआ हूँ जो तुम्हें इच्छित हो सो मांगो, मैं देने को तत्पर हूँ ।’

श्रीपाल ने अवसर देखकर कहा—“राजन् । यदि आपकी मुझ पर सन्तुष्टता है और आग्रह पूर्वक वर देना ही चाहते हैं तो आप अपनी पुत्री मैनासुन्दरी मुझे दे दीजिए ।’ श्रीपाल के वचन सुनकर पदुपाल को एक बार तो क्रोध आया परन्तु साथ ही मैनासुन्दरी के वाक्यों का स्मरण कर शांत होकर सहर्ष बोले—‘अरे कुष्टी राय ! मैंने तुम्हको अपनी लघु पुत्री प्रदान की । तू अब अपने सखाओं सहित मेरे साथ चल और मैना सुन्दरी का सहर्ष वरण कर जिससे तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो ।’

श्रीपाल ने हर्षित होकर राजा के वचनों को सादर स्वीकार कर लिया और उनके साथ चलने को तत्पर हो गए । महाराज पदुपाल ने कुष्टी श्रीपाल को सात सौ वीरों सहित लेकर अपने नगर की

और प्रयाण किया। वहाँ से चलकर जब कुछ समय के अनन्तर नगर के निकट पहुँचे तो श्रीपाल को उनके साथ सौ सखाओं सहित पुर के बाहर उद्यान में डेरा देकर आप स्वयं मंत्रियों सहित नगर में प्रवेश किया और पुत्री के निकट आकर बोला—‘पुत्री ! अब भी तू कह दे तुझे कौन-सा वर पसंद है ? मैं तेरा भी सुरसुन्दरी वत् इच्छित वर के साथ विवाह कर दूंगा। अपने अभीष्ट को निस्संकोच होकर प्रगट कर दे ? पिता के ऐसे वचनों को सुनकर मैनासुन्दरी ने उत्तर में कहा—‘पिता जी ! बारम्बार पिष्ट पेयण (पिसे हुए को पीसने) से क्या लाभ ? मैं प्रथम ही आपसे निवेदन कर चुकी हूँ कि कुलीन कन्याएँ कभी निजमुख से वर नहीं माँगती। माता-पिता तथा गुरुजन जिसको योग्य वर समझ लेते हैं वही उनको स्वीकृत होता है। अतएव मुझको भी आपका वचन स्वीकार होगा।’

पुत्री के ऐसे वचन सुनकर राजा को संतोष नहीं हुआ तब बोले—‘हे पुत्री ! मैंने तेरे लिए कुण्ठी वर योग्य समझा है।’

वह बोली—‘वह वर मुझे स्वीकार है। इस भव में तो कुण्ठीराय मेरा स्वामी होगा। अन्य सब आपके (पिता के) समान हैं।’

यद्यपि ये वचन मैनासुन्दरी ने अपने हार्दिक सद्भावों से कहे थे परंतु राजा को नहीं रुचे। वह बोले—‘हे पुत्री ! तू बहुत हठीली है और विचार शून्य है। अब भी अपनी हठ छोड़ दे।’ परंतु मैनासुन्दरी अपने हार्दिक भावों से श्रीपाल को ही अपना जीवनेश समझ चुकी थी अतएव वह कहने लगी—‘पिता जी ! कर्म की गति विचित्र है। जब अशुभ कर्म का उदय आता है तब इष्ट रूप सामग्री अनिष्ट रूप हो जाती और जब शुभ कर्म का उदय होता है तो वही अनिष्ट रूप सामग्री रूप परिणमन जाती है। क्षणमात्र में कुवेर से धनी—निर्धन, कामदेव के समान रूपवान् कुरूप, स्वस्थ से रोगी, निर्धन से धनी, कुरूप से रूपवान् और रोगग्रस्त से रोग मुक्त हो जाते हैं इसीलिए अब जो कुछ होना था सो हो चुका। अब इसमें कुछ सोच विचार करने की आवश्यकता नहीं है।’

जब राजा ने देखा कि पुत्री को भी अब जिद्द हो गई तब उन्होंने तत्काल ही एक ज्योतिर्विद् पंडित को बुलाया और उससे विवाह का उत्तम मुहूर्त पूछने लगे। तब ज्योतिषी ने लग्न विचार कर कहा—‘नरनाथ ! आज का मुहूर्त अति उत्तम है क्योंकि सूर्य, चन्द्र और गुरु तीनों वर तथा कन्या के लिए बहुत ही अच्छे हैं, फिर ऐसा उत्तम मुहूर्त बीस वर्ष तक भी नहीं बनेगा।’

राजा ऐसा उत्तम और निकट मुहूर्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और विवाह का आयोजन करने लगे। तब मंत्री, पुरोहित, स्वजन तथा कुटुम्बी जनों ने मैनासुन्दरी को कुण्ठी के साथ देने से बहुत रोका परंतु राजा ने सबको तिरस्कृत कर अपने हठ तथा मिथ्याभिमान के वश होकर उसी दिन मैनासुन्दरी का श्रीपाल के साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण करा दिया। जब विवाह विधि हो चुकी तब मैनासुन्दरी अपने पति के साथ-साथ चलने लगी और सब लोग विचार कर सुन्दरी को पहुँचाने गए। उस समय कुण्ठी श्रीपाल के साथ दिव्य रूपवती सुन्दरी को जाते हुए देखकर किसी के चेहरे से शोक, किसी से चिंता, किसी से भय, किसी से ग्लानि, किसी से विस्मय, किसी से क्रोध और किसी से बिरागता प्रदर्शित होती थी। उस समय राजा पदुपाल भी स्वयं चित्त में बहुत खेदित और लज्जित हुआ परंतु वह कर ही क्या सकता था ? कर्म रेख पर मेख मारने की किसकी सामर्थ्य है ? मैनासुन्दरी की माता तथा बहिन भी उसकी इस दशा को देखकर अश्रुपात करते हुए राजा को दोष देते जाते थे परंतु उस सती, शीलवती, कोमलांगी बालिका के चेहरे से अपूर्व प्रसन्नता प्रदर्शित होती थी। वह विचार कर रही थी कि न भालूभ

ये माता, पिता, गुरुजन तथा दर्शन जन आदि क्यों ऐसे मंगलमय समय में अमंगल सूचक चिन्ह प्रगट करते हैं। मुझे शीघ्र ही क्यों नहीं विदा कर देते। ये ज्यों-ज्यों विलम्ब कर रहे हैं त्यों-त्यों मेरे पति—सेवा करने में अंतराय पड़ रहा है।

जब उसने देखा कि ये सब लोग प्रेम के वश होकर पिता के कृत्य और भाग्य को दोष देते हुए साथ में मेरे पति के लिए कोढ़ी आदि निघ वचन कह रहे हैं। तब उससे नहीं रहा गया और वह दीर्घ स्वर से बोली—हे माता, पिता, बंधु तथा गुरुजन ! यद्यपि आप सब लोग मेरे शुभचिंतक हैं और अब तक आप लोगों ने जो कुछ भी मेरे लिए किया वह सब सुख के लिए था परंतु अब आप लोगों के ये वचन मुझको बूल से मालूम होते हैं। मैं अब अपने पति के निंदा वाचक वचन नहीं सुनना चाहती हूँ। क्या आप लोग नहीं जानते कि स्त्री का सर्वस्व पुरुष ही है। जो सती, शीलवान और सुशील स्त्रियाँ हैं वे अपने पति के लिए निघ वचन नहीं सुन सकती हैं। स्त्रियों को उनके कर्मानुसार जैसा वर प्राप्त हो जाए वही उनको पूज्य है यद्यपि आप लोग मेरे पति को कुरूप और रोग सहित देख रहे हैं परंतु मेरी दृष्टि में वह कामदेव के समान हैं। आप लोग व्यर्थ ही पश्चाताप कर रहे हैं। यदि शुभोदय होगा तो थोड़े ही समय के अनंतर आप लोग इन्हें देव, गुरु व धर्म के प्रभाव से रोगमुक्त देखेंगे इसीलिए आप शांति रखें। किसी प्रकार की चिंता न करें। इसमें मेरे पिता का किंदिग् भी दोष नहीं है इसीलिए कभी भी आप पिताजी को कुछ-कुछ कहकर क्लेशयुक्त न कीजिए।

इत्यादि पुत्री के वचन सुनकर सबको सन्तोष हुआ और वे कर ही क्या सकते थे ? 'होनहार प्रबल हैं'—इस विचार से चित्त को शान्त कर राजा पदुंगल ने पुत्री तथा जामात को उत्तमोत्तम वस्त्रादि दिये तथा साथ में सेवा करने के लिए दास-दासी तथा पालकी, रथ, घोटक, हस्ती, गाय, भैंस, ग्राम, पुर पट्टनादि दिए एवं क्षमा कर विदा किया। बहुत दूर तक लोग पहुंचाने गए थे सो पश्चात लौटकर सब लोग अपने अपने निवास स्थान को आ गये। कुछ समय तक नगर में यही चर्चा रही और ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे त्यों-त्यों लोग इस बात को भूलने लगे।

अथानन्तर जब से श्रीपाल जी मैना सुन्दरी को अपने घर ले आए तब ही से उनके शरीर में दिनोदिन कुछ कुछ साता के चिन्ह प्रगट होने लगे। सो ठीक ही है—

शीलवान नर जहाँ-जहाँ जाय' तहाँ-तहाँ मंगल होत बनाय ।"

मैनासुन्दरी उत्तम मन वचन से ग्लानि रहित पति सेवा में लीन हो गई वह साध्वी निरन्तर श्रीपाल की अभिरुचि के अनुकूल पथ्य भोजन कराती और सदैव रोग की निवृत्ति के लिए श्री जी से प्रार्थना करती। अथानंतर एक दिन दोनों दम्पति श्री जिन भगवान के दर्शनार्थ जिन मन्दिर गए। वहाँ भगवान की सभक्ति तीन प्रदक्षिणा देकर साष्टांग नमस्कार किया और दत्तचित्त हो भगवान के गुणों का गायन करने लगे। पश्चात वहाँ पर विराजमान श्री गुरु के चरण कमलों में सभक्ति नमस्कार कर दोनों दम्पति अपने वेदनीय कर्म के उदयजनित व्याधि की निवृत्ति के लिए प्रतीकार पूछने लगे।

तब मुनिराज ने कहा—“हे पुत्री !” मैं तुम्हें कुछ व्याधि की निवृत्ति के लिए प्रतीकार बताता हूँ इसलिए दत्तचित्त होकर सुन। वह उपाय यह है कि सबसे प्रथम निर्दोष सम्यक्त्व स्वीकार कर। जिसके धारण करने से सब व्रतादिक सार्थकता को प्राप्त होते हैं। अन्यथा सम्यक्त्व के बिना व्रत आदि का आचरण करना अंक के बिना अखिल शून्यवत निरर्थक है। पश्चात विधि सहित सिद्धचक्र व्रत अथवा

अष्टाह्निका व्रत धारण कर क्योंकि इस व्रत के प्रभाव से सब प्रकार के रोग शोक दूर हो जाते हैं।" तब मैनासुन्दरी ने विनीत भाव पूर्वक निवेदन किया—“हे स्वामिन ! अनुकम्पा कर इस व्रत की विधि बतलाइये।” तब मुनिराज ने कहा—“हे पुत्री ! यह व्रत प्रतिवर्ष में तीन बार कार्तिक, फाल्गुन, और अषाढ़—इन तीन महीनों के शुक्ल पक्ष के अन्त के आठ दिनों में अर्थात् शुक्लाष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त किया जाता है। उत्तम व्रत तो यह है कि आठों ही उपवास करे। मध्यम बेला तेला आदि अनेक रूप हैं सो यथाशक्ति करे। इन उपवास के दिनों में अपने चित्त को विषय कषायों से रोक कर धर्म ध्यान में व्यतीत करे क्योंकि—

“कषाय विषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते ।

उपवासः स विज्ञेयः शेषं तु लघनं विदुः ॥”

अर्थ—इस प्रकार प्रति वर्ष में तीन बार व्रत करते हुए आठ वर्ष व्यतीत हो जावें तब यथा-शक्ति विधि सहित उद्यापन करें।” इस प्रकार मुनिराज के द्वारा व्रत की विधि सुनकर मैनासुन्दरी ने सिद्धचक्र व्रत को सहर्ष स्वीकार किया। पश्चात् वे दंपति मुनिराज के अरण्यारविन्दों को नमस्कार कर अपने स्थान को पधारें और परस्पर प्रेमालाप करते हुए सुख पूर्वक समय व्यतीत करने लगे। कुछ दिन के अनन्तर पवित्र कार्तिक मास आया। सो कार्तिक शुक्लाष्टमी को मैनासुन्दरी बड़े हर्ष के साथ स्नान कर उज्ज्वल, शुद्ध वस्त्र धारण कर प्राशुक सामग्री ले जिन मन्दिर गई और विधिपूर्वक अष्टद्वय से भगवान की पूजा की। आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। इस प्रकार नित्यप्रति वह साध्वी आठों दिन भगवान की पूजा करके गंदोदक लाती और सात सौ वीरों तथा श्रीपाल के कुष्ठ से गलित शरीर पर छिड़क देती थी। सो इस सती की सच्ची पति सेवा और जिन भगवान की भक्ति तथा व्रत के प्रभाव से आठ ही दिनों में श्रीपाल और उनके सात सौ सखाओं के शरीर से कुष्ठ इस तरह निर्मूल हो गया कि मानों कभी हुआ ही न था। अब श्रीपाल का शरीर सुवर्ण के समान कान्तिमान हो गया। देखो व्रत का प्रभाव कि जिसके अतिशय से तत्क्षण ही सात सौ सखाओं सहित राजा श्रीपाल कुष्ठ रोग से मुक्त हो कामदेव के समान दीप्त शरीर हो गए। सच है—“व्रत की महिमा अचिंत्य है।” अब वे दंपति असाताकर्म के क्षय होने पर सुख पूर्वक समय बिताने लगे। इनको ऐसा हर्ष हुआ कि निशिवासर जाते मालूम नहीं होते थे। यह बात तो यहाँ ही रही।

अब श्रीपाल जी की माता कुन्दप्रभा का वृत्तान्त कहते हैं—माता कुन्दप्रभा पुत्र के वियोग से तथा पुत्र की अस्वस्थ अवस्था का विचार करती हुई अत्यन्त दुःखित रहा करती थी। सो चिन्तित हो चिन्ता में उनका शरीर बहुत क्षीण हो गया। परन्तु क्या करें निरुपाय थीं। यद्यपि पुत्र का मोह बहुत था यहाँ तक कि शरीर बहुत क्षीण हो गया था परन्तु वह प्रजा वत्सल रानी इस दशा में भी श्रीपाल को बुलाकर पास रखना नहीं चाहती थीं। निदान कुन्दप्रभा एक दिन स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहन जिन मन्दिर गई तथा प्रथम ही श्रीजिनदेव की वन्दना स्तुति करके वहाँ पर तिष्ठे हुए श्री मुनिराज को नमस्कार करके विनय पूर्वक अपने पुत्र की कुशल पूछने लगी। तब समदर्शी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज ने अवधिज्ञान से श्रीपाल के उज्जैन में जाने, मैनासुन्दरी के साथ सम्बन्ध होने और कुष्ठ व्याधि के दूर हो जाने आदि का सम्पूर्ण वृत्तान्त रानी कुन्दप्रभा को कह सुनाया। तब रानी प्रसन्न चित्त होकर निज घर आयी और अपने देवर वीरदमन से श्रीपाल को पास मिल जाने की आज्ञा मांगकर सहर्ष उज्जैन की ओर प्रयाण किया। रानी कुन्दप्रभा पुत्र प्रेम से बाध्य हुई अति शोचनता से प्रयाण करती हुई कुछ दिनों

का लोप कर दिया यथार्थ में वे पुत्र कुल के कलंक ही हैं। इसलिए हे स्वामी ! यहाँ से चतुरंग सेना लेकर अपने देश को चलिए और सानन्द चिन्ता मिटाकर स्वराज्य भोगिए।" ऐसे वचन अपनी प्रिया के मुख से सुनकर श्रीपाल ने कहा—“हे प्रिये ? तुमने जो कहा वह ठीक है परन्तु क्षत्रिय लोग कभी किसी के सामने हाथ नहीं नीचा करते अर्थात् याचना नहीं करते सो प्रथम तो मांगना ही बुरा है और कदाचित् यह भी कोई करे तो ऐसा कौन कायर व निर्लोभी होगा जो दूसरों को राज्य देकर आप पराश्रित जीवन व्यतीत करे। संसार में कनक और कामिनी को कोई भी खुशी-खुशी किसी को नहीं सौंप देता है और यदि ऐसा हो भी तो मेरा पराक्रम किस तरह प्रगट होगा ? अपने बाहुबल से ही प्राप्त हुआ राज्य सुख का दाता होता है दूसरी बात यह है कि जहाँ तक अपनी शक्ति से काम नहीं लिया वहाँ तक राज्य किस आधार पर चल सकता है ? तीसरे शक्ति को काम में न लाने से कायरता भी बढ़ती जाती है। फिर समय पर शत्रु से रक्षा करना कठिन हो जाता है। विद्या अभ्यास कारिणी ही होता है इसलिए पुरुष को सदैव सावधान रहना ही उचित है इसीलिए हे वरनार ! मैं विदेश में जाकर निज बाहुबल से राज्यादि वैभव प्राप्त करूँगा। तुम आनन्द से अपनी सास की सेवा माता के समान करना और नित्य प्रति जिन देव के दर्शन, स्तवनादि षट् कर्मों से सावधान रहना। तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करना। मैं शीघ्र ही आकर मिलूँगा।” पति के ये वचन यद्यपि मैनासुन्दरी के लिए दुःखदायक थे परन्तु जब उसको यह विश्वास हो गया कि अब स्वामी नहीं मानेंगे वे अवश्य ही विदेश जायेंगे इसलिए अब इनके चलते समय अवरोध करना उचित नहीं है—ऐसा समझ कर वह धीमे स्वर से बोली—“हे स्वामिन ! आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है परन्तु ये तो बतलाइए कि अब इस अवला को पुनः आपके दर्शन कब होंगे जिसके सहारे व आशा पर चित्त को स्थित रखा जाय ?”

तब श्रीपाल ने कहा—“प्रिये ! बिल्कुल अधीर मत हो। चित्त में धैर्य रख मैं बारह वर्ष पूर्ण होते ही इसी अष्टमी के दिन अवश्य आ मिलूँगा। इसमें किंचित् मात्र भी अन्तर न समझना इस प्रकार श्रीपाल जी पतिपरायण मैनासुन्दरी को सन्तोष देकर अपनी माता के पास पहुँचे और नमस्कार कर माता से प्रार्थना की और माता से अपने मन का समस्त वृत्तान्त निवेदन करके विदेश गमन के लिए आज्ञा देने की प्रार्थना की। माता कुंदप्रभा पुत्र का शुभ अभिप्राय जानकर कहने लगी—“हे पुत्र ! अब बहुत दिनों में आकर तो तुम्हारे वियोग जनित हृदय की दाह को शान्त किया था क्या अब मुझे फिर वही वियोग जनित दुःख देखना पड़ेगा इसलिए हे पुत्र जाने की आज्ञा देते हुए मेरे चित्त को बहुत दुःख होता है परन्तु मैं अब रोक भी नहीं सकती हूँ इसलिए अब तुम जाते ही हो तो जाओ। श्री जिनेन्द्र देव और देव, गुरु, धर्म के प्रभाव से तुम्हारी यात्रा सफल हो।” इस प्रकार श्रीपाल जी ने माता से शुभाशीर्वाद और आज्ञा ले, उसी रात्रि को पिछले पहर में सर्व उपस्थित जनों को यथायोग्य प्रणाम करके, श्री पंचपरमेष्ठी का उच्चारण करते हुए, हर्षित हो, उत्साह सहित नगर से प्रयाण किया। श्रीपाल जी वहाँ से चलते-चलते वत्सनगर में आए। उन्होंने वहाँ वत्सनगर के चंस्क वन में एक वृक्ष के नीचे तब निवासी वस्त्राभूषणों से अलंकृत व क्षीण शरीर एक विद्याधर को क्लेश युक्त व मंत्र जपते हुए देखा। परन्तु इतना क्लेश उठाने पर भी मंत्र सिद्ध नहीं होता था, इससे वह उदास चित्त हो रहा है—ऐसा देखकर श्रीपाल ने उसके निकट जाकर पूछा तो उसने अपना समस्त वृत्तान्त कहकर उससे विद्यासाधन करने के लिए निवेदन किया। तब श्रीपाल उसके बारंबार कहने और आग्रह करने से शुद्धता पूर्वक निश्चल आसन लगाकर मन, वचन, काय की स्थिरता से शुद्ध भाव पूर्वक मंत्र जपने के लिए बैठ गए सो एकाग्रचित्त से

आराधन करने से उन्हें एक ही दिन में विद्या सिद्ध हो गई तब उन्हें सफल देखकर वह वीर उठा और प्रणाम करके श्रीपाल की स्तुति कर उनसे कहने लगा—

“हे स्वामिन् । यह विद्या आप ही अपने पास रखिये तथा मुझे मेरे घर जाने की आज्ञा दीजिए ।” तब श्रीपाल ने कहा —“हे वीर ! मेरा यह धर्म नहीं है कि दूसरे को विद्या को छीन कर मैं विद्याजान् बनूँ । दूसरे मैंने इसमें किया ही क्या है ? तुम्हारे दुःसाग्रह से मैंने अपनी शक्ति की परीक्षा की है”—ऐसा कह उस विद्याधर को वह विद्या दे दी । तब पुनः उस विद्याधर ने स्तुति करके कहा—“हे स्वामिन् ! यदि आप इस विद्या को स्वीकार नहीं करते हैं तो ये जलतारिणी व शत्रुनिवारिणी ये दो विद्यायें अवश्य ही भेंट स्वरूप स्वीकार कीजिए तथा मुझ पर अनुग्रह कर मेरे गृह को अपने पवित्र चरण कमलों से पवित्र कीजिए”—ऐसा कह उक्त दोनों विद्याएँ श्रीपाल जी को भेंट स्वरूप देकर अपने स्थान पर ले गया तथा कुछ दिन तक अपने यहाँ रख कर बहुत सेवा की । पश्चात् उनको उनको इच्छानुसार विदा कर आप सानंद आयु व्यतीत करने लगा । इस प्रकार श्रीपाल जी ने घर से निकल कर वत्सनगर के विद्याधर को अपना सेवक बनाकर और उससे उक्त दो विद्याएँ भेंट स्वरूप ग्रहण कर आगे को प्रयाण किया और वहाँ से चलकर भृगुकच्छपुर आए । यह नगर समुद्र तट के समीप होने से अति रमणीक था सो वे घूमते-घूमते उस नगर के उपवन में पहुँचे और वहाँ पास ही एक स्थान पर जिन मन्दिर देखकर हर्षित हो प्रभु के दर्शनार्थ उसमें प्रवेश किया वहाँ भगवान को सभक्ति साष्टांग नमस्कार कर के स्तवन कर अपना धन्य, जन्म मानने लगे । श्रीपाल भगवान का दर्शन स्तवन व सिद्धचक्रवर्त का आराधन करते कितने ही काल पर्यन्त इसी नगर में रहे । इसी समय कोशाम्बी नगरी निवासी धवल सेठ व्यापार के निमित्त देशांतर को जाने के लिए पाँच सौ जहाज भर कर इसी नगर के समीप आया । पवन के योग से वे जहाज किसी खाड़ी में जा पड़े । उस सेठ के साथ जितने आदमी थे उन सब ने मिलकर शक्ति भर प्रयत्न किया परन्तु वे जहाज खाड़ी से न निकाल सकें । तब सेठ को भारी चिन्ता हुई । तब वह वहाँ से उदास चित्त नगर में गया और वहाँ किसी दक्ष निमित्त ज्ञानी से अपना वृत्तान्त निवेदन कर जहाजों के अटक जाने का कारण पूछा । तब उसने कहा—“हे श्रेष्ठि ! तुम्हारे अशुभ कर्म का उदय है इसलिए तुम्हारे जहाज जलदेवों ने कील दिए हैं यदि किसी गुणवान्, सुन्दर, गम्भीर और शुभ लक्षणवंत तथा शूर वीर पुरुष की उन देवों को बलि दी जाए तो तुम्हारे जहाज चल सकते हैं अन्यथा नहीं ।” यह सुनकर सेठ अपने डेरे में भागा और अपने मंत्रियों से मंत्रणा करके बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट स्वरूप ले जाकर राजा से मिला ।

राजा को अपनी अमूल्य वस्तुएँ भेंट पाने से प्रसन्नचित्त देखकर अपना समस्त वृत्तान्त कह सुनाया और एक मनुष्य को बलि देने की आज्ञा प्राप्त कर ली और तदनुसार ऐसे मनुष्य को जो कि अकेला हो, गुणवान हो, निर्भय हो बूढ़ने के लिए अपने सेवकगण चारों ओर भेज दिए । उनमें से कुछ मनुष्य वहाँ जा किलले जहाँ पर उपवन में एक वृक्ष के नीचे श्रीपाल जी शीतल छाया में सो रहे थे । उन्हें सोते हुए देखकर वे मन में विचार करने लगे कि जैसा पुरुष चाहिए, यह ठीक वैसा ही मिल गया है । बस अपना काम बन गया परन्तु उन्हें जगाने का किसी को साहस नहीं पड़ता था । सब लोग एक दूसरे को उसे जगाने की प्रेरणा दे रहे थे । कि इतने में श्रीपाल जी की नींद खुल गई और आँख खुलते ही अपने आप को चारों ओर से मनुष्यों से घिरा हुआ पाया तब निःशंक होकर बोले—“तुम कौन हो और मेरे पास किस लिए आए हो ?”

तब सेठ के नौकर बोले, "हे स्वामिन् ! कौशाम्बी नगरी का एक धनिक व्यापारी जिसका नाम धवल सेठ है, व्यापार के निमित्त पांच सौ जहाज लेकर विदेश को जा रहा था। सो किसी कारण से उसके जहाज खाड़ी में अटक गए हैं और मंथना करके विवेक रहित हो जहाज चलाने के लिए एक आदमी की बलि देना निश्चय कर हमको मनुष्य की तलाश में भेजा है सो मनुष्य हमको कोई मिलता नहीं है और सेठ का डर भी बहुत लगता है कि खाली जाएँ तो मार डालेगा आर वापस नहीं जावें तो हमें ढुंढ़वा कर फिर हमें अधिक कष्ट देगा। इसलिए हम आपकी शरण में हैं। किसी तरह हमें बचाइए यह सुनकर श्रीपाल बोले—“भाइयो तुम भय न करो। तुम कहो तो क्षण भर में करोड़ों वीरों का मर्दन कर डालूँ और कहो तो वहाँ चल कर सेठ का काम कर दूँ ?”

तब वे आदमी स्तुति करके गद्गद् बचन बोले—“स्वामिन यदि आप वहीं पधारेंगे तो अति कृपा होगी और हम लोगों के प्राण भी बच जायेंगे। आपका यश बहुत फैलेगा। आप धीर वीर हो। आपसे सब काम हो जाएगा।” यह सुनकर श्रीपाल जी तुरन्त ही यह विचार कर—“देखें कर्म का क्या बनाव है, क्या-क्या कौतुक होगा ? मैं भी अपने बल की परीक्षा कर लूँगा” उन वनचरों के साथ चलकर शीघ्र ही धवल सेठ के पास आ पहुँचा। सेठ सेठ से हाथ जोड़कर बोले—“हे सेठ ! आप जैसा पुरुष चाहते थे सो यह ठीक वैसा ही लक्षणवन्त है। अब आप का कार्य निस्सन्देह हो जाएगा।” सो उस लोभ अन्ध-धवल सेठ ने बिना ही कुछ सोचे और बिना पूछे कि ‘तुम कौन हो’ श्रीपाल को बुलाकर, उबटना करा कर स्नान करवाया। इतर, फुलेल, चन्दनादि लगाकर उत्तम-उत्तम वस्त्राभूषण पहिनाए और बड़े गाजे बाजे सहित उस स्थान पर जहाँ जहाज अटक रहे थे, ले गए। तब वहाँ शूरवीरों ने इनके मस्तक पर घलाने के लिये खड्ग उठाया। तब श्रीपाल जी हर्षित हो मन में यह विचारते हुए कि अब इन सब का काल निकट आया है बोले—“अरे सेठ ! तुम्हें यहाँ जीव-वध करने से प्रयोजन है कि अपने जहाजों के चलने से है।” सेठ ने उत्तर दिया—“हमको जहाज चलाना है। यदि तू चला देगा तो तुम्हें फिर कोई तकलीफ देने वाला नहीं है।” तब श्रीपाल जी बोले—“अरे मूर्ख, लोभांध ! तूने मुझे देखकर जरा भी शंका नहीं की और बलि देने को तत्पर हो गया सो ठीक ही है। क्योंकि कहा भी है —

“अथि दोषो न पश्यति”

क्या तू समझता है कि मैं यहाँ तेरे उद्यम के अनुसार बलि हो जाऊँगा ? देखूँ तेरे पास कितने शूरवीर हैं ? सबको एक ही बार में चूर-चूर कर डालूँगा देखूँ कौन साहस कर मेरे सामने बलि देने को आता है ? आओ शीघ्र ही आओ। देर मत करो और फिर देखो मेरे पराक्रम को। हे दुष्टो ! तुमको जरा भी लज्जा नहीं आती। विचार हीन ! केवल लोभ के बश अन्तर्ध करने पर कमर बांध ली है सो आओ मैं देखता हूँ कि तुम कितने पराक्रमी वीर हो श्रीपाल जी के साहस युक्त ऐसे निर्भय वचन सुनकर धवल सेठ और उसके सब आदमी मारे भय से कांपने लगे और नम्रता से विनय सहित स्तुति करके बोले—“स्वामिन् ! हम लोग अविवेकी हैं। आपका पुरुषार्थ जाने बिना ही यह साहस किया था। आप दयालु, साहसी, न्यायी व गुणवान हो। हम आपकी प्रशंसा कहाँ तक करें ? अब क्षमा करो और हमसे प्रसन्न होओ हम लोगों का संकट निवारण करो।” इस पर श्रीपाल जी को दया आ गई। तब उन्होंने आज्ञा दी—“अच्छा तुम लोग अपने जहाजों को शीघ्र तैयार करो।” तुरन्त ही सब जहाज तैयार किए गए।

जहाजों को तैयार देखकर श्रीपाल जी ने पंच परमेष्ठी का जापकार सिद्धचक्र का आराधन किया और पाँव के अंगूठे से ज्यों ही जहाजों को स्पर्श किया त्योंही सब जहाज चल पड़े सब लोगों में जय-जयकार होने लगा। बहुत खुशी मनाई गई। सब लोग श्रीपाल जी के साहस, कृपा, बल व पुरुषार्थ की प्रशंसा करने लगे और सबने उनको अपने साथ ले जाने का विचार कर प्रार्थना की कि—“हे स्वामिन् ! यदि आप हम लोगों पर अनुग्रह कर साथ चलें तो हमारी यात्रा सफल हो।”

तब श्रीपाल जी ने कहा—“सेठ जी ! यदि आप अपनी कमाई का दसवाँ भाग मुझे देना स्वीकार करें तो निःसंशय चलूँ।” सेठ ने यह बात स्वीकार की और श्रीपाल जी ने धवल सेठ के साथ जहाजों पर सवार होकर प्रस्थान किया। जब समुद्र में धवल सेठ के जहाज चले जा रहे थे कि इतने में एकाएक मरजिया (जहाज के ऊपर सिरे पर बैठकर दूर तक देखने वाला) एकदम चिल्लाकर बोला—“वीरो ! सावधान हो जाओ। अब असावधान रहना उचित नहीं है। देखो सामने से एक बड़ा भारी तस्करों का समूह चला आ रहा है।” ये सुनते ही सब सामान्य लोग हथियार लेकर सामने आये। इतने में लुटेरों का दल भी सामने आ गया और उन सबने मिलकर सेठ के जहाजों पर आक्रमण किया। परन्तु सेठ के शूरवीरों ने उन्हें कृतकृत्य न होने दिया और उल्टा मार भगाया। अपने कां निर्विघ्न हुआ जान सेठ के दल में आनन्द ध्वनि होने लगी। परन्तु इतने ही से इस आपत्ति का अन्त नहीं हुआ था। वे डाकू लोग कुछ दूर तक जा कर एकत्र हुए और सबने सहमत होकर यह निश्चय किया कि एक बार और धावा करना चाहिए।

बस फिर उन लोगों ने पुनः आकर उनके रंग में भंग डाल दिया और इस जोर से आक्रमण किया कि सेठ के सामन्तों की बात ही बात में पराजय कर धवल सेठ को जीते जी ही बाँध कर ले गये। तब सेठ के दल में बड़ा भारी कोलाहल मच गया। यहाँ तक श्रीपाल जी सब घटना चुपचाप बैठे देखते रहे। सो ठीक ही है—‘धीर-वीर पुरुष धुद्र पुरुषों पर क्रोध नहीं करते, चाहे वे कितना ही उपद्रव क्यों न करे। जैसे मदोन्मत्त हाथी अपने पर सहस्रों मक्खियाँ भिनभिनाती हुई देखकर भी क्रोध नहीं करता है क्योंकि यह समझता है कि मैं इन दीनों पर क्या क्रोध करूँ। एक जरा मेरे कान हिलाने मात्र से ये दिशा विदिशाओं की शरण लेने लगेंगी अर्थात् सब भाग जायगी।’ निदान श्रीपाल को तस्करों के द्वारा धवल सेठ को बाँध कर ले जाते हुए देखना सहन नहीं हुआ। उठकर खड़े हुए कि इतने ही में सेठ के आदमी रुदन करते हुए आगे और करुणाजनक स्वर में बोले—“स्वामिन् ! बचाओ देखो सेठ को डाकू लोग बाँधे लिए जा रहे हैं।” सो एक तो वैसे ही श्रीपाल जी को क्रोध उत्पन्न हो गया था फिर दोनों की दोन बाणीने मानों अग्नि में घी छोड़ दिया हो। इस तरह वह क्रोध और भी जोर पकड़ गया। वे बोले—“हे वीरो ! धैर्य रखो। चिन्ता न करो मैं देखता हूँ चोरों में कितना बल है ? बात की बात में सेठ को छुड़ाकर लाता हूँ।”

श्रीपाल जी के वचनों से सबको सन्तोष हुआ और श्रीपाल जी तुरन्त ही शस्त्र धारण कर चोरों को सामने जाकर ललकारा—“हे नीचो ! क्या तुम मेरे सामने सेठ को ले जा सकते हो ? कायरों ! खड़े रहो या तो सेठ को छोड़ कर क्षमा मांगो नहीं तो तुम अपना वध ही जानों।” श्रीपाल की यह सिंह गर्जना सुनकर वे डाकू मृगदल के समान तितर-बितर हो गए तथा किसी प्रकार अपना बचाव न देखकर धरधर काँपने लगे। निदान यह सोचकर कि यदि मरना होगा तो इन्हीं के हाथ से मरेगें, अब तो इनकी शरण लेना ही श्रेष्ठ है। यदि इन्हें दया आ गई तो बच ही जायेंगे और जो भागेंगे

तो यह एक-एक को पकड़ कर समुद्र में डुबो कर नाम निशान मिटा देंगे। यह सोच कर श्रीपाल की शरण में आए और सेठ का बन्धन छोड़कर नतमस्तक होकर बोले—“स्वामिन् ! हम लोग आपकी शरण में हैं जो चाहें जो सजा दीजिए।” तब श्रीपाल ने धवल सेठ से पूछा—“हे तात ! इन लोगों को क्या आज्ञा है ?” धवल सेठ तो क्रूर चित्त, अविचारी तथा लोभी था। मंत्रणा करके बोला—“इन सबको बहुत कष्ट देकर मार डालना चाहिए।” श्रीपाल जी ऐसे कठोर वचन सुनकर बोले—“ये तात ! उत्तम पुरुषों का कोप क्षण मात्र होता है और शरण में आए हुए को जो भी मारता है वह महा निर्दयी अधोगति का अधिकारी होता है। दयालु मनुष्यों का भूषण दया ही धर्म का मूल है। दया के बिना जप, तप, अत, उपवास आदि आचरण करना केवल कषायमात्र है शतएव मनुष्य मात्र को दया को कभी नहीं छोड़ना चाहिए और फिर जब हम सरीखे पुरुष आपके साथ मौजूद हैं फिर आपको चिन्ता ही किस बात की है ?” तब लज्जित होकर सेठ ने कहा—“कुमार आपकी इच्छा हो सो करो। मुझे उसी से सन्तोष है।”

तब श्रीपाल जी इस प्रकार उन चोरों को लेकर अपने जहाज पर आए और उन सबके बंधन खोलकर बोले—“हे वीरो ! मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया। आप यदि हमारे स्वामी को पकड़कर नहीं ले जाते तो यह समय आता नहीं।” इत्यादि सबसे क्षमा माँग कर सबको स्नान कराया और वस्त्राभूषण पहनाकर सबको पंचामृत का भोजन कराया तथा पान, इलायची व इत्र, फुलेल आदि द्रव्यों से भली प्रकार सम्मानित किया। वे डाकू श्रीपाल जी के इस बर्ताव से अति प्रसन्न हुए और सहस्र मुख से स्तुति करने लगे और अपना मस्तक श्रीपाल के चरणों में रख कर बोले—“हे नाथ ! हम पर कृपा करो ! धन्य हो आप, आपका नाम चिरस्मरणीय है।” इस प्रकार परस्पर मिलकर वे डाकू श्रीपाल से विदा होकर अपने घर गए और श्रीपाल तथा धवल सेठ आनन्द से मिलकर समय व्यतीत करने लगे और अपनी आगामी यात्रा का विचार कर प्रयाण करने को उद्यत हुए। वे डाकू लोग श्रीपाल से विदा होकर अपने स्थान पर गए और श्रीपाल के साहस और पराक्रम की प्रशंसा करने लगे—“धन्य हैं उस वीर का बल कि जिसने बिना हथियार एक लाख डाकू बाँध लिए और फिर सबको छोड़कर उनके साथ बड़ा अच्छा सलूक किया, इसलिए इसको इसके बदले अवश्य ही कुछ भेंट करना चाहिए क्योंकि अपने लोगों ने बहुत से डाके मारे और अनेक देशों में अनेक पुरुष देखे हैं परंतु आज तक ऐसा कभी नहीं देखा है।

इसने पूर्व जन्मों में अवश्य ही महान तप किया है या सुपात्र दान दिया है इसी का यह फल है—ऐसा विचार कर वे चोर बहुत सा द्रव्य लेकर और सात जहाज रत्नों से भरे हुए अपने साथ ले श्रीपाल के निकट आये और विनय सहित स्तुति कर वे जहाज द्रव्य सहित भेंट कर विदा हो गए। सो ठीक कहा :—‘पुण्य से क्या काम नहीं हो सकता है।’ पुण्य की महिमा अचिंत्य है। ऐसा जान सब पुरुषों को पुण्य सम्पादन करना चाहिए। इस प्रकार श्रीपाल जी उन डाकूओं से रत्नों के भरे सात जहाज भेंट स्वरूप लेकर उन्हें अपना आज्ञाकारी बना धवल सेठ के साथ समुद्र यात्रा करते हुए कुछ दिनों में हंसद्वीप में जा पहुँचे। यह द्वीप वन, उपवनों से सुशोभित रत्न, सुवर्ण, रुप्य ताम्रादि खानों और सुन्दर २ सुगन्धित वृक्षों तथा ममोज्ज्वल मंदिरों से परिपूर्ण स्वर्णपुरी के समान मनोहर मालूम होता था। इस द्वीप का राजा कनककेतु और रानी कंचनमाली थी। इसके दो पुत्र और रथमंजूषा नाम की एक कन्या थी। जब वह यौवन अवस्था में पदार्पण करने लगी तो राजा को उसके वर के अनुसंधान करने की चिन्ता

व्यापने लगी। महाराज कनककेतू ने एक समय मुनिराज से पूछा—“भगवान् ! मेरे मन में एक चिन्ता उत्पन्न हुई है कि मेरी पुत्री रयणमंजूषा का बर कौन होगा, सो मुझ पर कृपा कर मुझे चिन्तासागर से निकाल सुखी कीजिए जिससे मेरा संशय दूर हो।”

तब वे परम दयालु मुनिवर बोले—“राजन् ! जो सहस्रकूट चैत्यालय के कपाट अपने कर कमलों से खोलेगा वही निश्चय करके तेरी पुत्री का स्वामी होगा।” तब राजा प्रसन्न हो नमस्कार कर अपने घर पर आया और आते ही अपने नौकरों को आज्ञा दी कि—“जाओ तुम लोग सहस्रकूट चैत्यालय के द्वार पर पहरा दो और जो पुरुष आकर वहाँ के कपाट खोले उसी समय आकर हमको खबर दो और उस पुरुष का भली प्रकार सम्मान करो।” राजा की आज्ञा पर नौकरों ने उसी समय से वहाँ पर पहरा देना आरम्भ कर दिया तथा उसी समय धवल सेठ के जहाजों के साथ श्रीपाल जी का शुभागमन हुआ। यहाँ की शोभा और इसे व्यापार के लिए उत्तम स्थान देखकर जहाजों के संगर डाल दिए गए तथा नगर के निकट डेरा डाला गया। धवल सेठ आदि पुरुष व्यापार की खोज में बाजार की हलचल देखने के लिए नगर में गए और श्रीपाल जी भी गुरु वचन को स्मरण करके कि ‘वहाँ जिन मन्दिर हो वहाँ पर प्रथम ही जिन दर्शन करके सारे कार्य करना और निर्य षट् आवश्यक कार्यों को यथाशक्ति पूर्ण करना’—यह विचार कर जिनमन्दिर की खोज में गए। वे अनेक प्रकार की शोभा देखते और मन को आनन्द युक्त करते हुए एक अति ही रमणीक स्थान में आए और वहाँ अति विशाल व उत्तंग स्वर्ग सा बना हुआ सुन्दर मन्दिर देखा। उसे ही आनन्दित हो मन्दिर के द्वार पर जाकर देखा कि दरवाजा वज्र-मयी किवाड़ों से बन्द था। तब वे पहरेदार विनय सहित कहने लगे—

“हे स्वामिन् ! यह श्री जिन मन्दिर है। वज्र के कपाटों से बंद कराया गया है। इसमें और कुछ विकार नहीं है परन्तु आज तक ये किवाड़ किसी से नहीं खोले गए हैं। अनेकों योद्धा आये और अपना-२ बल लगाकर थक गए परन्तु ये कपाट नहीं खुले हैं।” श्रीपाल जी द्वारपालों के वचन सुनकर चुप हो गए तथा मन में हर्षित हो सिद्धचक्र की आराधना कर ज्यों ही उन किवाड़ों पर हाथ लगाया त्यों ही वे किवाड़ खट से खुल गए। श्रीपाल ने हर्षित होकर—

‘जय निःसही, जय निःसही, जय निःसही, जय, जय, जय’ इत्यादि शब्दों का उच्चारण करते हुए मन्दिर के मध्य प्रवेश किया और श्रीजिन के सन्मुख खड़े होकर मधुर स्वर से स्तुति पाठ पढ़ने लगे। तदनंतर सामायिक, वन्दना, आलोचना, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग आदि षट् आवश्यक कार्य कर स्वाध्याय करने लगे और वे द्वारपाल जो पहरे पर थे ऐसे विचित्र शक्तिधर पुरुष को देख कर आश्चर्यान्वित हुए। उनमें से कुछ तो वहाँ ही रहे और कुछ राजा के पास गए। उन्होंने जाकर सम्पूर्ण वृत्तान्त राजा से कह सुनाया। राजा यह समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और समाचार देने वालों को बहुत कुछ परितोषिक दिया। पश्चात् आप बड़े उत्साह से मंत्रीगणों को साथ लेकर समारोह के साथ सहस्रकूट चैत्यालय पहुँचे तथा सानन्द भक्ति पूर्वक प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। पश्चात् भगवान की स्तुति करने लगे।

स्तुति करने के पश्चात् श्रीपाल के निकट आये और यथायोग्य अभिवादन आदि के पश्चात् कुशलक्षेम और आगमन का कारण पूछने लगे—“हे कुमार ! आपका देश कौन-सा है ? किस कारण यहाँ तक आगमन हुआ ?” इत्यादि प्रश्न राजा ने किए। तब श्रीपाल जी मन में विचारने लगे ‘यदि मैं अपने मुख से अपना वृत्तान्त कहूँगा तो राजा को निश्चय होना कठिन है क्योंकि इस समय मेरे कथन की

साक्षी करने वाला कोई नहीं है सो बिना साक्षी सच भी झूठा हो जाता है। अब राजा को किस प्रकार उत्तर दूँ जिससे भ्रम मिटे' इत्यादि सोच विचार कर ही रहे थे कि पूर्व पुण्य के योग से दो मुनिराज विहार करते हुए कहीं से वहाँ आ गए। सो ये दोनों उन दोनों को देखकर परमानंदित हो उठ खड़े हुए और बड़ी विनय से स्तुति करने लगे। तदनंतर गुरु की स्तुति करके वे दोनों अपने-२ स्थान पर बैठ गए और श्रीगुरु ने उनको धर्मवृद्धि देकर संसार सागर तारक सद्धर्म का उपदेश दिया जिसे उन्होंने ध्यानपूर्वक सुनकर हृदय में धारण किया। पश्चात् राजा कनककेतू ने विनयपूर्वक पूछा—“हे प्रभो! यह पुरुष (श्रीपाल) कौन है और किस कारण से यहाँ आया सो सब वृत्तांत कहिए?” तब मुनिराज ने श्रीपाल का कुष्ठ रोग से व्यथित होना, जिसके कारण से स्वदेश को छोड़कर सात सौ सखाओं सहित वन में रहना।

वहाँ पर पूर्व पुण्योदय से राजा पदुपाल का संयोग होना तथा प्रसन्न होकर उज्जैन ले जाकर मैनासुन्दरी का विवाह होना आदि समस्त वृत्तांत सविस्तार ज्यों का त्यों कह सुनाया। श्रीपाल का चरित्र सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और मुनिवरों को नमस्कार कर श्रीपाल जी को साथ ले अपने महल को आया तथा शुभ घड़ी व शुभ मुहूर्त विचार कर अपनी पुत्री रयणमंजूषा का विवाह उनके साथ कर दिया। इस प्रकार श्रीपाल रयणमंजूषा से शादी करके वहाँ पर सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगे तथा धवल सेठ भी यथायोग्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने लगे। कुछ समय के अनंतर जब धवल सेठ व्यापार कर चुके थे तब श्रीपाल से सहमत होकर राजा के पास आए और विनीत भाव से कहने लगे :—

“हे नरनायक ! प्रजा वत्सल स्वामी ! हमको आपके प्रसाद से बहुत आनन्द रहा तथा हमने बहुत सुख भोगा। अब आपकी आज्ञा हो तो हम लोग देशांतर को प्रयाण करें।” यद्यपि राजा को सेठ के ये वचन अच्छे नहीं मालूम होते थे परंतु ये सोचकर कि यदि हम उन्हें हठ पूर्वक ठहराये रखेंगे तो इन्हें अंतरंग में दुःख होगा। अतएव इनकी अभिरुचि के अनुकूल ही करना उचित है।

अतः वे उदास होकर बोले—“आप लोगों की जैसी इच्छा हो और जिस तरह आपको हर्ष हो सो ही हमको स्वीकार है।” इस प्रकार इनके वचन स्वीकार कर देशांतर को गमन करने की आज्ञा दे दी और बहुत-सा धन, धान्य, दासी, दास, हिरण्य, सुवर्णादि तथा अमूल्य रत्न भेंट देकर निज पुत्री रयणमंजूषा को विदा कर दिया। चलते समय राजा बहुत दूर पहुँचाने को गये। पश्चात् श्रीपाल और धवल से अपनी क्षमा मांग कर राजा निकटवर्ती मनुष्यों सहित लौट कर अपने निवास स्थान पर आए। श्रीपाल ने वहाँ से विदा होकर और रयणमंजूषा को साथ लेकर हंसद्वीप से प्रयाण किया। श्रीपाल जब रयणमंजूषा को साथ लेकर धवल सेठ के साथ जलयाना करने लगे तब राजा और हंसद्वीप के अन्य मनुष्यों को इनके वियोग से बड़ा दुःख हुआ। श्रीपाल को ससुर के छोड़ने में तथा रयणमंजूषा को माता-पिता के छोड़ने का भी इतना ही रंज हुआ जितना कि उनको हुआ था। परंतु वे ज्यों-ज्यों दूर-दूर निकलते जाते थे त्यों-त्यों परस्पर की याद भूलने से दुःख कम हो जाता था। वे दंपति सुख पूर्वक समय व्यतीत करके सर्वसंध मन रंजायमान करते हुए चले जा रहे थे। सब जहाजों के स्त्री-पुरुषों में इन दोनों के पुण्य की महिमा कही जाती थी। ये दोनों सबके दर्शनीय हो रहे थे परंतु दुष्टकर्म इनके इस आनन्द को सहन नहीं कर सका इसलिए उसने इनके सुख में बाधा डालनी आरम्भ कर दी अर्थात् वह कुतघ्नी बणिक (धवलसेठ) जो इनको धर्म सुत बनाकर और दसवें भाग द्रव्य देने का प्रण करके साथ लाया था रयणमंजूषा की अनुपम स्वर्गीय सुन्दरता देखकर मोहित हो गया और निरंतर उसी की प्राप्ति के

उपाय की चिन्ता में क्षीण शरीर होने लगा। एक दिन वह दुष्टमनी रयणमंजूषा का अवलोकन कर मुक्ति हो गया और फिर पड़ा जिससे सब जहाजों में बड़ा कोलाहल मच गया श्रीपाल भी वहाँ पर दौड़े आए। आते ही धवल सेठ को मूर्छित पड़े हुए देख गोद में उठा लिया और शीतल उपचार करके जैसे-तैसे उनकी मूर्छा दूर की। जब वह कुछ सचेत हुआ तो श्रीपाल ने उसकी वेदना से बहुत पीड़ित देखा। तब श्रीपाल ने बहुत मिष्ठ नम्र वचनों से पूछा—“हे तान! आपको क्या वेदना है सो कृपा कहिये जिससे उसका प्रतिकार किया जाए।” तब सेठ ने अंतरंग कपट रख बात बनाकर कहा—

“हे वीर! मुझको बात रोग है। सो दस पांच वर्ष में कभी-कभी अकस्मात् मुझे इस रोग का आक्रमण हो जाया करता है। औषधि सेवन करने से साता हो जायगी। आप चिन्ता न करें।” तब श्रीपाल उनकी धैर्य देकर और अंगरक्षकों को ठीक सेवा सुश्रूषा करने की ताकीद करके अपने निवास स्थान पर चले आए। पश्चात् मन्त्रीगणों ने उससे पूछा—“सेठ जी! कृपा करके कहिए आपको क्या रोग है और इसका क्या प्रतिकार किया जाय जिससे आपको साता हो।” तब धवल सेठ ने लज्जाशून्य होकर कहा कि—“हे मन्त्रीगणो मुझे और कोई रोग नहीं है, केवल विरह की पीड़ा है सो यदि वह कोमलांगी मुझे नहीं मिलेगी तो मेरा जीवन रहना महा कष्ट साध्य है। अतएव तुम लोग मेरा जीवन चाहते हो तो जिस प्रकार बने उसी प्रकार उसे प्राप्त करने का उपाय शीघ्र ही कीजिए।” मन्त्रियों को सेठ के ऐसे निश्चय वचन सुनकर बहुत धृणा हुई। वे विचारने लगे कि सेठ की बुद्धि नष्ट हो गई है। इस कुबुद्धि का समस्त फल समस्त संघ का क्षय होना प्रतीत होता है। यह मोक्ष कर मन्त्रीगणों ने शास्त्रीय आख्यानो तथा युक्तियों द्वारा बहुत कुछ रामभाषा परन्तु उसके हृदय में एक वाक्य भी प्रवेश न कर सका जिस प्रकार चिकने घड़े पर जल नहीं ठहरता। वह बारम्बार उन्हीं वाक्यों को कहता रहा।

निदान मन्त्रियों ने कहा—“सेठ जी! देखो हठ छोड़ो। हम तो आपके आज्ञाकारी हैं। जैसी आपकी आज्ञा होगी वैसा ही करेंगे परन्तु स्वामी के हित अहित और लाभ हानि की सूचना स्वामी को कर देना हमारा धर्म है। हम लोगों की बात पीछे याद करोगे।” परन्तु जब देखा कि सेठ नहीं मानता तब वे बोले—“हे सेठ! इसका केवल एक ही उपाय है कि मरिजया को बुलाकर साथ लिया जाय कि एकाएक कोलाहल मचा दें कि आगे न मालूम जानवर है या चोर है। या कुछ दैवी चरित्र है। दोड़ो उठो सावधान होओ। सो इस आवाज से श्रीपाल जब मस्तूल पर चढ़ कर देखने लगेंगे। तब मस्तूल (जहाज का खंभ जिस पर चढ़ कर दूर तक समुद्र में देख सकते हैं) काट दिया जाय। इस तरह वे समुद्र में गिर जायेंगे तथा आपका मनवांछित कार्य सिद्ध हो जाएगा अन्यथा उसके रहते उसकी प्रिया को पाना ऐसा है जैसा कि अग्नि में से वर्क निकालना है।” मन्त्रियों का यह विचार उस पापी को अच्छा मालूम हुआ और उसने तुरन्त मरजिया (खबर देने वाले) को बुलाकर सब प्रकार की सिखा दिया। सो ठीक है—“कामी पुरुष स्वार्थ वश आने वाली आपत्तियों का विचार नहीं करते।” निदान एकदिन अचानक पाकर मरजिया ने एवाएक चिल्लाना आरम्भ कर दिया—“वीरो सावधान हो जाओ सामने भय के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं न मालूम बड़ा जलजन्तु है या चोरदल अथवा ऐसा ही कोई दैवी चरित्र है। तूफान है या भँवर है कुछ समझ नहीं आता।”

इस प्रकार उसके चिल्लाने से कोलाहल मच गया। सब लोग जहाँ तहाँ क्या है करके चिल्लाने और पूछने लगे। क्या है इतने में श्रीपाल जी की खबर लगी सो वे तत्काल ही आए और कहने लगे—“अलग हो ‘यह क्या है’ कहने का समय नहीं है। चलकर देखना और उसका उपाय करना चाहिए।”

ऐसा कह कर वे आगे बढ़ और शीघ्र ही मस्तूल पर जा खड़े हुए। बड़े गौर से चारों ओर देखने लगे परन्तु कुछ दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इतने में नीचे से दृष्टों ने मस्तूल को काट दिया। इससे वे (श्रीपाल) वात की बात में समुद्र में जा पड़े और लहरों में ऊँचे नीचे होने लगे। यहां (जहाजों में) कोलाहल मचा दिया कि मस्तूल टूट जाने से श्रीपाल जी समुद्र में गिर पड़े और अब उनका पता नहीं है कि लहरों में कहां गुम हो गए। जीवित हैं या मर गए। सबने शोक मनाया और धवल सेठ ने भी बनावटी शोक मनाना आरम्भ किया। वह कहने लगा —“हाय कोटि भट्ट ! तुम कहां चले गए ? तुम्हारे बिना यह यात्रा कैसे पूर्ण होगी। हाय जहाजों को अपनी भुजाओं के बल से चलाने वाले। लक्ष चोरों को बांध कर बन्धन से छुड़ाने वाले। हाय कहां चले गए ? हे कुमार ! इस अल्प आयु में असीम पराक्रम दिखा कर क्यों चले गए। तुम्हारे बिना विपत्तियों में कौन हमारी रक्षा करेगा ? हा देव ! तूने यह रत्न दिखाकर क्यों छीन लिया ?” इत्यादि केवल ऊपरी मन से बनावटी रोने लगा। अन्तरंग में तो हर्ष के मारे फल कर कुप्पा हो गया था।

जिस समय उस अबला रयणमंजूषा ने यह सुना कि स्वामी समुद्र में गिर गए हैं उसी समय वेमुग्ध होकर वह भूमि पर मूर्छित होकर गिर पड़ी। तब सखी जनों ने शीतल उपचार कर मूर्छा दूर की तो सचेत होते ही “हे स्वामिन ! इस अबला को छोड़कर तुम कहां चले गए, तुम्हारे बिना यह जीवन यात्रा कैसे पूरी होगी ? हे स्वामिन ! अब यह अबला आपके दर्शन की प्यासी पपीहे की तरह से व्याकुल हो रही है। तुम्हारे बिना मुझे एक पल भी चैन नहीं पड़ता है। हे जीव ! दयापालक स्वामिन ! दासी पर कृपा दृष्टि करो। मेरा चित्त अधीर हो रहा है। नाथ ! यदि मुझसे सेवा में कोई कमी हो गई थी तो मुझे उसका दण्ड देते। अपने आपको दुःख सागर में क्यों डुबोया ? अब बहुत देर हो गई अब प्रसन्न हो जाओ और इस अबला को जीवन दान देदो, नहीं तो ये प्राण आपके ऊपर न्योछाकर हैं। हाय प्रभो ! आपकी ही शरण में हूं। पार कीजिए।” इस प्रकार रयणमंजूषा ने घोर विलाप किया। उसका शरीर कुम्हला कर कुम्हलाए पुष्प के समान प्रभावहीन हो गया। खान पान छूट गया तथा शृंगार भी। इस प्रकार उस सती को दुःख से व्याकुल देख कर सब लोग यथासम्भव धैर्य बंधाने लगे और पापी धवल सेठ भी बनावटी शोकाकुल होकर समझने लगा—

‘हे सुन्दरी ! अब शोक छोड़ो। होनी अमिट है। इस पर किसी का वश नहीं है। संसार का सब स्वरूप ऐसा ही है। जो उपजता है वह नियम के अनुसार नष्ट हो जाता है। अब शोक करने से क्या हो सकता है ? अब यदि तू उसके लिए मर भी जाएगी तो भी वह तुझे नहीं मिलेगा। इस पृथ्वी पर बड़े चक्रवर्ती नारायणादि हो गए हैं परन्तु काल ने सबको ग्रास बना लिया। इसलिए शोक छोड़ो। हम लोगों को भी असीम दुःख हुआ है परन्तु किस से कहें और क्या करें कुछ उपाय नहीं है ?” इस प्रकार सबने विचार कर समझकर रयणमंजूषा को धैर्य दिया। तब उस सती ने भी वस्तु स्वरूप का विचार कर किसी प्रकार शोक कम किया और अनादि निघन मंगल रूप लोक में उत्तम शरणाधार पंच परमेष्ठी मन्त्र का मन में आराधना करने लगी। खानपान की सुध न रही। यों ही दो चार दिन बीत गए। स्नान विलेपन और वस्त्राभूषण का ही ध्यान ही नहीं किया था। वह किसी से बात भी नहीं करती थी। न किसी की तरफ देखती थी। उसको तो केवल पंच परमेष्ठी का स्मरण और पति का ध्यान था। पतिव्रता उन जहाजों में इस प्रकार रहती थी जैसे जल से कमल भिन्न रहता है। वह परमवियोगिनी इस प्रकार समय व्यतीत करने लगी।

धवल सेठ के ये दिन बड़ी कठिनता से बीत रहे थे इसलिए उसने शीघ्र ही एक दूती को बुला कर रणमंजूषा को डिगाने के लिए भेजा सो व्याभिचार की खान पापिनी दूती लोभ के वश होकर शीघ्र ही रणमंजूषा के पास आ गई और यहाँ वहाँ की बात बनाकर कामोत्पादक कथा सुनाकर अपना कार्य सिद्ध करने के लिए कहने लगी "हे पुत्री ! श्रैयं रखो । जो होना था सो हुआ । गई बात का विचार ही क्या करना है ? हाँ यथार्थ में तेरे दुःख का क्या ठिकाना है । इस बाल्यावस्था में पति का वियोग हो गया है । इस बात की कुछ चिन्ता नहीं है परन्तु काम का जोतना बड़ा कठिन है । तू उस काम के बाणों को कैसे सहेगी जिस काम के वश होकर साधू और साध्वी ने रुद्र व नारद की उत्पत्ति की जिस काम से पीड़ित होकर रावण ने सीता का हरण किया जिस काम के वश में और तो क्या देव भी हैं उस काम को जीतना बहुत कठिन है अब तू श्रीपाल का हठ छोड़कर इस परम ऐश्वर्यवान्, रूपवान्, धनवान् सेठ को अपना पति बना ले । मरे के पोछे कोई मरा नहीं जाता है । ऐसी लज्जा से क्या लाभ, जो जिन्दगी के आनन्द पर पानी डाल दे और वह तो धवल सेठ का नौकर था ? सो जब मालिक ही मिल जाए तो नौकर की क्या चाह करना ? मुझे तेरी दशा देखकर बहुत दुःख होता है । अब तू प्रसन्न हो और सेठ को स्वीकार कर तो मैं अभी जाकर उस सेठ को भी राजी कर ले आती हूँ मैं बृद्धा हूँ इस लिए मुझे संसार का अनुभव भली प्रकार है । तू अभी भोली नादान है । इसलिए मेरे वचन मानकर सुख से समय बिताओ"—इत्यादि अनेक प्रकार से उस कुटिल दासी ने उसे समझाया परन्तु जिस तरह काले कम्बल पर और रंग नहीं चढ़ता उसी तरह सती के मन पर एक बात भी नहीं जमी । इस पापिन दूती का जादू नहीं चला । वह कुलवती सती उस दूती के ऐसे निन्दनीय वचन सुनकर क्रोध से कांपने लगी और भिन्नकर बोली—"बस चुप रह । दुष्ट पापिन ? तेरी जीभ के सो टुकड़े क्यों नहीं हो जाते हैं ? वह धवल सेठ मेरे पति का धर्म पिता और मेरे स्वसुर पिता समान है । क्या पिता और पुत्री का संयोग हो सकता है ? पापिन तूने जन्मान्तरों में ऐसे भीच कर्म किए जिससे कुटनी रंडी हुई और न मालूम तेरी क्या गति होगी ? इस जन्म में रणमंजूषा का पति केवल श्रीपाल ही है तथा पुरुष मात्र उसको पिता, पुत्र व भाई तुल्य हैं । हट जा यहाँ से । मुझे अपना मुँह मत दिखाना । शीघ्र ही यहाँ से चली जा, नहीं तो इसका बदला पाएगी ।" इस प्रकार सुन्दरी ने जब उसे भिन्नकारा तब अपना सा मुँह लेकर कांपती हुई वह पापिन सेठ के पास आई और बोली—

"हे सेठ ! वह वश की नहीं है । मुझे तो उसने बहुत अपमानित करके निकाल दिया । जो थोड़ी देर और भी ठहरती तो न जाने मेरी वह क्या दशा करती । इसलिए आप जानो व आपका काम जाने । मुझसे तो हो नहीं सकता है ।" दूती ऐसा उत्तर देकर चली गई । जब धवल सेठ ने दूती से यह कृत कार्य न हुआ जाना तब वह कामांध पापी निलज्ज होकर स्वयं उस सती के निकट पहुंच और समीप बैठ कर विष-लपेटी छुरी के समान मीठे शब्दों में हस-हंस कर कहने लगा—

"हे प्रिय रणमंजूषा ! तुम भय मत करो । सुनो मैं तुमसे श्रीपाल की कथा कहता हूँ । वह दास था उसको मैंने मोल लिया था वह कुलहोन और बड़ा प्रपंची, भूठा तथा निर्दयी चित्त था । ऐसे पुरुष का मर जाना ही अच्छा है । तू व्यर्थ उसके लिए इतना शोक कर रही है । अब उसका डर भी नहीं रहा है क्योंकि उसको गिरे हुए कई दिन हो चुके हैं । सो जलचरों ने उसके मृतक शरीर को खा लिया होगा । अब निःशंक हो जाओ । तू निःशंक होकर मेरी ओर देख । तू मेरी स्त्री और मैं तेरा स्वामी हूँ । मैं तुम्हें सब स्थियों में मुख्य बनाऊँगा और स्वप्न में भी तेरी इच्छा के विरुद्ध न होऊँगा । अब तू देर

मत कर, जो कहता हो दिल खोलकर कह दे। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। मेरे द्रव्य का भी कुछ पार नहीं है। राजाओं के पहाँ भी जो सुख नहीं है वह मेरे यहाँ है। देवल तेरी प्रसन्नता की हो कमी है सो इसे पूर्ण कर दे"—इत्यादि नाना प्रकार से वह दुष्ट बकने लगा। उस समय उस सती का दुःख वही जानती थी क्योंकि शीलवती स्त्रियों को शील से प्यारी वस्तु संसार में कुछ नहीं होती। वे शील की रक्षा करने के लिए प्राणों को भी न्योछावर कर देती हैं। वह बोली—

"हे तात ! आप मेरे स्वामी के पिता हो और मेरे श्वसुर। श्वसुर और पिता में कुछ अन्तर नहीं होता। मैं आपकी पुत्री हूँ। चाहे अचल मुमूर्शु बनायमान हो जाए पर पिता पुत्री पर कुदृष्टि नहीं कर सकता। प्रथम मेरे कर्म ने मेरे भरतार का वियोग कराया और अब दूसरा उससे भी कई गुणा दुःख यह आया। यदि कोई और यह कहता तो आपसे पुकार करती। आपकी पुकार किससे करूँ ? अपने कुल व धर्म को देखो। बड़े कुलवानों का धर्म है कि अपने और दूसरों के शील की रक्षा करें। देखो रावण व कीचक आदि पर स्त्री की इच्छा कर अपशय बाँध कर नरक को चले गये। इसीलिए हे पिता जी ! अपने स्थान को जाओ और मुझ दीन को दुःखी मत करो कृपा करो और यहाँ से पधारो।" परन्तु जैसे पिल ज्वर वाले को मिठाई भी कड़वी लगती है। उसी तरह काम ज्वर वाले को धर्म वचन कहीं अच्छे लगते हैं। निर्लज्ज फिर भी कामातुर हुआ यद्वा-तद्वा बकने लगा। उस सती ने जब देखा कि यह दुष्ट नीति से नहीं मानता और यह अवश्य ही बलात् मेरा शरीर स्पर्श करेगा। तब उसने क्रोध से भंयकर रूप धारण कर कहा—

"रे दुष्ट पापी ! तेरी जिह्वा क्यों नहीं गल जाती ? हे नीच बुद्धि निशाचर। तुझे ऐसे धृष्ट शब्दों को कहते हुए लज्जा नहीं आती है ? हे धीठ ! अवम कूर। तू पशु से भी महान् पशु है। क्या तेरी शक्ति है जो शील बुरंधर स्त्री का शील हरण कर सकेगा ? तू और चाहे सो कर सकता है। परन्तु मेरे शील को कभी नहीं बिगाड़ सकता है। श्रीपाल ही मेरा स्वामी है। अन्य सभी पिता, भ्राता के समान हैं। हे निर्लज्ज। मेरे सामने से हट जा नहीं तो अब तेरी भलाई नहीं है।" वह पापी इससे नहीं डरा और आगे की बढ़ा। यह देख उस सती को चैन न रहा। कुछ देर तक चित्र लेखवत् रह गई। परन्तु थोड़ी देर में वह जोर से पुकारने लगी—"हे दीन बन्धु ! दया सागर ! शरणागत प्रतिपालक ! इस अधर्मी निर्लज्ज सेठ के अन्याय से मेरी रक्षा करो।" इस प्रकार भगवान की स्तुति कर रही थी कि इतने में उसके पुण्य के प्रभाव से नहीं किन्तु उस सती के अखण्डशील के प्रभाव से वहाँ तत्काल जलदेव व जलदेवी उपस्थित हो गये और उन्होंने घबल सेठ की मसक बाँध ली तथा गदा से बहुत मार लगाई। आँखों में बालू भर दी। मुख काला कर दिया। इत्यादि अनेक प्रकार से उसकी दुर्दशा की और बहुत ही दंड दिया। सब लोग इस घटना को देखकर एक दूसरे के मुँह की तरफ देखने लगे। बचावें किससे क्योंकि मार ही मार दिख रही थी, परन्तु मारने वाला कोई दृष्टिगोचर नहीं होता था। अन्त में मंत्री लोगों ने यह विचार कर कि कदाचित् देवी चरित्र हो, इसके सतीत्व-धर्म से धर्म सहायक हुआ हो, रमणमंजूषा के पास आए और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे—"हे कल्याण रूपिणी पतिव्रते ! धन्य है तेरे शील के माहात्म्य को। हम लोग तेरे महात्म्य को, गुणों की महिमा को बिल्कुल कहने में समर्थ नहीं हैं। तू धर्म की सेवक और जिन शासन के व्रतों में लवलीन है। तेरे भावों को इस दुष्ट ने न समझकर अपनी नीचता दिखाई अब हे पुत्री ! दया करो। इस समय केवल इस पापी का विनाश नहीं होता है। परन्तु हम सब का भी नाश हुआ जाता है। सब अब तेरी शरण में है।"

उन लोगों के दीन वचनों पर इस सती को दया आ गई तब वह क्रोध को छोड़कर खड़ी हो प्रभु की स्तुति करने लगी—“हे जिननाथ ! धन्य हो । सच्चे भक्त वत्सल हो । ऐसे कठिन समय में इस अवला की सहायता की । अब हे प्रभु ! आपके प्रसाद से जिस किसी ने मेरी सहायता की हो सो इन दोनों पर दया करके छोड़ दो”—यह सुनकर उस जल देवी ने उसे बहुत कुछ शिक्षा देकर छोड़ दिया और रयणमंजूषा को धैर्य देकर बोली—“हे पुत्री तू चिन्ता मत कर । थोड़े ही दिन में तेरा पति तुझसे मिलेगा और वह राजाओं का भी राजा होगा । तेरा सम्मान भी बहुत बढ़ेगा हम सब तेरे आस पास रहने वाले सेवक हैं । तुझे कोई भी हाथ नहीं लगा सकता है ।” इस प्रकार वे देव-देवी धवल सेठ को उसके कुर्मों का दंड देकर और रयणमंजूषा को धैर्य बंधाकर अपने-अपने स्थान को गए और उस सती ने अपने पति के मिलने का समाचार सुनकर व शीलरक्षा से प्रसन्न होकर प्रभु की बड़ी स्तुति की । वह अनशन ऊनोदर आदि करके अपना काल व्यतीत करने लगी और वह पापी धवल सेठ लज्जित होकर उसके चरणों में मस्तक झुकाकर बोला—“हे पुत्री ! अपरा ! क्षमा करो । मैं बड़ा अधम पापी हूँ और तुम सच्ची शील धुरंधर हो ।”

तब साध्वी रयणमंजूषा ने उसे क्षमा कर दिया ।

अब इस वृत्तान्त को यहीं छोड़कर श्रीपाल व्यवस्था विवरण लिखते हैं—

श्रीपाल जब समुद्र में गिरे तब ही से उन्होंने यह तो जान लिया था कि यह सब माया जाल धवल सेठ का है परन्तु ‘उत्तम’ पुरुष किसी की साक्षी व निर्णय हुए बिना किसी पर दोषारोपण नहीं करते अपितु अपने ऊपर आये हुए उपसर्ग को पूर्वोपाजित कर्मोदय जनित जानकर समभावों को किंचित् भी मलिन न कर पंचपरमेष्ठी मंत्र का आराधन करके इसी सहारे से समुद्र से तिरने का प्रयत्न करने लगे । तिरते हुए उन्हें समुद्र की लहरों से उछलता हुआ एक लकड़ी का तख्ता दृष्टिगत हुआ तो उसे पकड़कर उसी के सहारे से तिरने लगे । जब नींद आती तो उसी तख्ते पर आलस्य मिटा लेते थे इनके लिए दिन-रात समान ही था । खाना-पीना केवल एक जिनेन्द्र का नाम ही था और वही त्रिलोकी प्रभु उन्हें मार्ग बतलाने वाला था । इस प्रकार महामंत्र के प्रभाव से तिरते-तिरते वे महापुरुष श्रीपाल कुंकुम द्वीप में जाकर किनारे लगे । वहाँ मार्ग के खेद से व्याकुल होकर निकट ही एक वृक्ष के नीचे अचेत हो सो गए ।

इतने में वहाँ के राजा के अनुचर वहाँ पर आ पहुँचे और हर्षित होकर परस्पर कहने लगे—“धन्य है राजकन्या का भाग्य कि जिसके प्रभाव से यह महापुरुष अपने भुजबल से अथाह समुद्र को पार कर आज यहाँ तक आ पहुँचा है । अब तो हम सब का हर्ष का समय आ गया है क्योंकि यह शुभ समाचार राजा को देते ही वे हम सबको निहाल कर देंगे । अहा ! यह पुरुष कैसे सुन्दर शरीर वाला है मानों विधाता ने इसका शरीर सन्धि में ढालकर बनाया हो यह नागकुमार गन्धर्व और इन्द्र से भी अधिक सुन्दर है—” इत्यादि वे सब परस्पर बातें कर ही रहे थे कि श्रीपाल की निद्रा खुल गई । वे अकस्मात् उठ खड़े हुए और पूछने लगे—“तुम कौन हो ? यहाँ क्यों आये ? मुझसे क्यों डरते हो ? मेरी स्तुति क्यों करते हो ? यह निःशंक होकर कहो ।”

तब वे अनुचर बोले—हे स्वामिन् ! कुंकुमपुर का राजा सतराज और रानी बनमाला है वे अपनी नीति और न्याय से सम्पूर्ण प्रजा के प्रेम पात्र हो रहे हैं । उस राजा के अनुपम सौंदर्यवान् और गुण की खान, सब कला प्रवीण गुणमाला नाम की कन्या है । एक दिन राजाने कन्या को यौवनावस्था में पदार्पण करते हुए देखकर मुनिराज से पूछा—“भगवन् ! इस कन्या का स्वामी कौन होगा ?”

तब मुनिवर ने कहा—“जो समुद्र तिरकर आएगा वही इसका वर होगा।”

उसी दिन से राजा ने हमनी यहां रखवा है सो हे स्वामिन् ! पधारो और अपनी वियोगिनी को व्याहो।’ इस प्रकार कितने ही अनुचर श्रीपाल को नगर की ओर चलने के लिए विनती करने लगे और कितनों ने जाकर राजा को खबर दी। राजा ने हर्षित होकर उन लोगों को बहुत इनाम दिया और उबटन, तेल, फुलेल, अगरजा आदि भेजकर श्रीपाल जी को स्नान कराया और सुन्दर वस्त्राभूषण भी धारण कराकर बड़े उत्साह से गाजे-बाजे सहित नगर में लाए। प्रत्येक घर में आनन्द मंगल होने लगा राजा ने शुभ मुहूर्त में निजपुत्री गुणमाला का पाणिग्रहण श्रीपाल से कराया तथा बहुत-सा दहेज, नगर ग्राम, हाथी, घोड़े, असवार, पयादे और वस्त्राभूषण दिए। श्रीपालजी बिना प्रयास स्त्री-रत्न को पाकर सुख से समय बिताने लगे। वे बहुत प्रसन्न हुए परन्तु जब कभी भी रयणमंजूषा और मंनसुन्दरी की स्मृति हो आती थी उस समय उदास हो जाते थे।

दैवयोग से कुछ समय के अनन्तर सेठ के लहज भी चलने-पलने मुकुन्दजी में आ पहुंचे सो वहां डेरा डालकर सेठ ने बहुत उत्तम मनुष्यों सहित अमूल्य वस्तुएं लेकर राजा के पास भेंट में दीं। भेंट पाकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और सेठ का बहुत सत्कार किया।

कुछ समय के पश्चात् एकाएक सेठ की दृष्टि वहाँ पर बैठे हुए श्रीपाल के ऊपर पड़ी। उसे देखते ही मुरझाये फूल की तरह कुम्हला गया, मुख क्या दिखने लगा श्वासोच्छवास को गति रुक गई, शरीर कांपने लगा परन्तु यह भेद प्रगट न होने पाए अतएव वह शीघ्र ही राजा से आज्ञा माँगकर अपने स्थान पर आया और तुरन्त ही मन्त्रियों को बुलाकर विचारने लगा—“अब क्या करना चाहिए क्योंकि जिसने मुझ पर बहुत उपकार किए थे और मैंने उसे समुद्र में गिरा दिया था सो वह अपने बाहुबल से तिरकर यहां आ पहुंचा है और न मालूम उसकी राजा से कैसे पहचान हो गई?”

तब एक दीर बोला—“हे सेठ ! पुण्य से क्या-क्या नहीं हो सकता है ? वह समुद्र तिरकर आया और राजा ने उसे अपनी गुणमाला नामक कन्या व्याह दी।”

इससे तो सेठ और भी दुःखी हो गया। ठीक ही है—‘दुष्ट मनुष्य किसी की बढ़ती देखकर सहन नहीं कर सकते हैं।’ चोर साह से भयभीत होता ही है और वह श्रीपाल का चोर था अतः वह भारे भय और चिन्ता के व्याकुल हो गया और भोजन-पान सब भूल गया। वह सोचने लगा कि किसी तरह इसका अपमान राजा के सामने कराया जाय तभी मैं बच सकूंगा अन्यथा अब मुझे यह जीवन नहीं छोड़ना इसीलिए वह अपने मन्त्रियों से बोला कि कुछ ऐसा ही उपाय करना चाहिए। तब मन्त्रि बोले—“हे सेठ ! चिन्ता छोड़ो और उसो दयालु कुमार श्रीपाल की शरण ले लो तो तुमको कुछ भी बाधा न होगी और यह भेद भी कोई जानने न पायेगा।” परन्तु यह बात सेठ को अच्छी नहीं लगी। तब उनमें से एक दुष्ट मन्त्री बोला—“सेठ जी ! क्या मृग सिंह के सामने जाकर रक्षा पा सकता है, कदापि नहीं। इसी प्रकार आपने जिसके साथ भलाई के बदले बुराई की है सो क्या वह अब अवसर मिलने पर तुमको छोड़ देगा, नहीं, कभी नहीं। अतएव अब मेरी समझ में यह आता है कि भांडों को बुलवाकर उन्हें द्रव्य का लोभ देकर राज्य सभा में भेजा जाय। वे प्रथम अपनी लीला दिखाकर श्रीपाल को बेटा, भाई, भतीजा आदि कहकर लिपट जायें जिससे राजा उसे भांडों का जाया जानकर प्राण दंड देंगे जिससे हम तुम सब बच सकेंगे क्योंकि राजा इसके कुल, गोत्र आदि के पूर्वज मनुष्यों से तो परिचित है ही नहीं अतः हमारी बात जम जाएगी।”

सेठ को यह उपाय बहुत रुचिकर लगा। वह मंत्रों की बुद्धि की प्रशंसा करने लगा और कहने लगा—“इस काम में विलम्ब नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि शत्रु को अवसर न मिलने पाए नहीं तो न मालूम वह क्या कर डालेगा?” ऐसा कार्य न करने के लिए अन्यान्य मन्त्र गणों ने सेठ को बहुत समझाया परन्तु उसने किसी की न मानी और भांडों को बुलाकर उन्हें द्रव्य का लोभ दे समझा-बुझाकर राजसभा में भेज दिया। वे सब मिलकर राजसभा में गए और राजा का यथायोग्य प्रणाम कर उन लोगों ने पहले तो अपनी नकलें आदि करके राजा से बहुत सा पारितोषिक प्राप्त किया। पश्चात् चलते समय सब परस्पर एक-दूसरे का मुंह देखकर अंगुलियों से श्रीपाल की तरफ संकेत करके बातें करने लगे। यों ही ढोंग बनाने पर थोड़ी ही देर में ज्यों ही श्रीपाल जो राजा की तरफ से उन लोगों को बीड़ा देने लगे त्यों ही सबके सब भांड हाय-हाय करके उठ पड़े और श्रीपाल को चारों ओर से घेर लिया कोई उन्हें बेटा कहता कोई पोता कोई पड़पोता, कोई भतीजा, कोई भानजा और कोई पति—इस तरह कह कहकर कुशल पूछने लगे और राजा को आशीर्वाद देकर बलेंझियां लेने लगे। कहने लगे—“अहा! आज बड़ा ही हर्ष का समय है जो हमें प्यारा बेटा हाथ लगा। हे राजन्! तुम युग-युगांतर तक जीवो। धन्य हैं प्रजापालक जो हम दोनों को पुत्र दान दिया है।”

यह विलक्षण घटना देखकर राजा ने भांडों से कहा—“तुम लोग यथार्थ वृत्तान्त वर्णन करो कि यह क्या बात है नहीं तो एक-एक को शूली पर चढ़वा दूंगा।”

तब वे भांड दीन हो हाथ जोड़कर बोले—“महाराज दीनानाथ! अन्नदाता! यह पुत्र हमारा है। मेरी स्त्री के दो बालक थे तो एक तो यही है और दूसरे का पता नहीं था। हम सब लोग समुद्र में एक नाव में बैठ हुए आ रहे थे कि तूफान से वह नाव फट गई और हम सब लोग लकड़ी की पट्टियों के सहारे कठिनता से किनारे लगे और तो सब मिल गए परन्तु केवल एक लड़का नहीं मिला सो हे महाराज! आपके दर्शन से द्रव्य और ये दोनों मिल गए।”

भांडों के कथन को सुनकर राजा को बहुत पश्चात्ताप हुआ कि हाय मैंने बिना देखे और कुल, जाति व वंश पूछे बिना अपनी कन्या ब्याह दी। यह बड़ा पापी है जिसने अपना कुल प्रगट नहीं किया। फिर वह सोचने लगा कि नहीं इसमें भी कुछ भेद अवश्य होगा क्योंकि जिस भांति श्रीगुरु ने कहा था इसी भांति यह प्राप्त हुआ है और हीन पुरुष कैसे समुद्र पार कर सकता है। इस बात के प्रतिरिक्त इन भांडों से इसका रंग रूप और आचरण बिल्कुल मिलता नहीं है। देव जाने क्या भेद है? फिर कुछ सोचकर वह श्रीपाल जी से पूछने लगा—“हे परदेशी! तुम सत्य कहो कि कौन हो और भांडों से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?”

तब श्रीपाल ने सोचा कि यहाँ मेरे वचन की साक्षी क्या है? ये बहुत हैं और मैं अकेला हूँ। बिना साक्षी के कहने से न कहना ही अच्छा है। यह सोचकर यह धीर-वीर निर्भय होकर बोला—“राजन्! इन लोगों का कथन सत्य है। ये ही मेरे माता-पिता और स्वजन सम्बन्धी हैं।”

श्रीपाल के कथन से राजा की क्रोधान्ति तीव्र हो गई और उन्होंने चांडालों को बुलाकर इनको शूली पर चढ़ा देने की आज्ञा दे दी। राजा की आज्ञा से चांडालों ने श्रीपाल को बांध लिया और शूली देने के लिए चले तब श्रीपाल सोचने लगे कि यदि मैं चाहूँ तो इन सबका क्षण भर में संहार कर डालूँ परन्तु कर्म पर क्या वश है इसीलिए उदय में आए सब कर्मों को इसी जन्म में सहन कर लूँ जिससे फिर कोई कर्म आगे के लिए बाकी न रहे और न उदय में आए। देखूँ क्या-क्या उदय में आता है? इस

प्रकार वे विचारते चले जा रहे थे कि राजमहल की किसी दासी ने यह सब समाचार गुणमाला से जाकर कह दिया। यह सुनते ही वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। जब सखियों ने शीतलोपचार करके मूर्छा दूर की तो 'हे स्वामिन्, हे स्वामिन्' कहकर चिल्ला उठी और दीर्घ निश्वास लेती हुई तत्काल ही श्रीपाल जी के निकट पहुँची एवं उन्हें देखते ही पुनः मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। जब मूर्छा दूर हुई तो भयभीत मृगीवत् सजल नेत्रों से पति की ओर देखने लगी और अति आतुर होकर पूछने लगी—“भो स्वामिन् ! मुझ दासी पर कृपा करो और सत्य-सत्य कहो कि आप कौन और किसके पुत्र हैं और इन भांडों ने आप पर यह मिथ्यारोपण कैसे किया ?”

तब श्रीपाल बोले—“प्रिये ! मेरा पिता भांड और मेरी माँ भाँडिनी है और सब भांड मेरे कुटुम्बी हैं। इस बात की इस समय साक्षी भी हो रही है। इसमें सन्देह ही क्या ?”

तब गुणमाला बोली—“हे स्वामिन् ! यह समय हास्य का नहीं है। कृपाकर यथार्थ कहिए। आपने पहले तो मुझसे कुछ और ही कहा था और मुझे उसी पर विश्वास है। परन्तु आज कुछ विचित्र ही चमत्कार देख रही हूँ। मुझे विश्वास नहीं होता आपके माता-पिता भांड होंगे। आपका नाम, काम, रूप, शील, गुण, साहस और दया किंचित् भी उनसे नहीं मिलते। अतएव सत्य कहिए।”

तब श्रीपाल बोले—“हे प्रिये ! तू चिंता मत कर और अपना शोक दूर कर। समुद्र के तट पर जो जहाज ठहरें हैं उनमें एक रयणमंजूषा नाम की सुन्दरी है। सो तू उससे जाकर सब वृत्तान्त पूछ ले। वह सब जानती है सो तुझसे कहेगी।”

यह सुनते ही वह सती शीघ्र ही समुद्र के किनारे गई और ‘रयणमंजूषा’ कहकर वहाँ पुकारने लगी। तब रयणमंजूषा ने सुनकर विचारा कि यहाँ परदेश में कौन मुझसे परिचित है ? चलूँ देखूँ तो सही कौन है और क्यों बुला रहा है ? यह सोचकर वह जहाज के ऊपर आकर देखने लगी तो सामने एक अति सुकुमार स्त्री को रुदन करते हुए देखा। उसे देखकर रयणमंजूषा करुणामय मधुर स्वर से बोली—“हे बहिन ! तू क्यों रो रही है और क्यों इतनी अधीर हो रही है ? तू कौन है और यहाँ तक कैसे आई ?”

तब गुणमाला ने अपने आगमन का आद्योपांत वर्णन करते हुए निवेदन किया—“हे स्वामिनी ! तुम इसके विषय में क्या जानती हो सो कृपाकर यथार्थ कहो जिससे मेरे पति की प्राण रक्षा हो। मुझ अनाथ को पति-भिधा देकर सनाथ करो।”

तब रयणमंजूषा बोली—“हे बहिन ! तू शोक मत कर वह पुरुष चरम शरीरी, महाबली और उत्तम राजवंशीय है, मरने वाला नहीं है। चल मैं तेरे पिता के पास चलती हूँ और वहाँ वृत्तान्त कहूँगी।”

रयणमंजूषा श्रीपाल का नाम सुनते ही हर्ष से रोमांचित हो गई और शीघ्र ही राजसभा में आकर महाराज से पुकार की—“हे महाराज, प्रतिपालक, दीनबंधु, न्यायपरायण ! हम दोनों की प्रार्थना पर ध्यान दीजिए। हम लोगों का सर्वस्व हरण हुआ जाता है। हम लोगों पर दया कीजिए।”

राजा ने उसकी पुकार सुनकर उसे सामने बुलाया और पूछा—“हे सुन्दरी ! क्या पुकार कर रही हो ? तुम को निष्कारण किसने सताया है शीघ्र कहो।”

तब वह हाथ जोड़कर बोली—“महाराज ! हमारे पति श्रीपाल को जो सूली दी जा रही है उसका न्याय होना चाहिए।”

राजा ने कहा—“सुन्दरी ! वह राज्य का अपराधी है । वह वंशहीन भांडों का पुत्र होकर भी यहाँ वंश छिपाकर रहा और उसने मुझे धोखा दिया इसीलिए उसे अवश्य ही फाँसी होगी ।”

तब रयणमंजूषा बोली—“महाराज ! यह एकतर्फी न्याय है । एकतरफ़ी बात वादी के लिए मिश्री से भी मीठी होती है और प्रतिवादि के लिए तीक्ष्ण कटारो होती है । इसीलिए पहले सोध कीजिए और फिर जो न्याय हो कीजिए हम तो न्याय ही चाहती हैं ।”

राजा से रयणमंजूषा ने कहा—“हे नरनाथ ! ये अंगदेश चम्पापुरी के राजाअरिदमन के पुत्र हैं और उज्जैन के राजा पद्पाल की रूपवती व गुणवती कन्या मैनासुन्दरी को ब्याह कर वहाँ से चले । मार्ग में बहुत से जनों को वश में करते हुए हंसद्वीप में आए और वहाँ के राजा कनककेतु की पुत्री रयणमंजूषा (मुक्त) को परणा । पश्चात् आगे चले सो जहाजों के स्वामी धवल सेठ की मुक्त पर कुदृष्टि हो गई और उसने छल करके श्रीपाल को समुद्र में गिरा दिया तथा मेरा शील भंग करने का उद्यम किया सो धर्म के प्रभाव से जलदेवी ने आकर उपसर्ग दूर किया और सेठ को बहुत दंड दिया । देवी ने मुझसे कहा था कि ‘पुत्री ! शीघ्र ही तेरा स्वामी तुझसे मिलेगा और बड़ा राजा होवेगा सो महाराज । अब तक मेरे प्राण इसी आशा पर टिके हुए हैं । अब आपके हाथ में बात है । इसमें कुछ भी सदेह नहीं है । कृपा करके पति-भिक्षा दे दो ।”

राजा रयणमंजूषा से यह वृत्तान्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और तत्काल श्रीपाल के पास जाकर हाथ जोड़कर विनती करने लगा—“स्वामिन् ! मुझसे भूल हुई । मुझको क्षमा करो । मैं अधम हूँ जो बिना विचारे यह कार्य किया । दया कर घर पधारो ।” तब श्रीपाल ने कहा—“महाराज ! यह तो जीवों को अनादि काल से कर्म कभी दुःख और कभी सुख दिया करता है । इसमें आपका कुछ भी दोष नहीं । सब मेरे ही कर्मों का अपराध है । जैसा किया वैसा पाया । अच्छा हुआ कि वे कर्म छूट गए । इसका मुझे कुछ भी हर्ष विषाद नहीं है । जो हुआ सो हुआ । तब क्षतीत हुई बात पर पश्चात्ताप क्या करना ? हाँ इतना अवश्य है कि पुरुषों को सदैव प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक ही करना चाहिए ।”

राजा ने लज्जा से सिर नीचा कर लिया और सादर श्रीपाल को गजारुद्ध कर राजमहल में ले आए । नगर में घर-घर मंगल नाद होने लगा । श्रीपाल जब महल में आए तो दोनों स्त्रियों ने पति की वंदना की और परस्पर कुशल पूछकर अपना-अपना सब वृत्तान्त कह सुनकर चिन्ता को शांत किया तथा अपना समय फिर आनन्द से बिताने लगे । राजा ने सेवकों को भेजकर धवल सेठ को पकड़ बुलवाया सो नौकर उसे मारते-पीटते हुए बड़ी दुर्दशा से राजसभा तक लाए । राजा ने तुरन्त श्रीपाल को बुलवाया और कहा—“देखो इस दुष्ट ने आपको सताया है अतएव अब इसका शिरच्छेद करना चाहिए ।” यह सुनकर और सेठ की दशा देखकर श्रीपाल को बड़ा दुःख हुआ । वे राजा से बोले—“महाराज ! यह मेरा धर्म पिता है । कृपाकर इसे छोड़ दीजिए । इसने मुझसे जो अवगुण किया वह मुझे गुण हो गया । इनके ही प्रसाद से आपके दर्शन हुए और लाभ पाया । न ये समुद्र में गिराते और न मैं यहाँ तक आता और न गुणमाला को ब्याहता अतएव यह मेरा उतकारी ही है ।”

राजा ने श्रीपाल के कहने से सेठ और उसके सब साथियों को छोड़ दिया तथा आदर पूर्वक पंचामृत भोजन कराकर बहुत शुभ्रूषा की । धवल सेठ ने लज्जित होकर सिर नीचा कर दिया और श्रीपाल की बहुत स्तुति की । मन ही मन में वह पश्चात्ताप करने लगा कि हाय मैंने इसको इतना कष्ट दिया पर इसने मुझ पर भलाई ही की । हाय मुझ पापी को कहीं स्थान मिलेगा—इस प्रकार पश्चात्ताप

कर ज्यों ही एक दीर्घ उस्वास ली कि उसका हृदय फट गया और प्राण पखेरू उड़ गए सो पाप के उदय से सातवें नरक में गया। यहाँ श्रीपाल को सेठ के मरने का बहुत दुःख हुआ। सेठानी के पास जाकर उसने बहुत रुदन किया और पश्चात् कहने लगा—“माता ! होनी अमिट है। तुम दुःख मत करो मैं आशाकारी हूँ। जो आशा होगी सो हो करूँगा। यहाँ रहो तो सेवा करूँ और देश व घर पधारना चाहो तो वहाँ पहुँचा दूँ। सब द्रव्य मैं तुम्हें देता हूँ। तुम किञ्चित् शंका मत करो। मैं तुम्हारा पुत्र हूँ।”

तब सेठानी बोली—“हे पुत्र ! तुम अत्यन्त कृपालु और विवेकी हो। जो होना था सो हुआ। पापी पुरुष का संग छूट गया। अब आशा दो तो मैं घर जाऊँ।” श्रीपाल ने उसकी इच्छानुसार प्रणाम कर उसको बिदा किया और स्वयं वहीं दोनों स्थियों सहित सुख से रहने लगा। अब इनकी कीर्ति रूपी पताका चारों तरफ फहराने लगी। वहाँ रहते हुए इन्होंने कुडलपुर के राजा मकरकेतु की कन्या चित्र-रेखा, कंचनपुर के राजा वज्रसेन की विलासमती आदि नौ सौ कन्याएँ, कुकुमपुर के राजा यशसेन की शृंगारगौरी आदि सोलह हजार कन्याएँ, कोकल देश की दो हजार कन्याएँ, मेवाड़ की सौ और तैलंग देश की एक हजार कन्याएँ व्याही। श्रीपाल का इन बहुत-सी रानियों के साथ कीड़ा करते हुए बहुत सुख से समय व्यतीत होता था।

अध्यान्तर एक दिन राजा श्रीपाल रात को सुख की नींद लेकर सो रहे थे कि अचानक इनकी नींद खुल गयी और मैनासुन्दरी की सुष में वेसुष हो गये। वे सोचने लगे—ओहो ; अब तो बारह वर्ष में थोड़े ही दिन शेष रह गये हैं सो यदि मैं अपने कहे हुए नियत समय पर नहीं पहुँचूँगा तो वह सती स्त्री नहीं मिलेगी इसलिए अब शीघ्र ही यहाँ से चलना चाहिए क्योंकि मुझे जो इतना ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है यह सब उसी का प्रभाव है। मैं तो यहाँ सुख भोगूँ और वह वहाँ पर मेरे विरह में सन्तप्त रहें यह उचित नहीं है—इस विचार में पूरी रात्रि हो गई और श्रीपाल ने भी चलने का पूर्ण निश्चय कर लिया। प्रातःकाल होते ही नित्य क्रिया से निवृत्त होकर वे राजा के पास गये और सब वृत्तान्त जैसा का तैसा कह सुनाया और घर जाने की आज्ञा माँगी। तब राजा सोचने लगे कि जाने की आज्ञा देते हुए तो मेरा मन दुःखता है परन्तु हठात् रोके रहने से इनका जी दुखेगा अतएव रोकना व्यर्थ है—ऐसा विचारकर पुत्री को बहुत से वस्त्राभूषण पहनाकर और बाकी सब श्रीपाल की स्थियों को वस्त्राभूषण पहनाकर उन्हें हित शिक्षा देकर बिदा किया।

श्रीपाल जी वहाँ से बिदा होकर मार्ग में आते हुए देशों के राजाओं की कन्याओं को व्याहते हुए अपनी बहुत सी रानियों और बहुत बड़ी सेना सहित चलते चलते उज्जैनी के उद्यान में आए और वहीं कटक सहित विश्राम किया। जब रात्रि हो गई और सब लोग जहाँ तहाँ सो गये तब श्रीपाल ने विचारा कि मैंने बारह वर्ष का वादा किया था सो आज ही वह अष्टमी का दिन है। यदि मैं आज उस सती सुन्दरी से न मिलूँगा तो वह प्रभात होते ही दीक्षा ले लेगी और फिर समीप आकर वियोग हुआ तो बड़ा दुःख होगा। इसी चिन्ता से उनका चित्त बिह्वल हो गया और एक एक क्षण वर्ष भर के समान व्यतीत होने लगा। निदान जब चित्त न रुका तब महाबली श्रीपाल अकेले ही अर्द्ध रात्रि को माता के मंहुल की ओर हो लिए। जब मंहुल के द्वार पर पहुँचे तो क्या सुनते हैं कि प्राणप्रिय मैनासुन्दरी हाथ जोड़े खड़ी हुई साक्ष से कह रही है कि—माताजी आपके पुत्र जी बारह वर्ष का प्रण करके बिदेश गये थे सो आज वह पचासि पूरी हो रही है परन्तु अब तक न तो वे स्वयं ही आए और न ही किसी प्रकार का ख़बर ही भेजा सो अब प्रातःकाल ही जिन दीक्षा लूँगी। इतने दिन मेरे आशा ही आशा में व्यर्थ गए।

कुछ आत्म कल्याण भी न करने पाई। हे माता अब तक आपकी सेवा की सो उसमें जो भी भूल हुई हो उसे क्षमा करो और कृपा कर शीघ्र ही आज्ञा दो अब विलम्ब करने से अमूल्य समय जाता है। तब कुन्दप्रभा बोली—हे पुत्री दो चार दिन तक और भी धैर्य रखो। यदि इतने में वह न आवेगा तो मैं और तू साथ साथ दीक्षा ले लेंगे। मुझे आशा है कि वह धीरे धीरे दो चार दिन में अवश्य आवेगा।

तब मैना सुन्दरी बोली—माताजी यह तो सत्य है कि स्वामी अपने वचन के पक्के हैं परन्तु कर्म बड़ा बलवान है। क्या जाने स्वामी को कौन सी विपत्ति या पराधीनता आ गई हो जिससे नहीं आए। अब बिना सन्देश के कैसे निश्चय कर सकती हूँ कि स्वामी शीघ्र ही इतने दिनों में आवेंगे। फिर माता जी जब आने की कुछ खबर ही नहीं है तो फिर क्यों अपना समय व्यर्थ बिताऊँ।

इस प्रकार सास बहू की बातें हो रही थीं। श्रीपाल जी अब तक तो चुपके से सुनते रहे थे परन्तु अब उनसे न रहा गया तब वे तत्काल ही कपाट खुलवाकर भीतर गए और जाकर माता को नमस्कार किया। माता ने हर्षित होकर आशीर्वाद दिया। पश्चात् श्रीपाल की दृष्टि मैनासुन्दरी पर पड़ी तो देखा कि वह कोमलांगी अत्यन्त क्षीण शरीर हो रही है। तब वे निज महल को गए। वहाँ पहुँचते ही मैना सुन्दरी ने स्वामी के चरणों में नमस्कार किया। बहुत दिनों के अनन्तर आज दोनों के विरह दुख की इति श्री हुई। दोनों का सुख सम्मिलन हुआ। एक को देखने से दूसरे को परमानन्द हुआ। कुशल प्रश्न के अनन्तर श्रीपाल जी माता कुन्दप्रभा और मैनासुन्दरी दोनों को अपने कटक में ले गये और वहाँ जाकर माता को सिंहासन पर बिठाकर निकट ही मैनासुन्दरी को माता के सिंहासन के नीचे स्थान दिया। तत्र स्थित रयणमंजूषा आदि अन्यान्य स्त्रियों ने स्वामी के मुख से सम्बन्ध जान कर यथाक्रम सब ने सास कुन्दप्रभा और मैनासुन्दरी को यथायोग्य नमस्कार करके बहुत विनय सत्कार किया। पश्चात् श्रीपाल जी ने मैनासुन्दरी को सब कटक दिखाया। माता की आज्ञा लेकर मैनासुन्दरी को आठ हजार रानियों में मुख्य पटरानी का पद प्रदान किया। पट्टाभिषेक होने पर रयणमंजूषा गुणमाला चित्ररेखा आदि समस्त आठ हजार रानियाँ मैनासुन्दरी की सेवा करने लगी। पश्चात् मैनासुन्दरी बोली—हे स्वामिन आप तो दिगंत विजयी हो अतएव मेरी इच्छा है कि मेरे पिता का भी युद्ध में मान भंग करना चाहिए और वह कन्धे पर कुल्हाड़ी रखे कम्बल ओढ़ व लंगोटी लगाकर आवें तभी छोड़ना चाहिए तो मेरा चित्त शांत होगा क्योंकि उन्होंने कर्म पर वाद विवाद किया था।

सुनकर श्रीपाल बोले—हे काले तेरे पिता ने मेरा बड़ा उपकार किया है अर्थात् मैं जब सर्व स्वजनों से वियोगी हुआ फिर रहा था तब उन्होंने मेरी सहायता की थी और उपकारी पर अपकार करना कृतघ्नता है। मुझसे यह कार्य होना ही योग्य नहीं है।

तब मैनासुन्दरी बोली—हे स्वामी मैं द्वेष से नहीं कहती हूँ परन्तु यदि कुछ अमत्कार दिखाओगे तो उनकी जिनघर्म पर दृढ़ श्रद्धा हो जाएगी, यही मेरा अभिप्राय है।

श्रीपाल प्रिया के ऐसे वचन सुनकर अत्यन्त हर्षित हुए और तुरन्त ही एक दूत बुलाकर उसे सब भेद समझाया और तत्काल ही राजा पदुपाल के पास भेजा सो दूत आज्ञानुसार शीघ्र ही राजद्वार पर जा पहुँचा और द्वारपाल के हाथ अपना संदेश भेजा। राजा ने उसे आने की आज्ञा दी सो उस दूत ने सन्मुख जाकर राजा पदुपाल को यथायोग्य नमस्कार किया। राजाने कुशल पूछी तब दूत बोला—“महाराज ! एक अत्यन्त बलवान पुरुष कोटीभट्ट अनेक देशों पर विजय करते हुए वहाँ के राजाओं को

वश करते और अनेकों जो अनाज्ञाकारी थे उनका पराभव करते हुये आज यहां आ पहुंचा है। उसकी सेना नगर के चारों ओर खड़ी है। उसके सामने किसी का गर्व नहीं रहा है सो उसने आपको भी आज्ञा दी है कि 'लंगोटी लगा, कम्बल ओढ़, माथे पर लकड़ी का भार रख कांधे पर कुल्हाड़ी लेकर आकर मित्रो तो कुशल है अन्यथा क्षण भर से विध्वंस कर दूंगा,' इसलिए हे राजन् ! अब जो कुशल चाहते हो तो इस प्रकार से जाकर उससे मिलो नहीं तो आप जानो। पानी में रहकर मगर से बैर करके काम नहीं चलेगा।"

राजा पदुपाल को दूत के वचनों से क्रोध आया और वे बोले—“इस दुष्ट का मस्तक उतार लो जो अविनय कर रहा है।”

तब नौकरों ने आकर तुरन्त ही उसे पकड़ लिया और राजा की आज्ञानुसार दंड देना चाहा परन्तु मंत्रियों ने कहा—“महाराज ! इसको मारना अनुचित है क्योंकि यह बेचारा अपनी तरफ से तो कुछ कह नहीं रहा है, इसके स्वामी ने जैसा कहा होगा वैसा ही कह रहा है। इसमें इसका कुछ भी दोष नहीं है अतः यह छोड़ने योग्य है और हे महाराज ! यह कर्म चक्र बहुत ही प्रबल मालूम पड़ता है। इससे युद्ध करने में कुशलता नहीं है अपितु कहे अनुसार मिल लेना उचित है।”

तब राजा ने दूत को छोड़वाकर कहा कि तुम अपने स्वामी को कह दो कि मैं आज्ञा प्रमाण आपसे आकर मिल लूंगा। यह सुनकर दूत हर्षित होकर श्रीपाल के पास वापिस गया और यथायोग्य बात कह दी कि महाराज पदुपाल आपकी आज्ञानुसार मिलने को तैयार हैं।

तब श्रीपाल ने मैनासुन्दरी से कहा—“प्रिये ! राजा तुम्हारे कहे अनुसार मिलने को तैयार है। अब उन्हें अभय दान देना ही योग्य है। मैनासुन्दरी ने कहा—“आपकी इच्छा हो सो कीजिए, मुझे भी स्वीकार है।”

श्रीपाल ने पुनः दूत को बुलाकर राजा पदुपाल के पास संदेश भेजा कि आप चिंता न करें और अपने दल-व्यव सहित जैसाकि राजाओं का व्योहार है, उसी प्रकार से मिलें।” सो दूत ने जाकर राजा पदुपाल को यह संदेश सुनाया। वह सुनकर राजा बहुत हर्षित हुआ और दूत को बहुत सा परि-तोषिक देकर विदा किया तथा आप मंत्रियों को संग लेकर बड़े समारोह के साथ मिलने को चला। जब पास पहुंच गए तब राजा पदुपाल हाथी से उतर कर पैदल चलने लगे सो श्रीपाल भी श्वसुर को पैदल आते हुए देखकर सन्मुख गये और दोनों परस्पर कंठ से कंठ लगाकर मिले। दोनों को बहुत प्रीति और आनन्द हुआ परन्तु राजा पदुपाल को संदेह हो गया इसीलिए वह एकदम श्रीपाल के मुंह की ओर देखने लगा परन्तु पहचान न सका। तब वह बोला—“हे स्वामिन् ! आपका देखकर मुझे बहुत संदेह उत्पन्न होता है परन्तु मैं अब तक आपको पहिचान नहीं सका हूं। आप कीन हैं ?”

तब श्रीपाल जी हंसकर बोले—“महाराज ! मैं आपका लघु जवाई श्रीपाल हूं जो मैनासुन्दरी से बारह वर्ष का प्रण करके विदेश गया था सो आज आया हूं।”

यह सुनकर राजा फिर से श्रीपाल जी को गले से लगाकर और परस्पर कुशल क्षेम पूछकर हर्षित हुए। आनन्द भेरी बजने लगी, फिर राजा ने मैनासुन्दरी से कहा कि हे पुत्री ! तू क्षमा कर। मैंने बड़ा अपराध किया है। तू सच्ची धर्म धुरंधर शीलवती सती है। तेरी प्रशंसा कहीं तक करूं ?

मैना सुन्दरी ने सन्तुष्ट होकर पिता को शिर नवाया। फिर राजा और भी पुत्रियों (रयणमंजषा आदि से) से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ और संध को लेकर नगर में गया। नगर में शोभा कराई गई।

राजा ने श्रीपाल का अभिषेक किया और सब रानियों समेत वस्त्राभूषण पहिनाए। इस प्रकार श्वसुर जवाई मिलकर सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगे। इस प्रकार सुखपूर्वक रहते हुए श्रीपाल को बहुत समय बीत गया। एक दिन बैठे-बैठे उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि जिस कारण विदेश निकले थे वह तो कार्य अभी पूर्ण नहीं हुआ अर्थात् पिता के कुल की प्रख्याति नहीं हुई। मैं अभी पर राजधानी में हूँ और वहीं राज जवाई का पद मुझ से लगा हुआ है अतएव अब अपने देश में चलकर अपना राज करना चाहिए। यह सोचकर श्रीपाल जी पदुपाल के निकट गये और स्वदेश जाने की आज्ञा माँगी। राजा ने इनकी इच्छा प्रमाण विलपित होकर आज्ञा दी।

श्रीपाल सैनासुन्दरी आदि आठ हजार रानियों और बहुत सेना हाथी, घोड़े, पयादे आदि सहित उज्जैन से विदा हुए। श्रीपाल जी इस प्रकार विभूति सहित स्वदेश चंपापुर के उद्यान में आये और नगर के चहुँ ओर ढेरें डलवा दिए। सो नगर निवासी इस अपार सेना को देखकर उडंग से भर गये। श्रीपाल जी विचारने लगे कि इसी समय नगर में चलना चाहिए। सो ठीक ही है—'बहुत दिनों में बिछुड़ी हुई प्यारी प्रजा को देखने के लिए ऐसा कौन निर्दयी चित्त होगा जो अधीर न हो जाये, सभी हो जाते हैं।'।

तब मंत्रियों ने कहा—“स्वामिन्। एकाएक मिलना ठीक नहीं है। पहले संदेश भेजिये और यदि इस पर महाराज वीरदमन सरल चित्त से ही आप से आकर मिले तो ठीक है तब कुछ भगड़ा करने की आवश्यकता नहीं है और यदि कुछ शक्य होगी तो भी प्रगट हो जायेगी।” श्रीपाल को यह मंत्र अच्छा लगा और उन्होंने तत्काल दूत बुलाकर उसे सब बात समझाकर वीरदमन के पाग भेज दिया। दूत ने जाकर वीरदमन से कहा—“महाराज महावीर, भाग्यशाली श्रीपाल बहुत वैभव सहित आ पहुँचे हैं सो आप जाकर उनसे मिलो और उनका राज उनको वापिस दे दो।”

यह सुनकर कुशल प्रश्न के अनन्तर वीरदमन ने दूत से उत्तर में कहा—“रे दूत! तू जानता है कि राज्य और बलभा भी कोई क्या माँगने से दे देता है, कदापि नहीं। ये तो ब्राह्मन् से ही प्राप्त होती हैं। जिस राज के लिए पुत्र पिता को, भाई-भाई को और मित्र मित्र को मार डालते हैं वह राज्य क्या मैं दे सकता हूँ कदापि नहीं यदि उसमें बल होगा तो मैदान में ले लेगा।”

यह सुन दूत नमस्कार कर वहाँ से चल दिया और जाकर श्रीपाल से समस्त वृत्तान्त कह दिया कि वीरदमन ने कहा है कि संग्राम में आकर लड़ो और यदि बल हो तो राज्य ले लो श्रीपाल जी को दूत के द्वारा यह समाचार सुनते ही क्रोध उत्पन्न हो आया। उन्होंने तुरंत ही सेनापति को आज्ञा दी। आज्ञा के होते ही सेना तैयार हो गई। उधर से वीरदमन भी सेना लेकर युद्ध के लिए निकल पड़े। दोनों ओर के योद्धाओं की मुठभेड़ हो गई। घोर युद्ध होना प्रारंभ हुआ। बहुत समय पर्यन्त युद्ध होने पर भी दोनों में से कोई भी सेना पीछे नहीं हटी तब दोनों ओर के मंत्रियों ने यह देख कर कि देश का सर्वनाश हुआ जाता है अपने-अपने स्वामियों से कहा कि हे राजन् इस प्रकार लड़ने से किसी का भी भला नहीं होगा। अच्छा यह है कि आप दोनों आपस में युद्ध करके लड़ाई का फैसला कर लें।” तो यह विचार दोनों को रुझिकर हुआ और दोनों सेनाओं को रोक कर परस्पर ही युद्ध करना निश्चित करके वे काका और भतीजे रणक्षेत्र में आ गये। दोनों की मुठभेड़ हो गई और भीषण युद्ध हुआ। जब युद्ध करते हुए बहुत देर हो गई और किसी के सिर विजय मुकुट नहीं बंधा तो शस्त्र छोड़कर वे मल्ल युद्ध करने लगे सो बहुत समय तक तो यों ही लिपटते और लौटते रहे परन्तु जब बहुत देर हो गई तब श्रीपाल ने वीरदमन के दोनों पांव पकड़कर उठा लिया और चाहा कि पृथ्वी पर दे मारे लेकिन उनके मन में दया आ गई

और आकाश से जय-जय शब्द होने लगे। देवों ने श्रीपाल के गले में पुष्पमाला पहनाई और बोले—“राजन् ! तुम दयालु हो। इसको छोड़ो।” तब श्रीपाल ने वीरदमन को छोड़ दिया वीरदमन बोले—हे मित्र ! यह तू अपना राज्य संभाल। मैंने तेरा बल देख लिया। यथार्थ में तू महाबली है। तेरी कीर्ति सब दिशाओं में सच्ची ही फैल रही है। हमारे इस वंश में तेरे जैसे शूरवीर ही चाहिये।”

तब शूरवीर श्रीपाल बोले—“हे तात ? यह सब आपका ही प्रसाद है। जो आप की आज्ञा हो वह करूँ। अब आप मुझे आज्ञा दीजिए और निश्चिन्त हो प्रभु का भजन कीजिए वीरदमन बोले—“हे पुत्र ? ठीक है। मेरा भी यही विचार है कि तुम्हें राज्य देकर जिनदीक्षा लूँ जिससे भववास मिटे।” यह कहकर वीरदमन ने श्रीपाल को राज्याभिषेक कराकर राज्य पद दे दिया और बोले—“हे धीर-वीर ? अब तुम चिरकाल तक सुख से राज्य करो और नीति व न्याय पूर्वक पिता पुत्रवत् प्रजा का पालन करो। दुःखी दरिद्रियों पर दयाभाव रखो और तुम्हें क्षमा करो। जो कुछ तुम्हें तुम्हारे विरुद्ध हुआ है वह सब मैं भूल जाऊँगा अब दीक्षा रूपी नाव में बैठकर कर्म शत्रु को जीतकर भव-सागर से तिरंगा।”

इस प्रकार वीरदमन अपने भतीजे श्रीपाल को राज्य देकर स्वयं वन में गये और वस्त्राभूषण उतार कर केशों का पंचमुष्ठी से लोच किया, चौबीस प्रकार के परिग्रह को तजकर पंच महाव्रत धारण किए और घोर तपश्चरण कर घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और बहुत जीवों को धर्मोपदेश देकर संसार से पार किया। पश्चात् शेष बचे हुए अघातिया कर्मों को भी आयु के अन्त में निःशेष वार परम धाम मोक्ष को प्राप्त किया।

महाराज श्रीपाल आठ हजार रानियों सहित इन्द्र के समान सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगे। देश-देश में इनकी ख्याति होने लगी। प्रजा भी इनके शासन से बहुत सन्तुष्ट हुई। इस प्रकार इनका राज्य करते हुए सुख से समय व्यतीत होता था। कितने दिन के अनन्तर मैनासुन्दरी के गर्भ रहा सो अनेक प्रकार के शुभ दोहले उत्पन्न होने लगे और श्रीपाल ने उन सबको पूर्ण किया।

जब दस महीने पूर्ण हो गये तब शुभ घड़ी व मुहूर्त में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल काँति का धारी पुत्र हुआ। पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में राजा ने बहुत दान दिया, पूजा प्रभावना की। पश्चात् ज्योतिषी को बुलाकर ग्रह आदि का विवरण पूछा तो उसने कहा—“यह पुत्र उत्तम लक्षणों वाला होगा और इसका नाम धनपाल है।” इस तरह दूसरा पहिपाल, तीसरा क्षेत्ररथ और चौथा महारथ—ये चार पुत्र मैनासुन्दरी के हुये : रयणमंजूषा और गुणमाला के पाँच पुत्र हुए। और भी सब स्त्रियों के किसी के एक किसी के दो। इस प्रकार महाबली, धीर-वीर व गुणवान समस्त बारह हजार पुत्र हुए। वे नित्य प्रतिदिन दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे।

इस प्रकार महाराज श्रीपाल पुण्ययोग से प्राप्त हुए विषय-भोगों को न्याय पूर्वक भोगते हुए अपनी प्रजा का सुखपूर्वक पालन करते थे। वे एक दिन सुख से बैठकर विशावलोकन कर रहे थे कि अचानक उल्कापात होकर अन्तर्हित हो गया। उन्हें सभी पदार्थ विनाशीक विजलीवत् चंचल मालूम होने लगे। उन्होंने तब ही अपने ज्येष्ठ पुत्र धनपाल को बुलाकर उसके राज्य पट्ट बाँध कर तिलक कर दिया। इस प्रकार कुल परम्परागत राज्य का भार धनपाल को सौंपकर और स्वयं गृह त्याग वन में जाकर मोक्षसुख की साधक जिनदीक्षा ले ली और कितने ही दिनों तक कठिन तपश्चरण कर घातिया कर्मों का नाशोपशान्त किया और केवलज्ञानी होकर सदा के लिए मोक्षपद प्राप्त किया। मैनासुन्दरी ने भी अजिका के व्रत से घोर तपश्चरण कर सोलहवें स्वर्ग में देव-पद प्राप्त किया। वहाँ से चलकर मैनासुन्दरी का जीव मोक्ष पायगा। श्रीपाल की माता कुन्दप्रभा रानी ने भी तप के योग से सन्यास मरण कर

सोलहवें स्वर्ग में पर्याय पाई तथा रघुमंजूषा आदि अन्य स्त्री तथा पुरुषों ने भी तप किया उसी के अनुसार गति पाई। देखो सिद्धचक्र व पंच नमस्कार मंत्र की महिमा कि कहीं तो श्रीपाल कोढ़ी था जो आठ दिन में कोढ़ दूर कर कामदेव के समान रूपवान् हो गया और अथाह सागर से तिरा एवं इन्द्र के समान महा विभूति का स्वामी हुआ।

अतएव जो परम कल्याण अर्थात् भोक्ष की इच्छा करने वाले सज्जन पुरुष हैं उन्हें प्रमाद छोड़कर नित्य ही भव-सागर से पार करने वाले पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण, जाप तथा ध्यान करना चाहिए। यह महामंत्र तीन लोक में अपराजित है अर्थात् किसी से जोता नहीं जा सकता है। यह अनादि निधन मंगलरूप लोक में उत्तम और शरणाधार है। देखो, यह पंच परमेष्ठी मंत्र की आराधना से सीता को पति का मिलाप और अग्नि का जल हो गया था। अंजना जो इसी महामंत्र के प्रभाव से वन में रक्षा और पति का समागम हुआ था। यही महामंत्र धनदत्त सेठ ने सूली पर चढ़े हुए दूढ़ सूर्य बोर को दिया था जिसके प्रभाव से वह मर कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ था। और तो क्या पशु और पक्षियों की भी इसी मंत्र के प्रभाव से शुभ गति हो गई। भूधरदास जी ने कहा है :—

विषधर बाध न भय करें, विनशें विघ्न अनेक ।
व्याधि विषम व्यंतर भजें, विपत्ति न व्यापै एक ॥ १ ॥
बैठत चलते सोवते, आवि अन्त लों धीर ।
इस अपराजित मंत्र को, मत विसरो हो धीर ॥ २ ॥
सकल लोक सब काल में, सर्वांगम में तार ।
भूधर कबहुं न भूलिए, मंत्र राज मन धार ॥ ३ ॥

प्राचीन काल में अनेक जीवों ने इसके द्वारा जो फल प्राप्त किया है उसे लिखने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार नमस्कार मंत्र का महात्म्य जानकर भक्तों को उचित है कि वे प्रसन्नता के साथ इस पर विश्वास करें और प्रतिदिन इसकी आराधना करें।

॥ इति श्रीपाल चरित्र संपूर्णम् ॥
॥ इति नमोकार ग्रंथ भाषा ब्रह्मनिका समाप्तम् ॥
॥ शुभं भवतु ॥



अथ ग्रन्थ कर्ता प्रशस्ति :—

गत घाति चतुष्टय गरिम, नव केवल लब्धेश । ज्ञायक लोकालोक के नमहुं संकल परमेश ॥
 अष्ट कर्म गत शर्म मय, नत निरंजन नित्य । ज्ञानादि वसुगुण गरिम, नमहुं सिद्ध कृतकृत्य ॥
 व्रत तप वीर्याचारपन, दरशन ज्ञान प्रधान । धरें धरावें मौढ्यगण, नमूं सूरि तिन जान ॥
 रत्नत्रय मणिजुत सतत, वृष उपदेशन लीन । सयतिवर उवज्झाय हैं, नमहु चरण तिन चीन ॥
 दरश बोध चारित रतन, तीनों शिवपुर पंथ । साधें ठाड़ समूल गुण, नमहुं सकल निर्ग्रन्थ ॥
 द्वादशांग वाणी विमल, उद्भव वदन निवेश । नमहुं चरण गुप्त कीलित, निद्या दान अशेष ॥
 या विधि पंच परमेष्ठी अरु, वाणी श्री जिनराय । नमि के पद युग पद्म को, लिखूं प्रशस्ति बनाय ॥
 इस ही भारत क्षेत्र में, अन्तर्गत कुरु देश । इन्द्रप्रस्थ राजत नगर, शोभा सहित विशेष ॥
 पंचम जार्ज सम्राट मणि, सब राजन पदधार । परतै तिस शासन तहां, प्रजा सुखद कल्याण ॥
 विविध जाति धर्मी सुजन, निवसें तहां समुदाय । जिन धर्मी राजें बहुत, जन धन साता पाय ॥
 तिष्ठें तहां अन्वय प्रवर, खंडेलवाल विख्यात । पुनीत वैनाडा गोत्र मणि, धर्म बुद्धि निष्णात ॥
 मम पितु कन्हैयालाल जी, किशन चंद के नंद । तिन पद युग को दास मम, कहावत लक्ष्मी चंद ॥
 ज्ञानावरण क्षयोपशम, पूरव भव संस्कार । भयो अटल विश्वास मम, जिनवाणी पर सार ॥
 तिस हेतु वय अल्प से, आगम श्री जिन चंद । पृच्छ अलापन गुणनि का, करत रहत सानंद ॥
 एक दिवस मम चित्त में, उपजो यहै हुलास । पढ़ो सुनो तिहि संचिये, यथाशास्त्र क्रम भाष ॥
 पंच परमेष्ठि नमन करि, सरस्वती उर धार । करन संग्रह आरम्भ कियो, यथा बुद्धिअनुसार ॥
 जो निज धी तें जानियो, सुनो सुबुद्धिन पास । तिस एकत्रित करि कियो आगम रूप प्रकाश ॥
 या के संग्रह करन में, मम मितु निर्भयराम । तिन सहाय बहु हम करी, सम्मति दे सुख धाम ॥
 मम संग्रह अभिमानवश, कियो न यश विस्तार । पर हित हेतु तथा, स्वज्ञ वढ़न हितकार ॥
 याहि पठन-पाठन थकी, स्वरूप बुद्धि नर नार । न्यूनाधिक तातें कछु, होवहिगो उपकार ॥
 विज्ञन से मम प्रार्थना, पूर्वक भाव विनीत । हंस प्रकृति से शुध करो, क्रोध भाव को जीत ॥
 नाहीं मैं व्याकरण विद्, नहीं चरित्र पुरान । नहीं काव्य तत्त्वार्थ विद्, नहीं न्याय कछु ज्ञान ॥
 अन्त संभवतः या भव्य में, होंगी झुटी अनेक । किन्तु न्यूनाधिक तथा, ह्वंगो स्थल नैक ॥
 वीर अब्द चौबीस शत, छयालिस ऊपर जान । चैत्र शुक्ल एकादशी, भयो ग्रन्थ अवसान ॥

॥ इति णमोकार ग्रन्थ समाप्तः ॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

॥ णमोकार पैंतीसो व्रतोद्यापन ॥

स्थापना—

मंत्राधिराजं णमोकार मंत्रम् ।
ब्राह्मन्तनं स्थापनं सन्निधापनैः ॥
संपूजयामीह विधानपूर्वकं ।
प्रत्येकं वर्णानुगतं हितं प्रदं ॥

ॐ ह्रीं श्री सर्वज्ञमुख समुद्भूत अनादि निधन श्री अपराजित नाम मंत्राधिराज अत्राह्वयेति संक्षेपत्
इत्याह्वाननं, ॐ ह्रीं श्री सर्वमुख समुद्भूत अनादि निधन श्री अपराजित नाम मंत्राधिराज अत्र तिष्ठ तिष्ठ
ठः ठः स्थापनं । ॐ ह्रीं श्री सर्वज्ञमुख समुद्भूत अनादि निधन श्री अपराजित नाम मंत्राधिराज अत्र मम
सन्निहितो भव भव वषट् इति सन्निधापनं ।

पयोभिः शशाङ्को ज्वलैश्चित्तधौरेः ।
कनत्काञ्चनामत्रनालात्पतद्भिः ॥
गुरुन् पञ्च संपूजयामीह भक्त्या ।
यथा शक्ति संभाक्तान् चित्तवृत्त्या ॥

ॐ ह्रीं अर्हं श्री परमब्रह्मेभ्यो अनन्तान्तं ज्ञानं शक्तिभ्यो अर्हं त्रिंशद्वाच्यार्थोपाध्यायसर्वसाधु पञ्च
परमेष्ठीभ्यो जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥१॥

सुगंधागतैः आमरैर्गंधसारैः ।
सरद्गंधसंदिग्धताशांतरालैः । गुरुन् । चंदनं ॥२॥
यशो राशि शंका गतै रक्षतोषैः ।
पयः पूरसंक्षालितैः शालिजातैः । गुरुन् । अक्षतं ॥३॥
लसत्मालती चंद्रकुंद प्रसूनैः ।
सुगंधामिलत्पदपदारावरम्यैः । गुरुन् । पुष्पं ॥४॥
मनोघ्राण संतर्पकैर्भक्ष्यभेदैः ।
जगज्जंतु क्षुद्रोग विद्राणदक्षैः । गुरुन् । नैवेद्यं ॥५॥
मनोध्वात संघात संघातनार्थं ।
विकाशंकरैः शंकरैः सुप्रदीपैः । गुरुन् । दीपं ॥६॥
दशांगोद्भवैर्धूपधूमैः सुगंधैः ।
जगद्घ्राण संतर्पणार्थं सरद्भिः । गुरुन् । धूपं ॥७॥
फलनालिकेरास्र पूगैः कपित्थैः ।
मनोवदंछितार्थैः फलैर्दानदक्षैः । गुरुन् । फलं ॥८॥

पानीय चंदन सुशालि भवाक्षतौघैः ।
 पुष्पैश्चरुत्करसुदीप दशांग धूपैः ॥
 नानाफलैर्वस्तरविधिना ददेऽहं ।
 अर्घं च पंच गुरुवे गुरुवे त्रिशुद्धया ॥
 ॐ ह्रीं पंचपरमेष्ठिभ्यो अर्घम् ॥६॥

प्रत्येकाक्षर सम्बन्धिनी पूजा

- ण न्यंचंतिनी च कर्माणि, णकारोच्चारमात्रतः ।
 शर्माणि समुदयं यांति, ततोऽहं पूजयामि तं ॥
 ॐ ह्रीं अहंन्मस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घं ॥१॥
- मो मोऽक्षरं मन्त्रराजस्य यो जनो जिह्वया जपेत् ।
 मुच्यते मोह मातंगोपद्रवादिह तत् क्षणं ॥
 ॐ ह्रीं अहंन्मस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोऽक्षराय अर्घं ॥२॥
- म अकारस्वर संभूत वर्णनं केन वर्ण्यते ।
 आदौहि द्विपञ्चाशद्वर्णनां पठ्यते तथा ॥
 ॐ ह्रीं अहंन्मस्कार सम्बन्धि तृतीय अकारस्वराय अर्घं ॥३॥
- र रायंतिकिन्नरादेवाः सेवया च जगद्गुरोः ।
 उच्चैः स्वर विक्षेपेण रकारं तमहं यजे ॥
 ॐ ह्रीं अहंन्मस्कार सम्बन्धि चतुर्थरकाराक्षराय अर्घं ॥४॥
- ह हति ह्रमक्षयं शीघ्रं मोह शत्रुमनादिजं ।
 तमहं प्रयजे तस्मात्स्वकर्महानयेऽनिशं ॥
 ॐ ह्रीं अहंन्मस्कार सम्बन्धि पंचम ह्रमक्षराय अर्घं ॥५॥
- ता पूर्वप्राणिभिः प्राप्ता ऋद्धयोऽण्डो च विष्टये ।
 ताक्षरेणाशु जायन्ते तस्मात्ताक्षरमर्च्यते ॥
 ॐ ह्रीं अहंन्मस्कार सम्बन्धि षष्ठ ताक्षराय अर्घं ॥६॥
- य णमित्यक्षरं लोकेऽहो प्रणामार्थप्रकाशकं ।
 प्रणामपूर्वकं तस्मात्तमर्च्येहं जलादिभिः ॥
 ॐ ह्रीं अहंन्मस्कार सम्बन्धि णमक्षराय अर्घं ॥७॥
 इति सप्ताक्षरैर्युक्तानहंतश्च जलादिभिः
 अष्टभिर्द्रव्यसंदोहैरर्घमुत्तारयाम्यहं अर्घं ॥
 ॐ ह्रीं णमो भरहंताणं अर्हत् परमेष्ठीभ्यो अर्घं ॥
- सिद्ध प्रबन्ध सम्बन्धि णकारोऽत्र प्रपूज्यते ।
 तस्य प्रसादतो नूनं नमस्यंति नरामराः ॥
 ॐ ह्रीं सिद्धमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घं ॥१॥

मो

मोस्वरूपाक्षरदक्षा लक्ष्मीकृत्यानुवेलं ।

ध्यायंतु हृदये स्वस्य मोक्षमार्गानुगामिनः ॥

ॐ ह्रीं सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोक्षराय अर्घं ॥२॥

सि

सिस्वरूपाक्षरं शास्वत् पूजा द्रव्येण पावनं ।

पूजयामि जगत्पूज्यं भवस्य हरणेक्षमं ॥

ॐ ह्रीं सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि तृतीय सिकाराक्षराय अर्घं ॥३॥

डा

धारणं पोषणं चेहाऽमुनेद्वाक्षरधारणात् ।

तस्मात्कारणात्तमऽहं पूजा द्रव्यैः प्रपूजये ॥

ॐ ह्रीं सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थं दाक्षराय अर्घं ॥४॥

णं

सानुस्वारं णकारं यः प्रातःप्रातश्च पूजयेत् ।

सिद्धाः सिद्धिं प्रयच्छंतु तस्मै पूजानुबन्धिने ॥

ॐ ह्रीं सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि पंचम प्रांतः प्राप्त णकाराक्षराय अर्घं ॥५॥

॥इतिपञ्चाक्षरी पूजा भव्याणां वाञ्छितप्रदा ॥

तदर्थमष्टभिर्द्रव्यैरर्घ्यमुत्तारयाम्यहं ॥

ॐ ह्रीं णामो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठीभ्योः अर्घं ॥



ण

णाक्षरं तं पुनर्नौमि प्रणमंति सुराः यदा ।

आचार्य्यवंदनायां च पूजयामि जलादिभिः ॥

ॐ ह्रीं आचार्य नमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घं ॥१॥

मो

भूयोऽपि मोक्षरं मान्यं मानन्द मन्दिरं मुदा ।

जलाद्यष्ट विधैर्द्रव्यैर्भक्ति भारेण भाक्तिकैः ॥

ॐ ह्रीं आचार्य नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोक्षराय अर्घं ॥२॥

आ

आकारं निर्विकारं च साध्वाचारस्य सूचकं ।

आचरंति मुदाचार्याः स्वाचारार्थमहं यजे ॥

ॐ ह्रीं आचार्य नमस्कार सम्बन्धि तृतीय आकारस्वराय अर्घं ॥३॥

ई

ईस्वरं स्वरसंघातं पूजितं प्रार्थितप्रदं ।

प्रमोदभरसंभूतं भक्तिभारेण चार्च्यते ॥

ॐ ह्रीं आचार्य नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थं ईस्वराय अर्घं ॥४॥

रि

रीत्यक्षरराजस्य गानं कुर्वति रागिणः ।

आचार्याणां गुण ग्रामानर्चयामि विशेषतः ॥

ॐ ह्रीं आचार्य नमस्कार सम्बन्धि रिकाराक्षराय अर्घं ॥५॥

या

याक्षरं पूज्यते नित्यं परमार्थं प्रकाशकं ।

यस्यार्थधारिणाश्वाश्रु प्राप्ताः मोक्षं मुनीश्वराः ॥

ॐ ह्रीं आचार्य नमस्कार सम्बन्धि षष्ठयाक्षराय अर्घं ॥६॥

णं

णमक्षरं यजामि नमिताऽशेषभूतलं ।

आचार्य नमनं तस्मादाद्योपतिन जायते ॥

ॐ ह्रीं आचार्य नमस्कार सम्बन्धि सप्तम प्राति णमक्षराय अर्घ ॥७॥
 इति सप्ताक्षरी पूजा तृतीया पुरणीकृता ।
 तदर्थं जलमुख्यैश्च स्वर्घमुत्तारयाम्यहं ॥
 ॐ ह्रीं णमो आइरियाणं आचार्य परमेष्ठीभ्यो; अर्घम् ॥



ण उपाध्यायाधिकारीयो णंकारः पूज्यते नरैः ।
 पाठ शुद्धिर्भवेद्यस्माद्विधा या व्यसनस्य च ॥
 ॐ ह्रीं उपाध्यायनमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाक्षराय अर्घ ॥१॥
 भूयोपि मोक्षरं भव्याः पूजयंतु विशेषतः ।
 पानीय प्रमुखैर्द्रव्यैः संसागांसातहानये ॥
 ॐ ह्रीं उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोऽक्षराय अर्घ ॥२॥
 वितिवर्णं विशेषं गः पूजाद्रव्येण पूजयेत् ।
 सुरैः सन्मानतांयाति किं पुनर्नर नायकैः ॥
 ॐ ह्रीं उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि तृतीय उकाराक्षराय अर्घ ॥३॥
 वेतिवर्णं विधानेन नरो नारी निरन्तरं ।
 अर्चयंत्यर्चना द्रव्यैः सुरैः सौरं प्रपूज्यते ॥
 ॐ ह्रीं उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थं वकाराक्षराय अर्घ ॥४॥
 ज्झाक्षर निर्भङ्गारिधारया गन्ध सारया ।
 पूजयामि शुभैर्द्रव्यैः सुगन्धात्कृष्टपट्पदैः ॥
 ॐ ह्रीं उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि पंचम ज्झाक्षराय अर्घ ॥५॥
 यजन याक्षरस्योच्चैर्जनाः कुर्वंतु नित्यशः ।
 न्यायोपात्तेन द्रव्येणानीतं द्रव्यैर्जलादिभिः ॥
 ॐ ह्रीं उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि षष्ठ याक्षराय अर्घ ॥६॥
 नमंति प्रणिधानेन णमित्यक्षरनामकं ।
 ये नराः नरके धीरे न विशंति कदाचन ॥
 ॐ ह्रीं उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि सप्तम णमित्यक्षराय अर्घम् ॥७॥
 भूयः सप्ताक्षरीचेर्मा पूजा कुर्वन्तु भावतः ।
 जलाश्चष्टविधैर्द्रव्यैरर्घमुत्तारयाम्यहं ॥
 ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाणं उपाध्याय परमेष्ठीभ्योः अर्घम् ।



ण बिना ण वर्णं साधूणां वंदनं नहि जायते ।
 ततस्तमक्षरं नित्यं पूज्यते परमादरात् ॥
 ॐ ह्रीं सर्वसाधू नमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घम् ॥१॥

मो

मोक्षरं यजते यो ना मुच्यते पापसंचयात् ।
संचिनोतिगरं पुण्यं ततोऽहं पूजयामितं ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोक्षराय अर्घम् ॥२॥

लो

लुताति चाघ संघातं लोदणं लभितं मुखात् ।
यस्तं सज्जिलधाराभिर्यजते वर्णं नाश्रवा ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि तृतीय लो वर्णाय अर्घम् ॥३॥

ए

एक्षरं येधरंत्युच्चैः कर्णजापं जनाः यदा ।
तदा तेषां भवेत् सर्वा संपच्च सुख साधिनी ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थ एक्षराय अर्घम् ॥४॥

स

स-साधुसेव्यते नित्यं यस्य ज्ञान गुणावुधैः ।
पारं न प्राप्यते सद्भिर्वाहुभिश्च निचारकैः ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि पंचम सकाराक्षराय अर्घम् ॥५॥

व्य

सर्वार्थसाधनेदक्षं दक्षा वाक्षर चर्चनं ।
कुर्वतु करुणागुवताः सशक्ताः सर्व कर्मणि ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि षष्ठ वाक्षराय अर्घम् ॥६॥

सा

साक्षरेणश्रुगा सेव्या मोक्षलक्ष्मी मनःप्रिया ।
ययाचं रंचितं चेतो वैचित्यं नोपद्वीकते ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि सप्तमं सा-क्षराय अर्घम् ॥७॥

ह

ह्रस्वरूपाक्षरस्योच्चैः पूजनमुदाचरेत् ।
हा हा हं वहादिभिर्वैद्यैः पूजां प्राप्नोति नित्यशः ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि अष्टम हं-स्वरूपाक्षराय अर्घम् ॥८॥

ण

णमहं साधु वर्गस्य साधुसंवादतां गतां ।
पूजयामि महा भक्त्या पूजा भक्त्या द्रव्यैर्निरंतरं ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि नवम् ण-मित्यक्षराय अर्घम् ॥९॥
साङ्गं द्वितीय द्वीपेषु साधवो ये वसन्ति वै ।
तदर्धमष्टभिर्द्रव्यैरर्घमुत्तारयाम्यहं ॥
ॐ ह्रीं णमो लोएसवसाहूणं सर्वसाधुभ्योः अर्घम् ॥

अपराजित मन्त्रस्य पूजा सन् मंगल प्रदा ।
विदुषाक्षयरामेण कृता ज्ञेया विवेकिभिः ॥

जयमाला

अर्हतः सुरराज पूजित पदाः, सिद्धा लसत्सद्गुणाः । आचार्याः सुचरित्र साधनापराः अध्यापका
धीश्वराः । सिद्धाः साधन साधवाऽत्रभुवने सबुद्धयः साधवः । पंचैते परमेष्ठिनो निजगुणान्, यच्छंतु
धाराधिताः ॥१॥ कर्म कलंक निवारण कारण ध्यान कराः । भव्य समूह समुद्धरणैक जिनेश्वराः ॥ सिद्ध
धू वरदांछित लांछित बोध धराः । जन्मजरामृति रोग निवारण सिद्धवराः ॥२॥ आचरणे सुविचारपराः,
शुभध्यान धराः । भूरिभवारणवतारण कारण पीतवराः ॥ दीक्षित बुद्धि समुद्र विवर्धन चन्द्रकराः । पाठ-
कतागुण धारण पाठक नाम धराः ॥३॥ सौम्यदृगं कुंशमार मतंगज मानभिदं । साधु समूहमहं प्रयजे गुरु
ज्ञान विदं ॥ पाप हरं महामंत्रपरं प्रणमंति नराः । ये निज भक्तिभरेण त्रिसंधि विवेक पराः ॥४॥
ते सुर सद्य लभन्ति निरंतर सौख्यभरं । देवगणैः परिक्षोभितमधि विदूरतरं ॥ इन्द्र नरेन्द्र फणींद्र खगेन्द्र
विभूति प्रदं । जाप्यजपाक फलेण जलेन जलोदरदं ॥५॥ भूतगणं ग्रहचौररणं, मणि मन्त्र परं । नाश-
यतीह च पापघनाघनवातभरं ॥ प्रातर रं जपनीयपरं पर भक्तिभरं । श्रावकैः करुणारसपानमहाचतुरैः
॥६॥ इत्थं पंचप्रभूत वै वर विधि-सहिता श्रावकाः पूजयन्ति ॥ येते धाम्निःस्तुवंति, प्रगुणित परमाह्लाद
भाजो भवन्ति ॥७॥ तेषां व पंचत्रिंशत् सुगुणितगणनाम संयुतानां मिमितं ॥ वर्णानां सोपवासविधि मनति
नम्रं संविधिते स भव्यः ॥८॥

वत्सरे युग नवाश्च चन्द्रके । (सं: १७६२) माघवासित चतुर्दशी दिने ॥ नूतने जयपुरे पुरेशिनि ।
राजमान जयसिंह राजनि ॥९॥ वाणी गच्छे गच्छाधीशः शमजातो विद्यानन्दी विद्याधीशं ॥ समजताः
तेषांशिष्यः शिष्य मुख्योऽक्षयराम । पूजामेनामुच्चैश्चक्र-अक्षयरामः । इति श्री नवकार पंच त्रिशतिको-
द्यापन पूजा सम्पूर्णा ॥

णमोकार पैंतीसी के उपवास—३५ । सप्तमी के ७ । पंचमी के पांच । चतुर्दशी के १४ । नवमी
के ९ । ऐसे उपवास ३५ होते हैं ।